

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY****KOTA (Raj)**

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER'S No	DUE DTATE	SIGNATURE

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

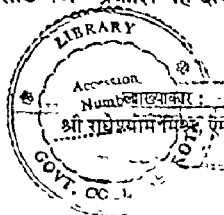
१८०

१९३३

श्री मद्राजानककुन्तकविरचितं

वक्रोक्तिजीवितम्

सटिप्पण 'प्रकाश' हिन्दीव्याख्योपेतम्



चौरवम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक

पो० बा० नं. ११३०

के ३७/११६, गंगाल मन्दिर लेन (गंगानगर समीप मैदागिरी)

वाराणसी - २२१ ००१ (भारत)

प्रकाशक	• चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
मुद्रक	: चारु प्रिंटर्स, वाराणसी
संस्करण	: चतुर्थ, वि० सं० २०५५
मूल्य	: प्रथम उन्मेष रु० ४० ०० द्वितीय उन्मेष रु० २५ ०० १-२ उन्मेष रु० ५० ०० रु० २०० ०० सम्पूर्ण

© चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी

इस ग्रन्थ का परिष्कृत तथा परिवर्धित मूल पाठ
एव टीका, परिशिष्ट आदि के सर्वाधिकार
प्रकाशक के अधीन हैं ।

फोन ३३३४४५, ३३५९३०

प्रधान शाखा :—

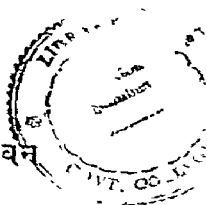
चौखम्भा संस्कृत भवन

पोस्ट बॉक्स नं० ११६०

चौक (दि बनारस स्टेट बैंक बिल्डिंग)

वाराणसी-२२१००१ (भारत)

☎ : ३२०४१४, ३३५९२९



THE
KASHI SANSKRIT SERIES

180
१८०

VAKROKTIJĪVITA



Edited with
The 'Pralāsa' Hindi Commentary

By
ŚRĪ RĀDHEŚYĀMA MIŚRA, M A .

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN

Publishers and Distributors of Oriental Cultural Literature

Post Box No. 1139

K 37 / 116, Gopal Mandir Lane (Golghar Near Maidagan)

VARANASI - 221001

© *Chaukhambha Sanskrit Sansthan, Varanasi*

Fourth Edition : 1998

Phone 333445, 335930

Branch office—

CHAUKHAMBHA SANSKRIT BHAWAN

Post Box No. 1160

Chowk (The Benaras State Bank Bldg)

VARANASI - 221001

☎ 320414, 335929

Printers—

Charu Printers, Varanasi

जिनके

श्रीचरणों में बैठकर

साहित्य शास्त्र का अध्ययन किया

उन्होंने परम श्रेष्ठ गुरुवर,

साहित्याचार्य, साहित्यरत्न

डॉ० लालरमायदुपाल सिंह जी,

एम० ए०, डी० फिल०,

के

कर कमलों

में

सादर सविनय

समर्पित



भूमिका

कुन्तक का काल

आचार्य कुन्तक का एकमात्र ग्रन्थ 'वक्रोक्तिनाविव' उपलब्ध होता है जो कि अपूर्ण एवं खण्डित है। अतः ग्रन्थकार ने ग्रन्थ की समाप्ति पर रचनाछाल इत्यादि का निर्देश किया था या नहीं, यह पता नहीं चल पाता। ग्रन्थ के आरंभ में ग्रन्थकार का अपने विषय में कोई निर्देश नहीं है। अतः कुन्तक के काल-निर्धारण में उनकी पूर्व सीमा का विषय उनके ग्रन्थ में उद्धृत कवियों अथवा आचार्यों के नामों एवं उनके ग्रन्थों से उद्धृत उदाहरणों के आधार पर तथा उत्तर सीमा का निर्धारण उनके परवर्ती ग्रन्थों में उनके विषय में किए गए उल्लेखों से करना होगा।

कुन्तक के काल की पूर्वसीमा

(१) आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रन्थ में 'ध्वन्यालोक' की अधोलिखित कारिका उद्धृत की है—

'ननु कैथिन् प्रतीयमानं वस्तु स्तनालप्रवयसाभ्यामावप्यमिष्युपपादित-
मिति—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्तुस्थिति वाणोषु महाकवीनाम् ।

यत्प्रतिपादयशानिरिक्तं विभाति सावगमिवाङ्गनाम् ॥'^१

साय ही रसवदलङ्कार के खण्डन के प्रसङ्ग में उन्होंने एक अन्य कारिका—

'प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गान्तु रसादयः ।

काव्ये तस्मिन्मलहारो रगादिरिति मे मतिः ॥'^२

उद्धृत कर उसकी श्रुति में उद्धृत 'क्षितो हस्तावग्रहः'^३ इत्यादि तथा 'किं हास्यं न मे प्रयास्यति' आदि उदाहरणों की उद्धरण कर उनका खण्डन किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अन्य कई स्थलों पर ध्वन्यालोक के वृत्तिभाग में उदाहरणादि प्रस्तुत किए हैं। उदाहरणार्थ 'क्षिप्रावैविभ्यवकणा' के एक

१. पाण्डा० १।४ उद्धृत व० जी० पृ० १२० ।

२. ध्वन्या० २।५ उद्धृत व० जी० पृ० ११८ ।

३. उद्धृत ध्वन्या०, पृ० १०५-६ तथा व० जी० पृ० ११९ ।

४. उद्धृत वही, पृ० ११३ तथा व० जी० पृ० १२० ।

उदाहरण रूप में उन्होंने ध्वन्यालोक वृत्ति के मङ्गलालोक—‘स्वेच्छाकेशरिणः’^१ इत्यादि को उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि कुन्तक ध्वन्यालोक के वारिकांश एवं वृत्त्यंश दोनों से पूर्णतः परिचित थे। अतः इसमें संशय नहीं रह जाता कि वे आनन्दवर्द्धन के परवर्ती थे।

(२) वैसे तो उद्धरण उन्होंने राजशेखर विरचित ‘विद्वशालभञ्जिका’ आदि से भी दिए हैं किन्तु नामोत्प्रेक्षपूर्वक ‘प्रकरणान्तर्गतस्मृतप्रकरणरूप’ प्रकरणवक्ता का उदाहरण देते हुए ‘बालरामायण’ में उद्धरण प्रस्तुत किया है—

‘यथा बालरामायणे चतुर्थेऽङ्के लङ्केस्वरानुकारी नटः प्रहस्तानुकारिणा नटे-
नानुवर्त्यमानः—

कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान्न वो जने जने।

नमः शृङ्गारबीजाय तस्मै कुसुमपद्मने ॥’

इतना ही नहीं, राजशेखर का एक विनिप्रमार्गानुयायी कवि के रूप में नाम्ना निर्देश भी किया है—

‘तथैव च विचित्रवक्त्रविजृम्भितं हर्षचरिते प्राप्नुयेण महामाणस्य विभाष्यते।
भवभूतिराजशेखरविरचितेषु बन्धसौन्दर्यसुभगेषु मुक्तवेषु परिदृश्यते।’^२

इस विषय में कोई संशय नहीं किया जा सकता कि दोनों आचार्यों में राजशेखर ही परवर्ती थे। वे स्पष्ट रूप से आनन्द का नाम्ना निर्देश करते हैं—

‘प्रतिभाव्युत्पत्त्योः प्रतीभा ध्रैयसीत्यानन्दः। सा हि कवेरव्युत्पत्तिर्कृतं
दोषमशेषमाच्छादयति। तदाह—

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या नवियते कविः।

अस्त्वशक्तिकृतस्तस्य क्षमित्येवावभासते ॥’^३

अतः निश्चित रूप से कुन्तक के काल की पूर्वसीमा राजशेखर के काल के बाद निर्धारित होती है।

राजशेखर का काल

राजशेखर अपने तीन रूपों—‘विद्वशालभञ्जिका’, ‘कर्पूरमञ्जरी’ तथा ‘बालभारत’ में अपने को महेन्द्रपाल का गुरु बताया है—

(क) ‘रघुकुलतिलको महेन्द्रपालः सकलकलानिलयः स यस्य शिष्यः।’^४

(ख) ‘रघुवल्ज्जडामणियो महिन्दपालस्तु को अगुरुः।’^५

१ ध्वन्या० पृ० ४, उद्धृत व० जी० पृ० ७८।

२. व० जी० पृ० ११५।

३. का० मी० पृ० ७५ ७६।

४. विद्वशालभञ्जिका १६।

५. कर्पूरमञ्जरी १५।

(ग) 'देवो यस्य महेन्द्रपालवृत्तिः शिष्यो' रघुप्रामाण्यः ।^१

इसके अतिरिक्त राजशेखर ने अपने को बालरामायण में 'निर्मयगुरु',^२ तथा कूर्मपुराण में 'बालकई कहराओ गिम्बरराजस्य तद् उदज्जामो'^३ कहकर अपने को 'निर्मयराज' का गुरु बताया है। विशेष महोदय ने निर्मयराज और महेन्द्रपाल को एक सिद्ध किया है। इस महेन्द्रपाल का पुत्र या महीपाल जो आर्यावर्त का सम्राट् था। उसका उत्तरेय राजशेखर ने बालभारत में इस प्रकार किया है—

'तेन (महीपालदेवेन) च रघुवंशमुत्तमगिनाऽऽर्यावर्तमहाराजाधिराजेन धीनिर्भयनरेन्द्रनन्दनेनाराधिता सभामदः' इत्यादि ।^४

कुल्लूट महोदय ने इन महीपाल को 'अर्जुनाशिलालेख' के राजा महीपाल से अभिन्न सिद्ध किया है। इन शिलालेख का काल विक्रम संवत् ९७४ अर्थात् ९१७ ईसवी है। माण ही विशेष तथा फ्लोट महोदय ने यह भी निर्देश दिया है कि राजशेखर के एक रूप 'बालभारत' की रचना 'महोदय' नामक स्थान में हुई थी जिसे उन्होंने दान्वाग्रज छपवा कछोज से अभिन्न सिद्ध किया है। वहीं पर राजा महेन्द्रपाल एवं उनके पुत्र महीपाल ने राज्य किया था। 'सियाहोली' शिलालेख के अनुसार महेन्द्रपाल का बाल ९०३-९०७ ईसवी तथा महीपाल का काल ९१० ईसवी है। अतः राजशेखर का काल, यदि यह भी स्वीकार कर लिया जाय कि ९०३ ई० में जब कि महेन्द्रपाल कछोज के सम्राट् थे तब समय उनकी अवस्था ४० वर्ष भी रही होगी, तो सरलता से ८६० ई० के बाद स्वीकार कर सकते हैं। यद्यपि राजशेखर का समय निश्चित रूप से ८६० तथा ९३० ई० के मध्य निर्धारित किया जा सकता है। और इस प्रकार कुल्लूट के काल की पूर्व-सोमा ९१० या ९२ ई० के बाद ही निश्चित होती है।

कुल्लूट के काल की उत्तरसीमा

कुल्लूट का नाम्ना निर्देश महिमभट्ट के 'व्यक्तिविवेक', विद्याधर की 'एकावली', नरेन्द्रप्रभसूरी के 'अलङ्कारमहोदधि' तथा सोमेश्वर की 'काम्य-प्रकाशिका' में किया गया है।

१. बालभारत १।१।

२. बालरामायण १।५।

३. कूर्मपुराण १।५।

४. बालभारत, पृ० २।

५. जेमा कि डॉ० काले ने अपने ग्रन्थ H S P. में पृ० २२६ एवं पृष्ठ १४ पर वास्तविकता सं० १ में निर्देश किया है कि—'सोमेश्वर (folio 78) इत्यादि' इत्यादि—

एतत् तत्र चतुर्मासः कश्चि प्रत्यक्षदेवः ।

सङ्गमाते विविध मध्यमरथोमवाचकः ॥"

(क) 'सद्यस्त्वाञ्जनकपादममानीना कुन्तकेन निजकापलदमनि ।
यस्य सर्वनिरवधतोदिता श्लोक एष स निर्दिशतो मया ॥'^१

(ख) 'एतेन यत्र कुन्तकेन भकावन्तर्भावितो भवित्तदपि प्रत्याख्यातम्'^२

(ग) 'माधुर्यं सुकुमारमभिधमोजो विचित्राभिधं तदुभयमिश्रन्वसम्भवं मध्यमं
नाम मार्गं केऽपि युधा कुत्तु (न्त) कादयोऽवदयुक्तवन्तः । यदाहुः—

सान्ति तत्र त्रयो मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः ।

सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः ॥'^३

निरचय हो इन प्रयोगों में प्राचीनतम महिममद है जिसको स्वीकार करने में विद्वानों की कोई आपत्ति नहीं है । और इसे मा स्वीकार करने में विद्वानों में दो मत नहीं हैं कि कुन्तक महिममद के पूर्ववर्ती थे ।

कुन्तक तथा अभिनवगुप्त

कुन्तक और अभिनवगुप्त में कौन पूर्ववर्ती था और कौन परवर्ती, इस विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है जब कि कुन्तक के कालनिर्धारण का इसमें घनिष्ठ सम्बन्ध है । अतः इस समस्या को सुलझाना परमावश्यक है । डॉ० मुकुजी तथा डॉ० लाहिरी ने कुन्तक की अभिनव का पूर्ववर्ती स्वीकार किया है और यह माना है कि अभिनव कुन्तक के 'वक्रोक्तिविवित' में भलोभाँति परिचित थे और अच्छी तरह जानते हुए उन्होंने भरत के लक्षण की कुन्तक की वक्रोक्ति के साथ समानता सिद्ध की ।^४

१. व्यक्तिविवेक १।२९ । २. प्रकाशनी पृ० ५१ ।

३. अल० मही०, पृ० २०१-२०२ ।

४. डॉ० लाहिरी का कथन है—

The terms expressions used by Abhinava are undoubtedly those of Kuntaka and this makes it highly probable that the Vakroktujivita appeared earlier than the Abhinava-bhāratī and Abhinava quite consciously identified (Bharata's) Lakṣana with Kuntaka's Vakrokti

'Concept of Rīti and Guṇa'—P. 19.

डॉ० मुकुजी का निश्चय हमें प्राप्त नहीं हो सका । यह उनके तर्कों के विषय में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता । डॉ० कान्हे का कथन—

, 'Dr. Mookerji in B. C. Law Vol. I at p. 183 says the same thing what Dr. Lahiri said.' H. S. P.-235. [Contd.]

बो० लाहिरी और बो० मुखर्जी का यह अभिमत पूर्णतः सत्य है । वस्तुतः कुन्तक के बहोकि मिदान्त का सरलता से प्रत्याख्यान करना असम्भव था अतः अभिनव ने उगडा अन्तर्भाव भरत के लक्षणों में कर देने का प्रयास किया । अभिनव के लक्षणविवेचन के अतिरिक्त अन्य भी कुछ ऐसी बातें हैं जो अभिनव को कुन्तक का परिवर्ती मिद करती हैं, यहाँ उन्हीं पर विचार किया जा रहा है—
(१) आचार्य आनन्दवर्दन ने ध्वन्यालोकवृत्ति में प्रतीयमान रूपक के उदाहरण रूप में 'प्रातधीरेव कस्मान्' आदि रत्नोक्त उद्धृत किया है ।^१ कुन्तक ने इसे ही 'प्रतीयमानव्यतिरेक' के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है किन्तु उन्होंने आनन्द के मत को भी बड़ी धृष्टता के साथ इन शब्दों में व्यक्त किया है—

'तत्त्वाभ्यारोपणात् प्रतीयमानतया रूपकमेव पूर्वसुरिभिराम्नातम् ।'^२
इसी रत्नोक्त की व्याख्या करते हुए अभिनव ने कहा है—

'अद्यपि चार्थ व्यतिरेको भानि तथाऽपि स पूर्वबागुदेवस्वरूपात् नाप्यतनात् ।'^३
क्या अभिनव का यह कथन कुन्तक के अभिमत की ओर इक्षित, नहीं करता ?

(२) समान वाच्यों में से किसी एक के ही आख्यायिकाएँ का प्रतिपादन करते हुए अभिनव ने कहा है—

'तदी तारं ताम्यति । इत्यत्र तदशब्दस्य पुंस्त्वन्पुंमङ्गरे अनाद्यस्य स्त्रीत्वमेवा-
धितं गृह्यते—'स्त्रीति नामापि मधुरम्' इति कृत्वा । अभिनव का यह कथन निरिषण रूप में कुन्तक ने 'नामैव स्त्रीति पेशसम्' कारिकाओं और उगडों वृत्ति का अनुवादमात्र है । कुन्तक के निश्चयैकित्यवकता का निरूपण करते हुए कहा है—

मति लिङ्गान्तरे यत्र स्त्रीलिङ्गत्वं प्रयुज्यते ।

श्रीमानिपत्येव यस्माज्जामैव स्त्रीति पेशसम् ॥

इसके उदाहरण रूप में उन्होंने 'तदी तारं ताम्यति' आदि रत्नोक्त उद्धृत कर उगडों व्याख्या में कहा है—

सामर्थ्यः बो० मुखर्जी ने यह कथा या हि कोषन में कुछ खोजी पर कुन्तक को वाग का निर्देश दिया गया है, ऐसा कि बो० काने के इस कथन से स्पष्ट है—

'Dr. Mookerji is not at all right in thinking that the Locana alludes to Kuntaka (D. C. Law Vol I P 183). This is no evidence worth the name to prove this or events make the inference very probable' —H. S. P. (P. 188-189).

१. इत्यत्र पेशसम्, पृ० २६२-२६२ । २. प० जी०, पृ० १८९ ।

३. कोषन, पृ० २६२ । ४. वही, पृ० १९९ ।

‘अत्र त्रिलिङ्गत्वे सम्यपि, तट’ शब्दस्य, मौकुमार्यात् खीलिङ्गमेव प्रयुक्तम् ।^१

(३) इतना ही नहीं, कुन्तक की वक्तताओं की ओर अभिनवभारती में उन्होंने स्पष्ट निर्देश भी किया है । अभिनवभारती में नाम, आख्यात, उपसर्ग आदि की विचित्रता का प्रतिपादन करते हुए विभक्तिवैचित्र्य की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है—

“विभक्तयः सुप्तिङ्वचनानि तैः वारकशक्तयो लिङायुपप्रहारचोपलक्ष्यन्ते । यथा ‘पाण्डिम्नि मग्नं वपुः । इति वपुष्येव मग्ननकर्तृकत्वं तदायत्ता पाण्डिम्नरचा धारतां गदस्थानीयतां योतयत्तत्वा रक्षयति न तु पाण्डुस्वभाव वपुरिति । एवं कारकान्तरेषु वाच्यम् । यच्च न यथा ‘पाण्डवा यस्य दासाः’ सर्वे च धृष्टरू चेत्पर्य तथा वैचित्र्येण ‘त्वं हि रामस्य दारा’ ।’ एतदेवोपजोव्यानन्दवर्द्धनाचार्येणोक्तं ‘सुप्तिङ्वचनेत्यादि ।’ अन्यैरपि सुबादिबक्रता ।^२

यहाँ ‘अन्यै’ के द्वारा स्पष्ट ही कुन्तक की ओर निर्देश किया गया है । ‘मैथिलो तस्य- दारा’ और ‘पाण्डिम्नि मग्नं वपुः’ आदि उदाहरणों की कुन्तक ने भी सख्या तथा धृतिवक्रता के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है । ऐसा न स्वीकार करने का कोई समुचित कारण भी नहीं है । क्योंकि परवर्ती ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों के उल्लेख से सुबादि वक्तताओं का विवेचन करने वाला कुन्तक के अलावा कोई दूसरा आचार्य उल्लिखित नहीं है । वक्रोक्तिवादी के रूप में आचार्य कुन्तक ही प्रसिद्ध हैं । महिममह ने इन्हीं की वक्तताओं और आनन्द की ध्वनियों को एकरूप कहा है । साहित्यमीमासाकार ने—

ध्वनिवर्णपदार्थेषु वाक्ये प्रकरणे तथा ।

प्रबन्धेऽप्याहुराचार्याः केचिद् वक्रवमहिमतम् ॥^३

बहुर पङ्क्ति वक्तताओं का प्रतिपादन करने वाली कुन्तक की ही कारिकाओं को उद्धृत किया है, किसी अन्य आचार्य की नहीं, जब कि ‘ध्वनिवक्रता’ का विवेचन कुन्तक ने नहीं किया । यदि ध्वनिवक्रता की उद्भावना स्वयं साहित्य-मीमासाकार की न होती तो कम से कम उसके समर्थन में तो किसी अन्य आचार्य का उदाहरण देते । अतः निश्चित ही यहाँ सन्देह के लिये कोई स्थान नहीं है । किन्तु जिसे सन्देह करने की आदत ही पड़ आय उसका क्या उपाय ! क्योंकि मन्देह तो किसी भी विषय में आसानी से किया जा सकता है । कुन्तक की अभिनव का पूर्ववर्ती न स्वीकार करनेवाले विद्वान हैं— डॉ० शंवरन^४

१. व० जो० ११२ तथा वृत्ति ।

२. अभि० मा०, पृ० २२७-२२९ ।

३. सा० मी०, पृ० १५ ।

४. द्रष्टव्य Some Aspects-pp. ?

डॉ० डे, डॉ० रायबन तथा भारतरत्न म० म० डॉ० काणे महोदय^१ । डॉ० शंकरन का तर्क है कि 'अभिनवगुप्त ने ओ 'अन्यैरपि गुणादिवक्ता' में 'अन्यै' कहा है, वह कुत्तक के लिए ही कहा गया है ऐसा हम इस लिए नहीं स्वीकार कर सकते क्योंकि घटोपनिजीवित में हमें 'गुणादिवक्ता' शब्दों से कोई कारिका नहीं प्राप्त होती ।'

निश्चित ही डॉ० साद्व का यह कथन बहुत विचार के अनन्तर कहा गया प्रतीत नहीं होता क्योंकि जैसा अगले विवेचन में स्पष्ट होगा अभिनव ने 'गुणादिवक्ता' के द्वारा किमी कारिका के आरम्भ की ओर निर्देश नहीं किया बल्कि विषय की ओर किया है । अभिनव उक्त स्थल पर नाट्यशास्त्र की—'नामाख्यातनियान्तोरमर्गः' (ना० शा० १४४) आदि कारिका में आये हुए विभक्ति पद की व्याख्या कर रहे हैं । स्पष्ट रूप से उनका विवेचन यहाँ आनन्द में प्रभावित है । इसीलिए उन्होंने—'विभक्तयः मुक्तिव्यञ्जनानि' इस प्रकार व्याख्या प्रस्तुत की है । अतः इनके द्वादशरत्नों की प्रस्तुत करने के अनन्तर उन्होंने कहा—

'एतदेवोपज्ञीः श्वानन्दवर्दनाचार्येणोक्त—मुक्तिव्यञ्जनेत्यादि ।'

यकता कहा है। अतः डॉ० साहब की यह धारणा कि 'वक्रोक्तिजीवित' का सुषादिवक्तृता से आरम्भ होने वाले कोई कारिका होनी चाहिये पूर्णतया भ्रान्ति-मूलक है। अतः इस आधार पर यह स्वीकार कर लेना कि अभिनव ने कुन्तक की बात का उल्लेख न कर किमो अन्य के अभिमत को प्रस्तुत किया है—ममीचीन नहीं है।

(४) इनके अतिरिक्त रुच्यक ने 'अलङ्कारसर्वस्व' में ध्वनि के विषय में विभिन्न आचार्यों के अभिमतों का उल्लेख करते हुए पहले वक्रोक्तिजीवितकार और भट्टनायक के मतों का उल्लेख कर ध्वनिकार का मत बताया है और उसके बाद व्यक्तिविवेककार का मत प्रतिपादित किया है।^१ इस विषय में कालानुक्रम का निर्देश करते हुए जयरय ने कहा है—'ध्वनिकारान्तरभावो व्यक्तिविवेककार इति तन्मतमिह परचाक्षिर्दिष्टम्। यद्यपि वक्रोक्तिजीवितहृदयदर्पणकारावपि ध्वनि-कारान्तरभाविनावेक, तथापि तौ चिरन्तनमतानुयायिनावेवेति तन्मत पूर्वमेवो-दिष्टम्।'^२ रुच्यक और जयरय द्वारा यहाँ वक्रोक्तिजीवितकार का हृदयदर्पणकार के पूर्व उल्लेख भी इस बात का समर्थक है कि या तो कुन्तक भट्टनायक के भी पूर्ववर्ती थे अथवा उनके समसामयिक थे। और इससे भी कुन्तक की अभिनव से पूर्ववर्तित्व ही सिद्ध होती है।

आचार्य अभिनव तथा कुन्तक का कालनिर्धारण

जैसा कि अभिनव के अपने तीन ग्रन्थों में दिए गए काल के आधार पर डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने अपने शोधप्रबन्ध 'अभिनवगुप्त' में उनका साहित्यिक कृतित्वकाल ११०-११ ईसवी से १०१४-१५ ईसवी तक निर्धारित कर उनका जन्मकाल १५० और १६० ई० के बीच निर्धारित किया है, स्पष्ट रूप से उसके २५ या ३० वर्ष पूर्व भी कुन्तक का जन्मकाल मान लिया जाय तो उनका जन्म समय लगभग १२५ ईसवी के आसपास स्वीकार किया जा सकता है। साथ ही इस काल का पौर्वापर्य राजशेखर के काल से भी पूर्ण सामञ्जस्य रखता है। जैसा कि रचनाक्रम महामहोपाध्याय डॉ० मिराशी ने निर्धारित किया है उसके अनुसार 'बालरामायण' का रचनाकाल ११० ई० के आस-पास ही पड़ेगा। क्योंकि सबसे पहली रचना मिराशीजी ने 'बालरामायण' की ही स्वीकार किया है। तदनन्तर बालभारत, कर्पूरमञ्जरी, विदुशालमञ्जिका और वाक्यमीमांसा

१. द्रष्टव्य अल० सं० पृ० १-१६।

२. विमर्शिनो पृ० २१५।

का रचनाकाल स्वीकार किया है।^१ जैसा कि पीछे उल्लेख किया जा चुका है सियाडोनी शिलालेख के अनुसार निश्चिन् रूप से 'महीपाल' गद्दी पर बैठ गया होगा और इस स. ५६ 'बालभारत' का रचनाकाल ९१५ ई० के आसपास मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इसके बाद यदि दो-दो वर्ष के व्यवधान से भी एक-एक ग्रन्थ का रचनाकाल निर्धारित किया जाय तो काव्यमीमांसा का रचनाकाल ९२० ई० के आस-पास होगा। और इस दृग से यदि कुन्तक का कृतित्वकाल उनकी २५ वर्ष की अवस्था के बाद ९५० के बाद से भी माना जाय तो ४०-५० वर्षों में बालरामायणदि का अत्यधिक प्रसिद्ध हो जाना असम्भव नहीं। अतः कुन्तक का कृतित्वकाल दशम शताब्दी के उत्तरार्द्ध का प्रारम्भ मानना ही उचित है। जो कि अभिनव कृतित्वकाल से भी सामञ्जस्य रहता है। २५ या ३० वर्षों में 'वक्रोक्तिजीवित' का सहृदय-समाज में प्रसिद्ध हो जाना असम्भव नहीं।

ग्रन्थ का प्रतिपाद्य

वर्तमान समय में जो वक्रोक्तिजीवित उपलब्ध है उनमें चार उन्मेष हैं। इन चार उन्मेषों में भी चतुर्थ उन्मेष असमाप्त है जैसा कि पाण्डुलिपि के विषय में डॉ० डे ने निर्देश किया है—

"There is no Colophon to this chapter but the scribe marks—असमाप्तोऽयं ग्रन्थः"— v j p 246

परन्तु ग्रन्थ के विवेच्य विषय पर ध्यान देने से यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि ग्रन्थ या तो समाप्त ही है अथवा दो तीन कारिकाएँ और भी अवशिष्ट हैं, इससे अधिक नहीं। डॉ० डे ने जो प० रामकृष्ण कवि द्वारा संकेतित अध्यापक जी के पास पाँच उन्मेषों के वक्रोक्तिजीवित की चर्चा (व० जी० भूमिका पृ० ६) की है वह सत्य से कोसों दूर जान पड़ती है। अतः प्राप्त ग्रन्थ के आधार पर जो क्रम से विवेचन प्रस्तुत किया जा सकता है उसे हम प्रस्तुत करेंगे।

वर्तमान वक्रोक्तिजीवित के तीन भाग मिलते हैं—१ कारिकाभाग, २. वृत्ति-भाग, ३ उदाहरणभाग। सम्भवतः कुन्तक ने पहले कारिकाएँ लिख कर उनकी व्याख्या, उन पर वृत्ति और उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

१. I would place the works of Rājasekhara chronologically as follows—1. The Bālarāmāyana, 2. The Bālabhārata, 3 The Kāvyaamānjari, 4. The viddhaśālabhaṇjikā and 5 The Kāvyaamīmāṃsā.

—Studies in Indology, vol I p

कुन्तक प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के अनुयायी थे

ग्रन्थ के आरम्भ में वृत्तिभाग का प्रारम्भ कुन्तक शिव की वन्दना करते हुए करते हैं--उनके शिव-शक्तिपरिस्पन्दमात्रोपकरण वाले हैं--

जगत्त्रितयवैचित्र्यचित्रकर्मविधायिनम् । शिव शक्तिपरिस्पन्दमात्रोपकरण नमः ।

प्रत्यभिज्ञादर्शन में शिव को ही एकमात्र परम तत्व स्वीकार किया गया है । इस सम्पूर्ण जगत्प्रपञ्च की रचना करने के लिए केवल उनकी शक्ति का परस्पन्द ही पर्याप्त है । उन्हें किसी अन्य उपकरण की आवश्यकता नहीं पड़ती । शक्ति और शक्तिमान शिव में पूर्ण अभेद है । इसी बात को कुन्तक मार्गों का विवेचन करते समय स्वयं कहते हैं--'शक्तिशक्तिमतोरभेदात्' (पृ० ११) । साथ ही उनके ग्रन्थ में आये हुए अनेक प्रयोगों से यह बात स्पष्ट होती है कि वे प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुयायी थे । इसका और विवेचन हम आगे करेंगे ।

इसके अनन्तर कुन्तक प्रथम कारिका में बाप्रूपा सरस्वती की वन्दना प्रस्तुत करते हैं ।

ग्रन्थ का अभिधान, अभिधेय और प्रयोजन

अभिधान--सरस्वती की वन्दना के अनन्तर ग्रन्थकार द्वितीय कारिका--

लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये ।

काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यर्षो विधीयते ॥

के द्वारा अभिधानादि का प्रतिपादन करते हैं ।

इस कारिका एवं इसके वृत्तिभाग ने महामहोपाध्याय डॉ० काये आदि को इस निष्कर्ष पर पहुँचाया है कि कुन्तक ने कारिकाभाग का नाम काव्यालङ्कार और वृत्तिभाग का नाम वक्त्रोक्तिजोवित रखा था ।

"It appears that कुन्तक meant the Kārikās alone to be called काव्यालङ्कार as the Kārikā of the first ṭhṁṁṁ states 'लोकोत्तर' (इत्यादि) The वृत्ति on this says ननु च सन्ति चिरन्तनास्तदलङ्कारास्तत्किमर्थमित्याह-- अपूर्व-तद्व्यतिरिक्तार्थविधायी । ... कोऽपि अलौकिकः सातिशयः । लोको ... सिद्धये-असामान्यहादविधायिविचित्रमावतत्पत्तये । यद्यपि सन्ति शतराः काव्यालङ्कारास्तथापि न कुतरिचदप्येवंविधवैचित्र्यसिद्धिः । It may be noticed that the works of भामह, उद्भट and रुद्रट were called काव्यालङ्कार. Though the कारिका thus appear to have been meant to be called काव्यालङ्कार, the whole work has been referred to by later writers as वक्त्रोक्तिजोवित The वृत्ति is

quite clear on this point—तदयमर्थः । ग्रन्थस्यास्य अलङ्कार इत्यभिधानम्, उपमादिग्रन्थज्ञातमभिधेयम्, उक्तरूपवैविध्यमिद्धिः, प्रयोजनमिति ।”

H. S. P. (p. 225—26)

वस्तुतः डा० माहब का यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता । क्योंकि—

१ यदि कुन्तक ने अपने कारिकाग्रन्थ का नाम ‘काव्यालङ्कार’ रखा होता तो सम्भवतः कारिका इस प्रकार लिखते—‘काव्यालङ्कार इत्येष श्लोऽप्यपूर्वो विधीयते’ जैसे कि अपने ग्रंथों का ‘काव्यालङ्कार’ नाम रखनेवाले आचार्यों ने लिखा है—भामह लिखते हैं—

‘काव्यालङ्कार इत्येष यथावुद्धि विचारयते’ (१११), तथा रुद्रट लिखते हैं—

‘काव्यालङ्कारोऽयं ग्रन्थः क्रियते यथावुक्ति’ (११२) । रही बात उद्भट की तो उन्होंने कहीं अपने ग्रंथ के नाम का निर्देश ही नहीं किया, और फिर उनके ग्रन्थ का नाम ‘काव्यालङ्कार’ नहीं बल्कि ‘काव्यालङ्कारसंग्रह’ था । जैसा कि प्रतीहारन्दुराज कहते हैं—

विद्वदग्रधान्मुकुलकादधिगम्य विविच्यते ।

प्रतिहारन्दुराजेन काव्यालङ्कारसंग्रहः ॥

अन्यथा डा० माहब को अपने उक्त कथन में वामन का भी नामग्रहण करना चाहिए था क्योंकि उनके भी ग्रन्थ का नाम तो ‘काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति’ है ।

२ यदि कुन्तक को ग्रन्थ का नाम ‘काव्यालङ्कार’ ही अभिप्रेत होता तो वे वृत्ति में—‘अलङ्कारो विधीयते अलङ्करणं क्रियते । कम्प—काव्यस्य, कवे कर्म काव्यं तस्य’ न कहते । बल्कि यह कहते कि ‘काव्यालङ्कार’ इति ग्रन्थः क्रियते ।

३ माथ ही जिस कथन के आधार पर डा० माहब उस ग्रन्थ का नाम काव्यालङ्कार कहते हैं वह स्वयम्—ग्रन्थस्यास्य अलङ्कार इत्यभिधानम् न होकर ‘ग्रन्थस्यास्य काव्यालङ्कार इत्यभिधानम्’ होता ।

४ फिर कुन्तक के इस कथन—‘ननु च सन्ति चिरन्तनास्तदलङ्काराः’ की सन्नति भोग नहीं बैठेगी । क्योंकि इसका मतलब यह होगा कि कुन्तक ने केवल भामह तथा रुद्रट के ग्रन्थ के अतिरिक्त किसी अन्य ग्रंथ (जैसे दण्डी का काव्यादर्श, आनन्द का ध्वन्यालोक आदि) के विवेच्य की ओर ध्यान ही नहीं दिया । उन्होंने अपने को केवल ‘काव्यालङ्कारों’ तक ही सीमित रखा । और ऐसा अर्थ करना सर्वथा अनुपयुक्त होगा क्योंकि कुन्तक ने स्थल स्थल पर दण्डी तथा आनन्द दोनों की आलोचना की है ।

५. यदि 'काव्यालङ्कार' और 'वक्त्रोक्तिजीवित' अलग-अलग सङ्ग्रहों में क्रमशः कारिका और वृत्ति भाग की होती तो निश्चय ही प्रत्येक उन्मेष की कारिकाओं की समाप्ति पर भी—“इति धीराजानककुन्तकविरचिते 'काव्यालङ्कारे' प्रथम उन्मेषः, द्वितीय उन्मेषः”, आदि उपलब्ध होता। परन्तु ऐसा कहीं भी उपलब्ध नहीं होता।

यदि डा० साहस यहाँ यह सन्देह प्रकट करना चाहे कि प्रथम उन्मेष की समाप्ति पर—

‘इति धीराजानककुन्तकविरचिते वक्त्रोक्तिजीविते काव्यालङ्कारे प्रथम उन्मेषः’ प्राप्त होता है। यहाँ ‘वक्त्रोक्तिजीवित’ से तात्पर्य वृत्तिभाग से है और ‘काव्यालङ्कार’ से आशय कारिका ग्रन्थ से है तो यह ठीक नहीं। क्योंकि—द्वितीय उन्मेष की समाप्ति पर केवल—

‘इति धीमत्कुन्तकविरचिते वक्त्रोक्तिजीविते द्वितीय उन्मेषः’ तथा तृतीय उन्मेष की समाप्ति पर—

‘इति कुन्तकविरचिते वक्त्रोक्तिजीविते तृतीयोन्मेष समाप्तः’ ही उपलब्ध होता है यहाँ ‘काव्यालङ्कार’ की कोई चर्चा ही नहीं है।

६ साथ ही यदि कुन्तक के कारिका ग्रन्थ का नाम ‘काव्यालङ्कार’ होता तो उन्हें बाद के सभी आचार्य केवल ‘वक्त्रोक्तिजीवितकार’ के रूप में ही क्यों याद करते, कम से कम इनकी कारिकाओं को उद्धृत करते समय ‘काव्यालङ्कार’ के नाम से अथवा ‘कुन्तकविरचिते काव्यालङ्कारे’ इत्यादि के द्वारा स्मरण करते। अतः यह मन्तव्य कि इनके कारिका ग्रन्थ का नाम ‘काव्यालङ्कार’ और वृत्तिग्रन्थ का नाम ‘वक्त्रोक्तिजीवित’ या सर्वथा अमर्माचीन है।

अब रही बात यह कि कुन्तक की इस कारिका और उसके वृत्तिभाग का फिर अर्थ क्या है यह अत्यन्त सुस्पष्ट है। अलङ्कार से तात्पर्य है अलङ्कारों का प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ या अलङ्कार ग्रन्थ। इस प्रकार कारिका का अर्थ ही ज्ञायका कि कुन्तक वाक्य के अलङ्कारग्रन्थ का निर्माण कर रहे हैं। क्योंकि कुन्तक स्वयं बड़े स्पष्ट ढङ्ग से इस बात को उसी वृत्तिभाग में कहते हैं—

‘अलङ्कार-शब्दः शरीरस्य शोभातिशयकारित्वान्मुद्ध्यतया कटकादिषु वर्तते, तत्कारित्वसामान्यादुपचारदुपमादिषु, तद्वदेव च तत्सदृशेषु गुणादिषु तथैव च तदभिधायिनि ग्रन्थे।’ यहाँ यदि कुन्तक को ‘अलङ्कार’ का अर्थ—‘अलङ्कार-प्रतिपादक ग्रन्थ’ ने अभिप्रेत होता तो इतनी लम्बी चौड़ी अलङ्कार शब्द की व्याख्या की कोई आवश्यकता नहीं थी। क्योंकि गुण इत्यादि को तो दण्डो, वामन आदि सभी पूर्वार्चार्थ अलङ्कार शब्द द्वारा व्यवहृत कर ही चुके थे उसे

बुझाने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी, यदि इन्हे अलङ्कार शब्द का 'अलङ्काराभिधायक ग्रन्थ' अर्थ अभीष्ट न होता ।

साथ ही यदि हम अलङ्कार का अर्थ 'अलङ्कारग्रन्थ' मान लेते हैं तो कुन्तक का यह कथन 'ननु च सन्ति चिरन्तनास्तदलङ्काराः' पूर्णतया सङ्गत हो जाता है, इसमें इनके विवेचन की अनभिप्रेत सीमितता समाप्त हो जाती है । क्योंकि इसका अर्थ हो जायगा कि 'यदि प्राचीन बहुत से अलङ्कारग्रन्थ हैं तो आपके इस नवीन अलङ्कारग्रन्थ की क्या आवश्यकता ?' और फिर यह भी कथन कि 'यद्यपि सन्ति शतशः काव्यालङ्कारस्तथापि न कुतश्चिरप्येवविधैर्वचिन्त्यसिद्धिः' का अर्थ भी सङ्गत हो जायगा ।

साथ ही 'काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपुर्वो विधीयते' से हमें अभिधान और अभिधेय दोनों का बोध हो जायगा 'अर्थात् इस प्रकार अलङ्कारों का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों का नाम उपचार से 'अलङ्कार' होता है और उनके अभिधेय उपमादि अलङ्कार रूप प्रमेय होते हैं । अन्यथा प्रयोजन और अभिधान के अतिरिक्त अभिधेय की कोई ज़रूरत ही इस कारिका से सामने नहीं आ पायेगी । और तब 'ग्रन्थस्यास्यालङ्कार इत्यभिधानम्' का अर्थ होगा कि इस (प्रकार के) अलङ्कार के प्रतिपादक ग्रन्थ को उपचार से अलङ्कार सज्जा दी जायगा । न कि यह अर्थ 'कि हमारे इस ग्रन्थविशेष का नाम 'अलङ्कार' है' । क्योंकि ऐसा अर्थ कर लेने पर तो फिर 'काव्यालङ्कार' नाम मानना भी अनुचित हो होगा । और ऊपर कही गई 'अलङ्कार' शब्द की व्याख्या निरर्थक सिद्ध होगी । अतः कुन्तक के ग्रन्थ का नाम 'वक्रोक्तिजीविनी' है (कारिका तथा वृत्ति दोनों भागों का) नहीं स्वीकार करना समीचीन है ।

अभिधेय—इसका अभिधेय तो उपमादि प्रमेय समूह है ही जैसा कि वे स्वयं कहते हैं—'उपमादिप्रमेयजातमभिधेयम्' । कुन्तक का 'उपमादिप्रमेयजातमभिधेयम्' यह कथन भी इसी बात का समर्थन करता है कि कुन्तक यहाँ सामान्य रूप से अलङ्कारग्रन्थों के प्रयोजन को बता रहे हैं, केवल अपने 'वक्रोक्तिजीवितमात्र' के नहीं अन्यथा अपने ग्रन्थ का प्रतिपादक वक्रोक्ति आदि कुछ कहते । क्योंकि उपमा आदि तो सबके सब अलङ्कार उनकी एकमात्र 'वाक्यवक्रता' में ही अन्तर्भूत हैं—

'वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा ।

यत्रालङ्कारवर्गोऽग्नौ सर्वोऽप्यन्तर्भवित्यति ॥' (११२०)

साथ ही जब वे केवल वक्रोक्ति को ही अलङ्कार मानते हैं—

तयो पुनरलङ्कृति वक्रोक्तिरेव । (११३०)

प्रयोजन—ग्रन्थ का प्रयोजन बताते समय भी कुन्तक ने एक नवीनता प्रदर्शित की है । इनके पूर्व के सभी आचार्यों ने तथा बाद के सभी आचार्यों ने केवल

काव्य के ही प्रयोजन बताये हैं और, उन्हीं को उसका अङ्ग होने के कारण हमका भी प्रयोजन मान लिया है—जैसा कि साहित्यदर्पणकार स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

‘अस्य ग्रन्थस्य काव्याङ्गतया काव्यफलैरेव फलवत्त्वमिति काव्यरत्नान्याह—’
इत्यादि ।

परन्तु कुन्तक ने अलङ्कारग्रन्थ का अलग प्रयोजन और अलङ्कार्य काव्य का प्रयोजन अलग में बताया है—

अलङ्कार ग्रन्थ का प्रयोजन है—‘अज्ञानान्तराद्वाह को उत्पन्न करने वाले वैचित्र्य की सिद्धि’ । अर्थात् कुन्तक ने अपने ग्रन्थ का निर्माण उत्तरूप वैचित्र्य की सिद्धि कराने के लिए किया है । अन्य प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों में कहीं भी ऐसे वैचित्र्य की सिद्धि नहीं हुई ।—‘यद्यपि सन्नि शतशः काव्यालङ्कारास्तथापि न कुतश्चिदप्येवंविधवैचित्र्यमिदं ।’ तथा ग्रन्थस्यास्त्विदं उत्तरूपवैचित्र्यसिद्धिः प्रयोजनम् । (पृ० ७-८)

इस प्रकार अलङ्कार ग्रन्थ का प्रयोजन बताने के बाद ये उसके अलङ्कार्यभूत काव्य का प्रयोजन बताते हैं क्योंकि बिना अलङ्कार्य के प्रयोजन के अलङ्कार सप्रयोजन होते हुए भी बेकार होता है । काव्य के प्रयोजन को उन्होंने क्रमशः प्रथम उन्मेष की तीमरी, चौथी और पाँचवीं कारिका में प्रतिपादित किया है—

१. काव्य का पहला प्रयोजन तो यह होता है कि वह धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूप पुरुषार्थचतुष्टय की सिद्धि का उपाय होता है । शास्त्रादिक से इसका वैशिष्ट्य यह होता है कि शास्त्रादि कठोर क्रम से अभिहित होने के कारण सुकुमारमति, एवं क्लेशभोर राजकुमारादिकों के लिए आह्लादकारक नहीं होते जब कि काव्य सुकुमार वचन से अभिहित होने के कारण हृदयाह्लादकारक होता हुआ पुरुषार्थचतुष्टय की सिद्धि का उपाय होता है । जैसा कि कुन्तक अन्तररत्नोक्त द्वारा आगे कहते हैं—

ऋदुकीपधवच्छात्रमविद्याव्याधिनाशम् ।

आह्लादाभृतवत्काव्यमविवेकगदापहम् ॥

२. काव्य का दूसरा प्रयोजन है उसका समुचित व्यवहार का बोध कराने में सहायक होना । ग्रन्थक मनुष्य को मरकाव्यों में वर्णित राजा, अमात्य, भृत्यादि के व्यवहारों से उनके लिए अनुकरणीय उचित व्यवहार का ज्ञान होता है ।

३. काव्य का सर्वातिशायी, यहाँ तक कि पुरुषार्थचतुष्टय के आस्वाद का भी अतिषमण कर जाने वाला, तीसरा प्रयोजन है उसके आस्वाद से (जो अमृत-रसास्वाद के समान होता है) सहस्रों की तत्काल आनन्द की अनुभूति कराना । पुन्तक का कहना है—‘गोऽमौ चतुर्वर्गफलास्वादः प्रहृष्टपुरुषार्थतया सर्वशास्त्र-

प्रयोजनत्वेन प्रमिद्वं मोऽयस्य काव्यामृतवर्षेण तमकारकनामानस्य न कामपि साम्यकलना कर्तुमर्हतीति ।” (पृ० १५)

काव्यलक्षण

इम प्रकार काव्य का प्रयोजन बताने के बाद कुन्तक काव्यलक्षण प्रस्तुत करते हैं । उनका कथन है कि अलंकृत शब्द और अर्थ ही काव्य होते हैं । यदि हम काव्य में अलङ्कार्य और अलङ्कार का विवेचन अलग अलग करते हैं तो यह केवल औपचार्य बुद्धि के द्वारा । वस्तुतः अलङ्कार और अलङ्कार्य की अलग-अलग सत्ता ही काव्य में नहीं है—

‘तस्यैवालङ्कारस्य काव्यता तेनालङ्कृतस्य काव्यत्वमिति स्थिति ।
न पुन काव्यस्यालङ्कारयोग इति ।’

इसके अतिरिक्त काव्यलक्षण के प्रथम उन्मेष की सातवीं कारिका में इम प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

शब्दार्थौ सहितौ वक्त्रविन्यापारशालिनि ।

बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाहदकारिणि ॥

अर्थात् मन्त्रद्वयों को आह्लादित करने वाले, एवं वक्त्रविन्यापार से सुशोभित होने वाले वाक्यविन्यास में साहित्ययुक्त शब्द और अर्थ काव्य होते हैं ।

वस्तुतः कुन्तक का सम्पूर्ण ग्रन्थ इसी काव्यलक्षण की व्याख्या को प्रस्तुत करता है । इम काव्यलक्षण में आने वाले तत्त्व जिनका उन्होंने व्याख्यान किया है—वे हैं—

१ शब्द और अर्थ

२ साहित्य

३ वक्त्रविन्यापार

४ बन्ध और

५ तद्विदाहदकारि-व

१ (क) कुन्तक के अनुसार शब्द और अर्थ दोनों मिल कर काव्य होते हैं, केवल रमणीयताविशिष्ट शब्द अथवा केवल चारुताविशिष्ट अर्थ काव्य नहीं होता । उनका कहना है—

‘तस्मात् स्थितमेतत् — न शब्दस्यैव रमणीयताविशिष्टस्य केवलस्य काव्यत्वम्, नाप्यर्थस्येति ।’ तथा कुन्तक अपने इस मत को समर्थन देने हैं—भामह की प्रथम परिच्छेद की ‘रूपकादिरलङ्कारस्तस्यान्यैर्बहुधोदित । शब्दाभिप्रेतालङ्कारभेदादिष्टं द्वयन्तु न ॥’ इत्यादि १३ वीं, १४ वीं और १५ वीं कारिका को उद्धृत करके । (व० जी० पृ० २३-२४)

(ख) भाष्य ही काव्य में शब्द और अर्थ का स्वरूप लोक में प्रसिद्ध वाच्य-वाचक रूप में विद्यमान शब्द और अर्थ में स्वरूप से सर्वथा भिन्न होता है—

शब्द—काव्य में वही शब्द होता है जो कि विवक्षित अर्थ के बहुत से वाचकों के विद्यमान रहने पर भी उस अर्थ का एकमात्र वाचक होता है। तात्पर्य यह है कि विवक्षित अर्थ को समर्पित करने में जिस प्रकार वह समर्थ हो वैसे समर्थ अन्य कोई दूसरा वाचक न हो।

शब्दों विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु भास्वपि ।

अर्थ—तथा काव्य में वही अर्थ अर्थ होता है जो कि अपने स्वभाव की समशीलता से सदृशों को आह्लादित करने में समर्थ होता हैः—

‘अर्थ सहृदयाह्लादकारिस्स्वन्दस्त्वनन्दरः’ (१९)

साहित्य

शब्द और अर्थ के साहित्य का जैसी व्याख्या आचार्य कुन्तक ने प्रस्तुत की है, वैसा साहित्य का स्वरूप न तो किसी भी पूर्वार्थ ने ही बताया था और न ही बाद में होने वाले अन्य आचार्यों ने, जिन्होंने साहित्य का विवेचन किया। वे कुन्तक ने इस साहित्यस्वरूप को उपेक्षित कर सकने में ही समर्थ हुए।

कुन्तक शब्द और अर्थ के वाच्यवाचक सम्बन्ध रूप साहित्य को साहित्य नहीं मानते क्योंकि ऐसा साहित्य काव्य के अतिरिक्त भी सर्वत्र विद्यमान रहता ही है। इसीलिए वे कहते हैंः—

विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम् । (पृ० २५)

और वह साहित्य है कैसा ?

‘जहाँ पर वक्षता से विचित्र गुणों एवं अलंकारों की सम्पत्ति में परस्पर स्पर्धा (होठ) लगी रहती है।’ और यह परस्पर स्पर्धा शब्द की दूसरे शब्द के साथ तथा अर्थ की दूसरे अर्थ के साथ ही अभिप्रेत है क्योंकि काव्यलक्षण की समाप्ति वाक्य में होता है, केवल एक ही शब्द और अर्थ में नहीं। इसीलिए कुन्तक ने कहा है —

‘दिवचनेनात्र वाच्यवाचकजातिद्वित्वमभिधीयते । व्यतिद्वित्वाभिधाने पुनरेकपद-व्यवस्थितयोरपि वाक्यरः स्यात्’—(पृ० २७)

साहित्य का लक्षण कुन्तक के अनुसार इस प्रकार हैः—

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ ।

अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥ (११७)

अर्थात् शब्द और अर्थ की उस स्थिति को हम साहित्य कहेंगे जो सौन्दर्य-शालिता के प्रति अर्थात् सदृशों को आह्लादित करने के विषय में दोनों की

अपने मजातीयों के साथ परस्पर स्पर्धा के कारण रमणीय होती है। मौन्दर्य-श्लाघिता के प्रति होड़ वाक्य में प्रयुक्त शब्द की शब्दान्तर के साथ और अर्थ की अर्थान्तर के साथ होती है। स्पष्ट है कि जब मौन्दर्यश्लाघिता के प्रति शब्द अपने मजातीयों में और अर्थ अपने सजातीयों से होड़ करेगा तो निश्चय ही दोनों सम्मिलित होकर रमणीय काव्य की सृष्टि करेंगे। शब्द का अर्थान्तर के साथ नाद्रिग्य अथवा अर्थ का शब्दान्तर के साथ साहित्य मानना उचित नहीं क्योंकि ऐसा मानने पर कोई नमन्वय हो सकना कठिन हो जायगा। स्पर्धा का निर्भय मजातीयों में ही किया जा सकता है भिन्न जातीयों में नहीं। इसी लिए कुन्तक कहते हैं—‘ननु वाचकस्य वाचयान्तरेण वाच्यस्य वाचकान्तरेण कथं न साहित्यमिति चेत्, तच्च, कमव्युत्क्रमे प्रयोजनाभावादस्मन्वयाच्च।’ (पृ० ४८)

केवल वक्रोक्ति ही अलङ्कार

कुन्तक का कहना है कि यद्यपि अलङ्कृत शब्द और अर्थ मिल कर काव्य होते हैं किन्तु जब हम अपोद्धार बुद्धि से अलङ्कार्य और अलङ्कार का विभाग कर लेते हैं तो उम दशा में—शब्द और अर्थ अलङ्कार्य होते हैं तथा उनका (उन दोनों का) अलङ्कार केवल एक वक्रोक्ति ही होता है। ‘तयोः द्वित्वसङ्ख्याविशिष्टयोरप्यलङ्कृतिः पुनरेकैव, यमा द्वावप्यलङ्क्रियेते’ (पृ० ४८)।

वक्रोक्ति का स्वरूप

वक्रोक्ति कहते किने हैं? ‘शास्त्र अथवा लोकप्रसिद्ध उक्ति से अतिशायिनी विचित्र हो उक्ति को वक्रोक्ति कहते हैं—‘वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा।’ यह वक्रोक्ति वैसी होती है?—वैदग्ध्यभङ्गीभणितिस्वरूप होनी है अर्थात् काव्यकुशलता की विच्छिन्ति द्वारा किए गये कथन को वक्रोक्ति कहने हैं। और यह कथन शोभातिशयकारी होने के कारण एकमात्र अलङ्कार है—“शब्दायां पृथगवस्थितैः केनापि व्यतिरिक्तेनालङ्करणेन योज्येते किन्तु वक्रतावैचित्र्ययोगितयाभिधानमेवानयोरलङ्कारः तस्यैव शोभातिशयकारित्वात्।’

—पृ० ४८

स्वभावोक्ति की अलङ्कारता का प्रत्याख्यान (११११-१५)

इस प्रकार कुन्तक इस सिद्धान्त की स्थापित करके कि ‘वक्रोक्ति ही एक मात्र अलङ्कार है’ वे स्वभावोक्ति की अलङ्कारता का प्रत्याख्यान करते हैं। उनके तर्क इस प्रकार है—

१ स्वभावोक्ति का अर्थ हुआ पढ़ा जाने वाला स्वभाव अर्थात् पदार्थ का धर्म और वही काव्यशरीर होता है अतः काव्यशरीर होने के कारण वह अलङ्कार्य होगा, अलङ्कार कैसे हो सकता है। यदि कोई यह कहे कि नहीं काव्य-शरीर स्वभाव से भिन्न होता है, तो वह सम्भव नहीं क्योंकि स्वभाव शब्द की व्युत्पत्ति है—‘भवतोऽस्माद् ‘अभिधानप्रत्ययौ इति भावः स्वस्य आरम्भो भावः स्वभावः ।’ अर्थात् जिसके द्वारा (किसी का) कथन और ज्ञान हो उसे भाव कहते हैं, अपने भाव को स्वभाव कहते हैं। निःस्वभाव वस्तु शब्द का विषय बन ही नहीं सकती। अर्थात् किसी भी पदार्थ का स्वभाव ही उसे शब्द का विषय बनाता है। इसलिए सभी वाक्य जो मार्पक होंगे निश्चित ही स्वभाव-युक्त होंगे। अतः सर्वत्र स्वभावोक्ति ही रहती है और यदि इसी शरीरभूता स्वभावोक्ति को अलङ्कार मान लिया जाय तो एक गाड़ोवान की कही गई बात भी अलङ्कार युक्त होने लगेंगी जो किसी भी आलङ्कारिक को अभीष्ट नहीं।

२. यदि शरीरभूत स्वभावोक्ति को ही अलङ्कार मान लिया जाय तो फिर अलङ्कार्य क्या होगा। अगर यह कहे कि वह अपने को ही अलङ्कृत करती है तो यह एक गैरमुमकिन बात है क्योंकि शरीर ही अपने कन्धे पर स्वयं नहीं चढ़ पाता, अपने में ही क्रियाविरोध होने के कारण।

३. कुन्तक का तीमरा तर्क है कि यदि आप स्वभावोक्ति को अलङ्कार मान लेते हैं तो वह सर्वत्र ही विद्यमान रहेगा। ऐसी अवस्था में यदि वहाँ कोई अन्य अलङ्कार स्पष्ट रूप से आता है तो वहाँ संसृष्टि होगी और यदि अस्पष्ट रूप से आता है तो संकर होगा। इस प्रकार सर्वत्र संसृष्टि और संकर के अलावा अन्य अलङ्कार नहीं हो पायेंगे। और इस प्रकार अन्य अलङ्कारों का क्षेत्र ही समाप्त हो जायगा। अतः स्वभावोक्ति को अलङ्कार मानना उचित नहीं, वह अलङ्कार्य ही है।

४. इस प्रकार काव्य लक्षण के, शब्द अर्थ और उनके साहित्य का व्याख्यान करने के अनन्तर कुन्तक यप्रकाशव्यापार को प्रस्तुत करने हैं।

कविव्यापार की वक्षता के उन्होंने मुख्य रूप से छः भेद प्रस्तुत किए हैं और बताया है कि इन छः भेदों के बहुत से अवान्तर भेद हैं। वे छः प्रकार हैं—

१. वर्णविन्यासवक्षता

८. वाक्यवक्षता

२. पदार्थार्थवक्षता

९. प्रकरणवक्षता

३. प्रत्ययाधयवक्षता

६. प्रबन्धवक्षता

आचार्य कुन्तक ने इन छहों प्रकार की वक्षताओं का सामान्य दृष्ट से विश्लेषण प्रथम उन्मेष में किया है। तदनन्तर उनका विरोध विरलेपण द्वितीय,

तृतीय और चतुर्थ उन्मेषों में किया है। द्वितीय उन्मेष में उन्होंने वर्णविन्यास-वक्रता, पदसर्वाङ्गवक्रता तथा प्रत्ययाश्रयवक्रता का, तृतीय उन्मेष में वस्तुवक्रता और वाक्यवक्रता का तथा अन्तिम चतुर्थ उन्मेष में प्रकरणवक्रता और प्रबन्ध-वक्रता का विशेष विरलेषण प्रस्तुत किया है। प्रबन्धवक्रता का विवेचन पूर्ण नहीं हो पाता है कि प्रत्य परिसमाप्त हो जाता है। इसीलिए यह अनुमान है कि प्रत्य लगभग परिपूर्ण ही है क्योंकि प्रबन्धवक्रता का ही विरलेषण आखिरी है। लगभग उसके ६ प्रभेदों की व्याख्या कुन्तक प्रस्तुत करते हैं। पाण्डुलिपि में प्राप्त होनेवाली अन्तिम कारिका—

नूतनोपायनिष्पन्नयवर्गोपदेशिनाम् ।

महाकविप्रबन्धना सर्वेषामस्ति वक्रता ॥

से यह आशय स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रबन्धवक्रता के सभी प्रकारों का विवेचन वे समाप्त कर चुके हैं।

अस्तु, हम सन्धेय से इन वक्रता के उहाँ प्रकार का सम्पूर्ण ग्रन्थ के आधार पर विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

१. वर्णविन्यासवक्रता

उहाँ पर वर्णों अर्थात् अक्षरों को उनके सामान्य प्रयोग करने के दृष्ट से भिन्न रमणीय दृष्ट द्वारा विन्यस्त किया जाता है जिसके कारण उनका वह विन्यास गद्ययों को आह्लादित करने में समर्थ हो जाता है, वहाँ वर्णविन्यास-वक्रता होती है। इस वर्णविन्यासवक्रता के कारण शब्द का सौन्दर्य उत्कर्षयुक्त हो जाता है। यह एक, दो अथवा बहुत से व्यंजनों की बार-बार आवृत्ति से आती है। यह आवृत्ति कभी व्यवधान से कभी अव्यवधान से होती है। कभी अनियत स्थान वाली होकर तथा कभी नियत स्थान वाली होकर (यमक रूप में) सौन्दर्य प्रदान करती है। कुन्तक ने इस वक्रता को इस दृष्ट से प्रस्तुत किया है कि इसमें अन्य आचार्यों के सभी अनुप्रासप्रकार और यमकप्रकार अन्तर्भूत हो जाते हैं। इस वक्रता का प्राण औचित्य है। वर्ण्यमान के औचित्य से न्यून होने पर यह वक्रता नहीं मानी जायगी। इसीलिए उन्होंने व्यनयिता-पूर्वक निबद्ध किए जाने वाले वर्णविन्यास का निषेध किया है—

‘नातिनिर्वन्धविहिता नाप्यपेशलभूषिता ।

पूर्वाङ्गपरित्यागनूतनावर्तनोज्ज्वला ॥ (१४)

वही यमक वर्णविन्यासवक्रता को प्रस्तुत कर सकेगा जो प्रसादगुण सम्पन्न हो, धृतिपेशल हो और औचित्ययुक्त हो।

इसी वर्णविन्यासबद्धता के अन्तर्गत कुन्तक ने प्राचीन आचार्यों द्वारा स्वीकृत अनुगास तथा यमक अलंकार का एवं भट्टोज्झट द्वारा स्वीकृत परुषा, उपनागरिका और प्राग्धा वृत्तियों का ग्रहण कर लिया है। उन्हीं के कथन हैं—

(क) 'एतदेव वर्णविन्यासबद्धत्वं चिरन्तनेष्वनुप्रास इति प्रसिद्धम् । पृ० ६३

(ख) 'वर्णच्छायायानुसारेण गुणमार्गाणुवर्तिनी ।

वृत्तिवैचित्र्ययुक्तेति सैव प्रोक्ता चिरन्तनैः ॥' (२१५)

(ग) 'यमक नाम कोऽप्यस्या' प्रकार' परिदृश्यते ।' (२१६)

२. पदपूर्वाद्धवक्रता

कुन्तक का पद से अभिप्राय है सुबन्त एवं तिङन्त पदों से, जैसा कि पाणिनि ने कहा है—'सुप्तिङन्तं पदम् ।' इसप्रकार स्पष्ट है कि पद में दो भाग होते हैं—एक भाग तो सुप् और तिङ् रूप पराद्ध है और दूसरा प्रकृति रूप पराद्ध । उसी प्रकृति को कम से प्रातिपदिक और धातु कहते हैं । प्रातिपदिक सुबन्त होने पर पद बनता है और धातु तिङन्त होने पर । अतः जो प्रातिपदिक अथवा धातु के वैचित्र्य के कारण आने वाली रसगोचरता है उसे हम पदपूर्वाद्धवक्रता के नाम से अभिहित करेंगे ।

कुन्तक ने इसके अनेक प्रभेद प्रस्तुत किए हैं । वे इस प्रकार हैं—

(क) रुटिवैचित्र्यवक्रता—जहाँ पर रुटि शब्द के द्वारा असम्भाव्य धर्म को प्रस्तुत करने के अभिप्राय का भाव प्रतीत होता है वहाँ, अथवा वहाँ पदार्थ में रहने वाले ही किसी धर्म की अद्भुत महिमा को प्रस्तुत करने का भाव प्रतीत होता है वहाँ रुटिवैचित्र्यवक्रता होती है । इस प्रकार के भाव की प्रतीति कवि वर्ण्यमान पदार्थ के या तो लोकोत्तर तिरस्कार का प्रदिपादन करने की इच्छा से या उसके स्तुहनीय उत्कर्ष को प्रस्तुत करने की इच्छा से कराता है । इसके उदाहरण रूप में कुन्तक ने आनन्दवर्धन द्वारा 'अर्वांतरसङ्क्रमितपाद्यध्वनि' के उदाहरण रूप में ध्वन्यालोक पृ० १७० पर उद्धृत—

ताला जाअन्ति गुणा जाता दे सहिअएहि धेएन्ति ।

रङ्किरणानुगाहिआइ होन्ति कमलाइ वमनाइ ॥

को उद्धृत किया है ।

इसके उन्होंने वक्ता की दृष्टि से मुख्य रूप से दो भेद किए हैं । पहला भेद वहाँ होता है जहाँ कि स्वयं वक्ता ही अपने उत्कर्ष अथवा तिरस्कार को प्रतिपादित करते हुए कवि द्वारा उपनिबद्ध किया जाता है । तथा दूसरा भेद वहाँ होता है जहाँ किसी दूसरे वक्ता को कवि किसी के उत्कर्ष अथवा तिरस्कार का

प्रतिपादन करने के लिए उपनिबद्ध करता है। उदाहरण मूल ग्रन्थ में देखें। इस वक्तव्य के विषय में कुन्तक का कहना है कि—

‘एव च रुद्धिवैचित्र्यवक्ता प्रतीयमानधर्मबाहुल्याद् बहुप्रकारा भिद्यते । तच्च स्वयमेवोपेक्षणीयम् ।’ (पृ० १११)

(२) पर्यायवक्ता—जहाँ पर कवि अनेक शब्दों द्वारा पदार्थ के प्रतिपादन किये जा सकने योग्य होने पर भी वर्ण्यमात्र पदार्थ के अत्यधिक सौन्दर्य को प्रस्तुत करने के लिए किसी विशेष ही पर्याय का प्रयोग करता है—वहाँ पर्यायवक्ता होती है। पर्यायवक्ता को अधोलिखित पर्याय प्रस्तुत करने में समर्थ होते हैं—

(१) वह पर्याय जो वाच्य पदार्थ का बहुत ही अन्तरात् ही अर्थात् जिस प्रकार से विवक्षित वस्तु को प्रस्तुत करने में वह पर्याय समर्थ हो वैसे कोई अन्य पर्याय न हो। तभी वह वक्ता को प्रस्तुत करेगा।

(२) वह पर्याय जो वर्ण्यमान पदार्थ के अतिशय को भलीभाँति लोकोत्तर दृष्टि से पृष्ट कर सहृदयों को आह्लादित करने में समर्थ हो। वह पर्यायवक्ता को समर्पित करेगा।

(३) वह पर्याय जो या तो स्वयं ही अथवा अपने विशेषणभूत दूसरे पद के द्वारा रिलक्षता आदि की मनोहर छाया से वर्ण्यमान वस्तु के सौन्दर्य को परिपुष्ट करने में समर्थ हो वह पर्यायवक्ता को प्रस्तुत करेगा। इस तीसरे प्रकार की पर्यायवक्ता को कुन्तक ने ‘शब्दशक्तिमूलानुरागनरूपव्यङ्ग्यपदध्वनि’ अथवा ‘वाक्यध्वनि’ का विषय स्वीकार किया है—

‘एव एव च शब्दशक्तिमूलानुरागनरूपव्यङ्ग्यस्य पदध्वनेर्विषयः । बहुषु चैवविधेषु सन्तु वाक्यध्वनेर्वा ।’ (पृ० १०९)

(४) वह पर्याय जो कि वर्ण्यमान पदार्थ के उत्कर्ष को प्रस्तुत तो करे साथ ही अपनी निजी सुकुमारता से सहृदयों को आनन्दित करने में समर्थ हो, वह चौथे प्रकार की पर्यायवक्ता को प्रस्तुत करेगा।

(५) पाँचवें प्रकार की पर्यायवक्ता को वह पर्याय प्रस्तुत करता है जिसमें वर्ण्यमान पदार्थ के किसी असम्भाव्य अभिप्राय की पात्रता निहित होती है।

(६) छठे प्रकार की पर्यायवक्ता को प्रस्तुत करने में वह पर्याय समर्थ होता है जो कि रूपकादि के द्वारा दूसरे सौन्दर्य को धारण करके सहृदयों को आनन्दित करता है अथवा जो उत्प्रेक्षा आदि के दूसरे सौन्दर्य को प्रस्तुत करता हुआ सहृदयाह्लादकारी होता है।

(ग) उपचारवक्ता—जहाँ पर कवियों द्वारा अनन्त भिन्न स्वभाव वाले पदार्थों के धर्म का एक दूसरे पर अन्यन्त अन्य साम्य के आधार पर उसके लोकोत्तर सौन्दर्य को प्रस्तुत करने के लिये आरोप किया जाता है वहाँ उपचारवक्ता होती है। जैसे अमूर्त पदार्थों का मूर्त पदार्थ के वाचक शब्द द्वारा कथन, दोस पदार्थ का द्रव पदार्थ के वाचक शब्द द्वारा कथन, अचेतन पदार्थ का चेतन पदार्थ के प्रतिपादक शब्द द्वारा कथन उपचारवक्ता के प्रथम प्रकार को प्रस्तुत करता है। इस वक्ता प्रकार के अनन्त प्रकार सम्भव होते हैं—‘सौष्ठवमुपचारवक्ताप्रकार’ सत्कविप्रवाहे सहस्रशः सम्भवतीति नृदयैः स्वयम्भोऽप्रेक्षणीय—(पृ० २२१)।

स्वभावविप्रकर्ष के प्रयास होने पर वक्ता नहीं होगे—‘अत एव च प्रत्यासन्नान्तरेऽस्मिन्नुपचारे न वक्ताभ्यवहारः, यथा गौर्वाहीक इति’ (पृ० २२१)

दूसरे प्रकार की उपचारवक्ता यह होती है जिसके मूल में विद्यमान रहने पर रूपकादि अलङ्कार सरस उल्लेख वाले हो सकते हैं। कहने का आशय यह कि यह दूसरे प्रकार की उपचारवक्ता रूपकादि अलङ्कारों की प्राणभूता है—‘तेन रूपकादेरलङ्कारकलापस्य सकलस्यैवोपचारवक्ता जीवितमित्यर्थ’—पृ० २२२।

तथा ‘आदि—’ ग्रहणादप्रस्तुतप्रशंसाप्रकारस्य कश्चिद्व्यापदेशलक्षणस्योपचारवक्त्रैव जीवितत्वेन लक्ष्यते (पृ० २२३)

इन दोनों प्रकार की वक्ताओं का भेद कुन्तक ने इस दृष्टि में प्रस्तुत किया है—

‘पूर्वस्मिन् स्वभावविप्रकर्षात् सामान्येन मनाह्मात्रमेव साम्यं समाश्रित्य सातिशयत्वं प्रतिपादयितुं तद्धर्ममात्राभ्यारोपः प्रवर्तते, एतस्मिन् पुररदूर-विप्रकृष्टसादृश्यसमुद्भवप्रत्यामनिसमुचितत्वादभेदोपचारनिबन्धनं तत्त्वमेवाभ्यारोप्यते।’ (पृ० २२२)

(घ) विशेषणवक्ता—जहाँ पर क्रिया रूप अथवा कारक रूप पदार्थ का सौन्दर्य उसके विशेषणों के माध्यम से समुल्लेखित होता है वहाँ विशेषणवक्ता होता है। क्रिया अथवा कारक रूप पदार्थ के सौन्दर्य से अभिप्राय पदार्थ स्वभाव की सुकुमारता की प्रकाशकता एवं अलङ्कार के सौन्दर्यातिशय की परिपुष्टि से है। इसके विषय में कुन्तक का कहना है कि—

‘एतदेव विशेषणवक्तृत्वं नाम प्रस्तुतीचिन्त्यानुमारी सकलवृत्ताभ्यजीवित-त्वेन लक्ष्यते, यस्मादनेनैव रसः परा परिपोषद्वीमवतार्यते’—पृ० २२६

इसी से विरोध का स्वरूप निर्धारण करते हुए वे कहते हैं—

स्वमहिम्ना विधीयन्ते येन लोकोत्तरमिय ।

रसस्वभावालङ्कारास्तद् विधेयं विरोधम् ॥ (पृ० १२७)

(४) संवृतिवक्रता—जहाँ पर पदार्थ का स्वरूप किसी वैचित्र्य का प्रतिपादन करने के लिए उसके अर्ध वाचकभूत सर्वनाम आदि के द्वारा छिपा दिया जाता है, वहाँ संवृतिवक्रता होती है। यह संवरण अधोलिखित अवस्थाओं में प्रयुक्त होकर संवृतिवक्रता की सृष्टि करता है—

(१) जहाँ पर साक्षात् शब्दों द्वारा बहो जा सकने योग्य भी उत्कर्षयुक्त वस्तु का सामान्यवाची सर्वनाम के द्वारा यह सूचकर संवरण कर दिया जाता है कि कहीं साक्ष्य प्रतिपादन के कारण इस वस्तु का उत्कर्ष इतना से परिच्छिन्न होकर परिमितप्राय न हो जाय वहाँ संवृतिवक्रता होती है ।

(२) जहाँ पर अपने स्वभावोत्कर्ष की चरम सीमा को पहुँची हुई वस्तु को वाणी का अविषय सिद्ध करने के लिए उसे सर्वनामादि के द्वारा आन्ध्रादित करके प्रस्तुत किया जाता है—वहाँ दूसरे प्रकार की संवृतिवक्रता होती है ।

(३) जहाँ किसी अत्यन्त सुकुमार वस्तु को बिना उसके कार्यातिशय को कहे ही केवल संवरणमत्र से सौन्दर्य की पराकाष्ठा को पहुँचा दिया जाता है वहाँ तीसरे प्रकार की संवृतिवक्रता होती है ।

(४) जहाँ किसी स्वानुभवमवेष वस्तु को वाणी का अविषय सिद्ध करने के लिये ही सर्वनामादि के द्वारा संवरण कर दिया जाता है, वहाँ चौथे प्रकार की संवृतिवक्रता होती है ।

(५) पाँचवें प्रकार की संवृतिवक्रता वहाँ होती है जहाँ परानुभवैकगम्य वस्तु को बत्ता की वाणी का अविषय सिद्ध करने के लिए ही सर्वनामादि द्वारा संवरण कर दिया जाता है ।

(६) छठी संवृतिवक्रता वहाँ होती है जहाँ पर स्वभावतः अथवा कवि की विवक्षा में किसी दोष से युक्त वस्तु का सर्वनामादि के द्वारा संवरण उसकी महापातक के समान अक्षयनीयता का प्रतिपादित करने के लिए किया जाता है ।

(७) पदमध्यान्तर्भूत प्रत्ययवक्रता—जहाँ पर पद के मध्य में आने वाले कृदादि प्रत्यय अपने उत्कर्ष के द्वारा वर्धमान पदार्थ के औचित्य की रमणीयता को अभिव्यक्त करते हैं वहाँ पदमध्यान्तर्भूत प्रत्ययवक्रता होती है ।

अथवा जहाँ पर मुनादि आगमों के विलास से रमणीय कोई प्रत्यय बन्ध-सौन्दर्य को परिपुष्ट करता है वहाँ दूसरी प्रत्ययवक्रता होती है ।

(८) वृत्तिवैचित्र्यवक्रता—जहाँ पर वैयाकरणों के यहाँ प्रसिद्ध अव्ययी-

भाव आदि समाप्त, तद्विषय, एवं सुन्पातु वृत्तियों की अपने सजातियों की अपेक्षा विशिष्ट रमणीयता समुल्लसित होती है, वहाँ वृत्तिवैचित्र्यवक्रता होती है ।

(ज) भाववैचित्र्यवक्रता—भाव की वक्रता से आशय भावार्थ अर्थात् क्रिया की वक्रता से है जहाँ कविजन यह समझ कर कि यदि भाव को साध्यरूप में कहा जायगा तो प्रस्तुत पदार्थ को भलीभाँति पुष्टि नहीं होगी, उसको साधना की अवस्था करके उसे सिद्ध रूप से प्रस्तुत करते हैं वहाँ भाववैचित्र्यवक्रता होती है ।

(झ) लिङ्गवैचित्र्यवक्रता—जहाँ पर पुलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसक-लिङ्ग के विशिष्ट प्रयोगों के कारण काव्य में रमणीयता आती है वहाँ लिङ्ग-वैचित्र्यवक्रता होती है ।

(१) जहाँ पर कवि द्वारा विभिन्न स्वरूप वाले लिङ्गों के सामानाधिकरम्य रूप में प्रस्तुत किए जाने पर किसी अपूर्व सौन्दर्य की सृष्टि हो जाती है वहाँ प्रथम प्रकार की लिङ्गवक्रता होती है ।

(२) जहाँ पर अन्य लिङ्गों के सम्भव होने पर भी कवि रोग वान्यसौन्दर्य को प्रस्तुत करने के लिए यह सोचकर कि 'श्री, यह नाम ही मनोहर है', केवल स्त्रीलिङ्ग का ही प्रयोग करते हैं, वहाँ दूसरे प्रकार की लिङ्गवक्रता होती है । ऐसा करने से उन्हें शृङ्गारादि रसों की परिपुष्टि कराना बहुत ही आसान हो जाता है क्योंकि स्त्रीलिङ्ग के प्रयोग के कारण दूसरी विच्छिन्ति से नापड़-नायिका आदि के व्यवहार की प्रतीति होने से रसादि की परिपुष्टि अधिक रमणीय रंग से हो आती है ।

(३) तीसरे प्रकार की लिङ्गवैचित्र्यवक्रता वहाँ होती है, जहाँ कविजन वर्ण्यमान पदार्थ के औचित्य के अनुरूप, तीनों लिङ्गों के सम्भव होने पर भी किसी विशिष्ट लिङ्ग को उपनिबद्ध करके सौन्दर्यातिशय को प्रस्तुत करते हैं ।

३. क्रियावैचित्र्यवक्रता—

अभी तक कुन्तक द्वारा प्रतिपादित पदपूर्वाद्गत प्रतिपादक की वक्रताओं का विवेचन प्रस्तुत किया गया । अब धातु की वक्रता का विवेचन करना है । चूँकि धातु की वक्रता का मूल क्रिया की विविधता है अतः कुन्तक ने इसका नाम क्रियावैचित्र्यवक्रता रखा और यही प्रतिपादित क्रिया कि क्रियानैवेद्य के कितने प्रकार हो सकते हैं—

“तस्य च (अर्थात् धातुरूपस्य पूर्वभागस्य च) क्रियावैचित्र्यनिबन्धननेष वक्ष्ये विधत्ते । तस्मात् क्रियावैचित्र्यस्यैव कीदृशाः कियन्तश्च प्रकाराः सम्भावन्तीति तत्स्वरूपनिरूपणार्थमाह ।” (पृ० २४५)

क्रियावैचित्र्य के पुस्तक ने पाँच प्रकार बताये हैं। ये पाँचों प्रकार वक्रता सभी प्रस्तुत करेंगे जब कि वे वर्ण्यमान पदार्थ के औचित्य से रमणीय होंगे—
प्रस्तुतौचित्यचारवः—२।२।१

(१) क्रिया का पहला वैचित्र्य है उसका 'कर्ता का अत्यधिक अन्तरङ्ग होना'—कर्तुरत्यन्तरङ्गत्वम्—(२।२।४)। आशय यह कि कवि काव्य में कर्ता के उस क्रियाविशेष को प्रस्तुत करके जिस सौन्दर्य की सृष्टि करता है उसे कोई दूसरी क्रिया नहीं कर सकती। इसीलिए वहाँ क्रियावैचित्र्यवक्रता होती है। जैसे—

क्रीडारसेन रहसि स्मितपूर्वमिन्दो

लैखा विकृष्य विनियम्य च मूर्ध्नि गौर्या ।

किं शोभिताऽहमनयेति गणशङ्कमौले-

पृष्ठस्य पातु परिवुम्बनमुत्तरं व ॥

में भगवान् शङ्कर द्वारा उत्तर रूप में बुम्बन से भिन्न किसी अन्य क्रिया द्वारा पार्वती के उस लोकोत्तर सौन्दर्य का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता था। इसलिए बुम्बनरूप क्रिया उत्तररूप कर्ता की अत्यधिक अन्तरङ्ग है। अतः यह क्रियावैचित्र्यवक्रता हुई।

(२) क्रियावैचित्र्य का दूसरा प्रकार है—कर्ता को अपने सजातीय दूसरे कर्ता की अपेक्षा विचित्रता। कर्ता की विचित्रता यही होती है कि वह अपने अन्य सजातीय कर्ताओं की अपेक्षा विचित्र स्वरूप वाली क्रिया को ही सम्पादित करता है। जैसे—'त्रायन्तां वो मयुरिपो प्रपञ्चातिच्छिदो नखा ।' में जो कर्ताभूत नख के द्वारा अपने सजातीयों की अपेक्षा विचित्र 'प्रपञ्चातिच्छेदनरूप' क्रिया प्रस्तुत की गई है, वह कर्ता की विचित्रता की प्रतिपादित करते हुए क्रियावैचित्र्य-वक्रता को प्रस्तुत करता है।

(३) क्रियावैचित्र्य का तीसरा प्रकार है—अपने विशेषण के द्वारा आने वाली विचित्रता। आशय यह है जहाँ क्रियाविशेषण के द्वारा ही क्रिया का सौन्दर्य सद्दयहृदयहारी हो जाता है वहाँ क्रियावैचित्र्यवक्रता होती है।

(४) क्रियावैचित्र्य का चतुर्थ प्रकार है—इसकी उपचार अर्थात् सादृश्य आदि सम्बन्ध का आश्रय ग्रहण कर किये गए दूसरे धर्म के आरोप के कारण आने वाली रमणीयता। जैसे—'तरन्तीवात्रानि स्तैलदमल्लावण्यजलधौ' में अत्रों की लावण्यगगर में तैरने रूप क्रिया को उपप्रेक्षा की गई है, वह उपचार के कारण ही लोकोत्तर रमणीयता को प्राप्त कर गई है।

(५) क्रियावैचित्र्य का पाँचवाँ प्रकार है—उसके द्वारा कर्म इत्यादि कारकों का संवरण। जहाँ पर वर्ण्यमान पदार्थ के औचित्य के अनुरूप उसके

लोकोत्तर उत्तर्य की प्रतीति कराने के लिये कर्म आदि की सर्वनामादि के द्वारा छिपा कर किया का प्रतिपादन किया जाता है, वह किया के वैचित्र्यवक्रता को प्रस्तुत करने के कारण कियावैचित्र्यवक्रता को प्रस्तुत करता है। जैसे—

‘नेत्रान्तरे मधुरमर्पयतीव किञ्चित्’ में किसी लोकोत्तर कर्म की सम्पादित करती हुई किया को, उपनिबद्ध किया गया है, कर्म का ‘किञ्चित्’ द्वारा संवरण किया गया है।

इस प्रकार द्वितीय उन्मेष की २५ वीं कारिका तक कुन्तक पदपूर्वाद्भवकता का विवेचन कर उसकी समाप्ति इन शब्दों में करते हैं:—

इत्ययं पदपूर्वाद्भवकभावो व्यवस्थितः ।

दिहमात्रमेवमेतस्य शिष्टं लक्ष्ये निरूप्यते ॥

पदपरार्थ अथवा प्रत्ययवक्रता

(क) कालवैचित्र्यवक्रता—प्रत्ययवक्रता का विवेचन प्रारम्भ करते हुए कुन्तक सर्वप्रथम कालवैचित्र्यवक्रता को प्रस्तुत करते हैं। जहाँ पर वर्ण्यमान पदार्थ के औचित्य का अत्यन्त अन्तर होने के कारण अर्थात् उसके उत्कर्ष को उत्पन्न करने वाला वैयाकरणों में प्रसिद्ध लट् आदि प्रत्ययों द्वारा वाच्य वर्तमान आदि काल रमणीयता को प्राप्त करता है, वहाँ कालवैचित्र्यवक्रता होती है।

(ख) कारकवक्रता—जहाँ पर भङ्गीभङ्गिति की किसी अपूर्व रमणीयता को परिपुष्ट करने के लिए कवि कारकों के परिवर्तन को प्रस्तुत करते हैं, वहाँ कारकवक्रता होती है। कहने का आशय यह कि जहाँ कविजन प्रधान कारक को गौण बना कर और गौण कारक को उस पर प्रधानता का आरोप करके प्रधान रूप से उपनिबद्ध करते हैं वहाँ कारकवक्रता होती है। इन प्रकार से करणभूत गौण अचेतन आदि पदार्थ मुख्य चेतन में सम्भव होने वाली कर्तृता के आरोप से कर्तारूप में उपनिबद्ध होकर समत्कार जनक हो जाते हैं। जैसे—

‘स्तनद्वन्द्वं मन्दं स्नपयति बलाद् बाष्पनिबध्’ में बाष्प निबध् अचेतन, गौण, एवं करणभूत है किन्तु कवि ने यहाँ उस पर चेतन में सम्भव होनेवाली कर्तृता का आरोप कर उसे कर्तारूप में उपनिबद्ध कर अपूर्व कारकवैचित्र्य को प्रस्तुत किया है।

(ग) सङ्ख्यावक्रता—जहाँ कविजन काव्यवैचित्र्य का प्रतिपादन करने की इच्छा से वचन विपरिणाम को प्रस्तुत करते हैं वहाँ सङ्ख्यावक्रता होती है। आशय यह कि जहाँ एकवचन या द्विवचन का प्रयोग करने के बजाय बहुवचन का प्रयोग कर देते हैं अथवा दो भिन्न पक्षों का सामाना-

धिकरण्य प्रस्तुत कर देते हैं वहाँ संख्यावक्ता होती है। जैसे—‘प्रियो मन्युर्जातिस्तव निरनुरोधे न तु वयम्’ में ताटस्थ्य का प्रतिपादन करने के लिये एकवचन ‘अहम्’ का प्रयोग न करके बहुवचन ‘वयम्’ का प्रयोग किया गया है। अथवा ‘कुण्डलेन्दीवरकाननानि नयने’ में नयन में प्रयुक्त द्विवचन का कातनानि में प्रयुक्त बहुवचन के साथ सामानाधिकरण्य सहृदयहृदयाह्लादकारी है।

(घ) पुरुषवक्ता—जहाँ कविजन काव्यसौन्दर्य को प्रस्तुत करने की इच्छा से उत्तम अथवा मध्यमपुरुष के स्थान पर कभी, प्रथमपुरुष का प्रयोग कर देते हैं, अथवा अस्मद् या युष्मद् आदि का प्रयोग न कर केवल प्रातिपदिकमात्र का प्रयोग करते हैं वहाँ पुरुषवक्ता होती है। जैसे ‘जानातु देवो स्वयम्’ में वक्ता ने अपनी उदासीनता का प्रतिपादन करने के लिए ‘युष्मद्’ मध्यमपुरुष का प्रयोग न कर प्रातिपदिकमात्र का प्रयोग किया है जो सहृदयवार्जक होने के कारण पुरुषवक्ता को प्रस्तुत करता है।

(ङ) उपग्रहवक्ता—धातुओं के लक्षण के अनुसार निश्चित मद् (आत्मनेपद अथवा परस्मैपद) के आश्रय वाले प्रयोग को उपग्रह करते हैं—

“धातूनां लक्षणानुसारेण नियतपदाश्रयः प्रयोगः पूर्वाचार्याणाम् ‘उपग्रह’—शब्दाभिधेयतया प्रसिद्धः।”—(पृ० २६३)

अतः जहाँ कविजन वर्ण्यमान पदार्थ के औचित्य के अनुरूप सौन्दर्य का सृष्टि के लिये आत्मनेपद अथवा परस्मैपद में से किसी एक पद का ही प्रयोग करते हैं वहाँ उपग्रहवक्ता होती है।

(छ) प्रत्ययविहित प्रत्ययवक्ता—जहाँ पर तिबादि प्रत्ययों से बनाया गया अन्य प्रत्यय किसी अपूर्व रमणीयता को प्रस्तुत करता है वह अभी तक बताया गया वक्ताओं से भिन्न एक प्रत्ययविहित प्रत्ययवक्ता को प्रस्तुत करता है जैसे—

“वन्दे द्वापि तावहं कविवरौ वन्देतरा तं पुनः” में ‘वन्देतराम्’ पद में तिङ्प्रत्यय से विहित प्रत्ययवक्ता को प्रस्तुत करता है।

उपसर्गनिपातजनित पदवक्ता

अभी तक कुन्तक ने यथासम्भव नाम एवं आख्यात पदों में से प्रत्येक के प्रकृति एवं प्रत्यय से सम्भव होने वाली वक्ताओं का विवेचन प्रस्तुत किया। किन्तु इनके अतिरिक्त उपसर्गों और निपातों के अभ्युत्पन्न होने के कारण उनका अध्ययन के अभाव में कोई विभाग सम्भव नहीं था। अतः उन्हें न के पदपूर्वार्ध-वक्ता के अन्तर्गत ही विवेचित कर सकते थे और न पदपरार्धवक्ता के अन्तर्गत

ही । अतः इन दोनों का अलग-अलग विवेचन कर अब सम्पूर्ण पद की वक्रता के रूप में उपसर्गों एवं निपातों की वक्रता को प्रस्तुत करते हैं । जहाँ उपसर्ग तथा निपात सम्पूर्ण वाक्य के एकमात्र प्राण रूप में ग्यञ्चार आदि रसों की प्रकाशित करते हैं, वहाँ उपसर्ग एवं निपातजनित पदवक्रतायें हुआ करती हैं । यद्यपि इन उपसर्गादिक से लगे हुए अन्य प्रत्यय भी पदवक्रता को प्रस्तुत करते हैं— जैसे— “येन श्यामं वपुरतितरो वान्तिमापत्स्यते ते” में अति के बाद आया हुआ ‘तराम्’ प्रत्यय, किन्तु इसकी पूर्वाक्त प्रत्ययवक्रता के अन्तर्गत ही अन्तर्भाव हो जाने से अलग विवेचन कुन्तक ने नहीं किया । इस तरह चार प्रकार के पदों की विषयभूत वक्रताओं का उनके भेद-प्रभेद सहित विवेचन करके अन्त में उसके विषय में इस प्रकार कहते हैं:—

‘तदेवमियमनेकाकारा वक्रत्वविच्छित्तिथतुर्विधपदविषया वाक्यैकदेशाजोवितत्वेनापि परिस्फुरन्ती सकलयाक्यवैचित्र्यनिबन्धनतामुपयाति ।

वक्रतायाः प्रकाराणामेकोऽपि कविकर्मणः ।

तदिदाहादकारित्वहेतुता प्रतिपद्यते ॥ (पृ० १६९)

जहाँ पर इन वक्रता प्रकारों में से कई एक वक्रताप्रकार एक स्थल पर ही परस्पर एक दूसरे के सौन्दर्य को प्रस्तुत करने के लिए कवियों द्वारा उपनिबद्ध किए जाते हैं वहाँ वे नानाविध कान्ति से रमणीय वक्रता को प्रस्तुत करते हैं ।

वस्तुवक्रता अथवा पदार्थवक्रता

द्वितीय उन्मेष में पदवक्रता का भेद-प्रभेद सहित विवेचन कर चुकने के बाद कुन्तक ने तृतीय उन्मेष के प्रारम्भ में वस्तुवक्रता का विवेचन प्रस्तुत किया है ।

(१) जहाँ पर विवक्षित अर्थ को प्रतिपादन करने में पूर्णतया समर्थ, एवं अनेक प्रकार की वक्रताओं से विशिष्ट शब्द के द्वारा ही अत्यन्त रमणीय स्वाभाविक धर्म से युक्त रूप में वस्तु का वर्णन किया जाता है, वहाँ वस्तुवक्रता होती है । ऐसी वस्तुवक्रता को प्रस्तुत करते समय कविजन बहुत से उपमादि अलङ्कारों का उपयोग नहीं करते क्योंकि वैसा करने से वस्तु की सहज सुकुमारता के म्लान हो जाने का भय रहता है । अहा कवियों को विभाव आदि के औचित्य से ग्यञ्चारादि रसों की प्रतीति धरानी होती है वहाँ वे इसी वस्तुवक्रता का सहारा लेते हैं । अलङ्कारादि का उपयोग बहुत कम करते हैं । जहाँ कहीं भी अलङ्कारों का उपयोग करते हैं वह केवल उस वस्तु की स्वाभाविक सुकुमारता को ही और भी अधिक समुन्मीलित करने के लिए ही न कि किसी अलङ्कार वैचित्र्य को प्रस्तुत करने के लिए ।

(२) कवि की शक्ति एवं व्युत्पत्ति के परिपाक से प्रौढ कुशलता से सुशोभित होने वाली वस्तु की सृष्टि दूसरी प्रकार की वस्तुब्रम्हा को प्रस्तुत करती है जिसका विषय कोई अभूतपूर्व एवं अलौकिक वस्तु का उद्घर्ष होता है । आशय यह कि कविजन किमां सत्ताहीन पदार्थ की सृष्टि तो करते नहीं, बल्कि अपनी सहज एवं आहार्य कुशलता में केवल सत्तारूप से ही स्फुरित होने वाले पदार्थों के किसी ऐसे उत्कर्ष को प्रस्तुत कर देते हैं जिससे कि वह सहृदयहृदयावर्जक हो उठता है । इस प्रकार सहज आहार्य भेद से वर्णनीय वस्तु की दो प्रकार की वक्तार्य होती हैं । वस्तु की सहज वक्तार्य उसके स्वाभाविक सौन्दर्य, एवं रधादि की परिपुष्ट करती है जब कि आहार्यवस्तुवक्तार्य अलङ्कारचैत्रिय को प्रस्तुत करती है ।

वर्णनीयवस्तु का विषयविभाग

कुन्तक ने वस्तुवक्तार्य का विवेचन करने के बाद तृतीय उन्मेष को पाँचवों कारिका से दसवीं कारिका तक, छः कारिकाओं में, वर्णनीय वस्तु के विषय-विभाग एवं उसके स्वरूप को प्रस्तुत किया है । उनके अनुसार वर्णनीय पदार्थों का, अभिनवपरिपोष के कारण रमणीय स्वभाव के अनुरूप होने के कारण मनोहारी स्वरूप दो प्रकार का होता है:—

१ चेतनों अर्थात् प्राणियों का स्वरूप और

२ अचेतनों अर्थात् जड़ों का स्वरूप । इनमें चेतन पदार्थों का स्वरूप प्रधानता एवं गौणता के आधार पर फिर दो प्रकार का हो जाता है.—

१. सुर, असुर, सिद्ध, विद्याधर आदि प्रधान चेतनों का स्वरूप

तथा (२) सिद्धादि अप्रधान चेतनों का स्वरूप ।

(१) इनमें से प्रधानभूत चेतनों अर्थात् सुरादिकों का वही स्वरूप कवियों के वर्णन का विषय बनता है जो कि इति आदि स्याद्योभावों की मलीमाति परिपुष्ट करने के कारण रमणीय होता है ।

(२) तथा गौणभूत चेतनों अर्थात् पशु, पक्षि एवं मृगादिकों का वही स्वरूप कवियों का वर्णनीय होता है जो कि अपनी जाति के अनुरूप स्वाभावानुसार व्यापार से युक्त होने के कारण सहृदयहृदयाह्लादक होता है ।

(३) साथ ही गौणभूत चेतनों एवं अचेतनरूप वृक्षादिकों का शृङ्गारादि रसों को उद्योत करने की सामर्थ्य द्वारा रमणीय स्वरूप ही ज्यादातर कवियों की वर्णना का विषय होता है ।

(४) इसके अतिरिक्त चेतन और अचेतन सभी पदार्थों का लोकव्यवहार

के योग्य, तथा धर्मादि पुरुषार्थचतुष्टय की सिद्धि कराने वाले अपने व्यापार से रमणीय स्वरूप कवियों के वर्णन का बनता है ।

वाक्यवक्रता एवम् अलङ्कार

सुकुमार, विविध एवं मध्यम भागों में विद्यमान वक्त्र शब्दों, अर्थों, गुणों एवं अलङ्कारों के सौन्दर्य से भिन्न, कवि की लोकोत्तर कुशलतारूप, किसी अनिर्वचनीय दंग की शक्ति के ही प्राणवाली वाक्य की वक्रता होती है । जिस प्रकार किसी रमणीय चित्र में उसके फलक, रेखा-विन्यास, रंग और कान्ति से भिन्न ही चित्रकार की कुशलता प्राणरूप में झलकती रहती है उसी प्रकार वाक्य में मार्ग आदि, उनके शब्द, अर्थ, गुण एवं अलङ्कार आदि से बिल्कुल भिन्न कवि की कुशलता रूप वाक्यवक्रता, जो कि सहृदयहृदयसंवेग एवं समस्त प्रस्तुत पदार्थों की प्राणभूत होती है, दिखाई पड़ती है ।

यद्यपि पदार्थों के स्वाभाविक सौकुमार्य को रमणीय दंग से प्रस्तुत करने में, अथवा शृङ्गारादि रसों की मनोहारी दंग से अबाध निष्पत्ति कराने में भी वाक्य-वक्रता रूप कवि कौशल ही प्राणभूत होता है फिर भी रमणीय दंग से अलङ्कार को प्रस्तुत करने में कवि कौशल का ही विशेष अनुग्रह होता है, अतः यद्यपि अलङ्कार पृथग् भाव में स्थित होते हैं फिर भी उनका कविकौशलाधीन स्थित वाली वाक्यवक्रता में ही अन्तर्भाव युक्तिसंगत है—इसीलिए कुन्तक ने प्रथम उन्मेष की २० वीं धारिका में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया था—

वाक्यस्य वक्रभावोऽयं भिद्यते यः सहस्रधा ।

यत्रालङ्कारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति ॥

अलङ्कार-विवेचन

आचार्य कुन्तक ने पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत अलङ्कारों में से केवल बीस अलङ्कार नाम्ना स्वीकार किए हैं । उनमें प्रायः सभी अलङ्कारों को उन्होंने अपने दृष्ट से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । तथा जिन अलङ्कारों के प्राचीन आलङ्कारिकों द्वारा दिये गये लक्षण उन्हें युक्तियुक्त नहीं प्रतीत हुए उनका अपने तर्कों द्वारा खण्डन कर उन्होंने नया लक्षण प्रस्तुत किया है । वे स्वीकृत २० अलङ्कार हैं—

१. रूपक २. अप्रस्तुतप्रशंसा ३. पर्यायोक्त ४. व्याजस्तुति ५. उत्प्रेक्षा
६. अतिशयोक्ति ७. उपमा ८. श्लेष ९. व्यतिरेक १०. दृष्टान्त ११. अपर्यान्तर-
- न्यास १२. आशेष १३. विभावना २४. ससन्देह १५. अपहृति १६. संसृष्टि

और १७, संकर, तथा २ अन्य अलंकार जिनके पूर्वाचार्यों द्वारा किए गए लक्षणों का खण्डन कर अपने ढंग से नये लक्षण दिये—वे हैं—१८ रसवत् १९ दीपक और २० सद्बोक्ति । इन अलंकारों के अतिरिक्त उन्होंने पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत निम्न १९ अलंकारों की अलंकारता का खण्डन किया है—

१- प्रेयस् २ ऊर्जस्विन् ३ उदात्त ४ समाहित ५ प्रतिवस्तूपमा
६ उपोमपमा ७ तुल्ययोगिता ८ अनन्वय ९ निदर्शना १० परिश्रुति
११ विरोध १२ समासोक्ति १३ यथासङ्ख्य १४ आशी १५ विशेषोक्ति
१६ हेतु १७ सूक्ष्म १८ लेश और १९ उपमा रूपक ।

परन्तु बड़े ही असौभाग्य का विषय है कि इन अलंकारों का विवेचन-स्थल पाण्डुलिपि में अत्यन्त भ्रष्ट और गण्डित था । जिसकी वजह से डा० डे महीदय उसे समीचीन ढंग से प्रकाशित करने में असमर्थ रहे । फिर भी उनसे द्वारा दिए गये मूल और Resume के आधार पर इन अलंकारों के जो विषय में निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं उन्हें हम संक्षेप से प्रस्तुत करते हैं । हम यहाँ पर पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत इन्हीं अलंकारों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करेंगे जिनका कि कुन्तक ने खण्डन किया है—

१. रसवदलङ्कार

प्राचीन आचार्यों द्वारा स्वीकृत रसवदलङ्कार को कुन्तक ने अलंकार्य कहा और उसकी अलंकारता का खण्डन दो आधारों पर किया है—

१. वर्ण्यमान के स्वरूप से भिन्न किसी अन्य वस्तु का बोध होने से—तथा
(२) शब्द और अर्थ की सङ्गति न होने से—

१. प्रथम आधार के विषय में कुन्तक प्राचीन आचार्यों भामह, दण्डिन तथा उद्भट के लक्षणों को प्रस्तुत कर उनमें दिखाते हैं कि इनके लक्षणों से अलंकार्य और अलंकार्य का विभाग किया ही नहीं जा सकता क्योंकि जो अलंकार्य है उसको ये लोग अलंकार कहते हैं । इन तीनों आचार्यों की परिभाषाओं में मुख्यतः रस को ही रसवदलङ्कार कहा गया है । रस तो अलंकार्य है, उसे अलंकार माना व नहीं जा सकता । क्योंकि ऐसा मानने पर अपने में ही कियाविरोध होगा, सा ही यदि रस को हम अलंकार मान भी लें तो अलंकार्य किसे मानें ? ऐसी की व्यवस्था इन आचार्यों के लक्षणों में नहीं है । उनके लक्षणों की इस ढङ्ग की अव्यवस्था का बड़े ही सूक्ष्म तर्कों द्वारा कुन्तक ने प्रतिपादन किया है, उसे विस्तार के भय से यहाँ प्रस्तुत करना ठीक नहीं, उसे मूल ग्रन्थ में देखें ।

भामह, उद्भट, दण्डी आदि के अतिरिक्त कुछ आचार्यों ने सम्भवतः यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया था कि चेतन पदार्थों के वर्णन प्रसङ्ग में रसवदलङ्कार

और अचेतन पदार्थों के प्रसङ्ग में उपमादि अलंकार मानना चाहिए । कुन्तक ने इस पक्ष को उठाकर उसका विशेष खण्डन स्वयं नहीं किया क्योंकि इसका खण्डन आनन्दवर्धन कर चुके थे । अतः इन्होंने उसका केवल निर्देश मात्र कर दिया है ।

इसके अनन्तर कुन्तक आनन्दवर्धन के भी रसवदलकार के लक्षणः—

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यन्नाह तु रसादयः ।

वाक्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः ॥

से भी सहमत नहीं हैं । वे आनन्दवर्धन द्वारा उद्धृत 'क्षिप्तो हस्तावल्ग्वन्' और 'किं हास्येन न मे प्रयास्यसि' उदाहरणों का खण्डन करते हैं । उनके लक्षण का खण्डन करने में भी कुन्तक के दो तर्क सामने आते हैं —

१. रस अलंकार्य है । यह अलंकार नहीं हो सकता ।

२. जब आप 'तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः' कहते हैं तो फिर आपको रसालंकार कहना चाहिए 'रसवदलंकार' नहीं क्योंकि 'अत्' प्रत्यय का कोई आशय नहीं प्रतिपादित किया गया ।

(२) रसवदलंकार के खण्डन का दूसरा आधार या शब्द और अर्थ की असंगति । कुन्तक का कहना है कि 'रसवदलंकार' में आप दो प्रकार समाप्त कर सकते हैं—(क) पट्टीसमास—जिसमें रस विद्यमान है वह हुआ रसवद् और उसका अलंकार रसवदलंकार । इस पक्ष को स्वीकार करने में आपत्ति यह है कि रस से भिन्न कौन सा पदार्थ जिसमें रस विद्यमान है और उसका यह अलंकार है । यदि उत्तर यह दें कि वाक्य में रस विद्यमान है, तो वाक्य का अलंकार केवल 'रसवद्' हो नहीं है बल्कि अन्य सभी अलंकार हैं । अतः इसकी अन्य अलंकारों से कोई विशिष्टता रह ही नहीं जायगी ।

(ख) विशेषण समास—अगर हम कहें कि जो रसवान् और अलंकार है वह रसवदलंकार है तो यहाँ उस विशेष्यभूत अलंकार के अतिरिक्त और कोई पदार्थ है ही नहीं जो अलंकार बन सके । अतः शब्द और अर्थ की संगति भी न होने से 'रसवदलंकार' नहीं हो सकता ।

कुन्तकाभिमत रसवदलंकार का लक्षण—इस प्रकार सभी प्राचीन आचार्यों के रसवदलंकार के स्वरूप का खण्डन कर कुन्तक अपना लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

जो उपमा रूपकादि अलंकार वाक्य में शृंगारादि रसों के समान सरसता का सम्पादन करते हुए सहृदयों को आह्लादित करने में समर्थ होते हैं वे रस के तुल्य होने के कारण रसवदलंकार कहे जाते हैं । जैसे कोई क्षत्रिय ब्राह्मणों के तुल्य आचार करने पर 'ब्राह्मणवत्क्षत्रिय' कहा जाता है ।

और इस प्रकार से वह रसवदलद्वार समस्त अलंकारों का प्राणभूत होकर काव्यैकसर्वस्वता को प्राप्त करता है ।

२. प्रेयस् अलङ्कार

प्रेयस् अलंकार का खण्डन करते हुए कुन्तक ने दण्डी के लक्षण को प्रस्तुत किया है । भामह ने तो लक्षण दिया ही नहीं केवल उदाहरण दिया है । इसके विषय में भी कुन्तक इसी तर्क को प्रस्तुत करते हैं कि यद्वा जो अलंकार्य है उसी को अलंकार माना गया है । अतः वर्ग्यमान के स्वरूप से भिन्न किसी अन्य वस्तु का बोध न करा सकने के कारण यह अलङ्कार नहीं हो सकता । और यदि अलंकार्य को ही अलंकार मानने का दुराग्रह करें तो अपने में ही क्रियाविरोध दूर नहीं किया जा सकता । किन्तु यदि कोई दण्डी और भामह के—‘अथ या मम गोविन्द’ इत्यादि उदाहरणों के अतिरिक्त ‘इन्द्रोल्हदं त्रिपुरजयिन’ आदि जैसे उदाहरणों को उद्धृत करके यह कहे कि यद्वा प्रियतर आख्याय होने के कारण प्रेयस् अलङ्कार और निन्द्यमुपेन स्तुति होने के कारण ‘व्याजस्तुति’ अलङ्कार का संकर है । तो ठीक नहीं क्योंकि यहाँ प्रियतर कथन ही तो अलंकार्य है, क्योंकि यदि उसे भी अलंकार मान लिया जाय तो अलंकार्य रूप में कुछ शेष ही नहीं बचता । अतः ऐसे स्थलों पर भी प्रेयम् अलंकार्य ही रहेगा अलङ्कार नहीं ।

३. ऊर्जस्वि अलङ्कार

इसे भी कुन्तक ने अलंकार्य की कोटि में ही रखा है । भामह ने तो कोई लक्षण दिया नहीं केवल उदाहरण दिया है । कुन्तक दण्डिन के ‘अपहर्ताह-मस्मीति’ आदि उदाहरण को प्रस्तुत कर किन्तु दृष्टि से आलोचना को यह कह सकना कठिन है । उद्धृत के लक्षण—

‘अनौचित्यप्रवृत्तानां कामकोपादिकारणात् ।

भावाना रसानाञ्च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते ॥’

की आलोचना में उन्होंने यह निर्देश किया कि यदि भाव अनौचित्य प्रवृत्त होगा तो वहाँ रसभङ्ग हो जायगा जैसा आनन्द ने कहा है—‘अनौचित्यादस्ते मान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्’ । इसके बाद वे कहते हैं—‘न रसवदावभिहितदूषणपात्रताम-तिक्रामति, तदेतदुक्तमत्र योजनीयम् ।’ (पृ० १७१)

४. उदात्त अलङ्कार

उदात्त को भी कुन्तक अलंकार्य ही मानते हैं । वे उद्धृत के दोनों प्रकार के उदात्त की आलोचना करते हैं । उद्धृत का लक्षण है—

उदात्तगृद्धिमद्वस्तु परितञ्च महात्मनाम् ।

उपलक्षणतां प्राप्तं नेतिवृत्तत्वमागतम् ॥

पहले प्रकार के विषय में कुन्तक कहते हैं जिस गृद्धिमद्वस्तु तुम अलंकार कहते हो वही तो वर्ण्यशरीर होने के कारण अलंकार्य है । अतः यहाँ स्वात्मनि क्रियाविरोध दोष उपस्थित है और यदि तुम यह कहो कि गृद्धिमद्वस्तु जिसमें हो वह उदात्तालंकार है तो काव्य ही अलङ्कार होने लगेगा । जब कि काव्य ही नहीं बल्कि काव्य के अलङ्कार होते हैं ऐसी प्रसिद्धि है । अतः यहाँ 'शब्दार्थासन्नति' रूप दोष विद्यमान है । अतः इस प्रथम प्रकार की अलंकार्यता ही उचित है ।

दूसरे भेद के विषय में कुन्तक कहते हैं कि क्या उपलक्षणमात्र वृत्ति वाले महानुभावों के व्यवहार का प्रस्तुत वाक्यार्थ में कोई अन्वय है, या नहीं है । अगर अन्वय है तो वह उसके अंग रूप में आ जायगा, अलङ्कार नहीं बन जायगा जैसे शरीर के हाथ आदि अंग हैं, अलङ्कार नहीं । और यदि उसका प्रस्तुत वाक्यार्थ में कोई अन्वय ही नहीं है तो सत्ता का ही अभाव होने पर अलङ्कारता की चर्चा तो बहुत दूर की बात है । अतः दोनों प्रकार का उदात्त अलंकार्य ही है, अलङ्कार नहीं ।

५. समाहित अलङ्कार

समाहित की भी अलंकार्यता ही कुन्तक की मान्य है—'एव समाहितस्याप्यलंकार्यत्वमेव न्याय्यम्' न पुनरलंकारभाव ।' समाहित के उन्होंने दो प्रकार बताकर दोनों का खण्डन किया है । पहले प्रकार के रूप में उन्होंने उद्धृत के लक्षण को प्रस्तुत कर उसका खण्डन किया है । खण्डन किमङ्ग से किया यह कहना पड़ता है । फिर दूसरे प्रकार के उदाहरण रूप में दण्डी के लक्षण का खण्डन प्रस्तुत किया है—

'यदपि कैश्चित् प्रकारान्तरेण समाहिताद्यमलङ्करणमाख्यातं तस्यापि तथैव भूषणत्व न विद्यते ।'

६. दीपक अलङ्कार

कुन्तक ने भामह के दीपकालंकार के लक्षण का खण्डन किया है । उनका कहना है कि प्राचीन आचार्यों में आदिदीपक, मध्यदीपक और अन्तदीपक के इस प्रकार के क्रियापद के ही आदि, मध्यम और अन्त में विद्यमान रहने से क्रियापद को ही दीपकालंकार कहा है । इसी बात का कुन्तक कई तर्कों द्वारा खण्डन करते हैं । उसे मूल ग्रन्थ से देखें । उन्हें केवल क्रियापद ही दीपक होता है यही स्वीकार

रने में विरोध है जैसा कि वे अपने दीपकालंकार के विवेचन के बाद 'मदो जनयति प्रीतिम्' आदि भामह के उदाहरण को प्रस्तुत करने के बाद स्वयं कहते हैं—'क्रियापदमेकमेव दीपकमिति तेषां तारपर्यम्, अस्माकं पुनः कर्तृपदादि निबन्धनानि दीपकानि बहूनि सम्भवन्तीति ।'

दीपक के लक्षण में वे ठड्डट को बल्कि अभियुक्ततर कहते हैं—'प्रस्तुता-प्रस्तुतविध्यगामर्प्यसम्प्राप्तिप्रतीयमानवृत्तिसाम्यमेव नान्यत् किञ्चित् इत्यभियुक्ततरै प्रतिपादितमेव—'आदिमध्यान्तरविषया प्राधान्येतरयोगिनः । अन्तर्गतोपमा धर्मा यत्र तदीयकं विदुः ।' और ठड्डट के साथ वे सहमति व्यक्त करते हैं कि यदि प्रस्तुत और अप्रस्तुत में प्रतीयमानवृत्ति साम्य नहीं होगा तो दीपक होगा ही नहीं । और उनको 'अन्तर्गतोपमा धर्म' की विशेषता को समर्थन देते हैं । उनका दीपक का लक्षण है—

“अचित्पावहमम्लानं तद्विदाढादकारणम् ।

अशकं धर्ममर्षाना दीपयद् वस्तुदीपकम् ॥”

पाण्डुलिपि के अस्पष्ट और खण्डित होने के कारण यह कह सकना कठिन है किस प्रकार उन्होंने उसकी व्याख्या और विभाजनादि किया ।

७. उपमा में अन्तर्भूत होने वाले अलङ्कार

(क) प्रतिवस्तूपमा—कुन्तक प्रतिवस्तूपमा का अन्तर्भाव प्रतीयमानोपमा में करते हैं—“समानवस्तुन्यासोपनिबन्धनं प्रतिवस्तूपमापि न पृथग् वक्तव्यता-मर्हति पूर्वोदाहरणेनैव समानयोगक्षेमत्वात्” तथा—“तदेव प्रतिवस्तूपमायाः प्रतीयमानोपमायामन्तर्भावोपपत्त्यो सत्याम् ।” (पृ० ३७६)

(ख) उपमेयोपमा—उपमेयोपमा भी उपमा से भिन्न नहीं । वह सामान्य है । क्योंकि उसके लक्षण की उपमा के लक्षण से अन्यथास्थित नहीं । अन्तर केवल इतना ही तो है कि उसमें उपमान उपमेय और उपमेय उपमान ही जाता है ।

(ग) तुल्ययोगिता—तुल्ययोगिता भी स्पष्ट रूप से उपमा ही होती है—‘सा भवत्युपमिति स्फुटम् ।’ क्योंकि उसमें दो पदार्थों के बीच साम्यातिरेक विद्यमान रहता है जिनसे से प्रत्येक मुख्यरूप से वर्णनीय पदार्थ होता है । वे भामह के लक्षण के अनुसार भी उनके तुल्ययोगिता के ‘श्रेयो हिमगिरि’ आदि उदाहरण को उपमा में अन्तर्भूत कर कहते हैं—‘उक्त (भामह) लक्षणे तावदुपमान्तर्भावस्तुल्ययोगितायाः ।

(घ) अनन्यय—अनन्यय के विषय में भी कुन्तक का यही कहना है कि

उसका भी अलग से लक्षण करने की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि उसमें एक उपमान ही तो काल्पनिक रहता है। इसके विषय में वे कहते हैं—

“उदेवमभिधावेचिष्यप्रकाराणामेवंविध वैश्वरूपम्, न पुनर्लक्षणभेदानाम् ।”

(रु) निदर्शना—निदर्शना भी उपमा में ही अन्तर्भूत है—‘निदर्शनमप्येवमप्राप्तमेव’ ।

(च) परिधृति—परिधृति को भी वे उपमा से अलग नहीं स्वीकार करना चाहते—“परिधृतिरप्यनेन न्यायेन पृथङ् नास्तीति निरूप्यते ।” उनका कहना है यहाँ पर दो पदार्थों का विनिर्घटन होता है और दोनों ही मुख्य रूप से अभिधीयमान होते हैं। इसलिए कोई किसी का अलंकार नहीं हो सकता। हाँ, जब इनका ह्यन्तरनिरोध होता है तो साम्य के सङ्काश में अवश्य ही उपमा अलंकार हो जाती है।—“ह्यन्तरनिरोधेषु पुन साम्यसदभावे भवत्युपमितिरेषा चातङ्क्यति समुचिता ।” (प्र० ३८१)

८. विरोध और ९. समासोक्ति

इस रूप की पाण्डुलिपि अत्यन्त अष्ट होने के कारण डॉ० डे कोई विशेष निर्देश नहीं कर सके। उनके निर्देशानुसार—विरोध श्लेष से अभिन्न होने के कारण इसी में अन्तर्भूत है इसको अलग से अलंकारता कुन्तक की स्वीकार नहीं—‘श्लेषेणासम्मिश्रत्वात् ।’

समासोक्ति के विषय में उनका कहना है कि वह भी अन्य अलंकार के रूप में शोभाग्रन्थ होने के कारण श्लेष से अभिन्न है—‘अलङ्कारान्तरत्वेन शोभाग्रन्थतया ।’

१०. सहोक्ति अलङ्कार

कुन्तक भामह के सहोक्ति अलंकार के सङ्ग और उदाहरण को प्रस्तुत कर उसका खण्डन करते हैं और कहते हैं कि भामह की यह सहोक्ति तो उपमा में ही अन्तर्भूत है क्योंकि वह चारण्य साम्यसमन्वय के ही कारण है—भामह के उदाहरण के विषय में उनका कहना है—‘अत्र परस्परसाम्यसमन्वयो मनोहारिनिबन्धनमित्युपमेव’ ।

कुन्तकाभिमत सहोक्ति लक्षण

जहाँ पर प्रधान रूप से विवक्षित अर्थ की प्रतीति बराने के लिए कई वाक्यांशों का एक साथ ही कथन किया जाता है, वहाँ सहोक्ति अलंकार होता

है । कहने का आशय यह है कि जिस बात को दूसरे वाक्य द्वारा कहना चाहिए उसे भी प्रस्तुत अर्थ की सिद्धि कराने के लिए रमणीयता के साथ उसी वाक्य द्वारा कह दिया जाता है । इसके उदाहरण रूप में वे अन्य उदाहरणों के साथ-साथ विक्रमोर्वशीय से—

“सर्वक्षितिभूताक्षाय दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी ।
रामा रम्ये वनोद्देशे मया विरहिता त्वया ॥”

को प्रस्तुत कर व्याख्या करते हैं—

“अत्र प्रधानभूतविप्रलम्भभङ्गाररसपरिपोषणसिद्धये वाक्याद्यद्वयमुप-
निबद्धम् ।”

इसके बाद कुन्तक ने स्वयं ही प्रश्न ठाकर इसकी श्लेष से भिन्नता सिद्ध किया है ।

११. यथासङ्ख्य

यथासङ्ख्य में किसी भी प्रकार के उक्तिवैचित्र्य का अभाव होने से उसकी अलंकारता कुन्तक को मान्य नहीं—‘मणितिबैचित्र्यविरहाच्च काचिदत्र कान्ति-
विशते’ ।

१२. आशीः

आशी को वे अलंकार्य मानते हैं अलङ्कार नहीं—क्योंकि उसमें आशंसनीय अर्थ ही मुख्य रूप से वर्णनीय होने के कारण अलङ्कार्य होता, जैसे कि प्रेयोऽलंकार में प्रियतराख्यान वर्णनीय होने कारण के अलङ्कार्य होता है । अतः जो दोष प्रेयस की अलंकारता मानने से आते हैं वे ही दोष आशी को भी अलङ्कार मानने में आते हैं ।

१३. विशेषोक्ति

कुन्तक विशेषोक्ति को भी अलंकार्य ही मानते हैं । इस विषय में वे भावह के—

स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः ।

हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न हतं बलम् ॥

उदाहरण को उद्धृत कर आलोचना करते हैं कि इसमें समस्त श्लोकों में प्रसिद्ध विषय के उत्कर्षवाला कामदेव का स्वभाव ही तो वर्णित है अतः यह अलंकार्य है ।

१४. हेतु, १५. सूक्ष्म तथा १६. लेश अलङ्कार

हेतु सूक्ष्म, और लेश की अलङ्कारता का खण्डन करते हुए वे भाषा की—

हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽयं नालङ्कारतया मतः ।

समुदायाभिधानस्य षकोक्त्यनभिधानतः ॥ .

इस उक्ति को समर्पण देते हैं और कहते हैं यहाँ किसी वैविध्य को प्रस्तुत न करने के कारण अलङ्कारता सम्भव नह । साथ ही दण्डी के उदाहरणों को प्रस्तुत कर कहते हैं कि यहाँ तो केवल वस्तु स्वभाव ही रमणीय है । अतः यह, अलङ्कार्य है, अलङ्कार नहीं ।

१७. उपमारूपक

कुन्तक उपमारूपक की भी अलङ्कारता का खण्डन करते हैं । परन्तु किस ढंग से, यह कहना कठिन है । डा० डे ने केवल इतना ही अंश सुदित किया है कि—*केचिदुपमारूपकानामलंकरणत्वं मन्यन्ते, तदयुक्तम्, अनुपपद्यमानत्वात् ।*”



प्रकरणवक्रता

इस प्रकार तृतीय उन्मेष तक कुन्तक प्रथम उन्मेष में परिगणित, वर्णविन्यास पदपूर्वार्द्ध, पदपराद्ध और वाक्य की वक्रता का विवेचन प्रस्तुत कर अवशिष्ट प्रकरण और प्रबन्ध की वक्रता का चतुर्थ उन्मेष में विवेचन करते हैं। अनेक वाक्यों का समूह और सम्पूर्ण प्रबन्ध का एक अंश प्रकरण कहलाता है। जहाँ कवि इन प्रकरणों को अपनी सहज और आहार्य सुकुमारता से रमणीय बना देता है वहाँ प्रकरणवक्रता होती है। इसके अनेक प्रभेद कुन्तक ने प्रस्तुत किए हैं—

१. जहाँ पर कवि पुरातनी कथा में अपनी अबाध स्वतन्त्रता का आभ्रयण करके इस प्रकार ने अपने अभीष्ट अर्थ को प्रस्तुत करता है कि न तो मूल का उच्छेद होने पाता है और न इस नयी कल्पना के उत्थान के विषय में कोई आशंका ही की जा सकती है, वहाँ कुन्तक के अनुसार पहली प्रकरणवक्रता होती है। जैसे 'रघुवंश' में कालिदास द्वारा उपनिबद्ध किया गया रघु और कौत्स का प्रकरण।

२. दूसरे प्रकार की प्रकरणवक्रता वह होती है जहाँ पर कवि इतिवृत्त में प्रयुक्त कथा में भी अपनी प्रतिभा के बल पर किसी नवीन प्रकरण को वद्भावित कर उसे काव्य का जीवितभूत बना देता है। यह कवि की नवीन वद्भावना दो प्रकार की होती है। एक तो वह जहाँ कवि इतिवृत्त में अविद्यमान की ही उद्भावना करता है—जैसे अभिज्ञान-शाकुन्तल में दुर्वाशा के शाप की उद्भावना। और कहीं पर इतिवृत्त में विद्यमान भी प्रकरण को अनौचित्ययुक्त होने के कारण नये ढंग से प्रस्तुत करता है। जैसे 'उदात्तराघव' में मारीचवध का प्रकरण जहाँ मृग को मारने के लिए गए हुए लक्ष्मण की रक्षा हेतु राम का गमन दिखाया गया है।

३. तीसरी प्रकरणवक्रता वहाँ होती है जहाँ कवि काव्य के मुख्य फल की सिद्धि कराने में समर्थ प्रकरणों के उपकारोपकारक भाव को अपनी अलौकिक प्रतिभा से प्रस्तुत करता है। जैसे उत्तररामचरित के प्रथम अङ्क के चित्रदर्शन प्रकरण में जो सीता की भावी सन्तानों के लिए राम द्वारा जम्भकासिद्धि प्रदान की गई, प्रधान कथा की पञ्चम अङ्क में जम्भकास्रम्यापार द्वारा उपरकारक सिद्ध होती है।

४. जहाँ कवि एक ही वदार्थस्वरूप को प्रत्येक प्रकरण में अपूर्व रसों एवं अलङ्कारों की योगता से रमणीय बना कर बार-बार प्रस्तुत करता है जो सहृदय-हृदयकारिता में किसी प्रकार बाधक नहीं हो तो वहाँ चौथी प्रकरणवक्रता होती

है। जैसे 'तापसवत्सराज' में द्वितीय, चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ अङ्कों में नये-ठङ्ग से कवि ने करुणारस को समुदीप्त कराया है।

५. जहाँ कवि किसी काव्य के सौन्दर्य को प्रस्तुत करने के लिए उसके कथावैचित्र्य की सृष्टि करने वाले जलझोटा आदि प्रकरणों को प्रस्तुत करता है वहाँ पाचवीं प्रकरणवक्ता होती है। जैसे रघुवंश २१ वें सर्ग में कुश की जल-झोटा।

६. छठी प्रकरणवक्ता वहाँ होती है जहाँ कवि किसी प्रकरणविशेष के काव्य के द्वारा अग्नी रस की निष्पत्ति इस ढङ्ग से कराता है कि वैसी निष्पत्ति कराने में उसके पहले के और बाद के प्रकरण असमर्थ सिद्ध होते हैं। जैसे कि 'विक्रमोर्वशीय' का 'उन्मत्ताङ्क' जहाँ अग्नी रस विप्रलम्भप्रकार है।

७. जहाँ कवि प्रधान वस्तु की मिद्धि करने के लिए उसी प्रकार की एक नये प्रकरण के वैचित्र्य को प्रस्तुत करता है वहाँ सातवीं प्रकरणवक्ता होती है। जैसे 'सुदाराक्षस' के छठे अङ्क में राक्षस और पुष्प की बातों का प्रकरण।

८. जहाँ कविजन किसी नाटक के मध्य में एक दूसरे नाटक को सामाजिकों की आशादित करने के लिए प्रस्तुत करते हैं, वहाँ आठवीं प्रकरणवक्ता होती है। जैसे बालरामायण का चतुर्थ अङ्क या उत्तरचरित का सातवां अङ्क।

९. नवे प्रकार की प्रकरणवक्ता कुन्तक ने उन सभी प्रबन्धों में स्वीकार किया है जिनके प्रत्येक प्रकरण संधि-संविधान आदि की दृष्टि से एक सुसूत्र में बँधे रहते हैं और उनके पौर्वापर्य में किसी प्रकार की असंगति नहीं होती। उदाहरणार्थ उन्होंने 'पुष्पद्वितकप्रकरण' को उद्धृत किया है।

प्रबन्धवक्ता

कुन्तक ने प्रबन्धवक्ता के भी अनेक भेद प्रतिपादित किए हैं। प्रबन्ध से तात्पर्य सम्पूर्ण नाटक, महाकाव्यादिकों से है।

१. जिस इतिहास के आधार पर कवि अपने प्रबन्ध की कथावस्तु को प्रस्तुत करता है, उसी इतिहास में जिस रस सम्पत्ति का निर्वास किया गया है उसकी उपेक्षा करके जहाँ कवि सहृदनाह्लाद की सृष्टि करने के लिए नवीन रस को प्रस्तुत करता है, वह प्रबन्ध की पहली वक्ता होती है। जैसे महाभारत पर आधारित वेणीसंहार और रामायण पर आधारित उत्तरागमनरित को कुन्तक के अनुसार रामायण और महाभारत दोनों का अद्वी रस शान्त है—“रामायण-महाभारतयोरैव शान्ताश्रित्वं पूर्वसूत्रिभिरैव निरूपितम्”। जब कि वेणीसंहार का अग्नीरस वीर, और उत्तरचरित का करुणविप्रलम्भ है।

२ दूसरी प्रबन्धकता वहाँ होती है जहाँ कि कवि इतिवृत्त की सम्पूर्ण कथा को प्रारम्भ ले करता है किन्तु उसकी समाप्ति उसके एक भाग से ही कर देता है क्योंकि वह भाग की कथा को प्रस्तुत कर नीरसता नहीं लाना चाहता । जैसे किरातार्जुनीय की कथा । पहले कवि ने धर्मराज के अभ्युदय तक की कथा को प्रारम्भ कर उसकी समाप्ति अर्जुन के किरातराज के साथ युद्ध के बाद ही कर दिया ।

३ तीसरे प्रकार की प्रबन्धकता वहाँ होती है जहाँ कि कवि प्रधान कथावस्तु के आधिकारिक फल की सिद्धि के उपाय को तिरोहित कर देने वाले किसी कार्यान्तर को प्रस्तुत कर कथा को विच्छिन्न कर देता है किन्तु उसी कार्यान्तर द्वारा, ही प्रधान कार्य की सिद्धि करा देता है । जैसे शिशुपालवध महाकाव्य में ।

४ चौथी प्रबन्धकता कुन्तक के अनुसार वहाँ होती है जहाँ कि कवि एक फलप्राप्ति की सिद्धि में लगे हुए नायक को उसी के समान अन्य फलों की भी प्राप्ति करा देता है । जैसे नागानन्द नाटक के नायक जीमूतवाहन को अनेकों फलों की प्राप्ति होती है ।

५ पाचवें प्रकार की प्रबन्धकता कवि कथावस्तु में वैदग्ध्य दिखाकर नहीं, बल्कि केवल प्रबन्ध के उस नामकरण से ही प्रस्तुत कर देता है जो नामकरण प्रबन्ध की प्रधान कथायोजना का चिह्नभूत होता है । जैसे अभिज्ञान-शाकुन्तल, मुद्राराक्षस आदि ।

६ कुन्तक के अनुसार, जहाँ अनेक कविजन एक ही कथा का निबोध करते हुए अनेक प्रबन्धों की रचना तो करते हैं किन्तु उन प्रबन्धों में कहीं विस्तृत वस्तु को संक्षिप्त करते हुए और संक्षिप्त वस्तु को विस्तृत करते हुये नये-नये शब्दों, अर्थों एवं अलंकारों से उन्हें एक दूसरे से सर्वथा भिन्न बना देते हैं, यह उन कवियों के सभी प्रबन्धों की वक्तता ही होती है । जैसे एक ही रामायण की कथा पर आधारित रामाभ्युदय, वदन्तराघव, वीरचरित, बालरामायण, कृत्यारामायण आदि अनेक प्रबन्धों का परस्पर विभिन्नता का वैशिष्ट्य उन-उन प्रबन्धों की वक्तता को प्रस्तुत करता है ।

७ इसके अनन्तर कुन्तक महाकवियों के उन सभी प्रबन्धों में वक्तता स्वीकार करते हैं जो कि नये नये उपायों से सिद्ध होने वाले नीतिमार्ग का उपदेश करते हैं । जैसे—मुद्राराक्षस और तापसवत्सराज चरित आदि में नीति का उपदेश किया गया है ।

इस प्रकार कुन्तक प्रथम उन्मेष में परिगणित उहाँ कविब्यापार की वक्तताओं का विवेचन चतुर्थ उन्मेष की समाप्ति तक समाप्त करते हैं ,

बन्ध

इस प्रकार वाक्यलक्षण 'शब्दायो सहितौ—' आदि में आये हुए, शब्द, अर्थ, साहित्य और कविब्यापार का विवेचन अब तक हमने संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत किया। अब बचते हैं दो पद और वे हैं बन्ध और तद्विदाह्यादकारित्व।

कुन्तक के अनुसार शब्द और अर्थ के लावण्य और सौभाग्य गुण को परिपुष्ट करनेवाला, एव वक्कविब्यापार से सुशोभित होने वाला वाक्य का विशिष्ट सज्जिवेश बन्ध कहलाता है। लावण्य से अभिप्राय सज्जिवेश को चाहता से है और सौभाग्य से आशय सहृदयाह्लादकारिता है।

तद्विदाह्यादकारित्व

कुन्तक के अनुसार तद्विदाह्यादकारित्व सहृदयहृदयसंवेद्य होता है। उसे वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। उसके विषय में कुन्तक यही कहते हैं कि वह शब्द, अर्थ, और वक्त्रोक्ति इन तीनों के उत्कर्ष से भिन्न उत्कर्ष वाला होता है, साथ ही इन तीनों से भिन्न स्वरूपवाला होता है। तथा सहृदयहृदयसंवेद्य किसी अनिर्वचनीय सौकुमार्य से रमणीय होता है।

कुन्तक का मार्ग-गुणविवेक

कुन्तक का मार्गगुणविवेचन पूर्णतः मौलिक है। उन्होंने मार्गों को काव्यरचना का कारणभूत स्वीकार किया है। वे मार्ग तीन हैं—(१) सुबुमार (२) विचित्र और (३) मध्यम या उभयात्मक।

देशविभाग के आधार पर रीतियों का खण्डन

मार्गों का विवेचन करते हुए कुन्तक ने कई विप्रतिपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं। उन्होंने सबसे पहले गौड, वैदर्भ, आदि देशों पर रखे गये गौडी, वैदर्भी आदि रीतियों तथा गौड या वैदर्भ मार्गों का खण्डन किया है। उसका कहना है कि—

(१) यदि हम भेद के आधार पर विभिन्न रीतियों का नामकरण करेंगे तब तो जितने देश हैं उतनी ही रीतियाँ स्वीकार करनी पड़ेंगी। अतः आनन्त्य दोष प्रस्तुत हो जायगा।

(२) दूसरी बात काव्यरचना किसी देशविदेश का धर्म नहीं होती, जैसे कि ममेरी बहिन के साथ विवाह देशादि का धर्म होता है। क्योंकि देश धर्म तो केवल वृद्धों की परम्परा पर आधारित होते हैं। परन्तु काव्यरचना तो शक्ति, म्युत्पत्ति और अभ्यास पर आधारित होती है। शक्ति आदि को देशविशेष का

धर्म नहीं माना जा सकता है अन्यथा एक देश के सभी कवियों की रचना एक जैसी हो होनी चाविए परन्तु ऐसा हुआ नहीं। अतः देशविशेष के आधार पर रीतियों का विभाजन समीचीन नहीं जैसा कि वैदकी आदि आचार्यों ने किया है।

रीतियों को उत्तम, मध्यम और अधम मानना उचित नहीं

कुछ आचार्यों ने वैदर्भी को उत्तम, पाञ्चाली को मध्यम और गौडीया को अधम रीति के रूप में स्वीकार किया था। उसका भी खण्डन कुन्तक ने किया है। उनका कहना है कि इस प्रकार का त्रैविध्य स्थापित करना ठीक नहीं। अन्यथा वैदर्भी के अलावा अन्य रीतियों का जो उपदेश किया गया है वह व्यर्थ मिट्ट होगा। भला कौन ऐसा मनुष्य होगा जो कि उत्तम चीज को छोड़कर मध्यम और अधम का ग्रहण करेगा। यदि कोई वही रूप में रचना काव्य है तो वह उत्तम ही होगी। क्योंकि काव्य कोई दरिद्र का दान तो है नहीं कि यथा-शक्ति उसको प्रस्तुत किया जाय। काव्य तो वही होगा जो कि सहृदयाढादकारी हो और ऊपर बताये गए द्रव्यलक्षण से समन्वित हो।

कवि स्वभाव के आधार पर मार्ग-विभाजन

अतः कुन्तक ने मार्गविभाजन का आधार कविस्वभाव को स्वीकार किया। जिस कवि का जैसा स्वभाव होता है वैसी ही उसकी शक्ति होती है और उसी शक्ति के अनुरूप उसकी व्युत्पत्ति और अभ्यास भी होते हैं। इस प्रकार सुकुमार स्वभाव के सुकुमार शक्ति होती है, क्योंकि शक्ति और शक्तिमान में अभेद होता है। उस सुकुमार शक्ति के द्वारा वह कवि सौकुमार्य से रमणीय व्युत्पत्ति अर्जित करता है और उसी सुकुमार शक्ति और व्युत्पत्ति के आधार पर वह सुकुमार मार्ग के अभ्यास में लगता है और सुकुमार काव्य की रचना करता है। इसी प्रकार विचित्र स्वभाव वाला कवि विचित्र काव्य को प्रस्तुत करता है और मध्यम स्वभाववाला कवि मध्यम काव्य को प्रस्तुत करता है। यद्यपि कविस्वभाव के आधार पर इन मार्गों का आनन्त्य अनिवार्य है किन्तु उनकी गणना न हो सकने के कारण सामान्य ढंग से उनके तीन भेद स्वीकार किये गए हैं। इन तीनों में कोई भी उत्तम, मध्यम, या अधम ढंग से विभाजित नहीं हैं। सब रमणीय है। क्योंकि सहृदयों को आह्लादित करने की सामर्थ्य की किसी में परा भी कमी नहीं होती है।

सुकुमार मार्ग

कुन्तक ने सुकुमार मार्ग की अधोलिखित विशेषतायें प्रस्तुत की हैं:—

(१) यह कवि की दोषरहित मार्ग उसकी अपूर्व शक्ति द्वारा समुल्लसित होने वाले, एवं सहृदयों को आह्लादित करने में समर्थ शब्दों एवं अर्थों के कारण रमणीय होता है ।

(२) बिना किसी प्रयत्न के विरचित किए गए योडे से ही हृदयाह्लादक अलंकारों से समन्वित होता है ।

(३) इसमें कवि-शक्ति से समुल्लसित होने वाला पदार्थों का रमणीय स्वभाव ही सौन्दर्य को प्रस्तुत करता है, उस स्वभाव-सौन्दर्य के आगे अन्य कार्यों में विद्यमान व्युत्पत्तिजन्य कौशल पीका पड़ जाता है ।

(४) साथ ही श्रुत्यादि रसों के परम रहस्य को जानने वाले सहृदयों के मनःसंवाद के योग्य रमणीय वाक्यविन्यास से युक्त होता है ।

(५) इसमें कविकौशल का, किसी भी इयता की परिधि में वर्णन नहीं किया जा सकता । उसका सौन्दर्य विधाता के कौशल से निर्मित सृष्टि के उत्कर्ष के तुल्य होता है ।

(६) साथ ही इसमें जितना कुछ भी अलंकार वैचित्र्य होता है वह सब कवि की प्रतिभा से निर्मित होता है । उसके आहार्य कौशल का उसमें सर्वथा अभाव होता है और वह सुकुमार्य की रमणीयता को प्रस्तुत करने वाला होता है ।

इस मार्ग में निपुण कवियों के रूप में कुन्तक ने कालिदास व गर्वसेन आदि का नाम ग्रहण किया है ।

विचित्र मार्ग

कुन्तक के अनुसार विचित्र मार्ग की निम्नलिखित विशेषतायें हैं:—

(१) कवि की प्रतिभा के प्रथम उल्लेख के अवसर पर भी बिना उसके प्रयत्न की अपेक्षा रखने वाले शब्दों और अर्थों के अन्दर कोई वकताप्रकार परिस्फुरित होता रहता है ।

(२) इस मार्ग में कविजन केवल एक ही अलंकार से सन्तुष्ट नहीं होते इसीलिये उस अलंकार के अलंकाररूप में वे अन्य अलंकार को उपनिषद् करते हैं ।

(३) यहाँ अलंकार की महिमा ही इतनी प्रकट होती है कि अलंकार्य उसके स्वरूप से आच्छादित-सा होकर प्रकाशित होता है ।

(४) इसमें जिस पदार्थ का यद्यपि नवीन वर्णन नहीं भी किया जाता उसको भी केवल उक्ति-वैचित्र्य से लोकोत्तर अतिशय को प्राप्त करा दिया जाता है ।

(५) साथ ही कवि अपनी प्रतिभा के बल पर अपनी रुचि के अनुसार पदार्थों के स्वरूप को उम ढङ्ग से प्रस्तुत कर देता है जिस रूप में उनकी व्यवस्था ही नहीं होती ।

(६) उसमें शब्द और अर्थ को शक्ति से भिन्न वृत्ति वाले काव्यार्थ की अभिव्यक्ति कराई जाती है ।

(७) उसमें सरस अभिप्राय से युक्त पदार्थों का स्वरूप किसी लोकोत्तर वैचित्र्य में उन्नेजित करके प्रस्तुत किया जाता है ।

(८) वक्तृत्व का वह वैचित्र्य जिसके अन्दर कोई अतिशयोक्ति परिस्फुरित होती रहती है, इस मार्ग का प्राण होता है ।

इस मार्ग में निपुण कवियों के रूप में कुन्तक ने बाणभट्ट, भवभूति व राजशेखर को स्मरण किया है ।

मध्यम मार्ग

मध्यम मार्ग में सुकुमार और विचित्र दोनों मार्गों में उल्लिखित विशेषतायें संयुक्त रूप में विद्यमान रहती हैं । उनमें कवि की शक्ति एवं व्युत्पत्ति से सम्भव होने वाला सौन्दर्य पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ होता है । और सुकुमार तथा विचित्र मार्ग के माधुर्यादि गुण इस मार्ग में मध्यमवृत्ति का आश्रयण करके किसी अपूर्व सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं । इस मार्ग में निपुण कवियों के रूप में कुन्तक ने मातृगुप्त, मायुराज व मञ्जोर आदि का नाम ग्रहण किया है ।

मार्गों के गुण

कुन्तक ने इन प्रत्येक मार्गों के चार-चार नियत गुण बताये जाते हैं—वे हैं—

१. प्रसाद २. माधुर्य ३. लाक्ष्य और ४. अभिजात्य । इनका स्वरूप इस प्रकार है—

१. प्रसाद गुण—(१) सुकुमार मार्ग का प्रसाद गुण सरलता से अभिप्राय को व्यक्त कर देने वाला, सबसे पहले विवक्षित अर्थ का प्रतिपादन करने वाला होता है । सभी श्रृङ्गारादि रूप तथा सभी अलंकार उसके विषय होते हैं । उसमें अक्षमस्त पदों का प्रयोग किया जाता है अथवा समास के रहने पर गमक समास का प्रयोग होता है । प्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग होता है और उनका परस्पर सम्बन्ध बिना किसी व्यवधान के हो जाता है ।

(१) विचित्र मार्ग में यही प्रसाद गुण कुछ अतिशय को प्राप्त कर लेता है । इसमें सर्वथा असमस्त पदों का न्यास नहीं होता, बह कुछ-कुछ ओजस् का स्पर्श करता रहता है । शेष सुकुमार मार्ग के प्रसाद के लक्षण इसमें विद्यमान रहते हैं । तथा इस मार्ग में प्रसाद गुण वहाँ भी माना जाता है जहाँ एक ही वाक्य में उस वाक्यार्थ को प्रस्तुत करने के लिए अनेक दूसरे वाक्य पदों की तरह उपनिबद्ध होते हैं ।

२. माधुर्यगुण—(१) सुकुमार मार्ग में माधुर्यगुण का प्राण असमस्त एव श्रुतिरमणीयता तथा अर्थरमणीयता के कारण हृदय को आनन्दित करने वाला पदों का विशेष सन्निवेश होता है ।

(२) विचित्र मार्ग में माधुर्य पदों के वैचित्र्य का समर्पक होता है । उसमें शिथिलता का अभाव सन्निवेश-सौन्दर्य का कारण बनता है ।

३. लावण्यगुण—(१) सुकुमार मार्ग का लावण्य गुण वणों के उस वैचित्र्यपूर्ण न्यास से आता है जो बिना किसी व्यवसन के निर्मित की गई पदों की योजना-रूप सम्पत्ति को प्रस्तुत करता है ।

(२) विचित्र मार्ग में यही लावण्य कुछ अतिरेक को प्राप्त कर लेता है । इसमें पदों के अन्त में आने वाले विसर्गों को भरमार होती है । संयुक्तवर्णों का अधिक प्रयोग रहता है । पद परस्पर एक दूसरे से सश्लिष्ट होते हैं ।

४. आभिजात्यगुण—(१) सुकुमार मार्ग में आभिजात्य गुण उसे कहते हैं, जो श्रुतिरमणीयता से सुशोभित होता है, हृदय का मानों स्पर्श-सा करता रहता है और सहज रमणीय कान्ति से सम्पन्न होता है ।

(२) विचित्र मार्ग में न तो यह बहुत कोमल ही कान्ति से युक्त होता है और न बहुत कठिन को हो धारण करता है । साथ ही कविकौशल से ही निर्मित होने के कारण रमणीय होता है ।

इस प्रकार सुकुमार मार्ग के माधुर्य आदि गुण विचित्र मार्ग में कुछ आश्चर्य सम्पत्ति को प्रस्तुत करने के कारण अतिशय को प्राप्त कर लेते हैं—

आभिजात्य प्रवृत्तयः पूर्वमार्गोदिता गुणाः ।

अत्रातिशयमायान्ति जनिताहार्यसम्पदः ॥ १।१।१०

मध्यम मार्ग में ये सारे के सारे गुण एक मध्यमवृत्ति का आश्रय ग्रहण कर सौन्दर्य को प्रस्तुत करते हैं ।

इस प्रकार कुन्तक चार चार निश्चित गुणों से रमणीय मार्गत्रितय की व्याख्या करके दो साधारण गुणों को प्रस्तुत करते हैं । वे हैं—(१) सोभाग्य और (२) औचित्य । ये दोनों गुण प्रत्येक मार्ग में पदों से लेकर प्रबन्ध तक व्यापक रूप में विद्यमान रहते हैं ।

१. सौभाग्य गुण

काव्य के उपादेय तत्त्वों अर्थात् शब्द आदि के समूह में जिस तत्त्व को प्राप्त करने के लिए कवि की शक्ति बढ़ी हो सावधानी के साथ व्यापार करती है, उसे सौभाग्यगुण कहते हैं। यह केवल कविप्रतिभा के व्यापार द्वारा ही साध्य नहीं होता। बल्कि काव्य की समाप्त उपादेय सामग्री द्वारा सम्पादनीय होता है। साथ ही सहृदयों के अन्दर अलौकिक चमत्कार की सृष्टि करने वाला होता है और काव्य का एकमात्र प्राण होता है।

२ औचित्य गुण

जिसके कारण पदार्थों का उत्कर्ष स्पष्ट ढङ्ग से परिपुष्ट होता है वही उचित कथन के प्राणवाला उक्तिप्रकार औचित्य गुण कहलाता है। इसी औचित्य के अनुरूप होने पर ही अलंकार-विन्यास सौन्दर्य लाने में समर्थ होता है।

अथवा जहाँ पर वर्ण्य पदार्थ वक्ता अथवा श्रोता के सौन्दर्यातिशायी स्वभाव के द्वारा आच्छादित कर दिया जाता है वहीं भी औचित्य गुण होता है।

यदि इन औचित्य का पद, वाक्य या प्रबन्ध में कहीं भी अभाव होता है तो उससे सहृदयों को आनन्द-प्रतीति में बाधा पड़ जाती है।



कुन्तक और कश्मीर-शैवाद्वैत

प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार एकमात्र परम तत्त्व 'परम शिव' है जो अद्वैत, निर्विकार एवं सच्चिदानन्दस्वरूप है। शिव का स्वरूप शिवरूटि में इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

“आत्मैस सर्वभावेषु स्फुरतिर्वृतचिद्रम् ।

अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरदविक्रयः शिवः ।”

उन शिव की शक्तियों अनन्त है—“शक्तयथासङ्ख्येयाः”—शिवरूटि। किन्तु मुख्यरूप से उन्हें पाँच शक्तियों पर निर्भर कहा गया है—“पञ्चशक्तिषु निर्भरः”—शि० ६०। परमार्थतः ये शक्तियाँ शिव से भिन्न नहीं, क्योंकि ‘शक्ति-शक्तिमतोरभेद’ न्याय से शक्ति और शक्तिमान् में अभेद होता है, जैसे अग्नि और उसका दाहकत्व एक दूसरे से अभिन्न हैं, अग्नि शक्तिमान् है और दाहकत्व उसकी शक्ति। यही बात ‘शिवरूटि’ में इस प्रकार कही गई है—

“न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्यतिरेकिणी ।

शिवः शक्तस्तथा भावानिच्छया कर्तुमीहते ॥ .

शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते ॥”

उन शिव की पाँच शक्तियाँ हैं—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया, जिनका स्वरूप निम्न प्रकार है—

(१) चित् शक्ति—प्रकाशरूपता ही चित् शक्ति है, क्योंकि परमशिव प्रकाररूप है, अतः प्रकाशरूपता उसकी शक्ति हुई, जैसा ‘तन्त्रसार’ में कहा गया है—‘प्रकाशरूपता चित्शक्तिरिति ।’

(२) आनन्दशक्ति—स्वातन्त्र्य ही आनन्द शक्ति है क्योंकि आनन्द की उपरन्धि स्वतन्त्रता में ही सम्भव है, परतन्त्रता में नहीं। ‘तन्त्रसार’ में कहा गया है—‘स्वातन्त्र्यमानन्दशक्तिरिति ।’

(३) इच्छाशक्ति—‘इस प्रकार से मैं इस प्रकार का हो जाऊँ’ ऐसा शिव का चमत्कार ही इच्छाशक्ति है—‘तत्त्वमत्वर इच्छाशक्तिः। चमत्कारस्तु इत्यम्बुभूषाढक्षण इति’।—तन्त्रसार। .

(४) ज्ञानशक्ति—थोड़ा सा वेद्य (ज्ञान) की ओर उन्मुख होना अर्थात् आमर्शरूपता ही ज्ञान शक्ति है। वस्तुतः तो परम शिव ज्ञानस्वरूप ही है। ‘आमर्शात्मकता ज्ञानशक्तिः। ईषत्तया वेद्योन्मुखता आमर्श इति’—तन्त्रसार।

(५) क्रियाशक्ति—एक का अनेक में समस्त आकारों में योग हो जाना

अर्थात् विश्वरूप में आ जाना हो क्रियाशक्ति है—‘सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिरिति’—तन्त्रमार ।

इन्हीं उपर्युक्त पाँच शक्तियोंके द्वारा परमशिव इस जगत्प्रपञ्च को परिस्फुरित करता है । अर्थात् जब उसे यह इच्छा होती है कि ‘मैं एक से अनेक हो जाऊँ’ तो उसकी शक्ति में स्पन्दन क्रिया होती है । ‘स्पन्द’ शब्द ‘स्पदि किञ्चित्चलने’ धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ झिलना, फड़कना अर्थात् स्फुरण होता है । इस प्रकार शक्ति में कुछ परिस्फुरण होता है जो कि कुछ कुछ चलने के कारण स्पन्द कहा जाता है । यही शक्ति का स्पन्द ही वस्तुतः जगत् है । जगत् की सत्ता स्पन्दरूप ही है और यह स्पन्द शक्ति का स्वरूप ही है । शक्ति का परमशिव से अभेद सिद्ध कर ही चुके हैं । अतः यह सिद्ध हुआ कि यह जगत् परमशिव से पृथक् नहीं । अतः वह अद्वैत है—जैसा ‘प्रत्यभिज्ञाहृदय’ में कहा गया है —

“पराशक्तिरूपा चित्तिरेव भगवती - शक्तिः शिवमद्वारकाभिज्ञा तत्तदनन्त-जगदात्मना स्फुरति ।”

अब प्रश्न यह उठता है कि परमशिव तो एक पर इस जगत्त्रैविध्य में अनेकता है तो एक ही अनेक हो, यह कैसे सम्भव है ? इस प्रश्न का उत्तर प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार यह है कि ‘वस्तुतः’ यह सब एक ही है किन्तु उसमें अनेकता का आभास होता है ठीक उसी प्रकार जैसे कि बड़े हुए मयूर के पंखों का रंगवैचित्र्य जो अनेक प्रतीत होता है, वस्तुतः वह उसके अण्डे के भीतर के एकरूप ही तरलपदार्थ में निहित रहता है । उसमें मयूर के बड़े होने पर हमें अनेकता का आभास होने लगता है । इसी को ‘मयूरण्डरसन्याय’ कहते हैं ।

इसी ‘स्पन्द’ की व्याख्या करते हुए ‘स्पन्दप्रतीपिका’ में उत्पलाचार्य कहते हैं—“स्पदि किञ्चित्चलने इति स्पन्दनात् स्पन्दः । स्पन्दनञ्च निस्तरङ्गस्यास्य तावत् परमात्मनः युगपद्विर्विकल्पा या सर्वत्रौन्मुख्यवृत्तिता ।” अर्थात् स्पन्दन क्या है ? निस्तरङ्ग अर्थात् शान्त, अचंचल, निर्विकार परमात्मा परमशिव की एक साथ जो सर्वत्र अर्थात् विश्वरूप समस्त आकारों में औन्मुख्यवृत्तिता अर्थात् उसकी ओर उन्मुख हो जाना—वही स्पन्द है । आशय यह कि अद्वैत शिव का अनेकता में आभास ही स्पन्द है ।

इस स्पन्द के उपचार से ‘सामान्य’ और ‘विशेष’ दो रूप माने जाते हैं । ‘सामान्यस्पन्द’ का रूप है—

“परमकारणभूतस्य सत्यस्य आत्मस्वरूपस्य ‘अयमहमस्मि’ अतः सर्वप्रभवति, अत्रैव च प्रलयते इति प्रत्यक्षमर्शात्मको निजो धर्मः सामान्यस्पन्दः ।” (१।५ स्पन्दकारिका विवृति) अर्थात् इस जगत् के परमकारणभूत सत्य अपने स्वरूप का—यह मैं हूँ इसी से सब प्रभूत होता है, इसी में सब प्रलीन हो जाता है—

इस प्रकार का जो परामर्श रूप आन्तरिक ज्ञान है—एकता का ज्ञान है—यह 'सामान्यस्पन्द' है यह उपादेय है। इससे हमें परमशिव की सत्ता का ज्ञान होता है। यह सन्नूप है। यही परमेश्वर की मुख्य शक्ति है।

'विशेषस्पन्द' का स्वरूप है—'विशेषस्पन्दाः अनात्मभूतेषु, देहादिषु, आत्मा-मिमानमुद्भावयन्तः, परस्परभिन्नमावीयप्रमातृविषयाः सुखितोऽहं दुःखितोऽहमित्या-दयो गुणमयाः प्रत्यवप्रवाहाः संसारहेतवः।'—वही। अर्थात् 'विशेषस्पन्द' अना-त्मभूत देहादि में अपने अभिमान की उद्भावना करते हुए एक दूसरे से भिन्न मागाजन्य प्रमाताओं के विषयभूत, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, इत्यादि सत्त्व, रजस् एवं तमोरूप गुणों से युक्त ज्ञान के प्रवाह रूप संसार के कारण हैं। परिणामतः ये हेय हैं।

अतः यह स्पष्ट हुआ कि यह मायिक जगत् 'स्पन्द' के विशेषरूप में उपवर्तित है। यद्यपि परमार्थतः 'स्पन्द' का कोई सामान्य या विशेष रूप नहीं है। इस प्रकार संक्षेप में स्पन्द की निम्न विशेषतायें सिद्ध हुईं—

- (१) 'स्पन्द' शक्ति का स्वभाव आत्मीय भाव है।
- (२) 'स्पन्द' शक्ति का धर्म है।
- (३) 'स्पन्द' शक्ति का व्यापार है।
- (४) 'स्पन्द' शक्ति का विलसित है।
- (५) 'स्पन्द' शक्ति का स्वरूप अपना ही रूप है।
- (६) 'स्पन्द' शक्ति से अभिन्न है।
- (७) यह दृश्यमान (अनुभूयमान) जगत् रूप वैविध्य शक्ति का स्पन्द ही है।
- (८) 'स्पन्द' शक्ति का स्फुरितत्व है।

हमारे 'साहित्यदर्शन' में 'अर्थ' परमशिवरूप में तथा 'वाणी' शिवारूप में अर्थात् शक्तिरूप में प्रतिष्ठित है—'अर्थः शम्भुः शिवा वाणी'। वस्तुतः वाणी अर्थ से अभिन्न है क्योंकि वाणी तो अर्थरूप ही है। वाणी की प्रतिष्ठा 'परावाक्' के रूप में की गई है। उसका स्वरूप तन्त्रालोक में इस प्रकार कहा गया है—

'चित्ति' प्रत्यवमर्शात्मा परा वाक् स्वरसोदिता' अर्थात् परावाक् (उत्कृष्टा वाणी) चित् शक्ति है। कैसी चित् ? प्रत्यवमर्शात्मा अर्थात् चैतन्यस्वरूप ही है क्योंकि प्रत्यवमर्श चैतन्य का ही होता है। और कैसी चित् ? स्वरसोदिता अर्थात् स्वारस्य, अपनी ही इच्छा (स्वातन्त्र्य) से स्फुरित। आशय यह है कि उसमें स्पन्दन स्फुरण, अपने आप ही होता है। उसका कोई कारण नहीं। यह वाक् उत्कृष्ट अर्थ के ही परामर्शरूप होने के कारण उससे अभिन्न है। इसी की व्याख्या तन्त्रालोक में श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य ने इस प्रकार किया है—

“इह खलु परपरामर्शसारबोधात्मिकाया परस्यां वाचि सर्वभारनिर्भरत्वात् सर्वे शास्त्रं परबोधात्मकतयैवोज्ज्वलमणं सत्-इति ।”

इस परावाक् के तीन अन्य रूप भी हैं जो वस्तुतः इसके स्पन्द रूप ही हैं । वे हैं—

१. पश्यन्ती, २ मध्यमा, और ३. वैखरी ।

१. पश्यन्ती—दशा से भी वाच्य और वाचक का विभाग नहीं हुआ होता । अतः वाच्य से अभिन्न होने के कारण उसमें अर्थ रूप आन्तरिक ज्ञान का परामर्श होता रहता है किन्तु वह परामर्श अहन्ता से आच्छादित हो स्फुरित होता है । इसे ‘तन्त्रालोक’ में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

“पश्यन्तीदशाया वाच्यवाचकविभागस्वभावत्वेनासाधारणतयाऽह प्रत्यवमर्शात्मकमन्तरेति । अतएव हि तत्र प्रत्यवमर्शकेन प्रमात्रा परामृश्यमानो वाच्योऽर्थोऽहन्ताच्छादित एव स्फुरति ।”

२.—मध्यमा—दशा में यह वाक् भिन्न-भिन्न वाच्य और वाचक के रूप में वल्लसित होती है । लेकिन भीतर ही, बाहर नहीं । इसमें यह भिन्नरूपता इसलिए आ जाती है क्योंकि इसमें वेद्य और वेदक अर्थात् प्रमेय और प्रमाता के प्रपञ्च का उदय हो जाता है । इसे अभिनवगुप्त ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

“तदनु तदेव मध्यमाभूमिकायामन्तरेव वेद्यवेदकप्रपञ्चोदयात् वाच्यवाचक-स्वभावतयोल्लसति ।”—तन्त्रालोक ।

३. वैखरी—दशा में यह वाच्य और वाचक का भेद अत्यधिक स्पष्ट होकर बाह्य रूप में हमारे सामने उपस्थित होता है । जैसा तन्त्रालोक में कहा गया है—

“यद् बहिर्वैखरोदशाया स्फुटताभिरादिति ।’ वस्तुतः हमारे नित्य प्रयोग में आनेवाली माया वाक् का वैखरी रूप ही है ।

इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि जिस प्रकार जगद्वैचित्र्य केवल चित् शक्ति का परिस्पन्दमात्र है उसी प्रकार यह वाच्यवाचकवैचित्र्य भी चिद्रूपा परावाक् का परिस्पन्द ही है ।

स्पन्द और विवर्तवाद

जिस प्रकार प्रत्यभिज्ञादर्शन में परमशिव की अद्वैतता सिद्ध करने के लिए जगत् को स्पन्द रूप माना गया है, उसी प्रकार वेदान्तदर्शन में ब्रह्म की अद्वैतता को सिद्ध करने के लिए जगत् को विवर्तरूप में स्वीकार किया गया है ।

पारमार्थिक दृष्टि में जगत् को ब्रह्म से पृथक् सत्ता न वेदान्त ही स्वीकार करता है और न परमशिव से पृथक् जगत् को सत्ता प्रत्यभिज्ञादर्शन ही ।

लेकिन प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार स्पन्द सत् है जब कि वेदान्त का विवर्त असत् । वेदान्त के अनुसार ब्रह्म सत् है और उसका विवर्तरूप जगत् मिथ्या— 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या ।' पर प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार परमशिव भी सत्, शक्ति भी सत् और उसका स्पन्दरूप जगत् भी सत् है । जैसा कि 'प्रत्यभिज्ञा-हृदय' में कहा गया है—“पराशक्तिरूपा चित्तिरेव भवती शक्ति- शिवमधारका-भिज्ञा तत्तदनन्तश्रगदात्मना स्फुरति” । यही दोनों का भेद है ।

स्पन्द और परिणामवाद

जिस प्रकार प्रत्यभिज्ञादर्शन में जगत् शक्ति का स्पन्द है उसी प्रकार साङ्ख्य के अनुसार जगत् प्रकृति का परिणाम है । प्रकृति ही इस जगत् का कारण है । वह त्रिगुणात्मक है क्योंकि साङ्ख्य सत्कार्यवाद को स्वीकार करता है । अतः क्योंकि जगत् त्रिगुणात्मक प्रतीत होता है अतः इसको कारणभूत प्रकृति भी त्रिगुणात्मक है ।

जिस प्रकार शक्ति का स्पन्दरूप जगत् शक्ति से पृथक् नहीं उसी प्रकार प्रकृति का परिणाम रूप जगत् प्रकृति से पृथक् नहीं, क्योंकि कारण ही तो परिणामरूप में परिवर्तित हो जाता है ।

शक्ति भी सत् है, इसका स्पन्द भी सत् है, उसी प्रकार प्रकृति भी सत् है उसका परिणाम भी सत् है ।

परन्तु सांख्य की प्रकृति जड़ है । वह परिवर्तनशील है, और उसमें यह परिवर्तन उससे भिन्न निरपेक्ष, चेतन एवं नित्य पुरुष के दर्शन से प्रारम्भ होता है । परिणामतः इसमें द्वैत की सत्ता स्वीकृत है, जब कि प्रत्यभिज्ञादर्शन में शक्ति जड़ नहीं । उसमें परिवर्तन भी नहीं होता । परिवर्तन का हमें केवल आभास होता है । तथा शक्ति परमशिव से भिन्न नहीं । अतः इसमें अद्वैत की सत्ता स्वीकृत है ।

इसके अतिरिक्त सांख्य रुष की अनेकता स्वीकार करता है जब कि प्रत्यभिज्ञादर्शन परमशिव को एकता ।

स्पन्द और नैयायिक उत्पत्ति सिद्धान्त

जिस प्रकार वेदान्त जगत् को ब्रह्म का विवर्तरूप, सांख्य प्रकृति का परिणामरूप एवं प्रत्यभिज्ञादर्शन शक्ति का स्पन्दरूप स्वीकार करता है उसी

प्रकार नैयायिक जगत् को परमाणुओं से उत्पन्न मानता है क्योंकि परमाणुओं के परस्पर मिलने से द्वयणुक उत्पन्न होता है और द्वयणुक से सृष्टि की उत्पत्ति होती है ।

पर साङ्ख्य और प्रत्यभिज्ञादर्शन दोनों में कारण में कार्य सत् रूप में विद्यमान रहता है क्योंकि साङ्ख्य तो सत्कार्यवाद ही स्वीकार करता है और प्रत्यभिज्ञादर्शन में तो स्पन्द-शक्ति का स्वरूप ही है, परन्तु न्याय अस्त से सत् की उत्पत्ति मानता है जब कि प्रत्यभिज्ञादर्शन में स्पन्द भी सत्, शक्ति भी सत् और परमशिव भी सत् है ।

स्पन्द और बौद्ध-असत्कार्यवाद

बौद्ध दर्शन भी ठीक उसी प्रकार शून्य की सत्ता स्वीकार करता है जैसे प्रत्यभिज्ञादर्शन 'शून्यप्रमाता' की । शून्यप्रमाता का लक्षण 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-कारिका' में इस प्रकार दिया गया है —

“शून्ये युद्धपायभावात्मन्यहन्ताकर्तृतापदे ।

अस्फुटा रूपतस्कारमात्रिणि ज्ञेयशून्यता ॥”

जगत् रूप कार्य का कारण प्रत्यभिज्ञादर्शन भी स्वीकार करता है, स्पन्द का कारण परमशिव है । बौद्ध भी सभी कार्यों का कारण शून्य को स्वीकार करता है ।

बौद्ध भी शून्य को अभावरूप मानता है, प्रत्यभिज्ञादर्शन भी शून्य को अभावरूप मानता है, पर इनका अभाव बौद्धों के अभाव से सर्वथा भिन्न है । ये अभाव को समस्त भावों के लयस्थान के रूप में स्वीकार करते हैं, जैसा स्पन्द-कारिका में कहा गया है ।

“अशून्यः शून्य इत्युक्तः शून्यश्चाभाव उच्यते ।

अभावः स तु विज्ञेयो यत्र भावा क्षयं गता ॥”

साय ही बौद्धदर्शन सभी को 'सर्व क्षणिक क्षणिकम्' कह कर क्षणिक मानता है जब कि प्रत्यभिज्ञादर्शन परमशिव की सत्ता क्षणिक न स्वीकार कर नित्य मानता है ।

साय ही बौद्धदर्शन 'सर्वमनात्ममनारमम्' कह कर आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करता है जब कि प्रत्यभिज्ञादर्शन परमशिव को आत्मरूप ही मानता है—जैसा शिवदृष्टि में कहा गया है—

“आत्मेव सर्वभावेसु स्फुरन्निर्द्वन्द्वचिद्विभुः ।

अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्विक्रयः शिवः ॥”

आचार्य कुन्तक द्वारा दी हुई 'वक्रोक्तिजीवित' की कारिकाओं की वृत्ति में स्पन्द के विभिन्न पर्याय

आचार्य कुन्तक काश्मीरी थे । काश्मीर के शैव दर्शन का उन पर प्रभूत प्रभाव है । 'स्पन्द' शब्द जैसा कि विवेचन कर चुके हैं 'शैवदर्शन' का ही है । इस शब्द का प्रयोग आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' में अनेक स्थलों पर किया है । उनके वृत्तिभाग के प्रथम 'मंगलश्लोक' के विषय में निर्देश करते हुए हमने कुन्तक की शैवाद्वैत की सत्ता स्वीकृति का संकेत किया था । हमारे इस अभिमत की पुष्टि स्वयं कुन्तक द्वारा दिये गये स्पन्द के विभिन्न पर्यायों की दार्शनिक अर्थ के साथ सङ्गति दिखाने पर हो जायगी ।

(क) स्पन्द का स्वभाव के पर्याय-रूप में प्रयोग

(१) काव्यमार्ग में अर्थ किस रूप का होना चाहिए यह बताते हुए (का० १:१९) — 'अर्थः सहृदयाद्वाद्वादिस्वस्पन्दसुन्दरः' की व्याख्या करते हैं— 'अर्थश्च वाच्यलक्षणः कीदृशः ? काव्ये यः सहृदयाः काव्यार्थविदस्तेषामाद्वाद्मानन्दं करोति यस्तेन स्वस्पन्देन आत्मीयेन स्वभावेन सुन्दरः सुवृत्तः इति ।'

(२) स्वभावोक्ति अलङ्कार के खण्डन के प्रसङ्ग में (१:१९) 'स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते' में आये 'स्वभावव्यतिरेकेण' का पर्याय देते हैं— 'स्वपरिस्पन्दं विना निःस्वभावं वक्तुमभिधातुमेव न युज्यते न शक्यते इति ।'

(३) आगे इसी प्रसङ्ग में आये हुई (१:१४) 'भूषणत्वे स्वभावस्य विहिते भूषणान्तरे' में आये हुए 'स्वभावस्य' की व्याख्या करते हैं— 'भूषणत्वे स्वभावस्य अलङ्कारत्वे स्वपरिस्पन्दस्य इति ।'

(४) इसके अनन्तर विचित्रमार्ग का लक्षण करते हुए (१:४९) 'स्वभावसरसाकृतो भावानां यत्र बध्यते' में आये स्वभाव का पर्याय देते हैं— 'यत्र यस्मिन् भावानां स्वभावः स्वपरिस्पन्दः सरसाकृतो रसनिर्भरमभिप्रायः इत्यादि ।'

(५) तदनन्तर औचित्य गुण का स्वरूप बताते हुए (१:५४) 'आच्छाद्यते स्वभावेन सदप्यौचित्यमुच्यते ।' में आये हुए स्वभाव की व्याख्या करते हैं— 'यत्र यस्मिन् वक्तुरभिधातुः प्रमातृणां धोतुर्वा स्वभावेन स्वपरिस्पन्देन वाच्यमभिधेयमित्यादि ।'

(६) आगे चल कर उत्प्रेक्षा अलङ्कार के एक भेद का निरूपण करते हुए पृ. १०) 'प्रतिभासात्तथा बोद्धः स्वस्पन्दमहिमोचितम्' में आये स्वस्पन्दमहिमी-

चितम्' का व्याख्यान करते हैं—“तस्य पदार्थस्य या स्वस्वपन्दमहिमा स्वभावोत्कर्षस्तस्यैगितगनुरूपम् ।” इत्यादि ।

इस प्रकार इतने निदर्शनों से यह बात स्पष्ट है कि इन स्थलों पर कुन्तक ने स्वभाव के पर्यायरूप में स्पन्द का और स्वभाव का स्पन्द के पर्यायरूप में प्रयोग किया है ।

(ख) स्पन्द का धर्म के पर्याय-रूप में प्रयोग

(१) रुढिवैविध्यवक्ता के लक्षण प्रसङ्ग में (२।८-९) ।

यत्र हृदयरसम्भाव्यधर्माध्यारोपगर्भता ।

सद्धर्मातिरायारोपगर्भत्वं वा प्रतीयते ॥

में प्रयुक्त ‘धर्म’ शब्दों का पर्याय देते हैं—(१) यत्र यस्मिन् विषये रुढि-शब्दस्य असम्भाव्य सम्भावयितुमशक्यो यो धर्मः कश्चित् परिस्पन्दः तस्याध्यारोप—इत्यादि । तथा (१) ‘संवासा धर्मश्च सद्धर्मः चिद्यमानः पदार्थस्य परिस्पन्दः ।

(२) आगे ‘अतिशयोक्ति’ अलङ्कार का लक्षण देते हुए (३।२९ ।)

यस्यामतिशयः कोऽपि विच्छिन्या प्रतिपाद्यते ।

वर्णनीयस्य धर्माणां तद्विराडाददायितान् ॥

में आये ‘वर्णनीयस्य धर्माणाम्’ का पर्याय देते हैं—‘प्रस्ताबाधिकृतस्य वस्तुनः स्वभावानुमम्बन्धिनाम् परिस्पन्दानाम् ।”

(३) तथा उपमालङ्कार का निरूपण करते हुए (३।२८) ‘विवक्षित-परिस्पन्दमनोहारित्वसिद्धये’ में आये परिस्पन्द की व्याख्या करते हैं—‘विवक्षितो वस्तुमभिप्रेतो योऽसौ परिस्पन्दः कश्चिदेव धर्मविशेषः ।’

(४) तथा जैसा हम पहले दिखा आये हैं कि स्पन्द के पर्यायरूप में उन्होंने स्वभाव का अनेकशः प्रयोग किया है । एकत्र वर्णनीय वस्तु का विषयविभाग करते हुए (३।५)

‘भावानामपरिम्लानस्वभावौचित्यसुन्दरम् ।’ में आये का स्वभाव का अर्थ करते हैं—‘अपरिम्लानः प्रत्यग्रमरिपोषपेशलो यः स्वभावः पारमार्थिको धर्मस्तस्येत्यादि ।’

इन निदर्शनों से स्पष्ट है कि इन विभिन्न स्थलों पर कुन्तक ने धर्म के पर्याय रूप में स्पन्द तथा स्पन्द के पर्याय रूप में धर्म का प्रयोग किया है ।

(ग) परिस्पन्द का व्यापार के पर्याय-रूप में प्रयोग

(१) काव्य का प्रयोगन बताते हुए (१।४) ।

व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यव्यवहारिभिः ।

सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते ॥

में प्रयुक्त परिस्पन्द को व्याख्या करते हैं—‘व्यवहारो लोकवृत्तम्, तस्य परिस्पन्दो व्यापारः क्रियाक्रमलक्षणस्तस्य सौन्दर्यमित्यादि ।

(१) तथा शब्द और प्रतीयमान दो प्रकार के व्यतिरेकालङ्कार के निरूपण के अनन्तर तीसरे प्रकार के व्यतिरेक का निरूपण करते हुए (३।३६) ।

‘लोकप्रसिद्धसामान्यपरिस्पन्दाद् विशेषतः ।’

व्यतिरेको यदेकस्य स परस्तदिववक्ष्या ॥

में आये परिस्पन्द का व्याख्यान करते हैं—‘लोकप्रसिद्धो जगत्प्रतीतः सामान्य-भूत सर्वसाधारणो यः परिस्पन्दः व्यापारः तस्मादिति ।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि यहाँ पर उन्होंने परिस्पन्द का व्यापार के पर्याय रूप में प्रयोग किया है ।

(घ) स्पन्द का विलसित के पर्याय-रूप में प्रयोग

(१) ग्रन्थ के आरम्भ में ही अभिमत देवता के प्रति नमस्कारात्मक (१।१)

‘वन्दे कषीन्द्रवक्त्रेन्दुताम्यमन्दिरनर्तकीम् ।

देवीं सूक्तिपरिस्पन्दसुन्दराभिनयोज्ज्वलाम् ॥

में आये सूक्तिपरिस्पन्द की व्याख्या करते हैं—‘सूक्तिपरिस्पन्दाः सुभाषित-विलसितानि’ ।

(२) तदनन्तर ग्रन्थव्यवहृता के दूसरे भेद का निरूपण करते हुए (२।१८)

‘भागमादि परिस्पन्दसुन्दरः शब्दवक्त्रात्मा’ ।

परः कामपि पुष्पाति बन्धच्छायाविधायिनीम् ॥’

में आये परिस्पन्द का व्याख्यान करते हैं—‘भागमी मुमादिरादिर्यस्य सं तपोऽ-स्तस्यायमः परिस्पन्दः स्वविलसितं, तेन सुन्दरः सुकुमारः ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन स्थलों पर कुन्तक ने परिस्पन्द का प्रयोग विलसित के पर्याय रूप में किया है ।

(ङ) परिस्पन्द के पर्याय रूप में स्वरूप शब्द का प्रयोग

वर्णनीयवस्तु का विषयविभाग करते हुए (३।५)—‘चेतनानां जडानाञ्च स्वरूपं द्विविधं स्मृतम्’ में आये ‘स्वरूपम्’ का पर्याय देते हैं—‘भावानां वर्ण्य-मानवृत्तीनां स्वरूप परिस्पन्दः ।’ यहाँ निश्चय ही स्वरूप स्पन्द के पर्याय रूप में प्रयुक्त हुआ है ।

(च) परिस्पन्द का स्फुरितत्व अर्थ में प्रयोग

सौभाग्य गुण का विवेचन करते हुए कि वह गुण किस प्रकार का सम्पादित करना चाहिए कुन्तक (१।५६)

“सर्वसम्पत्परिस्पन्दसम्पाद्यं सरसात्मनाम् ।

अलौकिकचमत्कारकारि काव्यैकजीवितम् ॥”

में आये परिस्पन्द का व्याख्यान करते हैं—सर्वस्योपादेयराशेयां सम्पत्तिरनवय-
ताकाष्ठा तस्याः परिस्पन्दः स्फुरितत्वं तेन सम्पाद्य निष्पादनीयम् ।”

यहाँ स्पष्ट हो परिस्पन्द का प्रयोग स्फुरितत्व के पर्याय रूप में हुआ है ।

स्पन्द के दार्शनिक अर्थ के साथ कुन्तक द्वारा दिए हुए अर्थों की सज़्जति

‘स्पन्द’ के कुन्तक द्वारा किए गए विभिन्न शब्दों के पर्याय रूप में प्रयोगों का विचार करते हुए हमने देखा कि उन्होंने ‘स्पन्द’ या ‘परिस्पन्द’ का प्रयोग मुख्यतः (१) स्वभाव, (२) धर्म (३) व्यापार, (४) विलसित, (५) स्वरूप तथा (६) स्फुरितत्व के पर्याय रूप में किया है । उनके ये सभी प्रयोग ‘स्पन्द’ के दार्शनिक अर्थों से पूर्णतः सज़्जत हैं । क्योंकि—

(१) स्पन्द वस्तुतः शक्ति का स्वभाव ही है । जैसे हृदय का स्पन्द हृदय का स्वभाव ही होता है, अन्यथा स्पन्द की समाप्ति पर भी हृदय की जीवितता होनी चाहिए, पर ऐसा होता नहीं । अतः सिद्ध हुआ कि हृदय का स्पन्द उसका स्वभाव ही है । इसी प्रकार शक्ति का स्पन्द भी उसका स्वभाव ही है । अतः कुन्तक का स्पन्द का स्वभाव के पर्याय रूप में प्रयोग असज़्जत नहीं ।

(२) इसी प्रकार स्पन्द का धर्म के पर्याय रूप में भी प्रयोग असज़्जत नहीं क्योंकि स्पन्द धर्मरूप ही है । जैसा कि हमने पहले सिद्ध किया है और जैसा कि ‘स्पन्दकारिका’ को प्रथम निकाम की प्रथम कारिका को ही व्याख्या में श्रीराम-कण्ठाचार्य लिखते हैं—“स्पन्दशब्दश्चायं स्वस्वभावपरामर्शमात्रस्य नित्यस्य शून्यताव्यतिरेचनकारणभूतस्य तावन्मात्रसंरम्भात्मनः शक्त्यपराभिधानस्य पारमेष्ठ्यस्य धर्मस्य किञ्चिच्चलनात् स्पन्द इति” । इससे स्पष्ट है कि स्पन्द संज्ञा किञ्चिच्चलन रूप धर्म के कारण ही दी गई है । अतः कुन्तक का यह भी प्रयोग दार्शनिक अर्थ से सर्वथा सज़्जत है ।

(३) स्पन्द का व्यापार के पर्याय रूप में भी प्रयोग असंगत नहीं, क्योंकि स्पन्द व्यापार ही है । जब स्पन्दन होता है तो वह स्पन्दन रूप किया व्यापार ही तो होती है क्योंकि व्यापार क्रियाकमलक्षण ही तो होता है, और जैसा अभी हमने ऊपर दिखाया है कि—“पारमेष्ठ्यस्य धर्मस्य किञ्चिच्चलनात् स्पन्दः ।” स्पष्ट है कि किञ्चिच्चलन व्यापार से भिन्न नहीं ।

(४) जैसा हमने पहले सिद्ध किया था कि यह जगत् वस्तुतः शक्ति का ही विलसित है, साथ ही जगत् स्पन्दरूप ही है । अतः विलसित और स्पन्द पर्याय हुए । इस लिए स्पन्द का कुन्तक द्वारा विलसित के पर्याय रूप में प्रयोग भी सङ्गत ही है ।

(५) स्पन्द का स्वरूप अर्थ में भी प्रयोग असङ्गत नहीं क्योंकि शक्ति का स्पन्द शक्ति का स्वरूप ही होता है । उससे भिन्न नहीं । जैसे चिड़िया के डैने में स्पन्दन हुआ और चिड़िया के पंखे कुछ फूट आए तो चिड़िया अपना रूप बदल कर हाथी तो नहीं हो जाती । अतः सिद्ध हुआ कि स्पन्द स्वरूप ही होता है ।

(६) स्पन्द स्फुरित्व रूप तो होता ही है क्योंकि स्फुरित्व के कारण हो तो यह स्पन्द कहा जाता है । जैसा व्युत्पत्ति से हो ज्ञात है क्योंकि स्पन्द की निष्पत्ति 'स्पदि किञ्चित्त्वलने' धातु से होती है--'स्पन्दनात् स्पन्द- ।'

अतः यह सिद्ध हुआ कि कुन्तक द्वारा प्रयुक्त स्पन्द के सभी पर्याय स्पन्द के दार्शनिक अर्थ से सर्वथा सङ्गत हैं । उनका 'वक्रोक्तिजीवित' जैसे साहित्यप्रणय की व्याख्या में इस प्रकार प्रयोग उनकी शैवाद्वैत की बहुत बड़ी पहुँच का परिचायक है, इसमें कोई संशय नहीं रह जाता ।



प्रस्तुत संस्करण का महत्त्व

प्रस्तुत ग्रन्थ 'वक्तोक्तिजीवित' को सर्वप्रथम डा० सुशीलकुमार डे ने सन् १९२३ में सम्पादित किया जिसमें उन्होंने केवल दो उन्मेषों को सम्पादित किया था। तदनन्तर इसका द्वितीय संस्करण उन्होंने १९२८ में प्रकाशित किया। उसमें उन्होंने पहले के प्रकाशित ग्रन्थ से आगे तृतीय उन्मेष के कुछ अंश को सम्पादित किया। साथ ही इसके आगे के शेष भाग का, जिसे कि वे पाण्डुलिपि के अत्यन्त भ्रष्ट होने के कारण पूर्णतः सम्पादित करने में असमर्थ थे, केवल संक्षिप्त विवेचन ही प्रस्तुत किया। इसका तृतीय संस्करण पुनः सन् १९६१ में प्रकाशित हुआ। इसमें द्वितीय संस्करण को अपेक्षा कोई परिवर्धन नहीं हो सका। दो उन्मेष और तृतीय का कुछ अंग सम्पादित था, उसके आगे के शेष भाग का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

डा० डे द्वारा सम्पादित 'वक्तोक्तिजीवित' के इन तीन संस्करणों के अतिरिक्त डा० नगेन्द्र ने आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि की हिन्दी व्याख्या एवं अपनी भूमिका से संवलित 'हिन्दी वक्तोक्तिजीवित' नामक ग्रन्थ 'हिन्दी अनुसन्धान परिषद् ग्रन्थमाला' की ओर से सन् १९५५ में सम्पादित किया।

क्योंकि हमने 'संस्कृत काव्य शास्त्र में वक्तोक्ति-सम्प्रदाय का उद्भव और विकास' नामक विषय पर शोधकार्य करना प्रारम्भ किया, फलतः हमें साहित्य शास्त्र के अन्य ग्रन्थों के साथ ही साथ 'वक्तोक्तिजीवित' के विशेष अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ। इस ग्रन्थ का अध्ययन करते समय हमने डा० डे० के तृतीय संस्करण एवं डा० नगेन्द्र के प्रथम संस्करण दोनों का सहारा लिया। जहाँ तक डा० डे० के संस्करण की बात रही उससे तो हमें पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई। क्योंकि जितना अंश सम्पादित था उससे अतिरिक्त भाग का कम से कम संक्षिप्त विवेचन उपलब्ध था। जहाँ उन्होंने मूल पाण्डुलिपि के स्थान पर अपनी ओर से पाठ परिवर्तित किया था वहाँ पाण्डुलिपि के पाठ को पादटिप्पणों में यथावत् रूप में उद्धृत कर दिया था। इसमें पाठों के विषय में अपनी ठलसुल सुझावों में बड़ी सहायता प्राप्त हुई।

परन्तु डा० नगेन्द्र एवं आचार्य विश्वेश्वर जी ने जिस वक्तोक्तिजीवित को प्रकाशित किया उसका क्या आधार था। इसका उन्होंने कोई निर्देश नहीं किया। जैसा कि महामहोपाध्याय डा० पाण्डुरङ्गबामन काणे ने उसके विषय में लिखा है :-

"An excellent edition of the four Unmesas of the Vakrokti-jivita, with a modern Hindi commentary by Acarya Viswesvara and exhaustive Introduction in Hindi has been published recently by Dr. Nagendra of the Delhi University. There are, however many misprints and it is not clear on which ms or editions the text is based." (H. S. P fn I. P. 215-6)

महामहोपाध्याय जी का यह कथन पूर्णतः सत्य है। हमें तो ग्रन्थ के कतिपय अंशों को देखकर यही समझ में आता है कि आचार्य जी के संस्करण का आधार डा० डे का संस्करण ही है।

अस्तु, आचार्य जी के संस्करण का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करते समय पाठ-भेदों तथा व्याख्या में अनेक विसंगतियों देखकर चित्त बहुत भिन्न हो गया। अपने परमप्रिय गुरुवर डा० लालरामायदुपाल सिंह जी, एम० ए०, एल० एल० बी, डी० फिल०, साहित्याचार्य, साहित्यरत्न, प्रवक्ता संस्कृतविभाग, प्रयाग विश्व-विद्यालय से अपने चित्त की उलझन निवेदित की तो उन्होंने आदेश दिया—
"तुम स्वयं इस ग्रन्थ का रूपान्तर हिन्दी में कर डालो। इससे ग्रंथ भी तुम्हारी समझ में आ जायगा और उसे जब प्रकाशित करवा दोगे तो वह हिन्दी के सहारे संस्कृत के विषय को समझने वाले लोगों को वक्रोक्तिजीवित के सही विषय का ज्ञान प्राप्त कराने में पर्याप्त सहायक सिद्ध होगा।"

गुरु जी के आदेशानुसार हमने इसका हिन्दी रूपान्तर किया। हमारे रूपान्तर का आधार पूर्ण रूप से डा० डे का संस्करण है। हमने जहाँ कहीं भी उसमें परिवर्तन किया है वह डा० डे द्वारा उद्धृत पादटिप्पणियों के आधार पर ही। इसके लिए हम डा० साहब के हृदय से आभारी हैं। यद्यपि डा० साहब का संस्करण बहुत ही विद्वत्पूर्ण ढंग से सम्पादित किया गया है, फिर भी यत्र तत्र कुछ पाण्डुलिपि के अंश डा० साहब के प्माण में संगत न लगे होंगे अनेक स्थान पर उन्होंने अपनी ओर से पाठ दे दिया है। उनमें से जो अंश हमें यहाँ सज्जत प्रतीत हुए उनका हमने पाठ मूल पाण्डुलिपि के आधार पर परिवर्तित कर दिया है।

वैसे हमारी योजना इस ग्रन्थ के पूर्णरूप में प्रकाशित करने की है। यदि भगवत्कृपा रही तो हमें आशा है कि हम इस कार्य को करने में सफल होंगे।

प्रस्तुत ग्रन्थ का रूपान्तर हमने डा० डे द्वारा दिये गये मूल एवं एवं उनके तृतीय तथा चतुर्थ उन्मेष की Resume में किए गए निर्देशों के आधार पर किया है। भूमिका में हमने आचार्य कुन्तक के काल के विषय में तथा उनके शैवादी के

सम्बन्ध के विषय में मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया है। हमने यह सिद्ध कर दिया है कि कुन्तक अभिनव से पूर्ववर्ती थे।

इस पुस्तक के रूपान्तर करने में हमें हमारे पूज्य गुरुवर डा० सिंह जी से बहुत सहायता मिली है। इसके लिये उनके प्रति आभार प्रकट करना शब्दों द्वारा सम्भव नहीं। यह जो कुछ हमने किया सब उन्हीं की कृपा का प्रसाद है। हमारा रूपान्तर पूर्णतः निःश्वय है, यह कहना तो बिल्कुल असत्य को सामने लाना होगा क्योंकि यह हमारा पहला प्रयास है और वह भी 'बक्रोक्ति-जीवित' जैसे शास्त्रीय ग्रंथ का रूपान्तर करने का। हमारी समझ में सभी स्थल पूर्ण रूप से सही ढंग से आ ही गए हैं यह कह सकता कठिन है। फिर भी जहाँ तक हम इसे समझ सके हैं विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं। आशा है कि विद्वज्जन अशुद्धियों के लिए क्षमा करेंगे। यदि इससे संस्कृत साहित्य का अध्ययन करने वालों को कुछ भी लाभ हो सकेगा तो हम अपना प्रयास सफल समझेंगे और यदि अवसर मिला तो दूसरे संस्करण में इसमें हम यथासम्भव संशोधन और इसकी विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करेंगे।

स्थान ४०२ मालवीय नगर }
इलाहाबाद

बिनीत
राधेश्याम मिश्र

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अन्वेष		सुकुमार मार्ग के गुण	१३
वृत्तिगत मङ्गलाचरण	१	१. माधुर्य गुण	११३
कुम्भक और करमीर शौदागम	१	२. प्रसाद गुण	११४
ग्रन्थ की उपादेयता	३	३. लावण्य गुण	११६
कारिकागत मङ्गलाचरण	५	४. आभिजात्य गुण	११८
ग्रन्थ के अभिधान, अभिधेय और		प्रतीयमान वस्तु और लावण्य	
प्रयोजन	६	का भेद	१२०
काव्य के प्रयोजन	१०	विचित्र मार्ग का स्वरूप	१२२
काव्यतावतिरूपण	१६	विचित्र मार्ग के गुण	१४२
काव्य का सामान्य लक्षण	१७	१. माधुर्य गुण	१४२
काव्य का विशेष लक्षण	३३	२. प्रसाद गुण का प्रथम प्रकार	१४३
काव्य में शब्द और अर्थ का स्वरूप	३४	प्रसाद गुण का द्वितीय प्रकार	१४४
ब्रह्मोक्ति ही एकमात्र अलङ्कार	४७	३. लावण्य गुण	१७५
स्वभावोक्ति की अलङ्कारता का		४. आभिजात्य गुण	१४७
क्षणजन	४९	मध्यम मार्ग का स्वरूप	१४९
शब्द और अर्थ का साहित्य	५५	मध्यम मार्ग के गुणों का उदाहरण	१५१
कविम्यापार वक्रता के छः प्रकार	६२	मार्गानुसारि कवियों एवं काव्यों का	
वर्णविन्यासवक्रता	६३	दिव्यप्रदर्शन	१५४
पदपूर्वाद्धवक्रता के प्रकार	६४	तीनों मार्गों के साधारण गुण	१५६
प्रत्ययाश्रितवक्रता के प्रकार	८०	१. औचित्य गुण का प्रथम	
भावयवक्रता	८६	प्रकार	१५६
प्रकरणवक्रता	८९	औचित्य गुण का द्वितीय प्रकार	१५८
प्रबन्धवक्रता	९१	२. सौभाग्य गुण	१६०
काव्यबन्ध का स्वरूप	९३	साधारण गुणों का विषय	१६३
उद्दिष्टाद्वाङ्कारिका का निरूपण	९४	कालिदास के काव्यों में अनौचित्य	
काव्य के त्रिविध मार्ग	९६	का प्रदर्शन	१६३
वैदर्भी आदि रीतियों की देशविशेष-		उपसंहार	१६८
समाश्रयता का निराकरण	९७		
रीतियों के सारसम्य (उत्तम, मध्यम-		द्वितीय अन्वेष	
और अधम भाव) का निराकरण	९८	वर्णों की संख्या के आधार पर	
वैविध्यभावभेद से मार्ग भेद का		वर्णविन्यासवक्रता का वैविध्य	१७१
निरूपण	९९	वर्णों के स्वरूप के आधार पर वर्ण-	
सुकुमार मार्ग का स्वरूप	१०२	विन्यासवक्रता का वैविध्य	१७४

वर्णविन्यासवक्रता का पनकामास	
रूप वैशिष्ट्य	१०९
वर्णविन्यासवक्रता की विशेषतायें	१८५
वर्णविन्यासवक्रता तथा वृत्तियों की परस्परता	१८८
यमक—वर्णविन्यासवक्रता का ही एक प्रकार	१९०
पदपूर्वादेवक्रता	१९२
(क) रुढ़िवैशिष्ट्यवक्रता	१९३
(ख) पर्यायवक्रता	२००
पर्यायवक्रता और शब्दशक्तिमूला- गुराणरूपपद पदार्थानि या वाक्यार्थानि	२०९
(ग) उपचारवक्रता	२१३
(घ) विरोधवक्रता	२२४
(ङ) सङ्गतिवक्रता	२२७
(च) पदमध्यान्तभूतप्राप्य- वक्रता का प्रथम प्रकार	२३३
उसी का द्वितीय प्रकार	२३४
(छ) वृत्तिवैशिष्ट्यवक्रता	२३५
(ज) भाववैशिष्ट्यवक्रता	२३८
(झ) लिङ्गवैशिष्ट्यवक्रता का प्रथम प्रकार	२३९
उसीका द्वितीय प्रकार	२४१
उसीका तृतीय प्रकार	२४२
(ञ) क्रियावैशिष्ट्यवक्रता (५ भेद)	२४५
पदपरादेवक्रता	२५४
(क) कालवैशिष्ट्यवक्रता	२५४
(ख) कारकवक्रता	२५७
(ग) सङ्ख्यावक्रता	२६०
(घ) पुरुषवक्रता	२६२
(ङ) उपपदवक्रता	२६३
(च) भावविहितप्राप्य- वक्रता	२६५
उपसर्गनिपातजनित पदवक्रता	२६६
विविध वक्रताओं के सहयोग से जनित विषयज्ञायावैशिष्ट्य	२६९
उपसंहार	२७१

तृतीय उन्मेष	
वस्तुवक्रता का प्रथम भेद	२७५
स्वभावावेष्टि की अलङ्कारता का पुनः स्पष्टन	२७६
वस्तुवक्रता का द्वितीय भेद	२८३
वाक्यवक्रता	२८९
वर्णनीय वस्तु का चेतन और अज्ञ रूप में द्विविध विभाजन	२९१
चेतनों का प्रधान और गौण रूप में द्विविध विभाजन	२९७
प्रधान और गौण चेतनों का काम्य में वर्णनीय स्वरूप	२९८
गौण चेतनों एवं अज्ञों का काम्य में वर्णनीय स्वरूप	३०४
काम्य में वर्णनीय पदार्थों के स्वरूपों का उपसंहार	३०५
पूर्वाधारों द्वारा अभिमत रसवद- लङ्कार की अलङ्कारता का निराकरण	३०७
ध्वनिकारद्वारा अभिमत रसवद की अलङ्कारता का निराकरण	३१८
प्रेमस की अलङ्कारता का निराकरण	३२४
कर्जस्व और उदास की अलङ्कारता का निराकरण	३२९
द्विविध समाहित की अलङ्कारता का निराकरण	३३१
कुंतकामिमत रसवदलङ्कार	३३४
पूर्वाधारों द्वारा अभिमत दीपक की अलङ्कारता का निराकरण	३४०
कुन्तकामिमत दीपकालङ्कार	३४२
केवल और पंक्तिसंख्यदीपक	३४४
मालादीपक	३४६
दीपित दीपक	३४८
दीपक में अभिमत क्रिया और वस्तु	३४९
रूपक अलङ्कार	३५०
समस्तवागुदिवचक रूपक	३५१
एकदेशविधर्ति रूपक	३५२
प्रतीयमान रूपक	३५३
अप्रस्तुतप्रसंता अलङ्कार	३५५

श्रीमद्वाजाननकुन्तकविरचितं

वक्रोक्तिजीवितम्

हिन्दीव्याख्योपेतम्

प्रथमोन्मेष

जगत्त्रितयवैचित्र्यचित्रकर्मविधायितम् ।

शिवं शक्तिपरिस्पन्दमात्रोपकरणं नुयः ॥ १ ॥

आचार्यं कुन्तक अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' की कारिकाओं की श्रुति लिखते समय, ग्रन्थकारों की परिपाटी का अनुसरण करते हुए, ग्रन्थ के आरम्भ में इस ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिए आदि में अपने अभिमत देव परमशिव की वन्दना करते हैं—

शक्ति के परिस्पन्दमात्र उपकरण (सामग्री) वाले, तीनो लोको के वैचित्र्य रूप चित्रकर्म का विधान करने वाले शिव (परमशिव) को हम नमस्कार करते हैं ॥ १ ॥

टिप्पणी :—उक्त श्लोक द्वारा ग्रन्थकार ने परम शिव की वन्दना की है । आचार्य कुन्तक कश्मीरी थे । कश्मीर शैवागम (प्रत्यभिज्ञादर्शन) के अनुयायी थे । उक्त पद्य में उन्होंने शिव, शक्ति, परिस्पन्द एवं जगत् शब्द का उपादान किया है, जिनका सम्बन्ध शैवागम से है, तथा इस ग्रन्थ में 'स्पन्द' अथवा 'परिस्पन्द' का तो अनेकशः प्रयोग किया है । अतः इस पद्य का अर्थ समझने के पूर्व यह जानना अत्यावश्यक है कि शैवागम में इन शब्दों का क्या अर्थ है ।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार एकमात्र परमतत्त्व 'परम शिव' (शिव) है जो अद्वैत, निर्विकार एवं सन्निधानन्द स्वरूप है । इस अनुभूयमान जगद्वैचित्र्य को वह अपनी शक्तियों द्वारा उद्भावित करता है । उसकी शक्तियाँ यद्यपि असंख्य हैं फिर भी मुख्य रूप से वह पाँच शक्तियों (चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया) पर निर्भर रहता है । शक्ति और शक्तिमान् में अमोद होता

है, जैसे अग्नि अपनी शक्ति दाहकत्व से अभिन्न है। अतः शिव का शक्ति से अभेद सिद्ध हुआ। परम शिव इन्हीं पाँच शक्तियों के द्वारा जगत्प्रपञ्च को स्फुरित करता है। अर्थात् उतायी जब यह इच्छा होती है कि 'मैं एक से अनेक हो जाऊँ' तो उसकी शक्ति में स्पन्दन किया होती है। इस प्रकार शक्ति में कुछ-कुछ परिस्फुरण होता है जो किञ्चिच्चलन के कारण 'स्पन्द' कहा जाता है। यही शक्ति का 'स्पन्द' ही वस्तुतः जगत् है। यह 'स्पन्द' शक्ति से अभिन्न होता है क्योंकि वह उसका स्वभाव, स्वरूप, एवं धर्म ही तो होता है। जैसा कि 'प्रत्यभिज्ञाहृदय' में कहा गया है—'पराशक्तिरूपा चित्तिरेव भगवती शक्ति शिवमट्टारकाभिज्ञा तत्तदन्नजगदात्मना स्फुरतीति।' इस प्रकार शक्ति, शिव से अभिन्न है एवं स्पन्द (जगत्) शक्ति से अभिन्न, अतः शिव से जगत् अभिन्न हुआ। अतः एवं जीवागम वेदन परमशिव की ही (अद्वैत) गता स्वीकार करता है। इस जगद्वैचित्र्य का उसमें ठीक उसी प्रकार आभास होता है जैसे कि मयूर के अण्डे के भीतर रहनेवाले एकरूप तरल पदार्थ में मयूर के बड़े हो जाने पर उसके रंगवैचित्र्य का आभास होने लगता है। परमाण्वंत वह रङ्गवैचित्र्य उस एकरूप तरल पदार्थ का ही स्वरूप होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि इस जगत्त्रितयरूप चित्रकर्म के विधायक शिव ही हैं एवं इस चित्रकर्म के लिये उनकी शक्ति का परिस्पन्द मात्र ही उपकरण है। उन्हें अन्य उपकरण की आवश्यकता नहीं। इसीलिये श्रुतिकार ने उन्हें 'शक्तिपरिस्पन्दमावोपकरण' कहा है।

इस 'स्पन्द' को हम निम्नप्रकार से भी प्रकट कर सकते हैं.—

- (क) 'स्पन्द' शक्ति का स्वभाव (आत्मीय भाव) ही है।
- (ख) 'स्पन्द' शक्ति का धर्म है।
- (ग) 'स्पन्द' शक्ति का व्यापार है।
- (घ) 'स्पन्द' शक्ति का वित्तित है।
- (ङ) 'स्पन्द' शक्ति का स्वरूप (अपना ही रूप) है।
- (च) 'स्पन्द' शक्ति से अभिन्न है।
- (छ) 'स्पन्द' शक्ति का स्फुरितत्व है।
- (ज) यह दृश्यमान (अनुभूयमान) जगद्रूप* वैचित्र्य शक्ति का 'स्पन्द' ही है।

हमारे साहित्य दर्शन में अर्थ को शिवरूप में एवं धाणी को उनकी शक्तिरूप में स्वीकार किया गया है—'अर्थं शम्भु शिवां धाणी'—इति।

इस वाक् के '४ रूप' (या स्पन्द) है—परा, पश्यन्ती, मध्यमा एव वैखरी । उनमें 'परा वाक्' '१' शिव की चित् शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है—'चिनि प्रत्यबन्धनिमा परा वाक् स्वरसोदिता'—तन्त्रालोक । यह परा वाक् स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी इच्छा से स्फुरित होती है । अन्य तीन पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इनके स्पन्दरूप में ही हैं । वस्तुतः हमारे प्रयोग में वाक् का वैखरी रूप ही आता है । जैसा कि हमने बताया है परा वाग्रूपा शक्ति का स्पन्द होने के कारण यह वैखरी रूप उससे अभिन्न हुआ । कविकर्म रूप काव्य हमारे सामने अपने वैखरीरूप में ही आता है । अतः कवि उसमें जितना भी वैचित्र्य सम्पादन करना है वह 'परावाक्' के स्पन्द रूप में ही होता है । इतानिचे आचार्य कुन्तक ने काव्यलक्षणग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' में काव्य-विषयक विचार करते समय 'स्पन्द' या परिस्पन्द शब्द का अनेकश प्रयोग किया है और जैसा कि हम ऊपर सिद्ध कर चुके हैं स्पन्द का प्रयोग प्रायः उपर्युक्त स्वभाव, धर्म व्यापार, विलसित स्वरूप एवं स्फुरितत्व आदि के पर्याय रूप में ही हुआ है ।

यथातत्त्वं विवेच्यन्ते भावास्त्रैलोक्यवर्तिनः ।

यदि तन्नाद्भुतं नाम दैवरक्ता हि किशुकाः ॥ २ ॥

इसके अनन्तर कुन्तक अपने प्रयत्न की उपादेयता को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि—

त्रिलोकी में स्थित पदार्थों का यदि यथातथ्य रूप में विवेचन किया जाता है तो उसमें अद्भुतता नहीं होगी क्योंकि किशुक तो स्वभावतः लाल हुआ ही करता है (अतः यदि कवि यह वर्णन करे कि किशुक लाल होता है तो उसे हम अद्भुत न होने के कारण साहित्य या काव्य नहीं कहेंगे) ॥ २ ॥

स्वमनीषिकयैवाथ तत्त्वं तेषां यथारुचि ।

स्थाप्यते प्रौढिमात्रं तत्परमार्थो न तादृशः ॥ ३ ॥

साथ ही यदि (कवि जन) स्वतन्त्र रूप से (यथारुचि) उन पदार्थों के तत्त्व का निरूपण केवल अपनी बुद्धि से ही करते हैं (वास्तविकता का पूर्ण परित्याग कर देते हैं) तो वह केवल प्रौढि ही होगी क्योंकि (उन पदार्थों का) तत्त्व उस प्रकार का नहीं होता है । (भाव यह कि यदि कोई कवि अथवा वर्णन करते हुए कहे कि उसके चार सोगे, आठ पैर होते हैं तो वह भी साहित्य या काव्य नहीं होगा क्योंकि वह वास्तविकता से सर्वथा परे है) ॥ ३ ॥

इत्यसत्तर्कसन्दर्भे स्वतन्त्रेऽप्यकृतादरः ।
 साहित्यार्थमुधासिन्धोः सारमुन्मीलयाम्यहम् ॥ ४ ॥
 येन द्वितयमप्येतत्तत्त्वनिमित्तिलक्षणम् ।
 तद्विदामद्भुतामोदचमत्कारं विधास्यति ॥ ५ ॥

अतः इस प्रकार के असत् तर्क के सन्दर्भ वाले स्वतन्त्र में श्रद्धा न रखने हुए मैं साहित्य के 'अर्थ' रूप अमृत के सागर के सार (या परमार्थ) का उन्मीलन करने जा रहा हूँ, जिससे कि तत्त्व और निमित्त रूप यह द्वितीय साहित्य मर्मज्ञों के अद्भुत आनन्द व चमत्कार को उत्पन्न करेगा ॥ ४-५ ॥

टिप्पणी —कुन्तक ने यहाँ पर काव्यविषयक दो मतों का प्रतिपादन किया है। प्रथम मत के अनुसार काव्य में भी (शास्त्रादि की भाँति) केवल वस्तु के यथातथ्य स्वरूप का वर्णन करना चाहिए। तथा दूसरा मत इस बात को प्रतिपादित करता है कि—

अपारे काव्यसत्तारे कविरेक प्रजापति ।

यथास्मै रोचते विश्व तथेद परिवर्तते ॥

अर्थात् कवि पूर्ण स्वतन्त्र है वह जैसा ही चाहे वैसा वर्णन काव्य में करे। परन्तु आचार्य कुन्तक इव दोनों मतों से ही पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं हैं। क्योंकि वे न तो कवि को इतनी स्वतन्त्रता ही देना चाहते हैं कि वह बिल्कुल वास्तविकता से बिलकुल दूर पदार्थ का मनमाना वर्णन करे और न वे पदार्थों के यथातथ्य रूप में सीधे सादे भोटे वर्णन को ही काव्य या साहित्य मानने को तैयार हैं। अतः वे दोनों ही मतों का समन्वय चाहते हैं। तभी समाहित्य का वास्तविक अर्थ समझा जा सकेगा। इसीलिए काव्य की परिभाषा भी उन्होंने—

‘शब्दार्थौ सहितौ’ इत्यादि दी है। ये दोनों ही मत उन्हें अमान्य हैं।

इस स्थल की व्याख्या करते हुए आचार्य विश्वेश्वर जी ने स्वभावोक्तिवादी के पूर्व पक्ष को प्रस्तुत कराकर उसका खण्डन करवाते हुए वक्रोक्ति पक्ष की स्थापना करने का प्रयास करते हुए जो श्लोकों का कुछ ऊटपटाग अर्थ प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, इसे वे ही समझ सकते हैं। क्योंकि कुन्तक की वक्रोक्ति तो इनमें प्रस्तुत दोनों मतों से भिन्न है। अग्यथा उन्हें साहित्यार्थमुधा सागर के सारोन्मीलन की क्या आवश्यकता। साथ ही ‘इत्यसत्तर्कसन्दर्भे स्वतन्त्रेऽप्यकृतादर’ कहने की क्या आवश्यकता थी, यदि वक्रोक्तिवादी कवि को पूर्ण स्वच्छन्द ही बना देता है। वक्रोक्ति का यह मतसब कदापि नहीं है कि कवि जो कुछ भी मनमाना तत्त्वहीन वर्णन करे

वह वक्रोक्ति होगी। अतः उसे काव्य कहेंगे। इसी लिए आचार्य कुन्तक ने स्वभावोक्ति की अलङ्कारता का खण्डन करते हुए उसकी अलङ्कार्यता प्रस्तुत की है।

ग्रन्थारम्भेऽभिमतदेवतानमस्कारकरणं समाचारः, तस्मात्तदेव तावदुपक्रमते—

वन्दे कवीन्द्रवक्त्रेन्दुलास्यमन्दिरनर्तकीम् ।
देवीं स्रक्तिपरिस्पन्दसुन्दराभिनयोज्ज्वलाम् ॥ १ ॥

ग्रन्थ के प्रारम्भ में इष्टदेव के प्रति नमस्कार करना (ग्रन्थकारो का समाचार) है इसी लिए तो उम्मी (अभिमत देवतानमस्कार) को प्रारम्भ करते हैं—

(में) कविप्रजगो के मुखचन्द्ररूपी नृत्यभवन में नृत्य करने वाली, सुभाषित के विलासरूपी सुन्दर अभिनयो के कारण उज्ज्वल सुशोभित देवी (वाग्देवता) की स्तुति करता हूँ ॥ १ ॥

टिप्पणी :—जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि कुन्तक शैव थे इसीलिए उनके ग्रन्थ में यथतत्र सर्वत्र शैवदर्शन की छाप झलकती है, इस कारिका में भी आचार्य ने ऐसी शब्दावली का प्रयोग किया है जिससे कि दूसरा शिव-शक्तिपरक अर्थ भी सूचित होता है। (वक्त्रे इन्दुयंस्य सः शिव इत्ययं.) अर्थात् वक्त्रेन्दु भगवान् शिव के लास्यमन्दिर (अर्थात् जगत्) की नर्तकी, एव अपने परिस्पन्दों के सुन्दर अभिनय से उज्ज्वल (शृङ्गारिणी- 'उज्ज्वलस्तुविकासिनि शृङ्गारे विशदे' इति 'हेम ') देवी शक्ति की वन्दना करता हूँ। जैसा कि पहले बताया गया है कि यह जगत् शक्ति का स्पन्द या परिस्पन्द है। अतः यह परिस्पन्द शक्तिरूपा नर्तकी का अभिनय हुआ। जगत् की सृष्टि तो शक्ति करती है अतः उसे नर्तकी कहा गया है क्योंकि शिव तो निर्विकार है।

देवी वन्दे, देवत स्तौमि । कामित्याह—कवीन्द्रवक्त्रेन्दुलास्य-मन्दिरनर्तकीम्। कवीन्द्राः कविप्रवरास्तेषां वक्त्रेन्दुर्मुखचन्द्रः स एव लास्यमन्दिरं नाट्यवेष्टम, तत्र नर्तकी लासिकाम्। किंविशिष्टाम्; स्रक्तिपरिस्पन्दसुन्दराभिनयोज्ज्वलाम्। स्रक्तिपरिस्पन्दाः सुभाषितविलसितानि तान्येषु सुन्दरा अभिनयाः सुकुमाराः सात्त्विकादयस्तैरुज्ज्वलां आजमानाम्। या किल सत्कविषक्त्रे लास्यवेष्टमनीष नर्तकी सविला-

साभिनयविशिष्टा नृत्यन्ती विराजते तां वन्दे नौमीति वाक्यार्थः । तदिदमत्र तात्पर्यम्—यत्किल प्रस्तुतं वस्तु किमपि काव्यालंकारकरणं तदधिदैवतभूतामेव विधरामणीयकद्वयहारिणीं वाम्रूपां सरस्वतीं स्तौमीति ।

देवी की वन्दना अर्थात् देवी की स्तुति करता हूँ । किन् (देवता) की महाकवियों के मुखशशिरूपी नृत्यशाला में नर्तन करनेवाली (देवता) की । कवीन्द्र अर्थात् श्रेष्ठ कविगण उनके यज्ञत्रेन्दु अर्थात् मुखचन्द्र वे ही हैं लास्यमन्दिर अर्थात् नृत्यशाला उसमें नर्तकी अर्थात् नाचनेवाली । उस नर्तकी की क्या विशेषताएँ हैं—

सूक्ति के सस्फुरणों के सुन्दर अभिनय के कारण जगमगाती हुई सुक्तिपरिस्पन्द अर्थात् सुभाषितों के विलसित, वे ही हैं सुन्दर अभिनय अर्थात् सुकुमार सात्विकादिभाव, उनमें उज्ज्वल अर्थात् सुशोभित । देवी जो कि नृत्यशाला में हाव-भाव के साथ अभिनय पूर्ण अर्थात् नृत्य करती हुई नर्तकी के सद्गुण महाकवियों के मुख में विशेष प्रकार से शोभित होती हैं (विराजते) उन देवी की नमस्कार करता हूँ । यह इसका वाक्यार्थ हुआ तो यहाँ पर तात्पर्य यह निकला कि जो भी कुछ (यहाँ पर) प्रस्तुत विषय (किमपि) है । (वह) काव्यालङ्कार की रचना है उसकी अग्रिष्ठाश्री देवता एवं इस प्रकार की (अपूर्व) रमणीयता के कारण मनोहर भगवती भारती की स्तुति करता हूँ ।

एवं नमस्कृत्येदानीं वक्तव्यस्तुविषयभूतान्यभिधानाभिधेय-प्रयोजनान्यासूत्रपति—

इस प्रकार वन्दना करके अब आगे विवेचित की जाने वाली वस्तु से सम्बन्धित सहा, -नियम और प्रयोजन की उपपत्ति करने का उपक्रम करते हैं—(क्योंकि—)

टिप्पणी :—जिस प्रकार किसी कूप, तडाग तथा भवन आदि के निर्माण के पूर्व उसके सीमा-विस्तार निर्धारित करने के लिए कि—यह इस रूप में निर्मित होगा—सर्वप्रथम मानसूत्र (फीते) के द्वारा उसकी लम्बाई-चौड़ाई आदि निश्चित कर दी जाती है उसी प्रकार अपने प्रतिपाद्य विषय को सूचित करने के लिए प्रत्येक प्रारम्भ में ही उसके अनुबन्ध-वस्तुष्टय प्रस्तुत कर देते हैं । यह प्रत्येक का अभिप्राय है ।

वाचो विषयनैयत्यमुत्पादयितुमुच्यते ।

आदिवाक्येऽभिधानादि निर्मितेर्मानसूत्रवत् ॥ ६ ॥

इत्यन्तरश्लोकः

ग्रह अन्तर श्लोक है ।

वाणी को विषय की सीमा में नियन्त्रित करने के लिए भवन-निर्माण में सूत्रमान (फीते की पैमाइश) की तरह आरम्भिक वाक्य में ही अभिधान आदि (अनुबन्धचतुष्टय) कह दिये जाते हैं ॥ ६ ॥

टिप्पणी — इससे ग्रन्थकार यह भी सूचित करना चाहता है कि उसकी सरस्वती का वैभव बहुत ही विशाल है । केवल प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से उसको वह सीमित करके पाठको के समक्ष प्रस्तुत कर रहा है ।

लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये ।

काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते ॥ २ ॥

अलौकिक चमत्कार को उत्पन्न करनेवाले वैचित्र्य को सम्पन्न करने के लिए किमी अपूर्व, काव्यविषयक अलङ्कार ग्रन्थ का निर्माण किया जा रहा है ॥ २ ॥

अलङ्कारो विधीयते अलङ्करणं क्रियते । कस्य—काव्यस्य । कवेः कर्म काव्यं तस्य । ननु च सन्ति चिरन्तनास्तदलङ्कारास्तत्किमर्थमित्याह—अपूर्वः, तद्व्यतिरिक्तार्थाभिधायी । तदपूर्वत्वं तदेतदृष्टस्य तन्निकृष्टस्य च द्वयोरपि संभवतीत्याह—कोऽपि, अलौकिकः सातिशयः । सोऽपि किमर्थमित्याह—लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये असा-मान्याह्लादविधायिविचित्रभावसम्पत्तये । यद्यपि सन्ति शतशः काव्यालङ्कारास्तथापि न कुतश्चिदप्येवंविधवैचित्र्यसिद्धिः ।

अलङ्कार का निर्माण किया जा रहा है अर्थात् शोभाघान किया जा रहा है । किसका ? काव्य का । काव्य कवि का व्यापार है उस कविव्यापार का (अलङ्करण किया जा रहा है) । यदि ऐसी शङ्का की जाय कि, काव्य के बहुत से प्राचीन अलङ्कार ग्रन्थ हैं अतः (इस नये ग्रन्थ का निर्माण) कित्तिलिए है । अतः ग्रन्थकार कहता है अपूर्व (ग्रन्थ) अर्थात् उन (प्राचीन ग्रन्थों) से भिन्न अर्थात् मौलिक वस्तु को प्रस्तुत करनेवाले ग्रन्थ का निर्माण कर रहे हैं । यह भी कहा जा सकता है—अलङ्कार ग्रन्थ की नवीनता तो उन (प्राचीन ग्रन्थों) में अच्छे बुरे दोनों प्रकार के ग्रन्थों में पा सकती है इस विषय में कहते हैं—किसी ओर ही लोकोत्तर वैशिष्ट्य से युक्त-अतिशय से युक्त (ग्रन्थ) । (प्रश्न—ठीक है कि आप अपूर्व अलङ्कार ग्रन्थ का

निर्माण कर रहे हैं) पर वह भी किस लिये? इसलिये बताते हैं कि—लोकोत्तर (अर्थात्-असामान्य गुक्त) चमत्कार को उत्पन्न करने वाले वैचित्र्य की सिद्धि करने के लिए अर्थात् असामान्य आह्लाद को उत्पन्न करने वाली विचित्रता की सिद्धि के लिए (अपूर्व अलङ्कार ग्रन्थ की रचना कर रहे हैं)। यद्यपि अनेको काव्य के अलङ्कार ग्रन्थ (चिरन्तन आलङ्कारियों द्वारा निर्मित) विद्यमान हैं फिर भी किसी भी ग्रन्थ में इस प्रकार की विचित्रता नहीं आ पाई है।

टिप्पणी :—महामहोपाध्याय डॉ० पाण्डुरङ्ग वामन का कथन है—

"It appears that Kuntaka meant the karikas alone to be called काव्यालङ्कार as the karika of the first unmesa states लोकोत्तर—इत्यादि। The vritti on this says ननु च सन्ति चिरन्तनास्तदलङ्कारास्तत् किमर्थमित्याह—अपूर्वः तद्व्यतिरिक्तार्थाभिधायी ।...कोऽपि अलौकिकः सातिशयः । लोको...मिदमे । असामान्याह्लादविधायिविचित्रभावसम्पत्तये । यद्यपि सन्ति शतम् काव्यालङ्कारास्तथापि न कुतश्चिदप्येवविधवैचित्र्यसिद्धिः It may be noticed that the works of मामह, उद्भट and रुद्र were called काव्यालङ्कार s. Though the karikas thus appear to have been meant to be called काव्यालङ्कार the whole work has been referred to by later writers as वक्रोक्तिजोवितम् । The vritti is quite clear on this point—

तदयमर्थः—ग्रन्थस्यास्यालङ्कार इत्यभिधानम् । उपमादिप्रमेयजातमभिधेयम् । उक्तरूपवैचित्र्यसिद्धिः प्रयोजनमिति ।

History of Sanskrit Poetics (P. 225-26)

अलङ्कारशब्दः शरीरस्य शोभातिशयकारित्वान्मुख्यतया कटकादिषु वर्तते, तत्कारित्वसामान्यादुपचारादुपमादिषु, तद्वदेव च तत्सदृशेषु गुणादिषु, तथैव च तदभिधायिनि ग्रन्थे शब्दार्थयोरेकयोगक्षेमत्वाद्देव्येन व्यवहारः, यथा गौरिति शब्दः गौरित्यर्थ इति । तदयमर्थः—ग्रन्थस्यास्यालङ्कार इत्यभिधानम्, उपमादिप्रमेयजातमभिधेयम्, उक्तरूपवैचित्र्यसिद्धिः प्रयोजनमिति ॥ २ ॥

शरीर की शोभा में उत्कृष्टता से आने के कारण प्रधानतः 'अलङ्कार' शब्द का प्रयोग कटे आदि (गहने) के लिए किया जाता है । शोभातिशय

की उत्पादकता के साधर्म्य के कारण लक्षण में उपमा-रूपक आदि (काव्य के अलङ्कारों के अर्थ) में, भी अलङ्कारशब्द का प्रयोग होता है। और उसी प्रकार उसके सद्ग होने के लाने गुण (मार्ग) आदि के अर्थ में भी (अलङ्कार शब्द का प्रयोग होता है) और उसी प्रकार उनका प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ के विषय में इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। शब्द और अर्थ दोनों का समान रूप में योग-क्षेम करने के कारण दोनों के स्थान पर एक व्यवहार होता है। जैसे गाय यह शब्द है और गाय यह अर्थ है। तो आशय यह है कि यह ग्रन्थ (अर्थात् इस प्रकार अलङ्कारों के प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों का (जातावेकवचनम्) अलङ्कार कहा जायगा। उपमा-रूपक आदि 'प्रमेय समुदाय (इस प्रकार के अलङ्कार, ग्रन्थों का) अभिवेय अर्थात् प्रतिपाद्य विषय है। तथा ऊपर कही गई (अलौकिक विचित्रता) की सिद्धि इसका प्रदोजन है।

टिप्पणी :—उपयुक्त पक्तियों में कुन्तक द्वारा प्रयुक्त 'ग्रन्थस्यास्य अलङ्कार इत्यभिधानम्' शब्दावली विद्वानों के भ्रम का मूल है। इसी आधार पर इस ग्रन्थ का नाम 'काव्यालङ्कार' सिद्ध करने का प्रयास किया है जो समीचीन नहीं प्रतीत होता। क्योंकि यहाँ पर कुन्तक सभी अलङ्कार ग्रन्थों का प्रयोजनादि बता रहे हैं अतः वे कहते हैं कि काव्य के अलङ्कारों (उपमादि) के प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों का अलङ्कार (ग्रन्थ) नाम होता है। इस बात को उन्होंने इसके पहले अलङ्कार शब्द का अर्थ बताते हुए 'तथैव च तदभिधायिति ग्रन्थे' कह कर अत्यधिक स्पष्ट कर दिया है। माय ही जैसा आचार्यों के बीच में प्रसिद्धि है कि 'वक्रोक्ति काव्यजीवितम्' इति कुन्तक। इस कथन की पुष्टि इस ग्रन्थ का नाम 'काव्यालङ्कार' मान लेने से नहीं होती है। जब कि 'वक्रोक्तिजीवितम्' इस सञ्ज्ञा से 'तदधिकृत्य कृते ग्रन्थे' से (वक्रोक्तिरेव जीवितम् यस्य तत्) यह अर्थ स्पष्ट प्रतीत होता है। माय ही जैसा कि प्रथम उन्मेष की समाप्ति पर प्रयुक्त 'इति श्रीराजानक-कुन्तकविरचिते वक्रोक्तिजीविने काव्यालङ्कारे प्रथम उन्मेष' का 'वक्रोक्ति-जीवित' नामक काव्य के अलङ्कार ग्रन्थ में ऐसा ही अर्थ सङ्गत प्रतीत होता है। यदि यह कहा जाय कि 'वक्रोक्ति है जीवित जिसका ऐसे 'काव्यालङ्कार' नामक ग्रन्थ में' यह अर्थ उपयुक्त होगा तो ठीक नहीं, क्योंकि अन्यत्र उन्मेषों की समाप्ति पर केवल 'इति श्रीराजानककुन्तकविरचिते वक्रोक्तिजीविते द्वितीय-तृतीय—उन्मेष' प्राप्त होता है। वही 'काव्यालङ्कार' का प्रयोग नहीं मिलता है। अतः यहाँ पर 'ग्रन्थस्यास्य अलङ्कार इत्यभिधानम्' में 'जाता-वेकवचनम्' ही मानना अधिक सङ्गत प्रतीत होता है।

एवमलंकारस्यास्य प्रयोजनमस्तीति स्थापितेऽपि तदलंकार्यस्य काव्यस्य प्रयोजनं विना यदपि सदपार्थकमित्याह—

धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः ।

काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः ॥ ३ ॥

इयं तरह अलङ्कारग्रन्थ का प्रयोजन (लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्य की सिद्धि) है ऐसा सिद्ध हो जाने पर भी अलङ्कार के द्वारा सुशोभित किए जाने वाले वाक्य के प्रयोजन के विना वह प्रयोजनमूल का भी बेकार ही है । इस आशय से ग्रन्थकार कहते हैं कि—

सुकुमार क्रम (अर्थात् सहृदयहृदयहागी परिपाटी) से कहा गया काव्य बन्ध (अर्थात् महाकाव्यादि) धर्मादि (अर्थात् धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूप चतुर्वर्ग) के सम्पादन का उपाय (तथा) अभिजातो (कुलीन-सुकुमार-मनि राजपुत्रादिको) के हृदय में आह्लाद (आनन्द) को उत्पन्न करने वाला होता है ॥ ३ ॥

हृदयाह्लादकारकश्चित्तानन्दजनकः काव्यबन्धः सर्गबन्धादिर्भवतीति सम्बन्धः । कस्येत्याकाङ्क्षायामाह—अभिजातानाम् । अभिजाताः खलु राजपुत्रादयो धर्माद्युपेयार्थिनो विजिगीषवः क्लेशभीरवश्च, सुकुमाराशयत्वात्तेषाम् तथा सत्यपि तदाह्लादकत्वे काव्यबन्धस्य प्रीडनकादिप्रख्यता प्राप्नोतीत्याह—धर्मादिसाधनोपायः । धर्मादिरूपेयभूतस्य चतुर्वर्गस्य साधने संपादने तदुपदेशरूपत्वादुपायस्तत्प्राप्ति-निमित्तम् ।

हृदयाह्लादकारक अर्थ चित्त में आनन्द को उत्पन्न करने वाला काव्यबन्ध अर्थात् सर्गबन्धादि (महाकाव्यादि) होता है यह (अर्थात् 'काव्यबन्ध' का 'भवति' इस क्रिया से) सम्बन्ध है । किसका (चित्तानन्दजनक होता है) इस आकांक्षा में कहा, अभिजातो का । (हृदयाह्लादकारक होता है) । अभिजात राजपुत्रादि उपायो द्वारा प्राप्त धर्मादि (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरुषार्थ-चतुष्टय) के प्रार्थी विजय की इच्छावाले एवं क्लेश से डरने वाले होते हैं (क्योंकि उनका स्वभाव सुकुमार होता है ।) काव्यबन्ध के उस प्रकार उन (राजपुत्रादिको) का आह्लादक होने पर भी (उसे) खिलोना आदि का सादृश्य प्राप्त होता है (अर्थात् यदि काव्यबन्ध केवल राजपुत्रादिको का आह्लादक ही होता है, उसका और कोई प्रयोजन नहीं, तो वह तो खिलोने के ही सदृश हुआ क्यों कि आह्लादकत्व तो उसमें भी होता है)

अन (खिलौने के साथ काव्यादि की समानता को दूर करने के लिये) कहा धर्मादि के सम्पादन का उपाय (काव्यबन्ध होता है) । (अर्थात् काव्यबन्ध) धर्मादि अर्थात् उपायो के द्वारा प्राप्त होने वाले (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूप) चतुर्वर्ग के साधन अर्थात् सम्पादन में उस (धर्मादि) की प्राप्ति का निमित्त होता है ।

तथापि तथाविधपुरुषार्थोपदेशपरैरपरैरपि शास्त्रैः किमपराद्धमित्यभिधीयते—सुकुमारक्रमोदितः । सुकुमार सुन्दर. सहृदयहृदयहारी क्रमपरिपाटीविन्यासस्तेनोदितः कथित सन् । अभिजातागमाह्लादकत्वे सति प्रवर्तकत्वात्काव्यबन्धो धर्मादिप्राप्त्युपायतां प्रतिपद्यते । शास्त्रेषु पुनः कठोरक्रमाभिहितत्वाद् धर्माद्युपदेशो दुरवगाहः । तथाविवे विषये विद्यमानोऽप्यकिञ्चित्कर एव ।

फिर भी उस प्रकार (उपायो द्वारा प्राप्त्यर्थ) पुरुषार्थ का उपदेश करने वाले दूसरे भी शास्त्रों द्वारा क्या अपराध किया गया है (जो आप काव्यबन्ध को ही धर्मादिसाधनोपाय बताते हैं दूसरों को नहीं) अतः कहते हैं, सुकुमार क्रम से कहा गया (काव्यबन्ध धर्मादि के सम्पादन का उपाय होता है । सुकुमार अर्थात् सुन्दर सहृदयों के हृदयों का हरण करने वाला क्रम अर्थात् परिपाटी विन्यास (विशेष प्रकार की रचनाशैली) उसके द्वारा उदित अर्थात् कहा गया (काव्यबन्ध धर्मादि का साधन है) । अभिजात राजपुत्रादिकों का आह्लादकत्वे होने से काव्यबन्ध धर्मादि (पुरुषार्थ—चतुष्टय) की प्राप्ति की उपायता की प्राप्त होता है (अर्थात् धर्मादि की प्राप्ति का उपाय बन जाता है ।) फिर शास्त्रों में (उनके) कठोर क्रम से नहे जाने के कारण (सुकुमार मति एवं क्लेशभीरु राजपुत्रादिकों के लिए) धर्मादि का उपदेश बड़ी ही कठिनाता से प्राप्त होने वाला होता है । अतः (शास्त्रादिक) उस प्रकार (धर्मादि की सिद्धि के विषय में विद्यमान होने पर भी बेकार ही है

राजपुत्राः खलु समासादितविभवाः समस्तजगतीव्यवस्थाकारितां प्रतिपद्यमानाः श्लाघ्योपायोपदेशशून्यतया स्वतन्त्राः सन्तः समुचित-सकलव्यवहारोच्छेदं प्रवर्तयितुं प्रभवन्तीत्येतदर्थमेतद्व्युत्पत्तये व्यतीत-सञ्चितराजचरितं तन्निर्दर्शनाय निबध्नन्ति कवयः । तदेवं शास्त्रातिरिक्तं प्रगुणमस्त्येव प्रयोजनं काव्यबन्धस्य ॥ ३ ॥

राजपुत्र लोग ऐश्वर्य को प्राप्त कर समस्त पृथ्वी की व्यवस्था करते हुए श्रेष्ठ (राजविषयक एवं लोक-व्यवहारसम्बन्धी) उपायो के उपदेश

से हीन होने के कारण (शास्त्र-ज्ञान के अभाव के कारण) स्वच्छन्द होकर भ्रमुचित समस्त व्यवहारों का विनाश करने के लिए समर्थ होते हैं, अतः (समस्त उचित व्यवहारों के विनाश को रोकने के लिए एव इस प्रकार राजपुत्रों की कार्यों में औचित्ययुक्त प्रवृत्ति एव निवृत्ति कराने के लिए) उनकी (शास्त्रविषयक) ध्युत्पत्ति के लिए कवि लोग अतीत के श्रेष्ठ-चरित्र वाले राजाओं के चरित्र का उनके निदर्शन के लिए (काव्यरूप में) वर्णन करते हैं । अतः इस प्रकार से काव्यबन्ध का शास्त्र से अतिरिक्त प्रष्टुष्ट गुण-वाला प्रयोजन तो निश्चित ही है ॥ ३ ॥

मुख्य पुष्पार्थसिद्धिलक्षणं प्रयोजनमास्तां तावत्, अन्यदपि लोकयात्राप्रवर्तननिमित्तं भृत्यमुहृत्स्वाम्यादिसमावर्जनमनेन विना सम्यङ् न सम्भवतीत्याह—

व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभिः ।

सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते ॥ ४ ॥

(उपर्युक्त कारिका में ग्रन्थकार ने काव्यबन्ध का प्रयोजन चतुर्वर्ग की प्राप्ति को ही बताया है लेकिन उसके अन्य भी लोक-व्यवहारविषयक प्रयोजनों को बताने के लिए कहते हैं—)

पहले पुष्पाय की सिद्धि (अर्थात् धर्म आदि की प्राप्ति) रूप मुख्य प्रयोजन को रहने दें, अन्य भी लोकयात्रा की प्रवृत्ति के कारणभूत सेवन, मित्र एव स्वामी आदि का भलीभाँति आकर्षण इसके (वाच्यज्ञान के) बिना नहीं सम्भव है, अतः कहा है—

लोक व्यवहार में (नित्य) प्रवृत्त होने वाले लोग नवीन औचित्य से युक्त लोकाचार के व्यापार के सौन्दर्य को श्रेष्ठ काव्यों के परिज्ञान से ही प्राप्त करने हैं ॥ ४ ॥

व्यवहारो लोकवृत्त तस्य परिस्पन्दो व्यापारः क्रियाक्रमलक्षण-स्तस्य सौन्दर्यं रमणीयकं तद्व्यवहारिभिर्व्यवहर्तृभिः सत्काव्याधि-गमादेव कमनीयकाव्यपरिज्ञानादेव नान्यस्माद् आप्यते लभ्यते इत्यर्थः । कीदृशं तत्सौन्दर्यम्—नूतनौचित्यम् नूतनमभिनवमलौकिकमौचित्य-मुचितभावो यस्य । तदिदमुक्तं भवति—महतां हि राजादीनां व्यवहारो वर्ण्यमाने तदङ्गभूता सर्वे मुख्यामात्यप्रभृतयः समुचितप्रातिस्विक-कर्तव्यव्यवहारनिपुणतया निबध्यमानाः सकलव्यवहारियुक्तोपदेशतामा-

पद्यन्ते । ततः सर्वः क्वचित्कमनीयकाव्ये कृतश्रम समाप्तादिन-
व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्योतिशयः श्लाघनीयफलभाग् भवतीति ।

व्यवहार अर्थात् लोकाचार उसका परिस्पन्द अर्थात् कार्य-परम्परा रूप
व्यापार, उसका सौन्दर्य अर्थात् रमणीयता वह (लोकाचार के व्यापार का
सौन्दर्य) व्यवहारी अर्थात् (नित्यप्रति) लोकव्यवहार में प्रवृत्त होने वाले
(पुरुषों के) द्वारा, सत्काव्य के अधिगम से अर्थात् कमनीय काव्य के
परिज्ञान से ही, अन्य किसी (साधन) से नहीं प्राप्त अर्थात् प्राप्त होता है,
ऐसा अर्थ हुआ । वह सौन्दर्य किस प्रकार का है नूतन औचित्ययुक्त ।
नूतन अर्थात् अभिनव लौकिक औचित्य अर्थात् उचितभाव है जिसका (ऐसा
सौन्दर्य) । इस प्रकार यह बताया गया कि, बड़े-बड़े राजाओं के व्यवहार के
(काव्य में) वर्णन किए जाने पर उन (राजादिकों) के अङ्गभूत सभी
प्रधान अमात्य (मंत्री) आदि सम्यक् औचित्यपूर्ण अपने-अपने कर्तव्यों
एव व्यवहारों में निपुणता के साथ (काव्य में) वर्णित होकर समस्त
व्यवहार में प्रवृत्त होने वाले पुरुषों के आचार के उपदेश करने वाले हो
जाते हैं । अर्थात् लौकिक पुरुषों को किस ढंग से व्यवहार करना चाहिए
यह शिक्षा उन्हें काव्य के वर्णित राजा एवम् उनके अमात्य आदि के
व्यवहारों से मिलती है । तदनन्तर सभी कोई कमनीय काव्य में परिश्रम
करके लोकव्यवहार की कार्यपरम्परा रूप व्यापार के सौन्दर्योतिशय को प्राप्त
कर ब्रेष्ठ फल का भागी होता है ।

योऽसौ चतुर्वर्गलक्षणः पुरुषार्थस्तदुपार्जनविषयव्युत्पत्तिकारणतया
काव्यस्य पारंपर्येण प्रयोजनमित्याम्नातः, सोऽपि समयान्तरभावितया
तदुपभोगस्य तत्फलमूलाद्वाद्धारित्वेन तत्कालमेव पर्यवस्यति ।
अतस्तदतिरिक्तं किमपि सङ्कदयद्वयसंवादसुभगं तदात्वरमणीय
प्रयोजनान्तरमभिधातुमाह—

काव्य के उम (चतुर्वर्ग) की प्राप्ति के विषय में व्युत्पत्ति का साधन
होने के कारण जो यह (तृतीय कारिका में धर्म, अर्थ काम एव मोक्ष)
चतुर्वर्ग रूप पुरुषार्थ-परम्परा से (काव्य का) प्रयोजन स्वीकार किया गया
है वह भी उसके उपभोग के समयान्तर (अर्थात् काव्य के अध्ययन काल में
तुरन्त ही नहीं अगितु कुछ समय बाद) में होने वाला होने के कारण उस
(उपभोग) के फलस्वरूप आह्लाद का उत्पादक होने से उस (समयान्तर
रूप) काल में ही पर्यवसित होता है, (अर्थात् काव्य के अध्ययन के फलभूत
चतुर्वर्ग का उपभोग अध्ययन काल में न होकर कालान्तर में होता है अतः

उसका फलभूत आह्लाद भी कालान्तर में ही होता है इसलिए उस आह्लाद का जनक होने का अध्ययननालिक कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । इसलिए केवल भविष्य की कल्पना पर वाच्य का अध्ययन किया जाय वह उचित नहीं क्योंकि भविष्य तो अग्रकारमय होता है अतः उससे भिन्न सहृदयों के हृदय की अनुसूचना में रमणीय तत्काल (अध्ययन काल) में ही मनोहर विनी अन्य प्रयोजन को दताने के लिए बहा है —

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् ।
 . काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥ ५ ॥

(प्रतिष्ठ धर्म, अर्थ काम एव मोक्ष रूप) चतुर्वर्ग के फल के आस्वाद (अनुभव) का भी अतिश्रमण करके, काव्यरूपी अमृत का रस, उस (काव्यामृतरसास्वाद) को जानने वालों के हृदय में चमत्कार का विस्तार करता है । (अर्थात् काव्य के अध्ययन से उत्पन्न रसास्वाद में प्रतिष्ठ धर्मादि चतुर्वर्ग के फल का आनन्द भी निम्नकोटि का होता है) ॥ ५ ॥

चमत्कारो वितन्यते चमत्कृतविस्तार्यते, ह्लादः पुनः पुनः क्रियत इत्यर्थः । केन—काव्यामृतरसेन । काव्यमेवामृतं तस्य रसस्तदास्वादस्तदनुभवस्तेन । कथेत्यभिदधाति—अन्तश्चेतमि । क्रम्य—तद्विदाम् । त विदन्ति जानन्तीति तद्विदस्तज्ज्ञास्तेषाम् । कथम्—चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य । चतुर्वर्गस्य धर्मादेः फलं तदुपभोगस्तस्यास्वादस्तदनुभवस्तमपि प्रसिद्धातिशायमतिक्रम्य विजित्य परस्परप्राप्य संपाद्य ।

‘चमत्कारी वितन्यते’ अर्थात् चमत्कृति (रसास्वाद रूप अलौकिक आनन्द) विस्तार किया जाता है, बार-बार, आनन्दानुभूति कराई जाती है, यह अर्थ हुआ । किसके द्वारा, काव्यामृतरस के द्वारा । काव्य ही है अमृत (जो), उसका रस उसका आस्वाद अर्थात् उसका अनुभव उसके द्वारा । वहाँ (चमत्कार का विस्तार होता है) यह कह सकते हैं, अन्त अर्थात् हृदय में, जिसके (हृदय में), तद्विदो के । उस (काव्यरस) को जानते हैं जो वे हुए तद्विद्, उसको जानने वाले, उनके (हृदय में चमत्कार का विस्तार करता है) कैसे (चमत्कार को पैदा करना है) चतुर्वर्ग के फलास्वाद का भी अतिश्रमण करके । चतुर्वर्ग अर्थात् धर्मादि (धर्म, अर्थ, काम एव मोक्ष रूप पुरोधार्य) का फल अर्थात् उसका उपभोग, उसका आस्वाद अर्थात्

उमका अनुभव, प्रसिद्ध उत्कर्ष वाले उम (चतुर्वर्ग का कलास्वाद) अतिक्रमण करके उसको भी जीतकर अब उसे निवार भा बना इसके (चमत्कार को उत्पन्न करता है) ।

तदयमभिप्रायः—योऽसौ चतुर्वर्गकलास्वादः प्रकृष्टपुरुषार्थतया सर्वशास्त्रप्रयोजनत्वेन प्रसिद्धः सोऽप्यस्य काव्यामृतचर्वणचमत्कार कलामात्रस्य न कामपि साम्यकलनां कर्तुमर्हतीति । दुःश्रव-दुर्भण दुरधिगमत्वादिदोषदुष्टोऽध्ययनावसर एव दुःसहदुःखदायी शास्त्र-सन्दर्भस्तत्कालकल्पितकमनीयचमत्कृतेः काव्यस्य न कथंचिदपि स्पर्धामधिरोहतीत्येतदप्यर्थतोऽभिहितं भवति ।

तो इसका मतलब यह हुआ कि जो यह धर्मादि-चतुर्वर्ग के उपभोग का अनुभव प्रकृष्ट पुरुषार्थ के रूप में समस्त शास्त्रों के प्रयोजन रूप में प्रसिद्ध है, वह भी इस काव्यरूप अमृत के आस्वाद के आनन्द की कलामात्र की किसी भी प्रकार की समता करने के योग्य नहीं है । दुःश्रवत्व (कर्णकटु), दुर्भणत्व (उच्चारण में कठिनाई पैदा करने वाले), दुरधिगमत्व (बड़ी मुश्किल से समझ में आने वाले) आदि दोषों से दूषित होने के कारण अध्ययन काल में अत्यन्त ही असह्य दुःख को देने वाला शास्त्र सन्दर्भ (शास्त्रों के वर्णन) तत्काल (अध्ययन करते समय) ही कमनीय (रसास्वादजन्य अलौकिक आनन्दरूप) चमत्कृति की सृष्टि करने वाले काव्य की किसी भी प्रकार स्पर्धा (समता) करने में समर्थ नहीं यह बात भी अर्थात् (स्पष्ट कर दी जाती है) अभिहित होती है । (जैसा कि कहा भी गया है कि)—

कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम् ।

आह्लाद्यमृतवत्काव्यमविवेकादापहम् ॥ ७ ॥

शास्त्र कड़वी दवा की तरह अज्ञान रूप मानसिक रोग (व्याधि) का विनाश करने वाला होता है, (जब कि) काव्य (चित्त को) आनन्द देने वाले अमृत के सदृश अज्ञान (अविवेक) रूप रोग का विनाश करने वाला होता है ॥ ७ ॥

आयात्यां च तदात्वे च रसनिःस्यन्दसुन्दरम् ।

येन संपद्यते काव्यं तदिदानीं विचार्यते ॥ ८ ॥

इत्यन्तरश्लोकी ॥ ५ ॥

(ऐसा उपयुक्त गुणविशिष्ट) वाक्य जिसके द्वारा उस (अध्ययन) ज्ञान में एव बाद में रस के प्रवाह में सुन्दर सम्पन्न होता है वह (तत्त्व) अब (इस ग्रन्थ में) बताया जाता है ॥ ८ ॥

ये दो अन्तर श्लोक है ॥ ५ ॥

अलंकृतिरलंकार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते ।

तदुपायतया तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता ॥ ६ ॥

उस (काव्य) का उपाय होने के कारण अलंकार्य (वाक्य और वाचक) का अलग अलग करके विवेचन किया जाता है । वस्तुतः अलंकार से मुक्त (अलंकार्य शब्द एवं अर्थ) की ही काव्यता होती है ॥ (अर्थात् यदि अलंकार और अलंकार्य को अलग कर दिया जाय तो काव्य की सत्ता ही समाप्त हो जायगी क्योंकि अलंकार शब्द एवं अर्थ ही काव्य होते हैं पर उनका जो अलग-अलग विवेचन किया जाता है वह उनके स्पष्ट ज्ञान के लिए है एवं ऐसी परम्परा भी प्रचलित होने के कारण है ॥ ६ ॥

अलंकृतिरलंकरणम् अलंकियते ययेति विगृह्य । सा विवेच्यते विचार्यते । यच्चालंकार्यमफलंकरणीयं वाचकरूपं वाच्यरूपं च तदपि विवेच्यते । तयोः सामान्यविशेषलक्षणद्वारेण स्वरूपनिरूपणं क्रियते । कथम्—अपोद्धृत्य । निष्कृष्य पृथक् पृथगावस्थाप्य, यत्र समुदायरूपे तयोरन्तर्भावस्तस्माद्विभज्य । केन हेतुना—तदुपायतया । तदिति काव्यं परामृश्यते । तस्योपायस्तदुपायस्तस्य भावस्तदुपायता सया हेतुभूतया । तस्मादेवविधो विवेकः काव्यव्युत्पत्त्युपायतां प्रतिपद्यते । दृश्यते च समुदायान्तःपातिनामसत्यभूतानामपि व्युत्पत्तिनिमित्तमपोद्धृत्य विवेचनम् । यथा—पदान्तर्भूतयोः प्रकृतिप्रत्यययोर्वाक्यान्तर्भूतानां पदानां चेति । यद्येवमसत्यभूतोऽप्यपोद्धारस्तदुपायतया क्रियते तत् किं पुनः सत्यमित्याह—तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता । अथमत्र परमार्थः—सालंकारस्यालंकरणसहितस्य सकलस्य निरस्तारथ्यस्य सतः समुदायस्य काव्यता फलिकर्मत्वम् । तेनालंकृतस्य काव्यत्वमिति स्थितिः, न पुनः काव्यस्यालंकारयोग इति ॥ ६ ॥

अलंकृति अर्थात् अलङ्कार । अलंकृत किया जाता है जिसके द्वारा (वह अलंकृति होती है ऐसा विग्रह करके अलंकृति शब्द का अर्थ अलङ्कार होता है) । उसका विवेचन अर्थात् विचार किया जाता है और जो अलङ्कार्य अर्थात् (अलङ्कारो द्वारा) अलङ्करणीय अर्थात् वाचक रूप एवं

वाच्य-रूप (अर्थात् शब्द एव अर्थ रूप) होता है उसका भी विचार किया जाता है । उन ('अलङ्कार एव अलङ्कार्य') का सामान्य एव विशेष लक्षणों के द्वारा स्वरूप-विवेचन किया जाता है कैसे—अधोद्धृत्य अर्थात् निकालकर, अलग-अलग स्थापित कर अर्थात् जहाँ (काव्य में) समुदाय रूप में उन्हें दोनों का अन्तर्भाव होता है उससे अलग करके (उनका विवेचन किया जाता है) । किस लिए उसका उपाय होसे से । उससे काव्य का परामर्श होता है (अर्थात् काव्य की व्युत्पत्ति का कारण होने से), उसका उपाय हुआ तदुपाय, उसका भाव हुआ तदुपायता, उसके द्वारा कारण रूप होने से (विवेचन किया जाता है) इसलिए इस प्रकार का विवेचन काव्य की व्युत्पत्ति का उपाय बन जाता है और देखा भी जाता है कि समुदाय के अन्तर्गत स्थित असत्यभूत (पदार्थों) का भी व्युत्पत्ति के लिए अलग-अलग विवेचन (शास्त्रों में किया जाता है) । जैसे पद के अन्तर्गत स्थित प्रकृति और प्रत्यय का विवेचन (व्याकरणशास्त्र में) तथा वाक्य के अन्तर्गत स्थित पदों का विवेचन (मीमांसा शास्त्र में) पाया जाता है ।

(प्रश्न) यदि इस प्रकार से असत्यभूत भी अपोद्धार (अर्थात् अलङ्कार एवम् अलङ्कार्य का अलग-अलग विवेचन) उस (काव्य की व्युत्पत्ति) का उपाय होने से किया जाता है तो फिर सत्य क्या है ? उसे कहते हैं—'वस्तुतः अलङ्कार युक्त की ही काव्यता होती है' ।

इसका निष्कृष्ट अर्थ यह हुआ कि सालङ्कार अर्थात् अलङ्कारण से युक्त समस्त (समुदाय की) अवयवहीन होने पर ही काव्यता अर्थात् कवि का कर्मत्व होता है । अतः अलङ्कार (शब्द और अर्थ) ही काव्य होता है यह सिद्ध हुआ न कि काव्य का अलङ्कार से योग होता है (अर्थात् अलङ्कार से हीन होने पर काव्य की सत्ता ही असम्भव है क्योंकि अलङ्कार को काव्य से अलग किया ही नहीं जा सकता, अतः यह कथन कि काव्य का अलङ्कार के साथ योग होता है नितान्त अनुचित होगा, क्योंकि यह कथन काव्य और अलङ्कार को भिन्न-भिन्न सिद्ध करता है ।) ॥ ६ ॥

सालङ्कारस्य काव्यतेति संमुग्धतया किञ्चित् काव्यस्वरूपमा-
सूत्रितम्, निपुणं पुनर्न निश्चितम् । क्लृप्तक्षणम् वस्तु काव्यव्यपदेशभागे
भवतीत्याह—

शब्दार्थौ सहितौ चक्रकविव्यापारालिनि ।

बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्यादकारिणि ॥ ७ ॥

अलंकार से युक्त की काव्यता होती है ऐसा साम्प्रदायिक रूप से कुछ काव्य का स्वरूप बताया तो गया है किन्तु अच्छी तरह से उसका स्वरूप नहीं निश्चित किया। अतः किस प्रकार की वस्तु काव्य संज्ञा के योग्य होती है इसका निरूपण करते हैं—

यत्र (अर्थात् शास्त्रादि में प्रतिष्ठित शब्द और अर्थ के उपनिबन्धन से भिन्न) कविव्यापार से शोभित होने वाले एवम् उक्त (काव्यतत्त्व) को समझने वालों के आनन्ददायक वग्य अर्थात् वाच्यविन्यास में विशेषरूप से अवस्थित तथा सहित भाव से युक्त शब्द और अर्थ (दोनों मिलकर ही) काव्य होते हैं ॥ ७ ॥

शब्दार्थौ काव्यं वाचको वाच्यश्चेति द्वौ संमिलितौ काव्यम् ।
द्वावेकमिति विचित्रैवोक्तिः । तेन यत्केषांचिन्मतं कविकौशलकल्पित-
कमनीयतातिशयः शब्द एव केवलं काव्यमिति केषांचिद् वाच्यमेव
रचनावैचित्र्यचमत्कारकारि काव्यमिति, पञ्चद्वयमपि निरस्तं भवति ।
तस्माद् द्वयोरपि प्रतितिलमिव तैलं तद्विदाह्लादकारित्वं वर्तते, न
पुनरेकस्मिन् । यथा—

शब्द और अर्थ काव्य होते हैं अर्थात् वाचक और वाच्य दोनों भली-
भाँति मिलकर काव्य होते हैं । दो (मिलकर) एक होते हैं यह तो बड़ा
विचित्र कथन है । इसलिए जो किसी का मत है कि कवि की चातुरी से
निमित्त कमनीयातिशय से युक्त शब्द ही केवल काव्य होता है यह (मत),
तथा किसी का यह मत कि रचना की विचित्रता से आनन्द को उत्पन्न
करने वाला अर्थ ही काव्य होना है ये दोनों पक्ष खण्डित हो जाते हैं ।
(क्योंकि दोनों अलग-अलग नहीं अपितु एकसाथ मिलकर ही काव्य होते
हैं ।) अतः (शब्द और अर्थ) दोनों में ही प्रत्येक तिल में स्थित तैल की
भाँति उम (काव्यतत्त्व) को जानने वालों को आह्लादित करने की शक्तता
रहती है न कि एक में । जैसे—

भण तरुणि रमणमन्दिरमःनन्दस्यन्दिसुन्दरेन्दुमुखि ।

यदि सखीजोछापिनि गच्छसि तत् किं त्वदीयं मे ॥ ६ ॥

अनणरणन्मणिमेखलमविरतशिख्यानमञ्जुमञ्जोरम् ।

परिसरणमरणचरणे रणरणकमकारण कुरुते ॥ १० ॥

(किसी परन्त्री को अपने प्रेमी के घर जाती हुई देखकर कोई पुरुष
कहता है कि) हे आनन्दजनक सुन्दर चन्द्रमा के सदृश मुखवाली ! सुन्दर

बिलासो के साथ बोलने वाली । लोहित चरणो वाली तरुणी ! तुम्हीं बताओ कि अपने प्रेमी के घर तुम जब जाती हो तो तुम्हारा उच्च स्वर से शब्द करती हुई गणिमेघना वाला एवं निरन्तर बजते हुए मधुर नूपुरो वाला गमन निष्प्रयोजन हो मेरे हृदय को क्यों व्याकुल कर देता है ? ॥ ६-१० ॥

प्रतिभादारिद्र्यदैर्न्यादतिस्वल्पसुभाषितेन कविना वर्णसावण्ये-
रम्यतामात्रमत्रोदितम्, न पुनर्वाच्यवैचित्र्यकणिका काचिदस्तीति ।

इन श्लोको में प्रतिभादारिद्र्य की दोनता से अत्यल्प सुन्दर भाषण करने वाले कवि ने केवल वर्णों के सावण्य की सुन्दरता को दिखाया है, न कि उसमें किसी भी प्रकार के अर्थ के वैचित्र्य का लेश भी है ।

यत्किंल नूतनतारुण्यरङ्गितलावण्यपटहकान्तेः कान्तायाः काम-
यमानेन केनचिदेतदुच्यते—यदि त्वं तरुणि रमणमन्दिरं व्रजसि तत्किं
त्वदीयं परिसरणं रणरणकमकारणं मम करोतीत्यतिप्राम्येयमुक्तिः ।
किंच न अकारणम्, यतस्त्वस्यास्तदनादरेण गमनेन तदनुरक्तान्तः-
करणस्य विरहविधुरताशङ्काकातरता कारणं रणरणकस्य । यदि वा
परिसरणस्य मया किमपराद्धमित्यकारणतासमर्पकम्, एतदप्यति-
प्राम्यतरम् । सम्बोधनानि च बहूनि मुनिप्रणीतस्तोत्रामन्त्रणकल्पानि
न कांचिदपि तद्विदामाह्लादकारितां पुष्पन्तीति यत्किंचिदेतत् ।

जो कि नयी तारुण्यावस्था से तरङ्गित लावण्य के कारण सुन्दर काति-
चाली कान्ता की कामना करने वाला कोई (उस कान्ता से) कहता है, हे
तरुणि ! यदि तुम अपने पति-गृह जाती हो, तो तुम्हारा गमन मेरे हृदय को
अकारण ही व्याकुल कर देता, यह कथन अत्यधिक प्राम्य है । और भी
केवल अकारण ही नहीं । क्योंकि उस कान्ता के उस (कामुक) के प्रति
अनादरपूर्ण गमन से उस (कान्ता) में अनुरक्त अन्तःकरण वाले (उस-
कामुक) की (उस कान्ता के) विरह की विधुरता की शङ्का में अन्य कातरता
हृदन की व्याकुलता का कारण है । अथवा (तुम्हारे) गमन का मैंने क्या
अपराध किया है (जो मुझे कष्ट दे रहा है) यदि यह अकारणता को
सिद्ध करने वाला हो तो यह और भी अधिक प्राम्य है । तथा बहुत से
सम्बोधन मुनियों द्वारा विरचित स्तोत्रो के सम्बोधनों के सदृश किसी भी
प्रकार की उस (काव्यतत्त्व) को जानने वालों की आह्लादकारिता का
पोषण नहीं करते, इसलिए यह व्यर्थ है ।

वस्तुमात्रं च शोभातिशयशून्यं न काव्यव्यपदेशमर्हति । यथा—

प्रकाशस्याभाव्यं विदधति न भावास्तमसि यत्
तथा नैते ते स्युर्यदि किल तथा तत्र न कथम् ।
गुणाभ्यासाभ्यासव्यसनदृढदीक्षामुरुगुणो
रविव्यापारोऽयं किमथ सदृश तस्य महसः ॥ ११ ॥

शोभातिशय से हीन वस्तुमात्र भी काव्यसंज्ञा के योग्य नहीं होती ।
जैसे—

अन्धकार में वस्तुएँ जिस प्रकाशप्रकृतिकता को नहीं प्रस्तुत कर पाती
ये उस तरह की वे हो ही न पायें यदि वहाँ पर वैसी चीज किसी तरह न
हो । (तम के) गुणों के निवेश के अभ्यास के नष्ट कर देने की बड़ोर
दीक्षा देने में समर्थ आचार्य रूब गुणवाला यह भ्रम का व्यापार है तो बता
उस ज्योति के तुल्य और क्या हो सकता है ॥ ११ ॥

अत्र हि शुष्कतर्कवाक्यवासनाधिवासितचेतसा प्रतिभाप्रतिभात-
मात्रमेव वस्तु व्यसनितया कविना केवलमुपनिषदम् । न पुनर्वाचक-
वक्रताधिच्छित्तिलवोऽपि लक्ष्यते । यस्मात्तर्कवाक्यशर्यैव शरीरमस्य
श्लोकस्य । तथा च—तमोव्यतिरिक्ताः पदार्था धर्मिणः, प्रकाशस्वभावा
न भवन्तीति साध्यम् तमस्यतथाभूतत्वादिति हेतुः । दृष्टान्तस्तर्हि
कथं न दर्शितः, तर्कन्यायस्यैव चेतसि प्रतिभासमानत्वात् । तथोच्यते—

इस पद्य में सूखे तर्कवाक्य की (अनुमानवाक्य) वासना से अधि-
वासित चित्त वाले कवि ने व्यसन के कारण प्रतिभा से प्रतीतमात्र ही वस्तु
को पद्यबद्ध कर दिया है । न कि इसमें शब्दवक्रता की शोभा का लेश भी
संज्ञित होता है, जिससे केवल तर्कवाक्य (अनुमानवाक्य) की शय्या ही
इस श्लोक का शरीर है । क्योंकि अन्धकार से द्योतिरिक्त पदार्थरूप धर्मों
स्वयं प्रकाश नहीं होते हैं, यह साध्य (प्रतिज्ञावाक्य) है । अन्धकार में उस
प्रकार (प्रकाशस्वभाव) न होने से यह हेतु (वाक्य) है । (अतः यह
काव्य न होकर केवल अनुमानवाक्य ही है) इस पर पूर्वपक्षी प्रश्न करता है
कि यह वाक्य आपके अनुसार काव्य न होकर यदि अनुमानवाक्य ही है
तब दृष्टान्त क्यों नहीं दिखाया गया ? (क्योंकि अनुमानवाक्य में दृष्टान्त
दिखाना चाहिए या तो इसका उत्तर कुन्तक यह देते हैं कि दृष्टान्त यहाँ
इसीलिए नहीं दिखाया गया क्योंकि उस सांकेतिक कवि के) हृदय में
(काव्य रचना करते समय) तर्कन्याय ही प्रतिभासित हुआ था । वैसे कहा
भी गया है—

तदनुभूते तु भावो हि दृष्टान्ते तद्वेदिनः ।

स्थाने ते विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः ॥ १२ ॥

दृष्टान्त में उस (अनुभव वस्तु) की सत्ता तथा उसके हेतु की स्थापना केवल उस (हेतु-हेतुमद्भाव) से अपरिचित (जन) के लिए की जाती है । किन्तु विद्वानों के लिए तो केवल हेतु ही कहा जाता है । (उसी से वे सत्ता का अनुमान कर लेते हैं) ॥ १२ ॥

विदधतीति विपूर्वो दधातिः करोत्यर्थे वर्तते । स च करोत्यर्थोऽत्र न सुस्पष्टसमन्वयः, प्रकाशस्याभाव्य न कुर्वन्तीति । प्रकाशस्वाभाव्य-शब्दोऽपि चिन्त्य एव । प्रकाशः स्वभावो यस्यासौ प्रकाशस्वभावः, तस्य भाव इति भावप्रत्यये विहिते पूर्वपदस्य वृद्धिः प्राप्नोति । अथ स्वभावस्य भावः स्वभाव्यमित्यत्रापि भावप्रत्ययान्ताद्भावप्रत्ययो न प्रचुरप्रयोगार्हः । तथा च प्रकाशश्चासौ स्वाभाव्यं चेति विशेषण-समासोऽपि न समीचीनः ।

‘विदधति’ यहाँ पर बि (उपसर्ग) पूर्वक दधाति (धा घातु) करोति (दृक्कृन् करणे) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । ‘प्रकाशस्वाभाव्य (स्वयंप्रकाशता) नहीं करते हैं’ इस प्रकार यहाँ वह करोति (कृ घातु) का अर्थ भी सुस्पष्ट ढंग से अन्वित नहीं होता है । स्वयं प्रकाशता नहीं करते हैं, इसमें ‘प्रकाश-स्वाभाव्य’ शब्द भी चिन्त्य ही है । प्रकाश है स्वभाव जिसका ऐसा हुआ ‘प्रकाश-स्वभाव’ । उसका भाव इस अर्थ में भाव प्रत्यय किये जाने पर पूर्वपद की वृद्धि प्राप्त होती है (जिससे प्रकाशस्वाभाव्य यह रूप शुद्ध होगा प्रकाशस्वाभाव्य नहीं । और यदि स्वभाव का भाव स्वाभाव्य हुआ तो भी यहाँ भाव प्रत्ययान्त (स्वभाव शब्द) से (पुनः) भाव प्रत्यय अत्यधिक प्रयोग के योग्य नहीं है । और फिर ‘प्रकाशश्चासौ स्वाभाव्यश्च’ यह विशेषण समास भी ठीक नहीं ।

तृतीये, च पादेऽत्यन्तासमर्पकसमासभूयस्त्वपैशसं न तद्विश-ह्लादकारितामावहति । रविन्यापार इति रवि-शब्दस्य प्राधान्येना-भिमतस्य समासे गुणीभावो न विकल्पितः, पाठान्तरस्य ‘रवेः’ इति संभवात् ।

तथा (उक्त श्लोक के) तृतीय चरण (गुणाध्यासाभ्यासव्यसनद्व-दीप्तागुणः) में अत्यन्त ही असमर्पक (अर्थ को सरलता से प्रतीति कराने में बाधक) समासबहुलरूप कष्ट काष्पतस्वमर्मज्ञों की आनन्दकारिता को

नही धारण करता है। एवं (चतुर्थ चरण में प्रयुक्त) 'रविव्यापार' इस शब्द में रवि शब्द के प्रधानरूप से अभिमत होने पर भी समास में उसका गौण-भाव नहीं वचामा गया है। जब कि पाठान्तर 'रवे' भी सम्भव हो सकता था। (अर्थात् उस स्थान पर रवि का व्यापार शब्द के साथ समास कर देने पर रवेः व्यापारः इति 'रविव्यापार' यहाँ व्यापार शब्द प्रधान हो जाता है और रवि शब्द गौण, जब कि प्राधान्य रवि का ही अभिप्रेत है। अठ कुन्तक आलोचना करते हैं कि यहाँ समास करने के लिये कवि बाध्य नहीं है कि क्यों 'रवेः व्यापारोऽयम्' ऐसा पाठ कर देने से भी किसी प्रकार छन्दो-भङ्ग आदि की बाधा नहीं होती और रवि शब्द प्रधानरूप से उपस्थित हो जाता है। अतः उक्त दोषों के कारण शोभातिशय से शून्य यह श्लोक काव्य नहीं है। यह कुन्तक का मत है।)

ननु वस्तुमात्रस्याप्यलंकारशून्यतया कथं तद्विदाह्यादकारित्वमिति चेत्तत्र; यस्मादलंकारेणाप्रस्तुतप्रशंसालक्षणेनान्यापदेशतया स्फुरितमेव कविचेतसि। प्रथमं च प्रतिभाप्रतिभासमानमपटितपापाणशकलकल्प-मणिप्रख्यमेव वस्तु विदग्धकवि-विरचितवक्त्रवाक्योपाहृतं शाणोल्लीट-मणिमनाहरतया तद्विदाह्यादकारिकाव्यत्वमधिरोहति। तथा चैकस्मिन्नेव वस्तुन्यवहितानवहितकन्निद्वितयविरचितं वाक्यद्वयमिदं महदन्तरमावेदयति—

प्रश्न—यदि आप शोभातिशय से शून्य वस्तुमात्र को काव्य सज्जा देने के लिए तैयार नहीं है तो (अप्रस्तुतप्रशंसा आदि के स्थलों पर) अलङ्कार से शून्य होने पर भी वस्तुमात्र में काव्यमर्मज्ञों का आह्लादकारित्व क्यों होता है ?—

उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि (वाक्यरचना के) अन्य लक्ष्य से युक्त होने के कारण कवि के हृदय में अप्रस्तुतप्रशंसारूप अलङ्कार स्फुरित ही होता (अर्थात् अप्रस्तुतप्रशंसा आदि अलङ्कारों के स्थलों में कवि जिस वस्तु का वर्णन वाक्य में प्रस्तुत करता है, उस वस्तु का वर्णन करना ही उसका अभीष्ट या लक्ष्य नहीं होता, बल्कि कवि उस वर्णन के माध्यम से प्रतीयमान रूप किसी अन्य के चरित्र का वर्णन प्रस्तुत करता है, और इसी प्रतीयमान ढङ्ग से ही अभिमत वस्तु को प्रस्तुत करने में कवि का चातुर्य होता है जिससे सहृदयों को आनन्द प्राप्त होता है। यदि कवि उस प्रतीयमान वस्तु को ही वाक्यरूप से प्रस्तुत करे तो वह चमत्कार-हीन हो जायगी। अतः सिद्ध हुआ कि ऐसे स्थलों पर कवि का लक्ष्य प्रतीय-

मान वस्तु का वर्णन होता है। अतः वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसारूप अलङ्कार कवि के हृदय में पहले से ही स्फुरित होने लगता है)। तथा सर्वप्रथम बिना तरासे हुए पापाणखण्ड के समान प्रतीत होने वाली मणि के समान ही (कवि) प्रतिभा में प्रतीत होने वाली वस्तु चतुर कवि द्वारा विरचित चमत्कारपूर्ण (वक्र) वाक्य (श्लोक) में निबद्ध होकर निष्प (कसौटी) पर चढ़े हुए मणि के सदृश मनोहर ढङ्ग से काव्यमर्मज्ञो को आनन्द प्रदान करने वाली वाक्यरूपता को प्राप्त करती है। और यही कारण है एक ही वस्तु को लेकर रचे गये सावधान एवं असावधान दो प्रकार के कवियों के दो (भिन्न) वाक्य (श्लोक) इस प्रकार के महान् अन्तर को सिद्ध करता है—

यहाँ पर मार्गिनियों के मानभङ्ग कर देने के कारण उनके क्रोध से ढरे हुए चन्द्रमा के उदयरूप वस्तु का वर्णन ही दो कवियों ने दो ढङ्ग से प्रस्तुत किया है। पहला श्लोक महाकवि भारवि के विराताजुनीय से उद्धृत किया गया है कि—

मार्गिनीजनविलोचनपातानुष्णबाष्पवलुघानभिगृह्णन् ।
मन्दमन्दमुदितः प्रययौ स्रं भीतभीत इव शीतमयूखः ॥ १३ ॥

(पूर्व दिशा में) उदित हुआ चन्द्रमा गरम-गरम आँसुओं से कन्तुषित हुए मार्गिनियों के कटाक्षपातो को सहन करता हुआ, मानो अत्यधिक भयभीत या होकर धीरे-धीरे आकाश में पहुँच गया ॥ १३ ॥

क्रमावेकद्वित्रि-प्रगतिपरिपाटीः प्रकटयन्
कलाः स्वैरं स्वैरं नवकमलकन्दार्कुरुरुचः ।
पुरन्ध्रीणां प्रेयोविरहदहनोद्दीपतदृशां
कटाक्षेभ्यो मिभ्यन्निभृत इव चन्द्रोऽभ्युदयते ॥ १४ ॥

(तथा इसी चन्द्रोदय का वर्णन किसी कवि ने इस प्रकार से किया है)—
(पूर्व दिशा में) कमल की जड़ों के मये अङ्कुरों की कान्ति वाली (अपनी) कलाओं को धीरे-धीरे क्रमशः एक, दो, तीन आदि की आनुपूर्वी को साध प्रकट करता हुआ, प्रियतम के विरहानल से उद्दीप्त नेत्रोवाली कुटुम्बिनियों के कटाक्षों से ढरता हुआ, (अतएव) मानो अत्यन्त विनीत हुआ या चन्द्रमा उदित हो रहा है ॥ १४ ॥

एतयोन्तर सहृदयसवेद्यमिति तैरेव विचारणीयम् ।
तस्मात् स्थितमेतत्—नरः परैव रमणीयताविशिष्टस्य फेवलस्य
काव्यत्वम्, नाप्यर्थस्मेति । तदिदमुक्तम्—

(यहाँ यद्यपि दोनों कवियों ने कटाक्षों से भयभीत हुए-ते चन्द्रमा का वर्णन प्रस्तुत किया है लेकिन पहले पद्य में भान करनेवाली मानिनिषी के मानमङ्गल से उत्पन्न क्रोध से युक्त कटाक्षों का वर्णन ज़रूर ही चमत्कारकारी है। जब कि दूसरे में कुटिमित्रिनी के प्रियविरहजन्य क्रोध से युक्त कटाक्षों के वर्णन में उतना चमत्कार नहीं है। इस प्रकार) इन दोनों (पद्यों) का अन्तर सहृदयसहृदयसंवेद्य होने के कारण उन्हीं (सहृदयों) द्वारा ही विचार करने योग्य है। (हमें कुछ नहीं कहना है।) इस प्रकार यह निश्चित हुआ कि न तो रमणीयता विभिन्न वैद्वज्जन्म का ही काव्यम्ब होता और न केवल अर्थ का ही (अपितु शब्द और अर्थ दोनों मिलकर ही काव्य होते हैं)। इसीलिए (आचार्य भामाह ने अपने ग्रन्थ काव्यालङ्कार में काव्य के अलङ्कारों का विवेचन करते हुए (१, १३-१५) में) यह कहा है—

रूपकादिरलंकारस्तथान्यैर्वहुधोदितः ।

न कान्तमपि निर्भूयं विमाति धनिताननम् ॥ १४ ॥

अन्य अनेक (भामाह के पूर्ववर्ती आलङ्कारिकों) ने (काव्य के) रूपकादि अलङ्कार (अर्थात् अलङ्कार) बताए हैं (यद्यपि बिना अलङ्कारों के काव्य समी प्रकार अशोभन होता है जैसे) रमणीय होते हुए भी रमणी का मुख बिना अलङ्कारों के शोभित नहीं होता है ॥ १५ ॥

रूपकादिमलंकारं बाह्यमाचञ्छते परे ।

सुपां तिङ्गं च व्युत्पत्तिं वाचां बाह्यन्त्यलङ्कृतम् ॥ १६ ॥

(इसके विपरीत दूसरे (आलङ्कारिक) रूपकादि (अलङ्कारिकों) को बाह्य अलङ्कार बताते हैं और वाचों का अलङ्कार सुबन्त (सङ्ज्ञा पद्यों) तथा तिङन्त (क्रियापदों) की व्युत्पत्ति को स्वीकार करते हैं ॥ १६ ॥

सदेतदाहुः सौशान्यं नार्थव्युत्पत्तिरोदृशी ।

शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयं तु नः ॥ १७ ॥

तो इस प्रकार उन्होंने शौशान्य को बताया। अर्थ की व्युत्पत्ति इस प्रकार की नहीं होती। शब्द और अर्थ के अलङ्कारभेद से हमें तो दोनों इष्ट हैं ॥ १७ ॥

तेन शब्दार्थौ द्वौ संमिलितौ काव्यमिति स्थितम् एवमवस्थायिते द्वयोः काव्यत्वे काविवैकस्य मनाज्मात्रान्यूनतायां सत्यां काव्यव्यवहारः प्रवर्तित्याह-सहितमिति । सहितौ सहितभावेन आहित्येनाप्यस्मिदौ ।

अतः शब्द और अर्थ दोनों अच्छी तरह से मिलकर (ही) काव्य होते हैं, यह निश्चित हुआ । इस प्रकार (शब्द और अर्थ) दोनों में काव्यत्व होना है ऐसा निश्चित हो जाने पर कहो (उन दोनों में से) एक की थोड़ी सी न्यूनता होने पर काव्य-व्यवहार प्रवर्तित होने लगे (जो कि अनुचित एवं अनभिप्रेत है) इसलिए (कारिका में) कहा—‘सहितविति’ । सहितो अर्थात् सहित के भाव साहित्य से अवस्थित (शब्द और अर्थ काव्य होते हैं) ।

ननु च वाच्यवाचकसंबन्धस्य विद्यमानत्वादेतयोर्न कथंचिदपि साहित्यविरहः, सत्यमेतत् । किन्तु विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम् । कीदृशम् ?—चक्रताविचित्रगुणालंकारसपदां परस्परस्पर्धाधिरोहः । तेन—

(इस पर यदि कोई प्रश्न करे कि) वाच्यवाचक सम्बन्ध के विद्यमान होने से इन दोनों (शब्द और अर्थ) में साहित्य की अविद्यमानता किसी प्रकार सम्भव ही नहीं है (अर्थात् इन दोनों में सदैव सहभाव तो विद्यमान ही रहता है अतः ‘सहितो’ इस विशेषण के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं । तो इसका उत्तर देते हैं कि) ठीक है (शब्द और अर्थ में सहभाव (साहित्य) सदैव विद्यमान रहता है) किन्तु यहाँ पर (वह प्रसिद्ध साहित्य नहीं) अपितु (उससे) विशिष्ट ही साहित्य बाञ्छनीय है । (वह विशिष्ट साहित्य) किस प्रकार का है ? (जहाँ आगे कही जाने वाली छ प्रकार की) यन्त्राद्यो से विचित्र गुणो एवं अलङ्कारो की सम्पत्ति की परस्पर स्पर्धा की पराकाष्ठा होती है (वंसा साहित्य अभिप्रेत है ।) अतः —

समसर्वगुणौ सन्तौ सुहृदाविव सङ्गतौ ।

परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा ॥ १८ ॥

(मुझे वह साहित्य अभिप्रेत है जहाँ) समान समस्त गुणों से सम्पन्न दो मित्रों की भाँति (माधुर्यादि) समस्त गुणों से समानरूप से युक्त शब्द और अर्थ एक दूसरे की शोभा के लिये सगत हो (आपस में अच्छी तरह से मिल) जाते हैं । (जैसे) ॥ १८ ॥

ततोऽरुणपरिस्पन्दमन्दीकृतवपुः शशी ।

दध्रे कामपरिक्षामकामिनीगण्डपाण्डुताम् ॥ १९ ॥

तदनन्तर (सबेरे सूर्य के सारथि) अरुण के सञ्चरण (अर्थात् सूर्योदय) के कारण मन्दप्रभा वाले चन्द्रमा ने काम से परिक्षीण हुई कामिनी के गण्डस्थलों की जैसी पाण्डुता (पीलेपन) को धारण किया ॥ १९ ॥

अत्राचरणपरिस्पन्दनमन्दीकृतवपुः शशिनः कामपरिक्षामवृत्तेः
कामिनीकपोलफलकस्य च पाण्डुत्वसाम्यसमर्थनादर्थालंकारपरिपोषः
शोभातिशयमावहति । वक्ष्यमाणवर्णविन्यासवक्रतालक्षणः शब्दा-
लंकारोऽप्यतितरां रमणीयः । वर्णविन्यासविच्छित्तिविहिता लावण्य-
गुणमपदस्त्येव ।

यहाँ पर अचरण के सञ्चरण से मन्द कर दी गई प्रभा वाले चन्द्रमा की
छोटी काम के कारण परिक्षीण हो गये व्यापार वाजे कामिनी के गण्डस्थल
की पाण्डुता की समानता का समर्थन करने से (उपमा रूप) अर्थात्छात्र
का परिपोषण अत्यधिक शोभा को धारण करता है । (साथ ही) आगे वही
जाने वाली वर्णविन्यासवक्रतारूप (जिसे अन्य आलङ्कारिकों के आधार पर
अनुप्रास अलङ्कार कहा जा सकता है) शब्दालङ्कार भी अत्यन्त ही रमणीय
बन पड़ा है । और वर्णविन्यास की शोभा से उत्पन्न लावण्य गुण की
सम्पत्ति तो है ही । (अतः यहाँ पर गुण शब्दालङ्कार एवं अर्थात्छात्र सभी
का परस्पर स्पर्धा से प्रयोग शब्दार्थ-साहित्य का सूचक है जिससे यह पद
एक सुन्दर वाक्य का उदाहरण बन गया है ।)

यथा च—

लीलाइ कुवलअं कुवलअं य सीसे समुब्बत्तण ।

सेसेण सेसपुरिसाणं पुरिसआरो समुप्पसिओ ॥ २० ॥

[लीलाया कुवलप कुवलपमिव शीर्षे समुद्रहता ।

शेषेण शेषपुरुषाणां पुरुषकार ममुपहसित ॥]

और जैसे (दूसरा साहित्य (काव्य) का उदाहरण)—

कुवलप (नील कमल) के सदृश कुवलप (पृथ्वी-मण्डल) को तिर
पर बिना किसी श्रम के ही धारण करने वाले शेषनाग ने शेष पुरुषों के पीछे
की अच्छी हंसी उड़ाई है ॥ २० ॥

अत्राप्रस्तुत प्रशसोपमालक्षणवाच्यालंकारवैचित्र्यविहिता हेलामात्र
विरचितयमकानुप्रासहारिणी समर्पकत्वसुभगा कावि काव्यच्छाया
सहृदयहृदयमाह्लादयति ।

यहाँ पर अप्रस्तुतप्रशंसा एवं उपमारूप अर्थात्छात्रों के वैचित्र्य से
उत्पन्न, एवं बिना परिश्रम के ही विरचित यमक एवं अनुप्रास (रूप शब्दा-
लङ्कारों) से चित्ताकर्षक तथा तीव्र हो अर्थ स्पष्ट हो जाने (समर्पकत्व) के
कारण सुन्दर कोई (अनिर्वचनीय) काव्य की शोभा सहृदयों के हृदयों को

मानन्दित करती है (इस प्रकार इस पद्य में भी परस्पर शब्द और अर्थ के साहित्य का स्वहृष स्पष्ट किया गया है ।)

द्विवचनेनात्र वाच्यवाचकजातिद्वित्वमभिधीयते । व्यक्तिद्वित्वाभिधाने पुनरेकपदव्यवस्थितयोरपि काव्यत्वं स्यादित्याह—बन्धे व्यवस्थितौ । बन्धो वाक्यत्रिन्यासः तत्र व्यवस्थितो विशेषेण लावण्यादिगुणालकार-शोभिना सनिवेशेन कृतावस्थानौ । सहितावित्यत्रापि यथायुक्ति स्व-जातीयापेक्षया शब्दस्य शब्दान्तरेण वाच्यस्य वाच्यान्तरेण च साहित्यं परस्परस्पर्धित्वलक्षणमेव विवक्षितम् । अन्यथा तद्विदाह्लादकारित्वहानिः प्रसज्येत ।

यहाँ (शब्दार्थौ सहितौ''''॥ कारिका में 'शब्दार्थौ' आदि पदों में) द्विवचन के प्रयोग से अर्थ और शब्द के जातिगत द्वित्व का अभिधान किया गया है (व्यक्तिगत द्वित्व का नहीं अर्थात् एक ही शब्द और अर्थ का ही नहीं अपितु वाक्य में प्रयुक्त अनेक शब्दों और अर्थों का सहभाव होना चाहिए क्योंकि) व्यक्ति के द्वित्व का अभिधान करने पर एक पद में भी व्यवस्थित शब्द और अर्थ का काव्यत्व होने लगेगा । इसीलिए कहा है—'बन्ध' में व्यवस्थित (शब्द और अर्थ) बन्ध अर्थात् वाक्य की विशेष प्रकार की रचना, उसमें व्यवस्थित । विशेष अर्थात् लावण्यादि गुणों एवं अलङ्कारों से शोभित होनेवाली रचना के द्वारा स्थित । 'सहितौ' इस पद में भी उक्त युक्ति के अनुसार स्वजातीय (शब्द) की अपेक्षा अर्थ शब्द का दूसरे शब्द से तथा (स्वजातीय अर्थ की अपेक्षा) अर्थ के साथ परस्पर स्पर्धा से युक्त स्वरूप वाला ही साहित्य (सहभाव) बताना अभीष्ट है । नहीं तो (उक्त प्रकार के शब्द के शब्दान्तर एवं अर्थ के अर्थान्तर के साथ परस्पर स्पर्धा से युक्त साहित्य के अभाव में उस काव्य द्वारा) काव्यमर्मज्ञों की आह्लादकारिता की हानि होने लगेगी ।

यथा—

असार संसार परिमुषितरत्न त्रिभुवनं
निरालोक लोकं मरणशरण बान्धवजनम् ।
अनर्प कन्दर्प जननयननिर्माणमफल
जगज्जीर्णारण्य कथमसि विधातु व्यवसितः ॥ २१ ॥

जैसे—(महाकवि भवभूति विरचित 'मातलीमाधव' नामक प्रकरण में कापालिक को मालती का वध करने के लिए उद्यत देख माधव उस कापालिक से कहता है कि इस मालती के वध से तुम इस) संसार को सारहीन, तीनों

लोको को अग्रहृत रत्नोवाता, लोक को प्रकाशहीन, बाणध्वजनों को गरज की शरणवाला, कामदेव को (तीनों लोकों के जीतने के) दण्ड से होन, लोगो के नेत्रों के निर्माण को निष्फल तथा इस जगत् को जोषे अरण्य बना देने के लिए ब्रह्म उद्यत हो गये हो ॥ २१ ॥

अत्र किल कुत्रचित्प्रबन्धे कश्चित्कापालिकः कामपि कान्तां व्यापादयितुमध्यवसितो भवन्नेवमभिधीयते—यदपगतसारः ससारः, हृतरत्नमर्वस्वं त्रैलोक्यम्, आलोककमनीयवस्तुवर्जितो जीवलोकः, सकललोकलोचननिर्माणं निष्फलप्रायम्, त्रिभुवनविजयित्वदर्पहीनः कन्दर्पः, जगज्जीर्णारण्यकल्पमनयाविना भवतीति किं स्वनेवंविधमकरणीय कर्तुं व्यवसित इति ।

इस पद्य में किसी प्रबन्ध (भवभूति-विरचित 'मालतीमाधव' नामक प्रकरण) में किसी रमणी को हत्या करने के लिए उद्यत किसी कापालिक से ऐसा कहा जा रहा है—कि इस (मालती) के बिना (उसकी हत्या कर देने पर) ससार सार से हीन, त्रैलोक्य समस्त रत्नराशि से रहित, जीवलोक देखने में कमनीय वस्तुओं से हीन, समस्त लोगो के नेत्रों का निर्माण व्यर्थ सा, कामदेव तीनों लोकों को जीतने वाले धमण्ड से हीन, और जगत् जीजे जंगल की प्राप्ति हो जायगा । अतः तुम क्यों इस प्रकार के (अनर्थकारी) न करने योग्य कार्य को) करने के लिए उद्यत हो गये हो । इति ।

एतस्मिन् श्लोके महावाक्यकल्पे वाक्यान्तराण्यशान्तरवाक्य-सदृशानि तस्याः सकललोकलोभनीयलावण्यसंपन्नप्रतिपादनपराणि परस्परस्पर्धन्यतिरमणीयान्युपनिबद्धानि कमपि कान्यञ्छायातिशयं पुष्पन्ति । मरणशरणं बान्धवजनमिति पुनरेतेषां न कलामात्रमपि स्पर्धितुमर्हतीति न तद्विदाह्लादकारि । बहुषु च रमणीयेष्वेक वाक्योपयोगिषु युगपत् प्रतिभासपदबीमवतरत्सु वाक्यार्थपरिपूरणार्थं तत्प्रतिमं प्राप्तुमपरं प्रयत्नेन प्रतिभा प्रसाद्यते । तथा चास्मिन्नेव प्रस्तुतवस्तुस-म्राज्यचारिवस्त्वन्तरमपि सुप्रापमेव—

“विधिमपि विपन्नाद्भुत विधिम्” इति ।

महावाक्यतुल्य इस श्लोक के एक दूसरे (सभी) वाक्य अन्य वाक्यों के समान उस (मालती) की समस्त लोकों द्वारा लोभनीय सोन्दर्य की सम्पत्ति के प्रतिपादन में तत्पर होकर, परस्पर स्पर्धा करने वाले, अत्यन्त ही रमणीय दृग से (कवि द्वारा) उपनिबद्ध होकर काव्य के किसी

(अनिर्वचनीय) शोभातिशय का पोषण करते हैं । किन्तु 'मरणशरण वाग्धवजनम्' (इन्धुजन मर जायेंगे यह वाक्य उन (अन्य) वाक्यों की क्लामात्र से भी (किसी भी प्रकार) स्पर्धा करने में समर्थ नहीं है, अतः काव्यतत्त्वविदों के लिये आह्लादजनक नहीं है । एक वाक्य के लिये उपयोगी बहुत से सुन्दर वाक्यों के एक साथ (कवि के) मस्तिष्क में अवतरित होने पर (उस) वाक्यार्थ को सुचारुरूप से पूर्ण करने के लिए उन (अवान्तर वाक्यों) के सदृश दूसरा (वाक्य) प्राप्त करने के प्रयत्न से (कवि की) प्रतिभा प्रसन्न हो जाती है । और जैसे कि इसी (असार ससार...श्लोक) में (अवान्तर वाक्यों द्वारा) प्रस्तुत की गई वस्तु के सदृश दूसरी वस्तु भी बड़ी सरलता से ही प्राप्त हो सकती है (अर्थात् 'मरणशरण वाग्धवजनम्' के स्थान पर) 'विधिमपि विपन्नाद्भुतविधि' (ब्रह्मा को भी विनष्ट हो गए अद्भुत विधान वाला) का प्रयोग कर देने से (अवान्तर वाक्यों के सदृश यह वाक्य भी चमत्कारकारी हो जायगा । इससे स्पष्ट है कि कवि ने इस वाक्य के प्रयोग में अनवधानता दिखाई है ।)

प्रथमप्रतिभातपदार्थप्रतिनिधिपदार्थान्तरासम्भवे सुकुमारतरापूर्व-
समर्पणेन कामपि काव्यच्छाया मुन्मीलयन्ति कवयः । यथा—

(प्रतिभासम्पन्न) कविजन (कोई भी रचना करते समय) सर्वप्रथम मस्तिष्क में आए हुए पदार्थ के प्रतिनिधिरूप अन्य पदार्थ (जो कि प्रथम प्रतिभात पदार्थ के साथ स्पर्धा कर सके और उसी की भाँति चमत्कारजनक हो, उस) के असम्भव होने पर अत्यन्त ही सुकुमार (पदार्थ) के अपूर्व (नये ढंग से) समर्पण के द्वारा किसी (अनिर्वचनीय) काव्य की शोभा का उन्मीलन करते हैं । जैसे—

रुद्राद्रेस्तुलनं स्वकण्ठविपिनोच्छेदो हरेर्वासन

कारावेशमनि

पुष्पकापहरणम् ॥ २२ ॥

(बाल रामायण १ ५१ में कवि राजशेखर रावण के पराक्रम का वर्णन करने हुए कि) कैलाश पर्वत को उठा लेना, अपने कण्ठरूपी शरण्या का कर्तन करना (अर्थात् भगवान् शंकर की सेवा में अपने शिरो का काट-काट कर चढ़ाना), इन्द्र का कारागार में निवास कराना, पुष्पक (विमान) का अपहरण कर लेना—॥ २२ ॥

इत्युपनिबद्धय पूर्वोपनिबद्धपदार्थानुरूपवस्त्वन्तरासम्भवादपूर्वमेव
“यस्येदृशाः केलयः” इति न्यस्तम्, येनान्येऽपि कामपि कमनीयताम-
नीयन्त । यथा च—

इस प्रकार (रावण के पराक्रम का सुन्दर-सुन्दर वाक्यों द्वारा) उपनिबद्ध करके, पहले उपनिबद्ध किए गये पदार्थों के अनुरूप दूसरी वस्तु के असम्भव होने से) अपूर्व (दंग से ही) 'यस्येदृशा' केतयः' (इस प्रकार की जिसकी श्रीढायें हुआ करती थीं—अर्थात् इतने पराक्रम का कार्य जिसके लिये केवल खेल या जिसे वह अनायास ही कर डाले या तो उसके पराक्रमपूर्ण कैसे होंगे) इस प्रकार (अन्तिम वाक्य) उपनिद्ध किया है जिस (के प्रयोग) से अन्य (पूर्वोपनिबद्ध वाक्य) भी किसी (अपूर्व, अनिवंचनीय) रमणीयता को प्राप्त हो गए हैं । और जैसे—

तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन दिवसो नीतः प्रदोषस्तथा
तद्गोष्ठयैव निशापि मन्मन्यकृतोत्साहैस्तदङ्गार्पणैः ।
तां संप्रत्यपि मार्गदत्तनयनां द्रष्टुं प्रवृत्तस्य मे
बद्धोत्कण्ठमिदं मनः किम् ॥ २३ ॥

(तापसवत्सराजचरितम् मे) उस के मुखचन्द्र को देखने में दिन (व्यतीत हो गया) तथा उसके साथ गोष्ठी करने में ही सन्ध्या (बीत गई) एवं कामदेव द्वारा उत्पन्न उत्साह से मुक्त उसके अंगों के अर्पण से रात भी बीत गई । फिर भी (मेरी प्रतीक्षा में) रास्ते में आखें लगाये हुए उसे देखने के लिए मेरा मन (न जाने) क्यों उत्कण्ठामुक्त हो रहा है— ॥ २३ ॥

इति संप्रत्यपि तामेवंविधां वीक्षितुं प्रवृत्तस्य मम मनः किमिति बद्धोत्कण्ठमिति परिसमाप्तेऽपि यथाविधवस्तुविन्यासो विहितः—
“अथवा प्रेमासमाप्तोत्सवम्” इति, येन पूर्वेषां जीवितमिवार्पितम् ।

‘इस प्रकार अब भी इस प्रकार की (रास्ते में मेरी प्रतीक्षा में आँखें लगाए हुए) उसको देखने के लिए प्रवृत्त मेरा मन (न जाने) क्यों उत्कण्ठित है, इस प्रकार (वाक्य) वे समाप्त हो जाने पर भी—(कवि ने) —‘अथवा प्रेमासमाप्तोत्सवम्’ (अर्थात् प्रेम का उत्सव कभी भी समाप्त नहीं होता, उसमें सदैव उत्कण्ठा बनी ही रहती है) इस प्रकार ऐसा (अपूर्व) वस्तु (वाक्य) विन्यास कर दिया है जिससे पूर्वोपनिबद्ध वाक्यों में जान-सी डाल दी गई है ।

यद्यपि द्वयोरप्येतयोस्तत्प्राधान्येनैव वाक्योपनिबन्धः, तथापि कविप्रतिभाप्रौढिरेव प्राधान्येनावतिष्ठते । शब्दस्यापि शब्दान्तरेण साहित्यविरहोदाहरणं यथा—

यद्यपि इन दोनों (श्लोको) में भी वाक्यविन्यास उस (परस्परस्पर्धित्व-रूप साहित्य के ही प्रधान्य से किया गया है फिर भी प्रधानरूप से कवि की प्रतिभा की प्रौढता ही विद्यमान होती है।

टिप्पणी :—आचार्य कुन्तल ने अपने उक्त कथन द्वारा काव्य-रचना में कविप्रतिभा को प्रमाण बताया है। अर्थात् यदि कवि प्रतिभासम्पन्न है तो उसकी रचना में किसी भी प्रकार सन्दर्भ-साहित्य की परस्पर-स्पर्धित्वरूपता में कोई बाधा नहीं उपस्थित हो सकती जैसा कि 'रुद्रादेस्तुलनम्—' ॥२२॥ एवं 'तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन—' ॥२३॥ उदाहरणों से स्पष्ट है। और यदि कवि प्रतिभासम्पन्न नहीं (अथवा प्रतिभासम्पन्न होते हुए भी अनवधान-वान है) तो, रचना में 'असार ससार—' ॥ २१ ॥ की भाँति दोष आ जाना स्वाभाविक ही है।

(अभी तक पूर्व उदाहृत—'असार ससारम्—'पद्य में अर्थ साहित्य विरह का उदाहरण देकर) अब शब्द के भी अन्य शब्द के साथ साहित्य (परस्परस्पर्धित्वरूप) के विरह (अभाव) का उदाहरण (प्रस्तुत करते हैं)

जैसे—(शिशुपालवध १०।३३ में)—

चारुता वपुरभूषयदासां तामनूनवयौवनयोगः ।

तं पुनर्मकरकेतनलक्ष्मीस्तां मदो दयितसङ्गमभूषः ॥ २४ ॥

इन (रमणियों) के शरीर को सुन्दरता ने, उस (सुन्दरता) को पूर्ण (रूप से विकसित) नवयौवन के संयोग ने, तथा उस (नवयौवन) को मदनश्री ने, तथा उस (मदनश्री) को प्रियतम के सम्मिलनरूप भूषण से युक्त मद ने भूषित किया ॥ २४ ॥

दयितसङ्गमस्तामभूषयदिति वक्तव्ये कीदृशो मदः, दयितसङ्गमो भूषा यस्येति । दयितसङ्गमशब्दस्य प्राधान्येनाभिमतस्य समासवृत्ता-वन्तर्भूतत्वाद् गुणीभावो न तद्विदाह्यादकारी । दीपकालंकारस्य च काव्यशोभाकारित्वेनोपनिबद्धस्य निर्वहणावसरे झुटितप्रायत्वात् प्रक्रमभङ्गविहितं सरसहृदयवैरस्यमनिवार्यम् । 'दयितसङ्गतिरेनम्' इति पाठान्तरं सुलभमेव ।

प्रिय के सङ्गम से उस (मदनश्री) को भूषित किया ऐसा कहने के स्थान पर (कवि ने कहा कि मद ने उसे भूषित किया तो) कैसे मद ने ? प्रिय का सङ्गम ही है भूषण जिसका ऐसे (मद ने भूषित किया) । (यहाँ) प्रधानरूप से अभीष्ट 'दयितसङ्गम' शब्द के समासवृत्ति में

अन्तर्भूत हो जाने के कारण (उसका) गुणीभाव काव्यतत्त्वमर्मज्ञों के लिये आनन्ददायक नहीं है । साथ ही काव्य के शोभाजनक के रूप में उपनिबद्ध दीपक अलङ्कार के निर्वहणकाल में भङ्ग-सा हो जाने से प्रक्रमभङ्ग (दोष) जन्म सहृदयों के हृदय का बेरस्म आवश्यक हो गया है । (जब कि 'दयित-सङ्गमभूष' के स्थान पर उक्त दोष को दूर करने के लिए) 'दयितसङ्गति रेनम्' (अर्थात् मदनश्री की मद ने और उस मद को प्रिय के सङ्गम ने भूषित किया) यह पाठ सरलता से ही प्राप्य है । जिससे प्रक्रमभङ्ग दोष भी समाप्त हो जायगा, साथ ही 'दयितसङ्गम' का गुणीभाव भी दूर हो जायगा ।)

द्वयोरप्येतयोर्दुदाहरणयोः प्राधान्येन प्रत्येकमेकतरस्य साहित्य-विरहो व्याख्यातः । परमार्थतः पुनरुभयोरप्येकतरस्य साहित्य-विरहोऽन्यतरस्यापि पर्यवस्यति । तथा चार्थः समर्थवाचकासङ्गादे स्वात्मना स्फुरन्नपि मृतकल्प एवावतिष्ठते । शब्दोऽपि वाक्योपयोगि-वाच्यासमवे वाच्यान्तरवाचकः सन् वाक्यस्य व्याधिभूतः प्रति-भातीत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

इन दोनों (श्लोकसदृशा २१ एवं २४) उदाहरणों में प्रत्येक में एक प्राधान्य द्वारा (अर्थात् 'अमार मसार'—में अर्थ के प्राधान्य के कारण अर्थ के तथा 'चारुता वपुरभूषयत्'—में शब्द के प्राधान्य के कारण शब्द के) साहित्य के अभाव की व्याख्या की गई है । वास्तविकता तो यह है कि उन दोनों में एक के भी साहित्य का विरह होने पर दूसरे का भी (साहित्य-विरह अपने आप) हो जाना है । और इसी लिए अर्थ (वाक्य के उपयोगी अर्थ के दे सक्ने में) समर्थ शब्द के अभाव में स्वभावतः स्फुरित होता हुआ भी मृतप्राय-सा ही रहता है । और शब्द भी वाक्य के लिए उपयोगी अर्थ के अभाव में अन्य (चमत्कारहीन) अर्थ का वाचक होकर वाक्य के लिए व्याधिस्वरूप प्रतीत होता है (अतः यह सिद्ध हुआ कि शब्द और अर्थ में किसी एक का भी साहित्य विरह दूसरे के साहित्य-विरह में पर्यवसित हो जाता है) इस प्रकार अब अतिप्रसङ्ग की आवश्यकता नहीं ।

प्रकृतं तु । कीदृशे वन्द्ये—वक्रकविन्यापारशालिनि । वक्रो योऽसौ शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकी पट्टप्रकारवशता-विशिष्टः कविन्यापारस्तत्क्रियाक्रमस्तेन शालते श्लाघते यस्तस्मिन् एवमपि कष्टकल्पनोपहृतेऽपि प्रसिद्धव्यतिरेकित्वमस्तीत्याह—तद्विदा-

ह्लादकारिणि । तदिति काव्यपरामर्शः तद्विदन्तीति तद्विदस्त्वस्या-
स्तेषामाह्लादमानन्दं करोति यस्तस्मिन् तद्विदाह्लादकारिणि बन्धे
व्यवस्थितौ । वक्रतां वक्रताप्रकारास्तद्विदाह्लादकारित्वं च प्रत्येकं
यथावसरमेवोदाहरिष्यन्ते ।

अवसरप्राप्त (बात) तो (यह है कि) किस प्रकार के बन्ध में
(व्यवस्थित, सहभाव से युक्त शब्द और अर्थ काव्य होते हैं ?) वक्रकवि-
व्यापार से शोभित होने वाले । वक्र अर्थात् जो यह शस्त्रादि में प्रसिद्ध शब्द
और अर्थ के उपनिबन्धन से व्यतिरिक्त, (वक्ष्यमाण) छ प्रकार की वक्रताओं
से दिग्गिष्ट, कवि का व्यापार अर्थात् उसकी क्रियाओं का (काव्य-रचना का)
क्रम है, उसमें जो शोभित अर्थात् प्रशंसित होता है, उस (बन्ध) में
(व्यवस्थित शब्द और अर्थ काव्य होने हैं ।) तो इस प्रकार (लक्षण करने
कर) भी कठिन यत्न से उपहृत (बन्ध) में भी (शास्त्रादि में) प्रसिद्ध
(शब्दाद्योपनिबन्ध) में व्यतिरिक्ता आ जायगी (अर्थात् कठिन कल्पना
से युक्त भी बन्ध में व्यवस्थित शब्द और अर्थ काव्य होने लगेंगे) अतः
(ऐसे बन्धकाव्य न हो इसके निवारणार्थं) कहा है कि तद्विदो के लिए
आह्लादजनक (बन्ध में व्यवस्थित । तत् शब्द से काव्य का परामर्श
होता है । अर्थात् उस (काव्य) को जानते हैं जो वे हुए तद्विद् (अर्थात्
(काव्यज्ञ) उनका जो आह्लाद अर्थात् आनन्द करता है वह हुआ तद्विदा-
ह्लादकारी, (अर्थात् काव्यज्ञों के आह्लाद का जनक) उस बन्ध में व्यवस्थित
(शब्द और अर्थ काव्य होते हैं) । वक्रता, वक्रता के प्रकारों तथा
काव्यज्ञों की आह्लादकारिता, प्रत्येक को यथावसर ही उदाहृत किया
जायगा ।

एवं काव्यस्य सामान्यलक्षणे विहिते विरोपलक्षणमुपक्रमते । तत्र
शब्दार्थयोस्तावत्स्वरूपं निरूपयति—

वाच्योऽर्थो वाचकः शब्दः प्रसिद्धमिति यद्यपि ।

तथापि काव्यमार्गेऽस्मिन् परमार्थोऽयमेतयोः ॥ ८ ॥

इस प्रकार काव्य का सामान्य लक्षण कर देने के अनन्तर विशेष लक्षण
प्रारम्भ करते हैं । उसमें तब तक शब्द और अर्थ के स्वरूप का निरूपण
करते हैं—

यद्यपि वाच्य अर्थ (होता है तथा) वाचक शब्द (होता है) वह

प्रसिद्ध है, फिर भी इस काव्य मार्ग में इन दोनों का परमार्थ (काव्य मार्ग में प्रयुक्त होने वाला वास्तविक एवं अपूर्व अर्थ) यह (आगे ६ वीं कारिका में कहा जाने वाला) है ॥ ८ ॥

इति एवंविधं वस्तुं प्रसिद्धं प्रतीतम्—जो वाचक' स शब्दः, जो वाच्यश्चाभिधेयः सोऽर्थ इति । ननु च द्योतकव्यञ्जकावपि शब्दौ सम्भवतः, तदसमहान्नाव्याप्तिः, यस्मादर्थप्रतीतिकारित्वसामान्यादुपचारात्तावपि वाचकावेव । एवं द्योतकव्यञ्जयोरर्थयोः प्रत्येयत्वसामान्यादुपचाराद्वाच्यत्वमेव । तस्माद् वाचकत्वं वाच्यत्वं च शब्दार्थयोर्लोके सुप्रसिद्धं यद्यपि लक्षणम्, तथाप्यस्मिन् अलौकिके काव्यमार्गे कविकर्मवर्त्मनि अयमेतयोर्व्यङ्ग्यमाणा लक्षणः परमार्थः किमप्यपूर्वं तत्त्वमित्यर्थः । कीदृशमिन्याह—

इति अर्थात् इस प्रकार की वस्तु प्रसिद्ध अर्थात् (लोक में) प्रसिद्ध है कि—जो वाचक (है) वह शब्द (होता है) और जो वाच्य अर्थात् अभिधेय (है) वह अर्थ (होता है) । (यदि कोई शंका करे कि) द्योतक और व्यञ्जक भी तो शब्द सम्भव है (जब कि आपने केवल वाचक शब्द ही ग्रहण किया है अतः लक्षण में अव्याप्ति दोष होगा तो उस शब्द का समाधान करते हैं कि) उस (द्योतक और व्यञ्जक) के ग्रहण न करने से अव्याप्ति (दोष) नहीं है, क्योंकि अर्थ की प्रतीतिकारिता रूप सामान्य के कारण उपचार (लक्षणा अथवा गौणीवृत्ति) से वे दोनों (द्योतक और व्यञ्जक शब्द) भी वाचक ही हुए । इस प्रकार द्योतक और व्यङ्ग्य अर्थों में भी ज्ञेयत्व (प्रत्येयत्व) सामान्य के कारण उपचार से वाच्यत्व ही (हो जायगा) इसलिए यद्यपि लोक में शब्द और अर्थ का वाचक रूप एवं वाच्य रूप लक्षण अच्छी तरह प्रसिद्ध है, फिर भी इस अलौकिक' काव्यमार्ग अर्थात् कविकर्म के पथ में यह इन दोनों का (६वीं कारिका में) कहा जाने वाला, परमार्थ कोई (अनिवर्चनीय) अपूर्व तत्त्व है । यह अभिप्राय हुआ । तो वह (अपूर्व तत्त्व) किस प्रकार का है यह बताते हैं—

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि ।

अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः ॥ ९ ॥

(काव्यमार्ग में विवक्षित अर्थ के वाचक) अन्य (बहुत से पर्यायवाची शब्दों) के रहने पर भी, कहने के लिए अभिप्रेत अर्थ का (केवल) एक ही

वाचक (शब्द) शब्द होता है । (तथा) सहृदयों को आह्लादित करने वाला अपने स्वभाव से सुन्दर (अर्थ ही) अर्थ होता है ॥ ६ ॥

स शब्दः काव्ये यस्तत्समुचितसमस्तसामग्रीकः । कीदृक्—
विवक्षितार्थैकवाचकः । विवक्षितो योऽसौ वक्तुमिष्टोऽर्थस्तदेकवाचक-
स्तस्यैकः केवल एव वाचकः । कथम्—अन्येषु सत्स्वपि । अपरेषु
तद्वाचकेषु बहुष्वपि विद्यमानेषु । तथा च—

काव्य में शब्द वही (होता है) जो उस (काव्य) के लिए समुचित
समस्त सामग्रियों से युक्त होता है । कैसा (शब्द) ? विवक्षित अर्थ का एक
ही वाचक । विवक्षित् अर्थात् जो यह कहने के लिए अभिप्रेत अर्थ है उसका
एक वाचक अर्थात् केवल वह ही वाचक (उस अर्थ की प्रकाशित करने में
समर्थ होता है) कैसे ? अन्यो के रहने पर भी । अर्थात् उस अर्थ के
वाचक दूसरे बहुत में (शब्दों) के रहने पर भी (जो विवक्षित अर्थ का
केवल एकमात्र प्रकाशक होता है वह शब्द ही काव्य में शब्द कहलाने का
अधिकारी होता है ।) इसी प्रकार—

सामान्यात्मना वक्तुमभिप्रेतो योऽर्थस्तस्य विशेषाभिधायी शब्दः
सम्यग् वाचकतां न प्रतिपद्यते । यथा—

जो अर्थ सामान्यरूप से कहने के लिए अभिप्रेत है, उसकी सम्यक्
वाचकता को विशेषरूप से अभिधान करने वाला शब्द नहीं प्राप्त होता है—
(अर्थात् जहाँ हमें सामान्यरूप का अर्थ विवक्षित है वहाँ हम ऐसे ही शब्द का
प्रयोग करें जो सामान्यरूप का अर्थ दे सके । अन्यथा उसके स्थान पर यदि
हम विशेषरूप का अर्थ देने वाले शब्द का प्रयोग करेंगे तो वह शब्द उस
अभिप्रेत अर्थ का वाचक न होगा) जैसे—

कल्लोलवेल्लितदृष्ट्युरुपप्रहारैः

रत्नान्यमूनि मकराकर माऽवसस्थाः ।

किं कौस्तुभेन भवतो विहितो न नाम

याच्चाप्रसारितकरः पुरुषोत्तमोऽपि ॥ २५ ॥

हे सागर (मकरालय) । (अपनी) उताल तरङ्गों द्वारा चंचल किए
गए पाषाणों के कठोर आघातों से इन रत्नों को अपमानित मत करो । क्या
(इन्हीं रत्नों में से एक रत्न) कौस्तुभ ने पुरुषश्रेष्ठ (भगवान् विष्णु) को

भी याचना के लिए (तुम्हारे नामने) हाथ फेंसाने के लिए प्रेरित नहीं किया ॥ २५ ॥

अत्र रत्नसामान्योत्कर्षाभिधानमुपक्रान्तम् । 'कौस्तुभेनेति रत्नविशेषाभिधायी शब्दस्तद्विशेषोत्कर्षाभिधानमुपसहरतीति प्रक्रमोपसंहारवैषम्यं न शोभातिशयमावहति । न चैतद्वक्तुं शक्यते—यः कश्चिद्विशेषे गुणग्रामगरिमा विद्यते स सर्वसामान्येऽपि सम्भवत्येवेति । यस्मात्—

यहाँ (कवि ने) रत्न सामान्य के उत्कर्ष का कथन प्रारम्भ किया था (किन्तु) 'कौस्तुभेन' यह रत्नविशेष का कथन करने वाला शब्द उस (रत्न) विशेष के उत्सर्ग के कथन में उपसंहार करता है । इस प्रकार प्रारम्भ और उपसंहार का वैषम्य शोभाधिक्य को नहीं धारण करता है । (अर्थात् कवि ने पहले रत्नसामान्य के उत्सर्ग का कथन तो प्रारम्भ किया किन्तु 'कौस्तुभेन' कहकर उपसंहार एक रत्नविशेष 'कौस्तुभ' के उत्कर्ष में कर दिया । जिससे यहाँ 'प्रक्रममङ्ग' दोष आ गया जो कि शोभातिशय का पोषक नहीं है । (और यह भी नहीं कहा जा सकता कि—जो कोई गुण) समूह की गरिमा विशेष में रहती है वह सर्वसामान्य में भी सम्भव होती ही है । क्योंकि तन्त्राख्याविका १।४० में कहा गया है कि—

वाजिवारणलोहानां काष्ठपापाणवाससाम् ।

नारीपुरुषतोयानामन्तरं महदन्तरम् ॥ २६ ॥

अश्व, गज, लोहा (रत्नादि), लकड़ी, पत्थर, वस्त्र, स्त्री, पुरुष और जल का (अपने सजातियों से ही) अन्तर, बहुत बड़ा अन्तर होता है ॥ २६ ॥

तस्मादेवविधे विषये सामान्याभिधाय्येष शब्दः सहृदयहृदयहारितां प्रतिपद्यते । तथा चास्मिन् प्रकृते पाठान्तरं सुलभमेव—“एकेन किं न विहिता भवतः स नाम” इति ।

इसलिए इस प्रकार (जहाँ सामान्यरूप का कथन अभिप्रेत है, उस) के विषय में सामान्य का अभिधान करनेवाला शब्द ही सहृदयों की हृदयहारिता को प्राप्त होता है । (विशेषरूप का कथन करनेवाला शब्द नहीं ।) और फिर इस प्रकृत ('कहजोलवस्त्रित' इत्यादि पद्य) में 'एकेन किं न विहितो भवतः स नाम' (अर्थात् क्या एक (कौस्तुभ) मणि ने आपको वह पद्य

नही प्रदान किया) यह पाठान्तर सरलता से हो प्राप्त हो सकता है । जो कि वाक्य का उपसहार भी सामान्य ही अर्थ में करता हुआ सहृदयहृदय-हारिता को प्राप्त करेगा ।)

यत्र विशेषात्मना वस्तु प्रतिपादयितुमभिमतं तत्र विशेषाभिधायकमेवाभिधानं निबन्धनन्ति कवयः । यथा—

जहाँ वस्तु का विशेषरूप से ही प्रतिपादन करना (कवियों को) अभिप्रेत होना है वहाँ कविजन विशेष का अभिधान करनेवाले ही शब्द का प्रयोग करते हैं । जैसे—महाकवि कालिदास ने कुमारसम्भव (१।७१) में पार्वती से भिक्षुरूपधारी शङ्कर द्वारा कहलवाया है कि—

द्वयं गत संप्रति शोचनोयतां ममागमप्रार्थनया कपालिनः ।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकेत्य च नेत्रकौमुदी ॥२७॥

(एक तो) वह कलादान् (चन्द्रमा) की कान्तिमती कला ओर (दूसरी) इस लोक के नेत्रों की कौमुदी तुम, दोनों इस समय (उस) कपाली (शङ्कर) के समागम की प्रार्थना से शोचनीयता को प्राप्त हो गई हो ॥ २७ ॥

अत्र परमेश्वराचक्राब्दसहस्रसंभवेऽपि कपालिन इति बीभत्सरसालम्बनविभाववाचकः शब्दो जुगुप्सास्पदत्वेन प्रयुज्यमानः कामपि वाचकवक्रता विधाति । 'संप्रति' 'द्वय' चेत्यतीव रमणीयम्—यन् किञ्च पूर्वमेका सैव दुर्ज्यसतद्वृत्तित्वेन शोचनोपा संजाता, संप्रति पुनस्त्वया तस्यास्तथाविधदुर्लभ्यवसायसाहायकमिद्वारब्धमित्युपहस्यते । 'प्रार्थना' शब्दोऽप्यतितरुणं रमणीयः, यस्मात् काकतालीययोगेन तत्समागमः कदाचिन्न वाच्यतावहः । प्रार्थना पुनरात्यन्तं कोलोन-कल्लकारिणी ।

इस पद्य में शङ्कर के वाचक (पिताकी भाँति) सहस्रो शब्दों के सम्भव होने पर भी 'कपालिन' (कपाली की) यह बीभत्सरस के आलम्बन विभाव का वाचक शब्द घृणा के पाप के रूप में प्रयुक्त होकर किसी (अनिर्वचनीय) शब्द की वक्रता को धारण करता है । (भाव यह है कि यहाँ भिक्षुवेषधारी शङ्कर पार्वती के मन में शिव के प्रति घृणा पैदा कराना चाहते हैं अतः यदि यहाँ 'कपाली' के स्थान पर वे 'पिताकी' आदि कहने लगे तो यह घृणाभाव आना ही कठिन था । अतः कपाली कहकर शिव के बीभत्सररूप का विरम किया है । जो उन्हें घृणास्पद सिद्ध करता है । यही कथ्यती पद्य

की वज्रता है।) 'सम्प्रति' (इस समय) और 'द्वय' (दोनों) ये पद भी अत्यन्त रमणीय हैं—क्योंकि पहले तो एक बहो (चन्द्रकला ही कपाली के समागमरूप) दुर्व्यसन से दूषित होने के कारण शोचनीय हो गई थी और फिर अब तुमने भी उस (चन्द्रकला) के उस प्रकार के दुरव्यवसाय (दुःखदायी उत्साह) में सहायता सा करना प्रारम्भ कर दिया है इस प्रकार (भिक्षुवेपथारी शिव द्वारा पार्वती का) उपहास किया जा रहा है। 'प्रायना' शब्द भी अत्यधिक रमणीय है, क्योंकि अकस्मात् (काकतालीय योग से) हो गया उस कपाली का समागम शायद वाच्यता (निन्दा) का बहाना न बरता किन्तु यहाँ (उस कपाली के समागम की) प्रायना अत्यन्त ही कुलीन (कुल) में उत्पन्न होनेवाली (तुम्हारे लिए) कलङ्ककारिणी है।

'सा च' 'त्वं च' इति, द्वयोरप्यनुभूयमानपरस्परस्पर्धिलावण्यातिशयप्रतिपादनपरत्वेनोपात्तम् । 'कलावतः' 'कान्तिमती' इति च मत्वर्थीयप्रत्ययेन द्वयोरपि प्रशंसा प्रतीकत इत्येतेषां प्रत्येकं कश्चिदर्थः शब्दान्तराभिधेयतां नोत्सहते । कविविश्वक्षितविशेषाभिधानक्षमत्वमेव वाचकत्वलक्षणम् । यस्मात्प्रतिभायां तत्कालोल्लिखितेन केनचित्परिस्पन्देन परिस्फुरन्तः पदार्थाः प्रकृतप्रस्तावसमुचितेन केनचिदुत्कषण वा समाच्छादितस्वभावाः सन्तो विवक्षाविधेयत्वेनाभिधेयतापदबीजमवतरन्तस्तथाविधविशेष-प्रतिपादन-समर्थेनाभिधानेनाभिधीयमानाश्चेत्यनन्वयमत्कारितामापद्यन्ते । यथा—

'सा च' (वह) और 'त्वच्च' (तुम) ये दोनों पद (चन्द्रकला और पार्वती) दोनों के अनुभूयमान परस्पर स्पर्धा करनेवाले लावण्य के अतिशय का प्रतिपादन करने के लिए ग्रहण किए गए हैं। 'कलावतः' और 'कान्तिमती' इन पदों में मत्वर्थीय प्रत्यय के द्वारा दोनों (चन्द्रमा एवं उसकी कला) की प्रशंसा प्रतीत होती है। इस प्रकार (इस श्लोक में प्रयुक्त) इन सभी पदों का प्रत्येक कोई भी अर्थ दूसरे शब्द द्वारा अभिधेयता की सहन नहीं कर सकता (क्योंकि यदि कवि द्वारा प्रयुक्त इस श्लोक के प्रत्येक पदों के स्थान पर उसका पर्यायवाची दूसरा शब्द रखा जाय तो वह विश्वक्षित अर्थ को देने में असमर्थ अतः अमत्कारहीन हो जायगा।) (अतः) कवि के द्वारा कहने के लिए अभिप्रेत विशेष (अर्थ) का अभिधान करने की क्षमता का होना ही वाचकत्व का लक्षण है। जिनसे (कवि की) प्रतिभा में जब (काव्यरचना के) समय उन्मिषित हुए किसी स्वभावादिशेष के

द्वारा पुरिस्फुरित होते हुए पदार्थ, अथवा अवसर प्राप्त प्रकरण के योग्य किसी उत्कर्षविशेष से समाच्छन्न स्वभाव वाले होकर (पदार्थ कवि के) कथन के लिए अग्निरेत (वस्तु) की विधेयता के कारण अभिधेयता को प्राप्त कर, उस प्रकार के विशेष (अर्थ) के प्रतिपादन में समर्थ शब्द द्वारा अभिधीयमान होकर (सहृदयो के) हृदयो को चमत्कृत करने लगते हैं । जैसे—

संरम्भं करिकोटभेषशकलोद्देशेन सिंहस्य यः
सर्वस्यैव स जानिमात्रविहितो हेवाकलेशः किल ।
इत्याशाद्विरदक्षयाम्बुदघटाबन्धेऽप्यसरब्धवान्
योऽसौ कुत्र चमत्कृतेरनिशयं यात्वम्बिकाकेसरी ॥ २८ ॥

करिकोटरूपी भेषखण्ड को लक्ष्य करके जो सिंह का अग्निनिवेश है यह तो सभी (सिंहो) का केवल जातिजन्य साधारण स्वभाव है अतः जो यह भगवती दुर्गा का (वाहनभूत) सिंह साधारण दिग्गजरूपी प्रलयमेघो की घटारचना के प्रति भी अग्निनिवेशहीन है (तो फिर भला) और वह कहीं चमत्कार के उत्कर्ष को प्राप्त कर सकेगा ॥ २८ ॥

अत्र करिणां 'कीट'-व्यपदेशेन तिरस्कारः, तोयदानो च 'शकल'-शब्दाभिधानेनानादरः, 'सर्वस्य' इति यस्य कस्यचित्तुच्छतरप्रायस्येत्यवहेता, जातेश्च 'मात्र'-शब्दविशिष्टत्वेनावलेपः, हेवाकस्य 'लेश'-शब्दाभिधानेनाल्पताप्रतिपत्तिरित्येते विवक्षितार्थैकवाचकत्वं द्योतयन्ति । 'घटाबन्ध'-शब्दस्य प्रस्तुतमहत्त्वप्रतिपादनपरत्वेनोपात्तस्तन्निबन्धनतां प्रतिपद्यते । विशेषाभिधानाकार्ष्णिणः पुनः पदार्थस्य रूपस्य तत्प्रतिपादनपरविशेषणशून्यतया शोभाहानिरुत्पद्यते । यथा—

यहाँ (उक्त पद्य में) हाथियों का 'कीट' सजा के द्वारा तिरस्कार (किया गया है), और बावलो का 'शकल' शब्द के द्वारा अभिधान कर अनादर (किया गया है) । 'सर्वस्य' इस (पद के प्रयोग द्वारा) जिस किसी अत्यधिक तुच्छ हाथी का भी ऐसा स्वभाव होता है । इस प्रकार कहकर अवहेलना (की गई है), और जाति का 'मात्र' शब्द को विशेषण बनाकर (अम्बिकाकेसरी के) घमण्ड (अवलेप) की (सूचना दी गई है) तथा हेवाक का लेश शब्द के द्वारा अभिधान कर अल्पता की प्रतीति (कराई गई है) इस प्रकार ये (सभी शब्द) विवक्षित अर्थों की केवल

एक ही वाचकता को छोटित करते हैं। तथा 'पटाव्य' शब्द प्रस्तुत (अभिव्यक्तिप्रतीति) के महत्त्व का प्रतिपादन करने के लिए गृहीत होकर उस (महत्त्वप्रतीति) की कारणता को प्राप्त करता है। फिर विशेष अभिव्यक्ति के इच्छुक पदार्थों के स्वरूप को, उस (विशेष अभिव्यक्ति) का प्रतिपादन करने वाले विशेषण के अभाव में, शोभा की हानि होती है। जैसे—

तत्रानुल्लिखिताख्यमेव निखिलं निर्माणमेतद्विधे-
रुत्कर्षप्रतियोगिकल्पनमपि न्यक्कारकोटिः परा ।
याताः प्राणमृता मनोरथगतीरुल्लङ्घयन्तसंपद-
स्तस्यामासमणीकृतारमसु मणेश्चस्त्वमेवोचितम् ॥ २६ ॥

जिस (चिन्तामणि) के होने पर ब्रह्मा की सारी सृष्टि नामोल्लेख करने योग्य नहीं रह जाती, (एक जिसके) उत्कर्ष के (सदृश उत्कर्षवाले किसी अन्य पदार्थरूप) प्रतियोगी की कल्पना करना भी (उसके) अपमान की पराकाष्ठा है, तथा जिसकी सम्पत्ति प्राणधारियों के मनोरथों की गति को भी पार कर गई है (अर्थात् जिसकी सम्पत्ति, मनोरथ के लिए भी अगोचर है) उस (चिन्तामणि) के आभास से (मणि न होते हुए भी) मणिरूप हो जाने वाले पत्थर के टुकड़ों के बीच पत्थर का टुकड़ा ही बना रहना उचित है। अर्थात् यदि अन्य साधारण मणियों में ही चिन्तामणि की भी खोज की जाती है तो भ्रष्टा होगा कि उसे पत्थर ही कहा जाय, मणि नहीं, क्योंकि उससे उसका अपमान होता है ॥ २६ ॥

अत्र 'आभास'-शब्दः स्वयमेव मात्रादिविशिष्टत्वमभिलष्यैल्लक्ष्यते ।
पाठान्तरम्—'छायामात्रमणीकृतारमसु मणेश्चस्त्वामेतैवोचिता'
इति । एतच्च वाचककृताप्रकारस्वरूपनिरूपणावसरे प्रतिपदं प्रकटी-
भविष्यतीत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

यही आभास शब्द स्वयं ही मात्र आदि विशेषणों के द्वारा (आभास-मात्र) इस प्रकार की विशिष्टता की इच्छा करता हुआ दिखाई पड़ता है। अतः इसके स्थान पर दूसरा पाठ—छायामात्र मणीकृतारमसु मणेश्चस्त्वामेतैवोचिता—अर्थात् छायामात्र से पत्थर को मणि बना देनेवाले उस चिन्तामणि का पत्थर होना ही उचित है, (अत्यधिक समझारूप होना)। यह सब शब्दप्रकटा के प्रकारों के स्वरूप का निरूपण करते समय पद-पद पर

(स्वर) प्रकट हो जायगा । अतः अब अतिप्रसंग (उसके यहाँ विवेचन) की आवश्यकता नहीं (यथावसर उसका विवेचन किया जायगा) ।

अर्थश्च वाच्यलक्षणः कीदृशः—काव्ये यः सहृदयाह्लादकारिस्वप्नन्द-
सुन्दरः । सहृदया' काव्यार्थविदस्तेषामाह्लादमानन्दं करोति यस्नेन
स्वप्नन्देनात्मीयेन स्वभावेन सुन्दर' सुकुमारः । तदेतदुक्तं भवति—
यद्यपि पदार्थस्य नानाविधधर्मस्त्वचित्त्वं संभवति तथापि तथाविधेन
धर्मेण संबन्धः समाख्यायते यः सहृदयहृदयाह्लादमाधातुं श्रमते । तस्य
च तदाह्लादसामर्थ्यं सभाव्यते येन काचिदेष स्वभावमहत्ता रस-
रिपोपाप्तत्वं वा व्यक्तिमासादयति । यथा—

(अभी तक काव्य में शब्द किस स्वरूप का होना चाहिए, उसका
निरूपण कर अब अर्थ के स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत करते हैं) और वाच्य-
रूप अर्थ किस प्रकार का (काव्यमार्ग में इष्ट है)—काव्य में जो सहृदयो
के आह्लादजनक अपने स्वभाव से सुन्दर (होता है) । सहृदय अर्थात्
काव्य के अर्थ को जाननेवाले उनके आह्लाद अर्थात् आनन्द को (उत्पन्न)
करता है जो उस अपने स्वप्न अर्थात् आत्मीय स्वभाव से सुन्दर अर्थात् सुकुमार
(अर्थ काव्य में अभिप्रेत है) इस प्रकार यह कहा गया है कि—यद्यपि
पदार्थ का नाना प्रकार के धर्मों से युक्त होना सम्भव है फिर भी (काव्य में
पदार्थ के) उस प्रकार के (विशेष) धर्म के साथ सम्बन्ध का भली प्रकार
वर्णन किया जाता है जो सहृदयो के हृदयो में आनन्द उत्पन्न करने में समर्थ
होता है । और इस प्रकार के वर्णन द्वारा उस (पदार्थ) का वह (सहृदयो
के) आह्लाद का सामर्थ्य सम्भव हो जाता है जिससे कोई (अपूर्व,
अनिर्वचनीय) ही (पदार्थ के) स्वभाव की महत्ता अथवा (उसकी) रस
के परिपोष में अङ्गता व्यक्त हो जाती है । जैसे—

दंष्ट्रापिष्टेषु सद्यः शिखरिषु न कृत' स्कन्धकण्डूविनोदः
सिन्धुष्वङ्गावगाहः सुरकुहरगलत्तच्छतोयेषु नातः ।
लब्धा पातालपङ्के न लुठनरतयः पोत्रमात्रोपसुक्ते
येनोद्धारे धरिष्याः स जयति त्रिभूताविघ्नितेच्छो वराहः ॥ ३० ॥

(विष्णु भगवान् के वाराहावतार काल का वर्णन करते हुए कवि कहता
है कि) जिस (वराहरूपधारी विष्णु) ने पृथ्वी का (जिस दिग्ग्याप्त पाताल
में उठा ले गया था) उद्धार करते समय (अपने) दाढ़ (की चोटों) से

पिस गए पर्वतों पर (अपने) कण्ठों को खुरलाने का आनन्द नहीं (प्राप्त) किया, (तथा अपने) गुरों के कुहरो से विगलित होते हुए तुच्छ जल बाँधे समुद्रों में (जिसने) स्नान नहीं किया, (एवं) पोतने मात्र के लिए उभयुक्त पाताल के कीचड़ में (जिसने) लोटने का आनन्द नहीं प्राप्त किया, (ऐसे) वह (अपनी) विभुता के कारण याचित इच्छा बाँधे बराह (रूपधारी विष्णु) सर्वोत्कृष्ट हैं ॥ ३० ॥

अत्र च तथाविधः पदार्थपरिस्पन्दमहिमा निबद्धोदयः स्वभाव-संभयिनस्तत्परिस्पन्दान्तरस्य संरोधसंपादनेन स्वभावमहत्तां समुल्लासयन् सहृदयाह्लादकारितां प्रपन्नः । यथा च—

इस श्लोक में (कवि ने) उस प्रकार की पदार्थ (बराहरूपधारी विष्णु) के व्यापार की महिमा का वर्णन प्रस्तुत किया है जो स्वभाव से ही उत्पन्न होने वाले उस (पदार्थ) के अन्य व्यापारों के निरोध के सम्पादन के द्वारा (उस पदार्थ के) स्वभाव की मत्ता को स्फुरित करता हुआ सहृदयों को आनन्दित करता है । और जैसे (महाकवि कालिदास ने रघुवंश १४।३० में राम के द्वारा निर्वासित पद्मवंती सीता के रदन का अनुसरण करते हुए वाल्मीकि मुनि के उसके पास जाने का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—)

तामभ्यागच्छद्रुदितानुसारी मुनिः कुशेष्माहरणाय यानः ।

निपादविद्याण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ॥ ३१ ॥

कुश और समिधा खाने के लिए गए हुए (वे) मुनि (सीता के) रदन का अनुसरण करते हुए उसके पास पहुँचे जिनका निपाद के द्वारा विद किए पक्षी (क्रीच) के दर्शन से उद्भूत शोक (मा निपाद प्रतिष्ठा स्वयम्भाश्रयो समा । परिक्रोशमिथुनादेकमवधी काममोहितम् ॥ वा० रा० वासकाण्ड २।१५ इस प्रकार के आदि) श्लोक के रूप में परिणत हो गया था ॥ ३१ ॥

अत्र कोऽसौ मुनिर्वाल्मीकिरिति पर्यायपदमात्रे शक्तव्ये परमकारुणि-कस्य निपादनिर्भिन्नशकुनिसंदर्शनमात्रसमुत्थितः शोकः श्लोकत्वमभजत यस्येति तस्य तदवस्थजनकराजपुत्रीदर्शनवियशपृष्ठेरन्तःकरणपरिस्पन्दः करुणरसपरिपोषाद्गतया सहृदयहृदयाह्लादकारी कवेरभिप्रेतः । यथा च—

इस श्लोक में यह कौन मुनि (वे केवल यह बताने के लिए) वाल्मीकि इसी पर्यायवार्त्ता पदमात्र के कहने के स्थान पर (कवि ने जो दूसरे रूप से

उसे प्रस्तुत किया है उसका कारण है कि) परम कारुणिक 'जिन' (मुनि वाल्मीकि) का निषाद के द्वारा भारे गये पक्षी (शौच) के देखने मात्र से उत्पन्न हुआ शोक (मा निषाद—इत्यादि) श्लोक के रूप में परिणित हो गया था, उन्हीं (परम कारुणिक मुनि) के उस (गर्भवती पति द्वारा निर्वासित एवं वन में परित्यक्त) अवस्था वाली निदेहराज की पुत्री (सीता) के दर्शन से विवश चित्तवाले अन्तःकरण का ध्यापार करण रस के परिपोषण में अङ्गुरूप से (उपस्थित होकर) सहृदयों के हृदयों को आह्लादित करेगा (यह) कवि (कालिदास) को अभीष्ट था (इसीलिए महाकवि ने केवल 'वाल्मीकि' न कहकर उक्त विशेषणों द्वारा उनका परिचय कराया था जिसमें करुण रस भलीभाँति पुष्ट हो सके) । और (तीसरा उदाहरण) जैसे—

भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे विद्धि मामम्बुवाहं
तत्संदेशाद्भृदयनिहितादागमं त्यत्समीपम् । ४
यो हृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोपितानां
मन्द्रस्निग्धैर्घनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि ॥ ३२ ॥

(महाकवि कालिदास मेघदूत (पू० मे० १५६) में उस समय का वर्णन प्रस्तुत करते हैं जब शापग्रस्त अपनी प्रियतमा से बहुत दूर रहने वाले यक्ष का उसकी प्राणप्रिया यलिणी के पास सन्देश लेकर मेघ पहुँचता है तो मेघ ही कहता है कि—)

अविधवे (हे सुहागिन) । मुझ जल की बहन करने वाले (मेघ) को अपने पति का मित्र समझो (जो) हृदय में निहित उसके सन्देश (को तुमसे कहने के निमित्त) से तुम्हारे पास आया है । (और) जो मार्ग में (चलते-चलने थक जाने के कारण) विश्राम करते हुए परदेशियों के (अपनी प्रियतमा) अबलाओं की चोटियों को खोलने के लिए उत्सुक समूहों को (अपनी) गम्भीर एवं स्निग्ध ध्वनियों के द्वारा त्वरायुक्त (जल्दी जाने के लिए बाध्य) कर देता है ॥ ३२ ॥

अत्र प्रथममामन्त्रणपदार्थस्तदाश्वासकारिपरिस्पन्दनिबन्धनः । भर्तुर्मित्रं मां विद्धित्युपादेयत्वमात्मनः प्रथयति । तच्छ न सामान्यम्, प्रियमिति विश्रम्भकयापात्रताम् । इति तामाशास्योन्मुखीकृत्य च तत्संदेशात्त्यत्समीपमागमनमिति प्रकृतं प्रस्तौति । हृदयनिहितादिति स्वहृदयानिहितं सावधानतया द्योत्यते । ननु चान्याः कश्चिदेवविध-

व्यवहारविदग्धबुद्धिः कथं न निधुक्त इत्याह—ममैवान्न किमपि कौशलं विजृम्भते । अम्बुबाहमित्या मनस्तत्कारिताभिधानं योतयति । यः प्रोषितानां वृन्दानि त्वरयति, संजातत्वरानि करोति । कौटशानाम्—ब्राम्हण्यां त्वरायामसमर्पणानामपि । वृन्दानोति बाहुल्यात्तत्कारिताभ्यां कथयति । केन—मन्दस्निग्धैर्ध्वनिभिः, मधुरैर्मणोयैः शब्दैर्विदग्ध-दूतप्ररोचनावचनप्रायैरित्यर्थः । क्व—पथि मार्गे । यद्वक्ष्या यथास्थचिदहमेतदाचरामीति किं पुनः प्रयत्नेन सुदृष्टेभ्यो नित्यं संरब्धबुद्धि न करोमीति ।

इन श्लोक में पहले सम्बोधन पद (अविधवे) का अर्थ हो उस (पतिणी) को आश्वासन देने वाले घमे का कारण है । (अर्थात्, तुम्हारा पति जीवित है, तुम सुहागिन हो, इस प्रकार पतिणी को अपने सुहागिन होने से आश्वासन मिलता है) । (मेघ : मुझे (अपने) पति का मित्र समझो इस (वचन) से अपनी उपादेयता को पुष्ट करता है । और वह (मित्र भी) साधारण (मित्र) नहीं, (खचितु) प्रिय (मित्र है) इस (कथन) से अपनी (विधग्ध कथा) विश्वासपूर्ण वार्ता की पात्रता को (स्पष्ट करता है) । इस प्रकार (अविधवे पद के द्वारा) उसे आश्वासन देकर तथा (पति का प्रिय मित्र मुझे जानो इस वचन द्वारा अपनी ओर उसे) उन्मुख करके (तब) 'उसके सन्देश से तुम्हारे पास मेरा आगमन हुआ है' इस प्रकरणशाय (प्रकृत) ब्रान को प्रस्तुत करता है । 'हृदय में निहित (सन्देश) से' इस पद के द्वारा अपने हृदय में स्थित सावधानता को चोखित करता है (अर्थात् तुम्हारे सन्देश को मैंने बड़ी सावधानी से अपने हृदय में रखा है उसे किसी से बताया नहीं) (यदि यक्षपत्नी यह शका करे कि), यद्यपि इस प्रकार (दूत) के व्यवहार में चतुर किसी अन्य व्यक्ति को भी नहीं निपुक्त किया (तुम मेघ को हो क्यों भेजा तो इस सौझा का समाधान करने के लिए) अतः कहा कि मेरा ही इस विषय में कोई (अपूर्व) कौशल दिखाई पड़ता है और (अम्बुबाहम्) 'जल को वहन करने वाले' (मुलकी) इस वचन के द्वारा अपने उस (सन्देशाहरणरूप) कार्य को करने की सत्ता का चोखन करता है अर्थात् मेरी सत्ता ही 'अम्बुबाह' (जल को वहन करने वाला) है तो भला मुझसे अच्छा वहन कार्य (चाहे सन्देशवहन ही क्यों न हो) और कौन कर सकता है । जो परदेशियों के समूहों को त्वरायुक्त कर देता है अर्थात् जल्दी जाने के लिए (विरत) कर देता है । किस प्रकार के (परदेशियों के समूहों को संजातत्वर कर

देता है ? विश्राम करते हुए अर्थात् शीघ्रता करने में असमर्थ भी (प्रोषित समूह को त्वरायुक्त कर देता है ।) 'वृन्दानि' इस पद से बाहुल्य सूचना द्वारा उस कार्य को करने के आम्वास को द्योतित करता है । किस प्रकार से—मन्द्र एव स्निग्ध ध्वनियों के द्वारा अर्थात् चतुर दूत के प्ररोचना वचनों के सदृश माधुर्ययुक्त रमणीय शब्दों के द्वारा (पथिकों को त्वरायुक्त कर देता है) यह अभिप्राय हुआ । कहाँ (ऐसा करता है) पथि अर्थात् मार्ग में । (अर्थात् जब मैं) अपनी इच्छा से ही जैसे-तैसे इस प्रकार का आचरण करता हूँ तो फिर (भला अपने) मित्र के प्रेम के लिए प्रयत्न-पूर्वक समाहितचित्त क्यों न बनूँ यह (अर्थ द्योतित होता है) ।

कीदृशानि वृन्दानि—अबलावेणिमोक्षोत्सुकानि । अबला-शब्देनात्र तत्प्रेयसोपिरहवैधुर्यासहत्वं भण्यते, तद्वेणिमोक्षोत्सुकानीति तेषां तदनु-रक्तचित्तवृत्तित्वम् । तदयमत्र वाक्यार्थः—विधिविहितविरहवैधुर्यस्य परस्परानुरक्तचित्तवृत्तेर्यस्य कस्यचित्कामिजनस्य समागमसौख्य-संपादनसौहार्दं सदैव गृहीतव्रतोऽस्मीति । अत्र यः पदार्थपरि-स्पन्दः कविनोपनिबद्धः प्रबन्धस्य मेघदूतत्वे परमार्थतः स एव जीवितमिति सुतरां सहृदयहृदयाह्लादकारी । न पुनरेवविधो यथा—

किस प्रकार के समूहों को (मजात त्वरा कर देता हूँ, जो) अबलाओं की वेणियों को खोलने के लिए उत्सुक (रहते हैं) (अर्थात् विरहिणियों के पति जब परदेश में रहते हैं तो वे शृङ्गार नहीं करती हैं अतः उनकी चोटियाँ बँधी रहती हैं, किन्तु जब पति परदेश से वापस आते हैं तो वे पुनः शृङ्गार करने के लिए अपनी चोटियों को खोलती हैं इसलिए परदेशियों के समूहों के उनकी चोटियाँ खोलने के लिए उत्सुक बताया गया है) । 'अबला' शब्द के द्वारा यहाँ उन (परदेशियों) की प्रियतमाओं की (प्रियतम के) विरह की विधुरता को सह सकने में असमर्थता बताते हैं । 'उनकी चोटियों को खोलने के लिए उत्सुक' इस पद के द्वारा उन (परदेशियों) की उन (अपनी प्रियतमाओं) में अनुरक्त चित्तवृत्तिता को (द्योतित करते हैं) । तो इसका वाक्यार्थ यह है कि—दैवजनित विरह की विधुरता से युक्त, परस्पर अनुरक्त चित्तवृत्ति वाले जिस किसी कामी जन के समागम में उत्पन्न सुख के सम्पादनरूप सौहार्द (मैं) सदैव गृहीतव्रत हूँ । (अर्थात् विरही-जनों का समागम कराने का मैंने व्रत ही ले लिया है । (इस प्रकार) यहाँ (इस श्लोक में) कवि ने जिस पदार्थ (मेघ) के स्वभाव का वर्णन प्रस्तुत

किया है वही (मेघदूत नामक) प्रबन्ध के मेघदूतत्व में वस्तुतः प्राणभूत हो गया है अतः अत्यधिक सहृदयों के हृदयों को आनन्दित करने वाला है (अतः अर्थ उसी प्रकार का होना चाहिए जो सहृदयों को आह्लादित करने वाले अपने स्वभाव से ही सुन्दर हों) न कि फिर इस प्रकार का— जैसे (राजशेखर विरचित बानरामायण के इस ६।१४ पद्य में है)—

मयः पुरोपरिमरेऽपि शिरीषमृष्टो
सीता जवात्त्रिचतुराणि पदानि गत्वा ।
गन्तव्यमद्य कियदित्यसकृद् प्रयाणा
रामाश्रुणः कृतवती प्रथमाचतारम् ॥ ६३ ॥

जहाँ कवि सीता के राम के साथ वन के लिए प्रस्थान करने पर उनकी, गुह्यमार्गता वर्णन करते हुए कहता है कि—) शिरीष (पुष्प) के सदृश कोमल सीता में (अयोध्या) नगरी के समीप में ही तत्काल वेग से तीन-चार पग चलकर (धान्त हो गई) 'आज (अभी) कितनी दूर जाना है' ऐसा बार-बार कहती हुई रामचन्द्र के आँसुओं को पहली बार अवतरित किया (अर्थात् उनके बार-बार छूने पर कि अब कितना दूर जाना है, रामचन्द्र जी की आँखों में आँसू आ गए) ॥ ३३ ॥

अत्रासत्प्रतिक्षणं कियदद्य गन्तव्यमित्यभिधानलक्षणः परिस्पन्दो न स्वभावमहत्तामुन्मीलयति, न च रसपरिपोषाङ्गतां प्रतिपद्यते । यस्मात्सीतायाः सहजेन केनाप्यौचित्येन गन्तुमभ्यवसितायाः सौकुमार्यादेर्विविधं वस्तु हृदये परिस्फुरदपि वचनमारोहतीति सहृदयैः संभावयितुं न पायते । न च प्रतिक्षणसंभिधीयमानमपि रावणाश्रु-प्रथमाचतारस्य सम्यक् सङ्गतिं भजते, सकृदाकर्णनादेव तस्यापपत्तेः । एतच्चात्यन्तरमणीयमपि मनास्मात्प्रचलितायधानत्वेन कवेः कर्तव्य-तम् । तस्माद् 'अवशम्' इत्यत्र पाठः कर्तव्यः । तदेवंविधं विशिष्टमेव शब्दार्थगोर्लक्षणमुपादेयम् । तेन नेयार्यापार्थादयो दूरोत्सारितत्वा-त्युद्यङ्ग न वक्तव्याः ।

। यहाँ (इस श्लोक में) असकृन् अर्थात् क्षण-क्षण पर, आज कितनी दूर जाना है इस प्रकार का कथनरूप व्यापार न तो (सीता के) स्वभाव की महत्ता को ऊन्मीलित करता है और न (प्रकृत कथन) रस के परिपोषण का ही अङ्ग बनता है । क्योंकि किसी सहज औचित्य के कारण (अपने पति रामचन्द्र के साथ) जाने के लिए उद्यत हुई सीता के हृदय में सौकुमार्य के

कारण इस प्रकार की बात (कि तीन-चार पग चलकर ही श्रान्ति का अनुभव) स्फुरित होते हुए भी (उनके द्वारा) कही जा सकती है ऐसा सहृदय अनुमान भी नहीं कर सकते । (अर्थात् सीता जैसी एक दृढ़ विचार वाली नारी जिसे कि वन की अनेको कठिनाइयों की बात-बतावर पति ने वन जाने में रोकने का प्रयास किया फिर भी वह पति से यह कह कर कि "मैं सभी कठिनाइयों को सह लूंगी पर आप अपने साथ अवश्य लेते चलिए" वन जाने के लिए तैयार हुई और वही दो-चार कदम चल कर ही ऐसा कहने लगी, यह बात सम्भव नहीं ।) और न तो 'क्षण-क्षण कहे जाने पर भी रामचन्द्र के पहले आंगुओं का ही प्रवाहित होना' यही बात भली प्रकार सङ्गति रखती है क्योंकि (सीता के उस कथन के) एकवार ही मुन लेने में उस (अश्रुधारा) की उपपत्ति हो जाने से । अन अत्यन्त रमणीय होते हुए भी यह (श्लोक) कवि की थोड़ी-सी ही असावधानी से निन्द्य (कदचित) हो गया है । अतः इस श्लोक में 'असकृत्' के स्थान पर 'अवगम्' यह पाठ कर देना चाहिए । (अर्थात् 'गन्तव्यमद्य कियदित्यवगम् द्रुवाणा' अर्थात् 'विरह होकर आज अभी कितनी दूर जाना है' ऐसा कहती हुई राम के अङ्गुओं को प्रवाहित किया । ऐसा पाठ कर देने से इसमें सहृदयहृदयहारिता आ जायगी ।

अतः (काव्य में) शब्द और अर्थ का इस (उक्त) प्रकार का विशिष्ट ही लक्षण उपादेय है । इसलिए 'निर्यायक' 'अपर्यायक' इत्यादि (काव्यदोष) दूर से उत्सारित हो जाने के कारण (हटा दिये जाने के कारण) अलग न कहे जाने चाहिए । (अर्थात् जैसे शब्द और अर्थ हमने काव्य में स्वीकार किए हैं उनमें ये दोष ही हो नहीं सकते क्योंकि इन दोषों के रहने पर वे काव्यगत शब्द और अर्थ कहलाने के अधिकारी ही नहीं होंगे ।

एवं शब्दार्थयोः प्रसिद्धस्वरूपातिरिक्तमन्यदेव रूपान्तरमभिधाय न तावन्मात्रमेव काव्योपयोगि, किन्तु वैचित्र्यान्तरविशिष्टमित्याह—

उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः ।

चक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते ॥ १० ॥

इस प्रकार शब्द और अर्थ के (लोक) प्रसिद्ध स्वरूप से भिन्न ही दूसरे रूप को बताकर, केवल उतना ही काव्य के लिए उपयोगी नहीं है, अपितु अन्य वैचित्र्य से विशिष्ट (शब्द और अर्थ का स्वरूप काव्य के लिए उपयोगी है) यह बताने के लिए कहते हैं—

ये दोनों (शब्द और अर्थ) अनङ्गुय है, और चातुर्यपूर्ण भङ्गिमा से किया गया कथनस्वरूप वक्रोक्ति ही दोनों का (एकमात्र) अलङ्कार कहा जाता है ॥ १० ॥

उसी द्वाव्येतौ शब्दार्थावलंकार्यावलंकरणौयौ केनापि शोभाति-
शयकारिणालंकरणेन योजनीयौ । किं तत्तयोरलङ्कारणमित्यभिधीयते—
तयोः पुनरलंकृतिः । तयोद्वित्वसख्याविशिष्टयोरप्यलंकृतिः पुनोक्तैव
यया द्वावप्यलंक्रियेत । कासी—वक्रोक्तिरेव । वक्रोक्तिः प्रासिद्धाभि-
धानव्यतिरेकिणो विचित्रैवाभिधा । फोहरी—वैदग्ध्यभङ्गीभणितिः ।
वैदग्ध्यं विदग्धभावः कविकर्मकौशलं तस्य भङ्गी विच्छित्तिः, तथा
भणितिः विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते । तदिदमत्र तात्पर्यम्—यत्
शब्दार्थौ पृथगग्रस्थितौ केनापि व्यतिरिक्तेनालंकरणेन योज्येते, किन्तु
वक्रतावैचित्र्ययोगितयाभिधानमेवानयोरलंकारः, तस्यैव शोभातिशय-
कारित्वात् । एतच्च वक्रताव्याख्यानावतर एवोदाहरिष्यते ।

उभौ अर्थात् ये दोनों ही शब्द और अर्थ अनङ्गुयं अर्थात् अलङ्कणीय
होते हैं, किसी शोभातिशय को उत्पन्न करने वाले अलङ्कार के द्वारा युक्त
करने योग्य होने हैं । (फिर) उन दोनों का अलङ्कार क्या है यह कहते
हैं—और उन दोनों का (एक) अलङ्कार होता है । तयो अर्थात् द्वित्व
संख्या से विशिष्ट, शब्द और अर्थ दो) होने पर भी अलङ्कार केवल एक
ही होना है, जिसके द्वारा दोनों ही अलंकृत किए जाते हैं । वह कौनसा
(अलंकार) है ? वक्रोक्ति ही (वह अलंकार है) । वक्रोक्ति अर्थात् प्रासिद्ध
कथन में भिन्न (व्यतिरिक्त) विविध प्रकार का कथन ही (वक्रोक्ति है) ।
कैसे वक्रोक्ति (शब्द और अर्थ दोनों का अलङ्कार है) वैदग्ध्यपूर्ण भङ्गिमा
द्वारा कथन (ही वक्रोक्ति है, वैदग्ध्य अर्थात् विदग्ध (चतुर) का भाव
(चातुर्य अर्थात्) कवि के कर्म (काव्य) की कुशलता, उसकी भङ्गी
अर्थात् पोना (विच्छित्ति) उसमें द्वारा कथन अर्थात् विचित्र प्रकार की
उक्ति ही 'वक्रोक्ति' कहो जाती है । तो इसका तात्पर्य यह है—कि शब्द
और अर्थ अलग स्थित होकर किसी (अपने से) भिन्न अलङ्कार से युक्त
किए जाते हैं, परन्तु वक्रता के वैचित्र्य से युक्तरूप से कथन ही इन दोनों
(शब्द और अर्थ) का अलङ्कार होता है, उसी के शोभाधिक्य के जनक
होने के कारण (अर्थात् वक्रतापूर्ण कथन ही इन शब्द और अर्थ दोनों में
शोभाधिक्य को उत्पन्न करता है, अतः वही इनका एकमात्र अलङ्कार हुआ)
इस बात का उदाहरण वक्रता की व्याख्या करते समय ही दिया जायगा ।

ननु च किमिदं प्रसिद्धार्थविरुद्धं प्रतिज्ञायते यद्वक्त्रोक्तिरेवालंकारो नान्य' कश्चिदिति, यतश्चिरन्तनैरपर स्वभावोक्तिरक्षणमलकरण-मान्नातं तच्चातोव रमणीयमित्यस्य मानस्तदेव निराकर्तुमाह—

(प्रश्न) आप प्रसिद्ध मध्य के विरुद्ध इस प्रकार की प्रतिज्ञा क्यों कर रहे हैं कि केवल वक्त्रोक्ति ही (एकमात्र) अलंकार होता है, दूसरा कोई नहीं, क्योंकि प्राचीन (आलंकारिकों) ने दूसरी स्वभावोक्तिरूप अलंकार स्वीकार किया है और वह (स्वभावोक्ति अलंकार) होती भी अत्यन्त ही रमणीय है ? अब आप वक्त्र प्रतिज्ञा में कहते हैं इस कथन को न सहन करते हुए उसी (स्वभावोक्ति के अलङ्कारवृत्त्यर्थ) का निराकरण करते हुए कहते हैं—

अलंकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृताः ।

अलंकार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते ॥ ११ ॥

जिन (वण्डी आदि) अलङ्कार (ग्रन्थ) की रचना करने वालों के लिए स्वभावोक्ति (स्वभाव का कथन भी) अलंकार है उनके लिए (फिर) अलंकार्यरूप से कौन सी दूसरी वस्तु शेष रह जाती है । क्योंकि स्वभाव का कथन ही तो अलंकार्य होता है) ॥ ११ ॥

येषामलंकारकृतमलंकारकाराणां स्वभावोक्तिरलंकृतिः, या स्वभावस्य पदार्थधर्मलक्षणस्य परिस्पन्दस्य उत्किरभिधा सैवालंकारितिरलंकरणमिति प्रतिभाति, ते सुकुमारमानसत्वाद् विवेकक्लेशद्वेषिणः । यस्मात् स्वभावोक्तिरिति कोऽर्थः ? स्वभाव एवोच्यमानः स इव यदलंकारस्तत्किमन्यत्तद्व्यतिरिक्त काव्यशरीरकल्पं वस्तु विद्यते यत्तेषामलंकार्यतया विभूष्यत्वेनावतिष्ठते पृथगवस्थितिमासादयति, न किञ्चिदित्यर्थः ।

जिन अलंकारकृतों अर्थात् अलंकार (ग्रन्थ) की रचना करने वालों के लिए स्वभावोक्ति अलंकार है, अर्थात् जो स्वभाव की अर्थात् पदार्थ के धर्मरूप स्वभाव की उक्ति अर्थात् कथन है वही (जिनको) अलंकृति अर्थात् अलंकार प्रतीत होता है वे सुकुमार बुद्धि होने के कारण विवेक के कष्ट से द्वेष करने वाले हैं (तात्पर्य यह कि वे निबुद्धि हैं उनमें विवेक करने की शक्ति का अभाव है) । क्योंकि स्वभावोक्ति का क्या अर्थ होता है ? कहा जाने वाला स्वभाव ही तो (स्वभावोक्ति होती है) और यदि वही अलंकार

हे तो उससे भिन्न काव्यशरीर के तुल्य और कौन सी वस्तु विद्यमान है जो उक्त (सुकुमारबुद्धि, स्वभावोक्ति को अलंकार मानने वाले बालकारिकों) के लिए अलंकार रूप से अर्थात् भूषित किये जाने योग्य विद्यमान अर्थात् (स्वभावोक्ति से) भिन्न स्थिति को प्रोत्साहित करती है, अर्थात् कोई भी ऐसी (वस्तु) नहीं (बचती जो अलंकार बन सके) ।

तनु च पूर्वमवस्थापितम्—यद्वाक्यस्यैवाविभागस्य सालङ्कारस्य काव्यत्वमिति (११६) तत्किमर्थमेतदभिधीयते ? सत्यम्, किन्तु तन्नासत्यभूतोऽप्यपोद्धारबुद्धिविहितो विभागः कस्तु शङ्क्यते वर्णपद-न्यायेन वाक्यपदन्यायेन चेत्युक्तमेव । एतदेव प्रकारान्तरेण विकल्पयितुमाह—

(इस पर स्वभावोक्ति अलंकारवादी प्रश्न करता है कि) पहले आपने ही (११६ कारिका में यह सिद्धान्त) स्थापित किया है कि (अलंकार और अलंकारों के) विभाग से ही अलंकारमुक्त वाक्य ही काव्य होता है, तो अब आप ऐसा क्यों नहीं कह रहे हैं कि (जब स्वभावोक्ति अलंकार है तो अलंकारों क्या होगा ? क्योंकि अलंकार और अलंकारों में तो कोई भेद ही नहीं होता । इस बात का उत्तर देते हैं कि) ठीक है (कि अलंकार और अलंकारों का विभाग नहीं होता) किन्तु वही असत्यभूत भी अलंकारों और अलंकार का विभाग वर्णपदन्याय अथवा वाक्यपदन्याय से अपोद्धार बुद्धि द्वारा किया जा सकता है जैसा कि (मैंने ११६ कारिका की वृत्ति में) कहा ही है । इसी बात को दूसरे ढंग से स्थापित करने के लिए कहते हैं—

स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते ।

वस्तु तद्रहितं यस्मान्निरुपाख्यं प्रसज्यते ॥ १२ ॥

स्वभाव के बिना कोई वस्तु कही ही नहीं जा सकती, क्योंकि उस (स्वभाव) से रहित वस्तु अभिधान के योग्य ही नहीं होती (निरुपाख्य हो जाती है) ॥ १२ ॥

स्वभावव्यतिरेकेण स्वपरिस्पन्द बिना निःस्वभावं वक्तुमभिधातुमेव न युज्यते न शक्यते । वस्तु वाच्यलक्षणम् । कुतः—तद्रहितं तेन स्वभावेन रहितं वर्जितं यस्मान्निरुपाख्यं प्रसज्यते । उपाख्याया निष्क्रान्तं निरुपाख्यम् । उपाख्या शब्दः, तस्यागोचरभूतमभिधाना-

योग्यमेव सम्पद्यते । यस्मान् स्वभावशब्दस्येदृशी व्युत्पत्तिः—भवतो-
ऽस्मादभिधानप्रत्ययाविति भावः, स्वस्यात्मनो भावः स्वभावः । तेन
वर्जितमसत्कल्प वस्तु शशविषाणप्रायं शब्दज्ञानागोचरतां प्रतिपद्यते ।
स्वभावयुक्तमेव सर्वथाभिधेयपदवीमवतरतीति शाकटिकाक्या-
नामपि मालङ्कारता प्राप्नोति, स्वभावोक्तियुक्तत्वेन ! एतदेव
युक्त्यन्तरेण विकल्पयति—

स्वभाव के बिना अर्थात् अपने अपने धर्म (परिस्पन्द) के बिना
नि स्वभाव (वस्तु) कहने अर्थात् अभिधान करने के योग्य नहीं होती
अर्थात् (वही ही) नहीं जा सकती । वस्तु (जो) वाच्य (कही जाने
वाली) रूप है । क्यों नहीं (कही जा सकती) ? क्योंकि उससे रहित अर्थात्
उस स्वभाव से रहित अर्थात् वर्जित (वस्तु) निरुपाख्य हो जाती है । उपाख्या
मे (जो) निष्क्रान्त (है वह हुआ) निरुपाख्य । (अर्थात्) उपाख्या
(का अर्थ है) शब्द, उसके द्वारा अगोचर हो जाती है अर्थात् अभिधान करने
योग्य ही नहीं रह जाती । क्योंकि स्वभाव शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—
इससे अभिधान (कथन) और प्रत्यय (ज्ञान) होते हैं अतः यह भाव
हुआ, और स्व का अर्थात् अपना भाव स्वभाव हुआ । तात्पर्य यह कि जिसके
द्वारा अपने (स्वरूप) का कथन और ज्ञान होता है वह स्वभाव होता
है । अतः वह (स्वभाव) ही जिस किसी पदार्थ की प्रख्या अर्थात् ज्ञान
और उपाख्या अर्थात् कथनरूपता में लाने का कारण होता है, उस (स्वभाव)
से रहित वस्तु खरगोश की सींगों के सद्गुण (जिनकी सत्ता ही) नहीं होती)
असत्कल्प होकर शब्द और ज्ञान से अगोचर हो जाती है । (अर्थात् स्वभाव-
हीन वस्तु का न तो ज्ञान ही हो सकता है और न उसे शब्दों द्वारा ही
कहा जा सकता है । और) क्योंकि स्वभाव से युक्त ही (वस्तु) सब
प्रकार से कथन के योग्य होती है । (या कही जाती है) अतः (आप
स्वभावोक्ति अलंकारवादी के मतानुसार) गाड़ी हँकने वाले (शाकटिक)
के वाक्य भी अलंकारयुक्त होने लगेंगे (क्योंकि वे भी) स्वभाव के कथन
(स्वभावोक्ति अलंकार) से युक्त होते ही हैं और इस प्रकार वे भी
काव्य बहलाने के अधिकारी हो जायेंगे क्योंकि सातकार वाक्य ही काव्य
होता है, और किसी भी वस्तु का कथन बिना स्वभावकथन के किया ही
नहीं जा सकता, अतः शाकटिक के वाक्य भी स्वभावोक्ति (जिसे आप
अलंकार मानते हैं उस) से युक्त होकर सातकार वाक्य हो जायेंगे (और

काव्य कहलाने तगेंगे जो कि आपको भी इष्ट नहीं है) इसी बात को दूसरे ङम से स्थापित करते हैं—

शरीरं चेदलङ्कारः किमलङ्कुरुतेऽपरम् ।

आत्मैव नात्मनः स्कन्धं कचिदप्यधिरोहति ॥ १३ ॥

(किसी वस्तु का वर्ण्यमान स्वभाव रूप) शरीर ही यदि अलङ्कार है (तो वह अपने से भिन्न) बिना दूसरे (अलङ्कारों को अलङ्कृत करता है । (अर्थात् स्वभाव का कथन ही तो शरीर होता है और यदि वही अलङ्कार ही गया तो दूसरे किसे वह अलङ्कृत करेगा बसोकि) कही भी शरीर ही शरीर के कन्धों पर नहीं चढ़ता है (अर्थात् शरीर का स्वयं अपने कन्धों पर चढ़ सकता सर्वथा दुर्लभ है) ॥ १३ ॥

यस्य कस्यचिद्वर्ण्यमानस्य वस्तुनो वर्णनीयत्वेन स्वभाव एव वर्ण्य-
शरीरम् । स एव चेदलङ्कारो यदि विभूषणं तन्किमपरं तद्व्यतिरिक्तं
विद्यते यदलङ्कुरुते विभूषयात् । स्वात्मानमेवालङ्करोतीति चेत्तदयुक्तम्
अनुपपत्तेः । यस्मादात्मैव नात्मनः स्कन्धं कचिदप्यधिरोहति,
शरीरमेव शरीरस्य न कुत्रचिदप्यसमधिरोहतीत्यर्थः, स्वात्मनि
क्रियाविरोधात् । अन्यथाभ्युपगम्यापि ब्रूमः—

जिस किसी भी वर्ण्यमान वस्तु का स्वभाव ही वर्णन के योग्य होने के कारण वर्ण्य शरीर होता है । और यदि वह (स्वभाव) ही अलङ्कार अर्थात् विभूषण है तो उससे भिन्न दूसरा क्या (शेष) रहता है जिसे (वह) अलङ्कृत अर्थात् विभूषित करता है । (और यदि यह कहो कि स्वभावोक्ति) अपने आप को ही अलङ्कृत करता है—तो यह ठीक नहीं—(इस बात के) युक्तिसङ्गत नहीं होने से । क्योंकि अपने आप ही अपने कंधे पर नहीं चढ़ा जाता अर्थात् शरीर ही शरीर के कंधे पर कभी नहीं चढ़ता अपने आप में क्रियाविरोध होने के कारण । और फिर 'तुष्यतु दुर्जनं' ग्याम से आपकी बात को कि 'स्वभावोक्ति अलङ्कार होता है') स्वीकार कर (हम आपसे) पूछते हैं कि—

भूषणत्वे स्वभावस्य विहिते भूषणान्तरे ।

भेदावबोधः प्रकटस्तयोरप्रकटोऽथवा ॥ १४ ॥

स्वभाव (स्वभावोक्ति) को अलङ्कार मान लेने पर (काव्य में) दूसरे

(उपमा-रूपकादि) अलङ्कारों की रचना करने पर उन स्वभावोक्ति तथा अन्य अलङ्कार) ३ जो का भेद-ज्ञान स्पष्ट रहेगा अथवा अस्पष्ट रहेगा ॥ १४ ॥

स्पष्टे सर्वत्र संसृष्टिरस्पष्टे सङ्करस्ततः ।

अलङ्कारान्तराणां च विषयो नावशिष्यते ॥ १५ ॥

(यदि दोनों का भेद) स्पष्ट रहेगा तो सर्वत्र (दोनों के तिलतण्डुलवत् स्थित रहने से) संसृष्टि (अलङ्कार होगा) और (यदि दोनों का 'भेद') अस्पष्ट रहेगा तो (नीरक्षीरवत् स्थित रहने से सर्वत्र सन्देह, एकाग्रयानु-प्रवेश अथवा अङ्गाङ्गिभाव रूप तीन प्रकार का) सङ्कर (अलङ्कार रहेगा । इस प्रकार सर्वत्र बस केवल इन्हीं संसृष्टि और सङ्कर दो अलङ्कारों की ही स्थिति रहेगी, अतः) अन्य (शुद्ध) अलङ्कारों का विषय ही नहीं अवशिष्ट रहेगा । (क्योंकि उनकी स्वभावोक्ति अलङ्कार के 'साथ संकर अथवा संसृष्टि' अवश्य हो जायगी ॥ १५ ॥

भूषणत्वे स्वभाषस्यालङ्कारत्वे स्वपरिस्पन्दस्य यदा भूषणान्तर-मलङ्कारान्तरं विधीयते तदा विहिते कृते, तस्मिन् सति, द्वयी गतिः संभवति । कासी—तयोः स्वभावोक्त्यालङ्कारान्तरयोः भेदावबोधो भिन्नत्वप्रतिभासः प्रकटः सुस्पष्टः कदाचिदप्रकटश्चापरिस्फुटो वेति । तत्रा स्पष्टे प्रकटे तस्मिन् सर्वत्र सर्वस्मिन् कविवाक्ये संसृष्टिरेवैकालङ्कृतिः प्राप्नोति । अस्पष्टे तस्मिन् प्रकटे सर्वत्रैवैकः संकरोऽलङ्कारः प्राप्नोति । तत्त. को दोषः स्यादित्याह—अलङ्कारान्तराणां च विषयो नावशिष्यते । अन्येषामलङ्काराणामुपमादीनां विषयो गोचरो न कश्चिदप्यवशिष्यते, निर्विषयत्वमेवायातीत्यर्थः । ततस्तेषां लक्षण-करणवैयर्थ्यप्रसङ्गः । यदि वा तावेव संसृष्टिसंकरौ तेषां विषयत्वेन कल्प्येते तदपि न किञ्चित्, तैरेवालङ्कारकारैस्तस्यार्थस्यानङ्गीकृतत्वात् । इत्यनेनाकाशचर्वणप्रतिमेनालमलोकनिबन्धनेन । प्रकृतमनुसरामः । सर्वथा यस्य कस्यचित् पदार्थजातस्य कविग्यापारविषयत्वेन वर्णना-पदवीमधतरतः स्वभाव एव सहृदयाह्लादकारी काव्यशरीरत्वेन वर्णनीयतां प्रतिपद्यते । स एव च यथायोगं शोभातिशयकारिणा येन केनचिदलङ्कारेण योजयितव्यः । तदिदमुक्तम्—'अर्थः सहृदयाह्लाद-कारिस्वस्पन्दसुन्दर' (१६) इति । 'उभावेतालङ्कारौ' (११०) इति च ।

स्वभाव के भूषण होने पर अर्थात् अपने ही स्वरूप के (अथवा धर्म के) अलंकार हो जाने पर जब भूषणान्तर अर्थात् दूसरे अलंकार का विधान किया जायगा तब (वैसा) विहित अर्थात् किए जाने पर, उस (दूसरे अलंकार) के होने पर दो ही प्रकार की स्थिति सम्भव है। कौन सी वह (दो प्रकार की स्थिति है) ? उन दोनों अर्थात् स्वभावोक्ति और दूसरे अलंकार का भेदावबोध अर्थात् भिन्नता की प्रतीति कभी प्रकट अर्थात् सुस्पष्ट और कभी अप्रकट अर्थात् अस्पष्ट होगी। तब स्पष्ट अर्थात् उस (स्वभावोक्ति एवं दूसरे अलंकार के भेद) के (अलग २) प्रकट होने पर सर्वत्र सभी कवियों (द्वारा विरचित) वाक्यों में (अर्थात् काव्य में) संसृष्टि (रूप) एक ही अलंकार प्राप्त होगा। (और) उस (भेद) के अस्पष्ट अर्थात् साफ-साफ जाहिर न होने पर सर्वत्र (काव्य में) सकर (सन्देह, अङ्गाङ्गिभाव अथवा एकाग्रयानुपवेश रूप) एक ही अलंकार प्राप्त होने लगेगा। (यदि स्वभावोक्तिवादी कहें कि ठीक है ये ही दो अलंकार ही) तो क्या दोष होगा ? अतः बताते हैं (कि दोष यह होगा) कि अन्य अलंकारों का विषय ही समाप्त हो जायेगा। अन्य अलंकार अर्थात् उपमा आदि का विषय-अर्थात् प्राप्ति का स्थल ही कहीं भी नहीं बचेगा अर्थात् (उपमादि) निविषयता को प्राप्त हो जायेंगे। और इस प्रकार फिर उनका लक्षण करना ही निष्प्रयोजन (व्यर्थ) होने लगेगा। अथवा यदि वे दोनों संसृष्टि और सकर (अलंकार) ही उन (उपमादि) के विषय रूप से कल्पित कर लिए जायें, तो भी कोई प्रयोजन सिद्ध न होगा, क्योंकि उन्हीं (स्वभावोक्ति अलंकारवादी) आलङ्कारिकों द्वारा वह अर्थ अस्वीकार किया गया है। अतः इस आकाशचर्वण के मद्दुःख व्यर्थ चर्चा को हम समाप्त करते हैं। अवसरप्राप्त (प्रकृत) बात का अनुसरण करें। (इस प्रकार निश्चित हुआ कि) कवि के व्यापार का विषय बनकर वर्णित होते हुए जिस किसी भी पदार्थ का सहृदयों के हृदयों को आनन्दित करनेवाला स्वभाव ही सब प्रकार से काव्य के शरीर रूप में वर्णन का विषय बनता है। (और) वही (काव्य शरीर रूप स्वभाव ही) यद्योचित ढंग से जिस किसी भी शोभाधिक्य को उत्पन्न करनेवाले अलङ्कार से युक्त किया जाना चाहिए। इसी बात को हमने 'अर्थ-सहृदयाह्लादकारिस्वस्पर्शानुन्दर' (१।६ तथा 'उभावैतावत्सङ्कायो' (१।१०) इन दो विछली कारिकामों में प्रतिपादित किया है।

एवं शब्दार्थयोः परमार्थमभिधाय 'शब्दार्थौ' इति (१।७) काव्य-

लक्षणवाक्ये पदमेक व्याख्यातम् । इदानीं 'सहितौ' इति (१।७) व्याख्यातुं साहित्यमेतयोः पर्यालोच्यते—

इस प्रकार शब्द और अर्थ के (काव्य में अभिप्रेत) परमाणु को बताकर (शब्दार्थौ सहितौ—इत्यादि (१।७) काव्य का लक्षण करनेवाले वाक्य में (प्रयुक्त) 'शब्दार्थौ' इस एक पद का व्याख्यान किया गया । अब (उसी काव्यलक्षण वाक्य में प्रयुक्त) 'सहितौ' (१।७) इस पद की व्याख्या करने के लिए इन दोनों (शब्द और अर्थ) के साहित्य का परामर्श किया जाता है—

शब्दार्थौ सहितावेव प्रतीतौ स्फुरतः सदा ।

सहितौ विद्धि तावेव किमपूर्वं विधीयते ॥ १६ ॥

(अब साहित्य की व्याख्या करते समय पूर्वपक्षी प्रश्न करता है कि) शब्द और अर्थ (तो) सर्वदा अविवृक्त होकर ही (सहितौ) ज्ञान के विषय बनते हैं (अतः आप अपने काव्यलक्षण में) वे दोनों (शब्द और अर्थ) ही अविवृक्त (होकर काव्य) होते हैं, इस प्रकार किस अपूर्व बात का विधान कर रहे हैं । (अतः आपका प्रयास निरर्थक है) ॥ १६ ॥

शब्दार्थौ अभिधानाभिधेयौ सहितावविवृक्तावेव सदा सर्वकालं प्रतीतौ स्फुरतः ज्ञाने प्रतिभासेते । ततस्तावेव सहितावविवृक्ताविति किमपूर्वं विधीयते न किञ्चिदपूर्वं निष्पाद्यते, सिद्धं साध्यत इत्यर्थः । तदेवं शब्दार्थयोर्निसर्गसिद्धं साहित्यम् । कः सचेताः पुनस्तदभिधानेन निष्प्रयोजनमात्मानमायासयति ? सत्यमेतत्, किन्तु न वाच्यवाचक-लक्षणशाश्वतसम्बन्धनिबन्धनं वस्तुतः साहित्यमित्युच्यते । यस्मादेतस्मिन् साहित्यशब्देनाभिधीयमाने कष्टकल्पनोपरचितानि गारूड्यादि-वाक्यान्यसंबद्धानि शाकटिकादिवाक्यानि च सर्वाणि साहित्य-शब्देनाभिधीयेरन् । तेन पदवाक्यप्रमाणव्यतिरिक्तं किमपि तत्त्वान्तरं साहित्यमिति विभागोऽपि न स्थात् ।

शब्द और अर्थ अर्थात् अभिधान (वाचक) और अभिधेय (वाच्य) सदा अर्थात् सभी समय सहित अर्थात् अविवृक्त होकर ही (साथ-साथ) प्रतीति में स्फुरित होते हैं अर्थात् बुद्धि में प्रतिभासित होते हैं । तो फिर उन्हीं दोनों (शब्द और अर्थ) को (अपने काव्य-लक्षण में) सहित अर्थात्

अवियुक्त (प्रतिपादित कर) इस प्रकार किस अपूर्व (बात) का विधान कर रहे हैं अर्थात् किसी नई बात का प्रतिपादन नहीं कर रहे हैं, (अवितु) सिद्ध की ही साधना (पिष्टपेषण) कर रहे हैं । तो इस प्रकार शब्द और अर्थ का साहित्य (अवियुक्तता तो) स्वभावतः ही सिद्ध है । अतः कौन सहृदय पुनः (पूर्वप्रतिपादित) उस (साहित्य) का कथनकर अपने को निरर्थक ही कष्ट देना चाहेगा । (अतः आपका प्रयास व्यर्थ है) इसी बात का उत्तर देते हैं—यह बात सत्य है (कि शब्द और अर्थ अवियुक्त होते हैं) किन्तु (शब्द और अर्थ के) वाच्य-वाचक रूप नित्य सम्बन्ध का कारण (ही) वस्तुतः 'साहित्य' नहीं कहा जाता । क्योंकि इस (वाच्य वाचक के नित्य सम्बन्ध के कारण) के ही 'साहित्य' शब्द द्वारा कथन किये जाने पर कठिन कल्पना द्वारा विरचित गाड़कुटादि वाक्य तथा (एक दूसरे से) असम्बद्ध गाड़ी आदि हाँकने वाले (भूयों) के वाक्य सभी साहित्य शब्द द्वारा कहे जाने लगेंगे । और इस प्रकार पद (शास्त्र व्याकरण) वाक्य (शास्त्र मीमांसा) एवं प्रमाण (शास्त्र न्याय) से भिन्न कोई दूसरा तत्त्व साहित्य (शास्त्र) होता है इस प्रकार का विभाजन भी सम्भव नहीं होगा । (क्योंकि तब तो सभी साहित्य ही हो जायेंगे) ।

ननु च पदादिव्यतिरिक्तं यत्किमपि साहित्यं नाम तदपि सुप्रसिद्धमेव, पुनस्तदभिधानेऽपि कथं न पौनरुक्त्यप्रसङ्गः ? अतएव-तदुच्यते—यदिदं साहित्यं नाम तदेतावति निःसीमनि समवायिनि साहित्यशब्दमात्रेणैव प्रसिद्धम् । न पुनरेतस्य कविकर्मकौशानकाष्टाधिकृतैर्मणीयस्याद्यापि 'कश्चिदपि विपश्चिदयमस्य परमार्थ इति मनाऽप्यत्रापि विचारपदवीमवतीर्णः । तदद्य सरस्वतीहृदयारविन्दमकरन्दबिन्दुसन्दोहसुन्दराणां सत्कविवचसामन्तरामोदमनोहरत्वेन परिस्फुरदेतत् सहृदयषट्चरणगोचरतां नीयते ।

(इस पर पूर्वपक्षी-फिर प्रश्न करता है कि) पदादि (कर्षाया व्याकरणदि शास्त्रो) से भिन्न जो कुछ भी साहित्य (कहा जाता) है वह भी भतीमांति प्रसिद्ध है । अतः फिर से उसीका कथन करने पर भी पुनरुक्ति क्यों नहीं होगी (अर्थात् उसका कथन पिष्टपेषण ही होगा ?) इमोनिष्ट (इस बात का उत्तर) यह आगे कहते हैं जो यह साहित्य है (जिसका हम विवेचन करने जा रहे हैं), अभी तक (हमारे विवेचन से पूर्व) अनन्त काल से यही आती हुई पद्धति में केवल 'साहित्य' शब्द (नाम) से ही प्रसिद्ध था (अर्थात् हमसे पूर्व के सभी आचार्य इसे केवल 'साहित्य' 'साहित्य'

कहा ही करते थे लेकिन काव्य की कुशलता की पराकाष्ठा को पहुँचने से मनोहर इस (साहित्य) का यह वास्तविक स्वरूप है इस प्रकार जरा सा भी विवेचन किसी भी विद्वान् ने आज भी (अभी तक) नहीं किया है। इसलिये अब (मैं आचार्य कुन्तक) सरस्वती (देवी) के हृदयरूपी कमल के पुष्परस (मकरन्द) के कणों के समूह के समान मुन्दर श्रेष्ठ कवियों की वाणी का यह आन्तरिक रञ्जकता से मनोहर रूप में परिस्फुरित होता हुआ (साहित्य तत्त्व) सहृदयरूपी भ्रमरो के दृष्टिपथ में स्थाया जा रहा है। (अर्थात् उस साहित्य का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है)

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काव्यसौ ।

अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥ १७ ॥

सौन्दर्य द्वारा प्रशंसा को प्राप्त करने के लिए, इन दोनों (शब्द और अर्थ) की अपकर्ष और उत्कर्ष से रहित (समान रूप से विद्यमान, परस्पर स्पर्धा के कारण) रमणीय यह कोई (अलौकिक ही) अवस्थिति 'साहित्य' (कही जाती) है ॥ १७ ॥

सहितयोर्भावः साहित्यम् । अन्यो शब्दार्थयोर्या काव्यलौकिकी चेतनचमत्कारकारितायाः कारणम् अवस्थितिविचित्रैव विन्यास-भङ्गी । कीदृशी—अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिणी, परस्परस्पर्धित्व-रमणीया । यस्यां द्वयोरेकतरस्यापि न्यूनत्वं निकर्षो न विद्यते नाप्य-तिरिक्तत्वमुत्कर्षो वारतीत्यर्थः ।

सहित (शब्द और अर्थ) का भाव साहित्य होता है। इन दोनों शब्द और अर्थ की सहृदयो को आनन्दित करने की कारणस्वरूपा जो कोई अलौकिक अवस्थिति अर्थात् विचित्र प्रकार की ही विन्यास-भङ्गीमा है। कौसी (विन्यासभङ्गीमा) ? (जो) न्यूनता और आधिक्य के अभाव के कारण चित्ताकर्षक अर्थात् परस्पर (आपस में) विद्यमान प्रतिस्पर्धा के कारण मुन्दर है। जिसमें (शब्द और अर्थ) दो में से एक की भी न्यूनता अर्थात् हीनता नहीं है और न अनिरिक्तता अर्थात् आधिक्य (उत्कर्ष ही है (इस प्रकार की स्थिति ही 'साहित्य' होती है) ।

ननु च तथाविधं मान्य द्वयोरुपहतयोरपि सम्भवतात्याह—शोभाशालितां प्रति । शोभा सौन्दर्यमुच्यते । तथा शालते श्लाघते यः स शोभाशाली, तस्य भावः शोभाशालिता, ता प्रति सौन्दर्यश्लाघितां

प्रतीत्यर्थः । सैव च सदृश्याह्लादकारिता । तस्यां स्पर्धित्वेन यासाववस्थितिः परस्परसाम्यमुभयमवस्थान सा साहित्यमुच्यते । तत्र वाचकस्य वाचकान्तरेण वाच्यस्य वाच्यान्तरेण साहित्यमभिप्रेतम्, वाक्ये काव्यलक्षणस्य परिसमाप्तत्वादिति प्रतिपादितमेव (१।७) ।

(इस पर पूर्वपक्षी प्रश्न करता है कि श्रीमान् जी) उस प्रकार का (न्यूनता और आधिक्य से रहित) साम्य तो दोनों निष्पष्ट (शब्द और अर्थ) में भी तो सम्भव हो सकता है (अतः क्या आप उसे भी साहित्य स्वीकार करने को तैयार हैं तो इस बात का उत्तर देने के लिए) इस प्रकार कहते हैं कि (नहीं श्रीमान् जी मुझे ऐसा साहित्य नहीं अभिप्रेत है अपितु जो) शोभाशालिता के लिए हो । शोभा सौन्दर्य को कहा जाता है । उस (सुन्दरता) से जो शोभित अर्थात् प्रगल्भ होता है वह शोभाशाली (कहा जाता) है, उसका भाव शोभाशालिता हुआ उसके प्रति अर्थात् सौन्दर्य - द्वारा प्रगल्भ-प्राप्ति के लिए यह अर्थ हुआ । और इसी की सदृशों के हृदयों को आनन्दित करने की योग्यता कहा जाता है । उस (शोभाशालिता) के प्रति, (परस्पर) स्पर्धायुक्त जो यह अवस्थिति अर्थात् परस्पर (न्यूनताधिक्य से रहित साम्य के कारण रमणीय (शब्द तथा अर्थ दोनों की (स्थिति है वह 'साहित्य' कही जाती है । उसमें शब्द का अन्य शब्दों के साथ, अर्थ का अन्य अर्थों के साथ (परस्पर स्थायित्वरूप) साहित्य अभीष्ट है, काव्यलक्षण के वाक्य में परिसमाप्त होने से, ऐसा पहले ही १।७ में प्रतिपादित किया जा चुका है । (अर्थात् अनेक शब्दों एवं अनेक अर्थों का समुदायरूप वाक्य ही काव्य होता है अतः वाक्य में स्थित सभी शब्दों एवं सभी अर्थों का परस्पर एक दूसरे शब्द एवं अर्थ से स्पर्धा रूप साहित्य ही अभीष्ट है एक ही शब्द अथवा एक ही अर्थ का नहीं)

ननु च वाचकस्य वाच्यान्तरेण वाच्यस्य वाचकान्तरेण कथं न साहित्यमिति चेत्तत्र, क्रमव्युत्क्रमे प्रयोजनाभावादसमन्वयाच्च । तस्मादेतयोः शब्दार्थयोर्यथास्व यस्यां स्वसम्पत्तामप्रीतमुदायः सदृश्याह्लादकारी परस्परस्पर्धया परिस्फुरति, सा काभिदेव विन्याससम्पत् साहित्यव्यपदेशभाग् भवति ।

(इस पर पूर्वपक्षी प्रश्न करता है कि महोदय आप शब्द का ही शब्द के ही साथ तथा अर्थ का अर्थ के ही साथ साहित्य क्यों स्वीकार करते हैं) शब्द का

दूसरे अर्थ के साथ तथा अर्थ का दूसरे शब्द के साथ साहित्य क्यों नहीं स्वीकार करते ? तो इसका उत्तर देते हैं कि—यह बात ठीक नहीं (क्योंकि जैसा हमने शब्द का शब्द के साथ तथा अर्थ का अर्थ के साथ साहित्य का) क्रम (बताया है उस) के (इस प्रकार के शब्द का अर्थ के साथ और अर्थ का शब्द के साथ साहित्य हो ऐसे) परिवर्तन में किसी भी प्रयोजन का अभाव होने से तथा (इस विपरीत क्रम के कथन की) सम्पत् सङ्गति न होने से (ऐसा क्रम-परिवर्तन ठीक नहीं) । अतः इन शब्द और अर्थ दोनों का यथानुरूप सद्दयों के हृदयों को आह्लादित करने वाला अपनी शोभा की सामग्री-समूह जिसमें परस्पर (न्यूनाधिक्य से रहित) स्पर्धा द्वारा परिस्फुरित होता है वह कोई अलौकिक ही वाक्य-विन्यास की सम्पत्ति साहित्य कहलाने की भागी होती है ।

मार्गानुगुण्यसुभगो माधुर्यादिगुणोदयः ।

अलङ्कारविन्यासो वक्रतातिशयान्वितः ॥ ३४ ॥

(जहाँ सुकुमारादि काव्य के) मार्गों के अनुरूप होने के कारण रमणीय, माधुर्य (प्रसाद) आदि (काव्य मार्ग) के गुणों से अग्नित, (वर्ण्यमान ६ प्रकार की) वक्रताओं के अतिशय से संयुक्त, अलङ्कारों का विशेष ढंग से (चमत्कारपूर्ण) रचना (की जाती है) ॥ ३४ ॥

वृत्त्यौचित्यमनोहारि रसानां परिपोषणम् ।

स्पर्धया विद्यते यत्र यथास्वमुभयोरपि ॥ ३५ ॥

(और) जहाँ (शब्द और अर्थ) दोनों की यथोचित (न्यूनाधिक्य से रहित) स्पर्धा के कारण (कैशिकी, भारती आदि) वृत्तियों के औचित्य से रमणीय (चित्ताकर्षक, शृङ्गारादि) रसों का सम्पत् पोषण, विद्यमान रहता है ॥ ३५ ॥

सा काव्यवस्थितिस्तद्विदानन्दस्पन्दसुन्दरा ।

पदादिवाक्परिस्पन्दसारः साहित्यमुच्यते ॥ ३६ ॥

(ऐसी,) काव्यतत्त्वज्ञ (सद्दयों) को आनन्दित करनेवाले (अपने) स्वभाव से रमणीय वह कोई (अलौकिक शब्द और अर्थ की परस्पर साम्य से सुन्दर) स्थिति, पद (वाक्य, प्रमाण) आदि वाणी के विलासों का सारभूत (तत्त्व) 'साहित्य' कहलाता है ॥ ३६ ॥

एतेषां च पदवाक्यप्रमाणसाहित्यानां चतुर्णामपि प्रतिवाक्य-
मुपयोगः । तथा चैतत्पदमेवंस्वरूपं गकारोकारविसर्जनीयात्मकमेतस्य
चार्यस्य प्रातिपदिकार्थपञ्चकलक्षणस्याख्यातपदार्थपदकलक्षणस्य वाचक-
मिति पदसंस्कारलक्षणस्य व्यापारः । पदानां च परस्परान्वय-
लक्षणसंबन्धनिबन्धनमेतद्वाक्यार्थतात्पर्यमिति वाक्यविचारलक्षणस्यो-
पयोगः । प्रमाणेन प्रत्यक्षादिनैतदुपपन्नमिति युक्तियुक्तत्वं नाम प्रमाण-
लक्षणस्य प्रयोजनम् । इदमेव परिस्पन्दमाहात्म्यात्सहृदयहृदयहारितां
प्रतिपन्नमिति साहित्यस्योपयुज्यमानता । एतेषां यद्यपि प्रत्येकं
स्वविषये प्राधान्यमन्येषां शुणीभावस्तथापि मकलवाक्परिस्पन्द-
जीवितायमानस्यास्य साहित्यलक्षणस्यैव कविध्यापारस्य वस्तुतः
सर्वत्रातिशयित्वम् । यस्मादेतदमुख्यतयापि यत्र वाक्यसन्दर्भान्तरे
स्वपरिमलमात्रेणैव संस्कारमारभते तस्यैतदधिवासशून्यतामात्रेणैव
रामणीयकधिरहं पर्यवस्यति । तस्मादुपादेयतायां परिहाणिरुपपद्यते ।
तथा च स्वप्रवृत्तिवैयर्थ्यप्रसङ्गः । शास्त्रातिरिक्तप्रयोजनत्वं शास्त्रा-
भिधेयचतुर्वर्गाधिकफलत्वं चास्य पूर्वमेव प्रतिपादितम् (१।३.५) ।

और इन पद (शास्त्र व्याकरण), वाक्य (शास्त्र मीमांसा), प्रमाण
(शास्त्र न्याय) एवं साहित्य (शास्त्र) चारों का प्रत्येक वाक्य में उपयोग
होता है । उदाहरणार्थ गकार ओकार और विसर्ग से युक्त (गी.) इस स्वरूप
का यह पद प्रातिपदिकार्थपञ्चक (१. प्रातिपदिकार्थ २ लिंग ३. परिमाण
४. वचन और ५. कारक) रूप (अथवा) आप्त्वात्पदार्थपदक
(१ कर्ता २ कर्म ३ वास ४. पुरुष ५ वचन और ६ भाव) रूप इस
अर्थ का वाचक है यह पदसंस्कार का लक्षण करनेवाले (व्याकरण शास्त्र)
का व्यापार है । और 'पदों में परस्पर अन्वय रूप सम्बन्ध का कारणभूत
वाक्यार्थ का यह तात्पर्य है' यह वाक्य-विचार का निरूपण करनेवाले
(मीमांसा शास्त्र) का उपयोग होता है । तथा प्रत्यक्ष (अनुमान) आदि
प्रमाणों के द्वारा (इस पद अथवा वाक्य का) या (अर्थ) समीचीन है
इस प्रकार युक्तियुक्तता (सङ्गति का प्रतिपादन करना) प्रमाणों का
विवेचन करनेवाले (न्याय शास्त्र) का प्रयोजन है । और यही (वाक्य
कवि के) व्यापार (परिस्पन्द) के माहात्म्य से सहृदयों के हृदयों को
मनोहर प्रतीत होता है यही साहित्य (शास्त्र) का उपयोग है । यद्यपि इन
(व्याकरण, मीमांसा, न्याय एवं साहित्य) सभी (शास्त्रों) में प्रत्येक
(शास्त्र) की अपने-अपने विषय में प्रधानता तथा (उस विषय में) अन्य

(शास्त्रो) की गौणता है फिर भी समस्त वाग्बिलास का प्राणभूत यह साहित्य स्वरूप कवि का व्यापार ही वस्तुतः सर्वत्र सर्वातिशायी (तबसे अधिक महत्त्वपूर्ण) होता है। क्योंकि यह जहाँ अन्य (व्याकरण-आदि के) वाक्य-सन्दर्भों में गौण रूप से स्थित रहकर भी अपनी गन्धमात्र (परिमल मात्र) से ही स्मृति-प्रारम्भ कर देता है उस (वाक्य-मन्दर्भ) में इसकी केवल थोड़ी सी स्मृति में कमी आने से ही सुन्दरता का अभाव हो जाता है जिससे उस वाक्य-सन्दर्भ की उपादेयता की बहुत हानि होती है और इस प्रकार उस वाक्य की प्रवृत्ति के ध्येय हो जाने का प्रसङ्ग आ जाता है (अर्थात् वह वाक्य-रचना शोभाहीन होकर बेकार हो जाती है। इससे सिद्ध हुआ कि व्याकरण-भीमसा आदि अन्य शास्त्रों की अपेक्षा साहित्य शास्त्र सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।) तथा इस (साहित्य शास्त्र) का (अन्य) शास्त्रों से भिन्न प्रयोजनों से मुक्त होना, एक (धर्मादि का प्रतिपादन करनेवाले) शास्त्रों के द्वारा सम्पादित होने वाले (धर्मादि) चतुर्वर्गों से अधिक फलों से युक्त होना, पहले ही (१३,५) प्रतिपादित किया जा चुका है।

अपर्यालोचनेऽप्यर्थे बन्धसौन्दर्यसम्पदा ।

गीतवद्बुद्ध्याह्लादं तद्विदा विदधाति यन् ॥ ३७ ॥

अर्थ का पर्यालोचन किये बिना भी (अर्थात् बिना अर्थ को समझे हुए ही) वाक्य का विन्यास की सौन्दर्य रूप सम्पत्ति के द्वारा जो गीत के सदृश (तद्विद्) सहृदयों के हृदयों को आह्लादित कर देता है ॥ ३७ ॥

वाक्यावबोधनिष्पत्तौ पदवाक्यार्थवर्जितम् ।

यत्किमप्यर्थयत्यन्तं पानकास्वादवत्सताम् ॥ ३८ ॥

(तथा) अर्थ ज्ञान के सम्पन्न हो जाने पर पद (के अर्थ अर्थात् संकेतित अर्थ) तथा वाक्यार्थ (तात्पर्यार्थ) से अतिरिक्त (व्यग्ररूप रसादि के द्वारा गुड-मरिचादि से निष्पन्न) पानक (रस) के आस्वाद की तरह जो सहृदयों के हृदयों को किसी (अनिवर्चनीय रसास्वाद के आनन्द) को प्रदान करता है ॥ ३८ ॥

शरीरं जीवितेनेव स्फुरितेनेव जीवितम् ।

विना निर्जीवता येन वाक्यं याति विपश्चिताम् ॥ ३९ ॥

(तथा) जैसे प्राण के बिना शरीर तथा स्पन्द के बिना प्राण (निष्प्राण हो जाते हैं उसी प्रकार) जिस (तत्त्व) के बिना विद्वानों के वाक्य निष्प्राण (सहृदयाह्लादकारिता से हीन) हो जाते हैं ॥ ३९ ॥

यस्मात्किमपि सौभाग्यं तद्विदामेव गोचरम् ।

सरस्वती समभ्येति तदिदानीं विचार्यते ॥ ४० ॥

इत्यन्तरश्लोकाः ।

(एव) जिस (तत्त्व) से केवल काव्यतत्त्व को जानने वाले (सहृदयो) द्वारा ज्ञातव्य किसी (अपूर्व अलौकिक) रमणीयता को सरस्वती (कविव्याणी) प्राप्त हो जाती है, उस (कवि-व्यापार की वक्रता) का विवेचन अब हम प्रस्तुत करते हैं ॥ ४० ॥

ये अन्तर श्लोक हैं ।

एवं सहिताविति व्याख्याय कविव्यापारवक्रत्वं व्याचष्टे—

कविव्यापारवक्रत्वप्रकाराः सम्भवन्ति पट् ।

प्रत्येकं बहवो भेदास्तेषां विच्छित्तिशोभिः ॥ १८ ॥

इस प्रकार (काव्य-लक्षण वाक्य 'शब्दार्थो सहितो—' (१७) में आये हुये 'सहितो' इस पद की व्याख्या करके ग्रन्थकार कुन्तक (अब) कवियों के व्यापार की वक्रता का व्याख्यान करने जा रहे हैं—

(काव्य-रचना रूप) कवियों के व्यापार के (मुख्य रूप से छ भेद सम्भव होते हैं । उन (छ प्रकारों) में से प्रत्येक (प्रकार) के (रचना के) वैचित्र्य की भङ्गिमा से सुशोभित होने वाले बहुत से भेद (हो सकते) हैं ॥ १८ ॥

कवीनां व्यापारः कविव्यापारः काव्यक्रियालक्षणस्तस्य वक्रत्व वक्रभावः प्रसिद्धप्रख्यानव्यतिरेकि वैचित्र्यं तस्य प्रकाराः प्रभेदाः पट् सम्भवन्ति । मुख्यतया तावन्त एव सम्भवन्तीत्यर्थः । तेषां प्रत्येक प्रकाराः बहवो भेदविशेषाः । कीदृशाः—विच्छित्तिशोभिः वैचित्र्य-भङ्गीभ्राजिष्णवः । सम्भवन्तीति सम्बन्धः । तदेव दर्शयति—

कवियों का (काव्यकरणस्वरूप) व्यापार कविव्यापार (कहलगाता) है । उसकी वक्रता अर्थात् (लोक अथवा-शास्त्रादि में) प्रसिद्ध स्थान से भिन्न वैचित्र्य से युक्त वक्रभाव उसके छ प्रकार अर्थात् प्रभेद सम्भव होते हैं अर्थात् रूप से उतने (छ भेद) ही सम्भव होते हैं । उनमें से हर एक (भेद) के बहुत प्रकार अर्थात् भेद विशेष (सम्भव होते हैं) कैंसे (भेद विशेष सम्भव) होते हैं विच्छित्ति से शोभित होने वाले अर्थात् विचित्रता से

युक्त (चमत्कार पूर्ण) भङ्गिमा से कान्तिमान (भेद विशेष) सम्भव होते हैं (इस क्रिया का वाक्य के साथ सम्बन्ध है) । उसी (कवि-व्यापार की वक्रता के प्रकारों) का दिखाते हैं—

वर्णविन्यासवक्रत्वं पदपूर्वार्धवक्रता ।

वक्रतायाः परोऽप्यस्ति प्रकारः प्रत्ययाश्रयः ॥ १९ ॥

(कवि-व्यापार वक्रता के) (१) वर्णविन्यास वक्रता (२) पदपूर्वार्ध वक्रता तथा वक्रता का अन्य भी प्रकार (३) प्रत्ययाश्रित वक्रता है ॥ १९ ॥

वर्णानां विन्यासो वर्णविन्यासः अक्षराणां विशिष्टन्यमन तस्य चक्रत्व वक्रभावः प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणा वैचित्र्येणोपनिबद्ध सनिवेशविशेषविहितस्तद्विदाह्यादकारी शब्दशोभातिशयः । यथा—

वर्णों का विन्यास वर्णविन्यास होता है (अर्थात्) अक्षरों की विशेष ढंग से रचना (अक्षरों का विशेष क्रम से रखना ही वर्ण-विन्यास है) । उसकी वक्रता अर्थात् (लोक एव शास्त्रादिके प्रसिद्ध) प्रस्थान से भिन्न वैचित्र्य के द्वारा उपनिबद्ध वक्रभाव अर्थात् (वर्णों की) रचना विशेष के द्वारा उत्पन्न काव्यतन्त्रज्ञों का आनन्ददायक शब्द की शोभा का अतिशय (ही वर्ण-विन्यास वक्रता) होती है । जैसे निम्न श्लोक—

प्रथममरुणच्छायस्तावत्ततः कनकप्रम-
स्तदनु विरहोत्ताम्यत्तन्वीकपोलतलघृतिः ।
प्रसरति ततो ध्वान्तक्षोदक्षमः क्षणदामुखे
सरसबिसिनीकन्दच्छेदच्छविर्मृगलाञ्छनः ॥ ४१ ॥

रात्रि के प्रारम्भ में पहले तो अरुण कान्ति वाला, फिर स्वर्ण (की आभा) के सद्गुण आभावाला, उसके बाद (प्रियतम के) वियोग से व्याकुल कुशाङ्गी के गण्डस्थल (की कांति) के सद्गुण कान्ति वाला फिर तदनन्तर सरस कमलिनी के अङ्कुरों के खण्ड (की कान्ति के सद्गुण कान्तिवाला (अत्यन्त घबल होकर) अन्धकार का विनाश करने में समर्थ चन्द्रमा उद्दिन हो रहा है ॥ ४१ ॥

अत्र वर्णविन्यासवक्रतामाप्रविहितः शब्दशोभातिशयः सुतरा समुन्मीलितः । एतदेव वर्णविन्यासवक्रत्वं चिरन्तनेष्वनुप्रास इति प्रसिद्धम् । अत्र च प्रभेदस्वरूपनिरूपणं लक्षणादसरे करिष्यते (२।१) ।

यहाँ इस पद्य में केवल वर्णों के विशेष ढग की रचना से उत्पन्न शब्द का शोभातिशय बड़े ही सुन्दर ढग से (कवि ने) उन्मीलित किया है। यही वर्णविन्यास वक्रता पाचीन आलङ्कारिकों (के पन्थों) में 'अनुप्रास' नाम से प्रसिद्ध रही है। इसके भेद विशेषों के स्वरूप का निरूपण लक्षण कान्ते समय (२।१ भ) किया जायदा।

पदपूर्वार्धवक्रता—पदस्य सुबन्तस्य तिङन्तस्य वा यत्पूर्वार्धं प्रातिपदिकलक्षण घातुलक्षण वा तस्य वक्रता वक्रभावो विन्यास-वैचित्र्यम्। तत्र 'च बहुव' प्रकारा' सभवन्ति।

(अब कविव्यापार वक्रता के दूसरे भेद का वर्णन करते हैं)—
पदपूर्वार्ध वक्रता—सुबन्त अथवा तिङन्त पद का जो प्रातिपदिक रूप अथवा घातु रूप है उसकी वक्रता, वक्रभाव अर्थात् विशेष ढग की रचना का वैचित्र्य (पदपूर्वार्ध वक्रता होती है)। उसके बहुत से भेद सम्भव होते हैं।

यत्र रुडिशब्दस्यैव प्रस्तावसमुचितत्वेन वाच्यप्रसिद्धधर्मान्तराध्यारोपगर्भत्वेन निबन्धः स पदपूर्वार्धवक्रतायाः प्रथमः प्रकारः। यथा—

रामोऽस्मि सर्वं सहे ॥ ४२ ॥

द्वितीयः—यत्र संज्ञाशब्दस्य वाच्यप्रसिद्धधर्मस्य लोकोत्तरातिशयाध्यारोपं गर्भीकृत्योपनिबन्धः। यथा—

जहाँ पर रुडि शब्द का ही, प्रकरण के अनुकूल वाच्य रूप से प्रसिद्ध (धर्म) से अतिरिक्त धर्म के अध्यारोप के आधार पर निबन्धन किया जाय वह पदपूर्वार्ध वक्रता का पहला भेद होता है जैसे (महानाटक के निम्न पद्य

स्निग्धप्रियामलकान्तिलितवियतो वेत्तद्वत्साका घना
घाता शीकरिण पयोदसुहृदामानन्दकेवा. कला.।
काम सन्तु दृढ बछोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
बंदेही तु कथ भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥

में प्रयुक्त) 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' अर्थात् 'मे राम हूँ सब कुछ सहन कर लूँगा' ('इस वाक्य में प्रयुक्त राम शब्द में पदपूर्वार्ध वक्रता है। क्योंकि यहाँ पर प्रयुक्त राम शब्द अपने वाच्य रूप से प्रसिद्ध धर्म अर्थात् दण्डपुत्रत्व रूप से भिन्न अत्यधिक दुःखसहनशीलता रूप धर्म की आधार लेकर कवि द्वारा प्रयुक्त किया गया है। अतः यहाँ जो कवि-विरचित वाक्य में एक अपूर्व

चमत्कार आ गया है, वह इसी रुद्धिशब्द राम के प्रयोग से ही, जो कि सुबन्त पद का पूर्वार्द्ध है। अतः यह पदपूर्वार्द्धवक्रता का पहला भेद हुआ।)

(अब पदपूर्वार्द्धवक्रता का) दूसरा (भेद बताते हैं) जहाँ पर संज्ञा शब्द का (उसके) वाच्य रूप से प्रसिद्ध धर्म के अलौकिक अतिशय का आधार ग्रहण कर कवि द्वारा प्रयोग किया जाता है (वहाँ पदपूर्वार्द्ध-वक्रता का दूसरा भेद होता है), जैसे—

रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं परा-
मस्मद्भाग्यविपर्ययाद्यदि परं देवो न जानाति तम्।
बन्दीवैष यशांसि गायति मरुद्यस्यैकभाणाहति-
श्रेणीभूतप्रिशालतालविषरोद्गीर्णैः स्वरैः सप्तभिः ॥ ४३ ॥

(यह पद्य काव्यप्रकाश आदि में उद्धृत हुआ है। उसके टीकाकार माणिक्यचन्द्र 'राघवाब्ज' नामक अप्राप्य नाटक का पद्य बताकर इसे कुम्भदर्शन की उक्ति बताते हैं, जब कि 'चन्द्रिकाकार' इसे रावण के प्रति कही गई विभीषण की उक्ति बताते हैं। वस्तुतः यह उक्ति विभीषण की सी लगती है। नाटक के अप्राप्य होने से तिष्ठित कुछ नहीं कहा जा सकता। अतः इसे हम विभीषण की ही उक्ति के रूप में स्वीकार करेंगे। तो विभीषण रावण से कहता है कि) यह (खरदूषण एवं बालि आदि का वध करनेवाला तथा मारीच एवं सुबाहु को परास्त करनेवाला) राम (अपने) शूरता के गुणों द्वारा सभी लोकों में अत्यधिक प्रसिद्ध हो गया है। लेकिन यदि हम सभी के दुर्भाग्य से उस (प्रसिद्ध राम) को स्वामी नहीं जानते (तो क्या कहा जाय), जिसके कि यश का गान, यह वायु (भी) बन्दी के समान, एक (ही) बाण के प्रहार से (एक) पल्लि में स्थित बड़े-बड़े (सात) ताड़ (के वृक्षों) के विचरो से निकले हुए सातों स्वरों द्वारा, कर रहा है ॥ ४३ ॥

अत्र रामशब्दो लोकोत्तरशौर्यादिधर्मातिशयाभ्यारोपपरत्वेनोपात्तो वक्रतां प्रथयति।

यहाँ (इस बलोक में प्रयुक्त) 'राम' शब्द (जो कि एक संज्ञा शब्द है, वह राम के वाच्य रूप में प्रसिद्ध शौर्यादि धर्म की ही अलौकिकता का प्रतिपादन करनेवाले) अलौकिक शौर्यादि धर्म के अतिशय के अभ्यारोप को आधार लेकर गृहीत हुआ वक्रता (अपूर्व चमत्कार) की सिद्धि करता है।

टिप्पणी—पदपूर्वाद्धवक्रता के इन दोनों ही भेदों के उदाहरणों में आचार्य कुन्तक ने 'राम' शब्द में ही वक्रता दिखाई है, पर उन दोनों में मौलिक भेद यही है कि पहले भेद में रुद्धिशब्द के वाच्य रूप से प्रसिद्ध धर्म से भिन्न धर्म के अतिशय के अभ्यारोप को आधार मानकर रुद्धि शब्द का प्रयोग किया जाता है जब कि दूसरे भेद में संज्ञा शब्द के वाच्य रूप से प्रसिद्ध धर्म के ही अलौकिक अतिशय के अभ्यारोप को आधार मान कर संज्ञा शब्द का प्रयोग किया जाता है ।

पर्यायवक्रत्व प्रकाशान्तर पदपूर्वाद्धवक्रतायाः—यत्रानेकशब्दाभिधेयत्वे वस्तुनः किमपि पर्यायपदं प्रस्तुतानुगुणत्वेन प्रयुज्यते । यथा—

(आचार्य कुन्तक पदपूर्वाद्धवक्रता के पूर्वोक्त दो भेदों की व्याख्या कर तीसरे भेद 'पर्यायवक्रता' को प्रस्तुत करते हैं कि) पदपूर्वाद्धवक्रता का अन्य (तृतीय) भेद 'पर्यायवक्रता' है । जहाँ पर (किसी) वस्तु की (अन्य बहुत से शब्दों द्वारा अभिधेयता (सम्भव) होने पर (भी) किसी (अपूर्व रमणीयता युक्त दूसरे ही) पर्यायवाची शब्द का प्रकरण के अनुकूल प्रयोग किया जाता है (यही पर्याय-वक्रता होती है) जैसे :—

धामं कञ्जलघट्टिलोचनमुरो रोहद्विसारिस्तनं
मध्यं क्षाममकाण्ड एव विपुलामोगा नितम्बस्थली ।
मद्यःशोदुग्धविस्मयैरिति गणैरालोक्यमानं मुहुः
पायाद्व प्रथमं वपुः स्मररिपोर्मिथीभषत्कान्तया ॥ ४४ ॥

(इस पद्य में पार्वती तथा शङ्कर के प्रथम सयोग का वर्णन प्रस्तुत किया गया है कि पार्वती के साथ शङ्कर का शरीर जिस समय एक-दूसरे से सयुक्त हुआ) कञ्जल से युक्त वामनेत्रवाला, एव विकसित होते हुए विशाल स्तन से युक्त वक्षस्पल वाला, और अनायास ही क्षीण हो गये मध्यभाग से युक्त, तथा बड़े विस्तारवाली नितम्बस्थली से युक्त, तत्काल उत्पन्न विस्मय वाले शङ्कर के गणों के द्वारा पहले-पहल बार-बार देखा जाता हुआ, कान्ता (पार्वती) के (शरीर के) साथ मिश्रित होता हुआ, कामदेव के शन् (भगवान् शङ्कर) का शरीर आप सौगो की रक्षा करे ॥ ४४ ॥

अत्र 'स्मररिपोः' इति पर्यायः कामपि वक्रतामुन्मीलयति । यस्मात्कामशत्रोः कान्तया मिश्रीभावः शरीरस्य न कथंचिदपि संभाव्यत इति गणानां सद्यः प्रोद्गतविस्मयत्वमुपपन्नम् । सोऽपि पुनः पुनः परिशीलनेनाश्चर्यकारीति 'प्रयम'-पदस्य जीवितम् ।

यही (भगवान् शङ्कर के शिव, महेश्वर, महादेव इत्यादि अनेक पर्यायवाची शब्दों के द्वारा शङ्कर रूप अर्थ का कथन सम्भव होने पर भी चतुर कवि द्वारा प्रयुक्त) 'स्मररिपो' अर्थात् 'कामदेव के शत्रु का' यह (शङ्कर का वाचक) पर्यायशब्द किसी (अनिवंचनीय) वक्रता को उन्मीलित करता है क्योंकि कामदेव के शत्रु के शरीर का रमणी के (शरीर) के साथ सयुक्त होना कदापि सम्भव नहीं है, इसीलिए (शिव के) गणों का तुरन्त ही (ऐसे असम्भव संयोग को देखकर) उत्पन्न विस्मय से युक्त होना उपयुक्त है और वह (शिव-पार्वती का असम्भव संयोग) भी बार-बार परिशीलन करने पर आश्चर्यजनक न होता अतः (सब विस्मय युक्त हो जाना श्लोक में उपात्त) 'प्रयम' इस पद का जीवितभूत हो गया है ।

एतच्च पर्यायवक्रत्वं वाच्यासंभविधर्मोन्तरगर्भीकारेणापि दृश्यते । यथा—

(इस प्रकार 'पर्यायवक्रता' का एक भेद बताकर, अब उसके दूसरे अवान्तर भेद का प्रतिपादन करते हैं कि) और यह 'पर्यायवक्रता' वाच्य के द्वारा सम्भव न हो सकनेवाले दूसरे धर्म के आधार को लेकर प्रयुक्त पर्यायों में भी देखी जाती है जैसे—

अङ्गराज सेनापते राजवल्लभ रक्षैनं भीमाद् दुःशासनम् इति ॥ ४५॥

भट्टनारायण विरचित 'वेणीसंहार' नामक नाटक में भीम कर्ण का उपहास करता हुआ कहता है कि हे अङ्गदेश के मुरैल ! सेना के स्वामी ! राजा (दुर्घोषन) के प्रेमपात्र ! इस दुःशासन की भीम से रक्षा करो ॥ ४५ ॥

अत्र त्रयाणामपि पर्यायाणामसंभाव्यमानतत्परिश्राणपात्रत्वलक्षण-मकिञ्चित्करत्वं गर्भीकृत्योपदृश्यते—रक्षैनमिति ।

यहाँ (भीम के इस कथन में वाच्यरूप कर्ण के द्वारा सम्बोधन न कर) जिन तीन पर्याय रूप विशेषणों का प्रयोग किया गया है उनके द्वारा

असम्भाव्यमान उस (दुःशासन) की रक्षा की पात्रता रूप अकिञ्चित्करता को गमित कर 'इसकी रक्षा करो' इस प्रकार उपहास किया जाता है ।

पदपूर्वार्धवक्रताया उपचारवक्रत्वं नाम प्रकारान्तरं विद्यते—
यत्रामूर्तस्य वस्तुनो मूर्तद्रव्याभिधायिना शब्देनाभिधानमुपचारात् ।
यथा—

पदपूर्वार्धवक्रता का उपचारवक्रता नामक (चतुर्थ) अवान्तर भेद भी है । जहाँ पर अमूर्त वस्तु का मूर्त द्रव्य का अभिधान करने वाले शब्द के द्वारा उपचार (अर्थात् सादृश्य) के बलपर कथन किया जाता है (वही उपचार-वक्रता होती है ।) जैसे—

निष्कारणं निकारकणिकापि मनस्विनां मानसमायासयति ।
यथा—

हस्तापचेय यशः ।

'अकारण ही मानहानि की कणिका भी (अर्थात् अत्यल्प मानहानि भी) मन्त्रवी पुण्यो के हृदय को पीड़ित कर देती है । और जैसे—

'हाथ के द्वारा एकत्रित करने योग्य यश'

'कणिका' शब्दो मूर्तवस्तुस्तोकाद्योभिधायी स्तोकत्वसामान्योप-
चारादमूर्तस्यापि निकारस्य स्तोकाभिधानपरत्वेन प्रयुक्तस्तद्विदाह्लाद-
कारित्वाद्भक्ततां पुष्पाति । 'हस्तापचेयम्' इति मूर्तपुष्पादिवस्तु-
संभविसंहतत्वसामान्योपचारादमूर्तस्यापि यशसो हस्तापचेयमित्य-
भिधान वक्तव्यमावहेति ।

(इन दोनों उदाहरणों में पहले उदाहरण में प्रयुक्त) 'कणिका' शब्द मूर्तवस्तु की अल्पता के अर्थ का अभिधान करने वाला (होते हुए भी) स्वल्पता रूप सामान्य के कारण उपचार से (सादृश्यमूला लक्षणा द्वारा) अमूर्त भी मानहानि की अल्पता के कथन रूप से प्रयुक्त होकर काव्यतरङ्गों को आह्लादित करने के कारण वक्रता (विचित्रता) का पोषण करता है । (इस प्रकार अमूर्त वस्तु की अल्पता का अभिधान 'कणिका' शब्द के द्वारा उपचार से होता है, अतः यही 'उपचारवक्रता' मानी जायगी) ।

(तथा दूसरे उदाहरण में प्रयुक्त) 'हस्तापचेयम्' (अर्थात् हाथ के द्वारा एकत्रित करने योग्य) इस पद से मूर्त पुष्प आदि वस्तुओं में प्राप्त होने वाले सहतत्त्व अर्थात् एकत्रित करने की योग्यतारूप) सामान्य के बलपर उपचार से मूर्त भी यश का हाथ से एकत्रित करने का अभिधान, वक्रता (अर्थात् उपचारवैचित्र्य) को धारण करता है ।

द्रवरूपस्य वस्तुनो वाचकशब्दस्तरङ्गितत्वादिधर्मनिबन्धनं किमपि सादृश्यमात्रमवलम्ब्य सहतस्यापि वाचकत्वेन प्रयुज्यमानः कविप्रवाहे प्रसिद्धः । यथा—

श्यासोत्कम्पतरङ्गिणि स्तनतटे इति ॥ ४६ ॥

तरङ्गित्व आदि धर्म का प्रतिपादन करने के कारण 'द्रव्य रूप वस्तु का वाचक शब्द किसी सादृश्यमात्र का आश्रय ग्रहण कर ठोस (मूर्त वस्तु) के भी वाचक शब्द के रूप में प्रयोग किया जाता हुआ कवि समुदाय में प्रसिद्ध है (अर्थात् कविजन प्रायः किसी सादृश्यमात्र को लेकर तरल पदार्थ के वाचक शब्द का ठोस मूर्त पदार्थ के वाचक शब्द के रूप में प्रयोग करते हैं) । जैसे—

'श्यास से उत्पन्न कम्पन के द्वारा तरङ्गित होते हुए स्तनप्रदेश पर' ॥ ४६ ॥

(यहाँ पर कवि ने स्तनप्रदेश को श्यासजन्य कम्प के द्वारा तरङ्गित बताया है । वस्तुतः तरङ्गित होना द्रव्य पदार्थ का धर्म है जबकि स्तनप्रदेश द्रव पदार्थ न होकर ठोस मूर्त पदार्थ है । अतः केवल कम्पनमात्र साम्य के आधार पर कवि ने स्तनप्रदेश को तरङ्गित बताकर एक अपूर्व चमत्कार की सृष्टि की है जिससे काव्यममंशों को एक अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है । अतः यहाँ पर उपचारवक्रता मानी जायगी । यह सम्पूर्ण पद्य वक्तोक्तिजीवित के प्रथम उन्मेष के १०६ उदाहरण में उद्धृत है जिसका कि एक अंशमात्र यहाँ पर गृहीत हुआ है ।)

क्वचिदमूर्तस्यापि द्रवरूपार्थाभिधायी वाचकत्वेन प्रयुज्यते ।

यथा—

एकां कामपि कालविप्रसममी शौर्योष्मकण्डूव्यय-

व्यथाः स्युश्चिरविस्मृतामरचमूढिम्बाह्वा बाह्वः ॥ ४७ ॥

एतयोस्तरङ्गिणोति विप्रसमिति च वयतामावहतः ।

कही पर द्रव रूप अर्थ का कथा करनेवाले शब्द का अमूर्त (पदार्थ) के भी वाचक (शब्द) के रूप में प्रयोग किया जाता है, जैसे—

(यह पद्य अपने समग्र रूप में तृतीय उन्मेष के २२वें उदाहरण में उद्धृत हुआ है, इसका पूर्वाह्न इस प्रकार है—

लोको यादृशमाह साहसघन त सन्नियापुत्रक
स्यात्सत्येन स तादृगेव न भवेद् वार्ता विसवादिनी ।

अर्थात् साहस रूप घन वाले इस सन्निया के बच्चे को लोक जिस प्रकार का (पराक्रमी) कहते हैं वह भले ही बंसा वयो न हो लोगों की बातें झूठी न हो, (फिर भी) ।

विरकाल से देवताओं की सेना के वीरो के साथ के युद्ध को भूली हुई मेरी ये भुजायें समय की किसी एक भी बंद के लिए (अर्थात् सग्न भर के लिए ही) पराक्रम की गर्मी से उत्पन्न खुजलाहट को मिटाने के लिए व्याकुल हो जायें (तो मैं उस दुष्ट का काम तमाम कर दूँ) ॥ ४७ ॥

(यहाँ पर जो द्रव पदार्थ के वाचक विप्रुष शब्द का प्रयोग कवि ने केवल व्युत्पत्ता का समय लेकर अमूर्त पदार्थ काल के वाचक के रूप में किया है उससे इस वाक्य में अपूर्व समतकार आ गया है । अतः यह भी 'उपचारवक्रता' का उदाहरण हुआ ।) (इस प्रकार उदाहरण सङ्ख्या ४६ तथा ४७) इन दोनों में (क्रम में) तरङ्गिणी तथा विप्रुष शब्द (उपचार) वक्रता का वहन करते हैं (जैसा कि हम ऊपर व्याख्या कर चुके हैं) ।

विशेषणवक्रत्वं नाम पदपूर्वार्धवक्रतायाः प्रकारो विद्यते—यत्र विशेषणमाहात्म्यादेय तद्विदात्तुदकारित्यलक्षणं वक्रत्वमभिव्यज्यते । यथा—

'पदपूर्वार्धवक्रता' का (९४४) भेद 'विशेषणवक्रता' है जिस वाक्य में विशेषण के माहात्म्य से ही काव्यज्ञों को आह्लादित करनेवाली वक्रता (अर्थात् वैचित्र्य) अभिव्यक्त होती है । (यहाँ 'विशेषणवक्रता' होती है) जैसे—

दाहोऽग्निप्रसृतिपचः प्रचयवान् बाधयः प्रणालोचन
शासाः प्रेङ्खितदीपदीपलतिकाः पाण्डुमणि मग्नं ययुः ।
किञ्चान्यत्कथयामि रात्रिमखिलां त्वन्मार्गवातायने
हस्तपञ्चत्रनिरुद्धचन्द्रमहस्तस्याः स्थिविधर्तने ॥ १८ ॥

अत्र दाहो बाष्पः श्वासा वपुरिति न किञ्चिद्वैचित्र्यमुन्मीलितम् ।
प्रत्येक विशेषणमाहात्म्यात्पुनः काचिदेव वक्रताप्रतीतिः । यथा च—

जीढायो ॥ इतद्वदनया सन्निधाने गुरूणां
बद्धोत्कम्पस्तनकलशया मन्युमन्तनियम्य
तिष्ठेत्पुच्छं किमिव न तथा यत्समुत्सृज्य बाष्पं
मग्न्यासक्तश्चकितहरिणीहारिनेत्रात्रिभागः ॥ ४६ ॥

(विरह की) कम्पा जल के प्रसरण की चिन्ता देने वाली है, (जिससे कि) बाष्प अत्यधिक इकट्ठा होकर प्रसन्नता के द्वारा निकालने योग्य हो गया है, (लम्बी) साँसें जल में हुए दीये की लपेटों को हिला देनेवाली हैं, सारा शरीर पीतिमा में डूब गया है, और क्योंकि सारी रात वह तुम्हारे रास्ते के झरोखे पर अपनी आँखों से चानूनी की रोककर काट रही है ॥ ४८ ॥

अत्र चकितहरिणीहारीति, कियत्रिमेष्ट, नेत्रत्रिभागासङ्गस्य गुरुमन्निधानविहिताप्रगल्भत्वरमेषावस्थे कामुनि कमनीवतामावहति चकितहरिणीहारिविलोचनसाम्येन ।

इस पद्य में प्रयुक्त दाह, बाष्प, श्वास तथा वपु शब्दों के द्वारा किसी भी प्रकार की विचित्रता उन्मीलित नहीं हुई, अपितु प्रत्येक शब्द के साथ प्रयुक्त विशेषणों के माहात्म्य के द्वारा (अर्थात् 'दाह' के साथ 'प्रसृतिम्पच' 'बाष्प' के साथ 'प्रणालोचित', 'श्वासा' के साथ 'प्रेङ्खितदीप्रदीपलतिका' तथा 'वपु' के साथ प्रयुक्त 'पाण्डिन्मि गम्भम्' विशेषणों के माहात्म्य से) किसी अनिवर्चनीय वक्रता (अर्थात् सहृदयम् हृदयाह्लादकारिता) का आभास होता है ।

और जैसे (इसी का दूसरा उदाहरण कोई प्रवासी युवक अपने किसी मित्र से कह रहा है कि जब मैं परदेश जाने लगा तो) गुरुजनों के समीप में (स्थित होने के कारण) लज्जा से मुख को झुकाये हुए तथा कम्पित होते हुए स्तनरूप कलशों वाली, उम (मेरी प्रियतमा) ने (मेरे परदेश जाने के कारण उत्पन्न विरह के) शोक को हृदय में ही दबाकर तथा आँसू बहाते हुए चकितहरिणी के नेत्रों के सदृश मनोहर नेत्रों के कटाक्ष को मेरी ओर फेंका (उसके द्वारा) क्या (उसने मुझे) इकी (मत जाओ) ऐसा नहीं कहा, (अर्थात् अवश्य कहा है) ।

(इस श्लोक में 'वक्रितहरिणीहारि' यह क्रियाविशेषण गुरुजनो के समीप स्थित मेरी प्रियतमा द्वारा किये गये अत्यन्त मोसेपन के कारण रमणीय कटास के प्रहार की किसी अपूर्व रमणीयता को धारण करता है, वक्रित हरिणी के नेत्रों के सदृश मनोहर नेत्रों के साम्य के द्वारा । इस प्रकार यह 'विशेषणवक्रता' का दूसरा उदाहरण प्रस्तुत किया गया । अब आगे 'पदपूर्वाद्ध-वक्रता' के छठे भेद 'संवृतिवक्रता' को प्रस्तुत करते हैं)—

अयमपरः पदपूर्वार्धवक्रताया प्रकारो यदिदं संवृतिवक्रत्व नाम—
यत्र पदार्थस्वरूपं प्रस्तावानुगुणेन केनापि निकर्षेणोत्कर्षेण वा युक्त
व्यक्ततया साक्षादभिधातुमैशक्यं संवृतिसामर्थ्योपयोगिना शब्देना-
भिधीयते । यथा—

यह पदपूर्वाद्धवक्रता का अन्य छठा भेद है, जिसे 'संवृतिवक्रता' कहते हैं ।
जहाँ पर प्रकरण के अनुकूल किसी न्यूनता अपूर्वा आधिक्य से युक्त एवं व्यक्त
रूप से साक्षात् कहने के लिए अनुपयुक्त पदार्थ के स्वरूप को सवरण कर
लेने की सामर्थ्य के कारण, उपयोगी शब्द के द्वारा कहा जाता है (वहाँ
'संवृतिवक्रता' होती है) । जैसे—

सोऽयं दम्भधृतघतः प्रियतमे कर्तुं किमप्युद्यतः ॥ ५० ॥

(प्रस्तुत पद्य 'तापसवत्सराजचरित' नामक नाटक से उद्धृत किया गया
है । यह सम्पूर्ण श्लोक आगे चतुर्थ उन्मेष के १५ वें उदाहरण में उद्धृत है ।
इसके प्रथम तीन चरण इस प्रकार हैं—

चतुर्थस्य तवाननादपगत नाभूत् भवविनिवृत्तं
येनैषा सततं हृदयकण्ठयन वसःस्थसी कल्पिता ।
येनोद्भासितया विना घत जगच्छून्यं क्षणाज्जायते

अर्थात् इस पद्य में राजा उदयन के पद्मावती के साथ विवाह करते समय
उत्पन्न शोक का वर्णन किया गया है कि—जिसके नेत्रों को तुम्हारे मुख पर
से हटने पर अन्यत्र कहीं मुख नहीं मिला, जिसने अपनी वसःस्थसी को केवल
तुम्हारे ही गायन के लिए कल्पित किया तथा जिसकी उपस्थिति के बिना
तुम्हारे लिए सारा संसार जीर्ण वन के समान हो जाता था ।

हे प्रियतमे ! यही यह दम्भ से (एहंपत्नीत्व) घत को धारण करने
वाना (तुम्हारा प्रियतम उदयन) आज कुछ (निवृत्त कार्य अर्थात् पद्मावती
को पत्नी रूप में स्वीकार) करने के लिए उद्यत हो गया है ॥ ५० ॥

अत्र वत्सराजो वासवदत्ताविपत्तिविधुरहृदयस्तत्प्राप्तिप्रलोभनवशेन पद्मावतीं परिणेतुमीहमानस्तदेवाकर्णीयमित्यवगच्छन् तस्य वस्तुनो महापातकस्येवाकीर्तनीयतां ख्यापयति किमपीत्यनेन सवरणसमर्थेन सर्वनामपदेन । यथा च—

यहाँ वासवदत्ता (के आग में जलकर भस्म हो जाने) की विपत्ति (को सुनने) से दुखी चित्तवाले वत्सनरेण उदयन उस (वासवदत्ता) की प्राप्ति के प्रलोभन में पड़कर पद्मावती के परिणय की इच्छा रखते हुए उसी (पद्मावती-परिणय) को अकर्णीय समझते हुए, उस वस्तु (पद्मावती-विवाह) की बड़े भारी पाप के समान निन्दनीयता का, सवरण कर लेने में समर्थ सर्वनाम पद 'किमपि' के द्वारा विज्ञापन करते हैं । (अर्थात् मैं पद्मावती के साथ परिणय रूप एक महापातक के सदृश निन्दनीय कर्म को करने के लिए उद्यत हो गया हूँ, इस बात को यदि इसी ढंग से कहते तो वह ग्राह्य एवं अनुचित होती अतः इस बात को छिपा सकने में समर्थ 'किमपि' पद का प्रयोग किया गया, जिसके द्वारा ये सभी बातें साफ व्यञ्जित हो जाती हैं । इस प्रकार कवि का कौशल यहाँ अकवनीय (निकृष्ट) बात को छिपाते हुए उसे सम्यक् ढंग से सहृदयों के सम्मुख प्रस्तुत कर देने में निहित है । इसलिए यहाँ 'संवृतिवक्त्रता' है) । और जैसे (दूसरा उदाहरण)—

निद्रानिमीलितदृशो मदमन्थराया
नाप्यर्थवन्ति न च यानि निरर्थकानि ।
अद्यापि मे वरतनोर्मधुराणि तस्या-
स्तान्यश्वाणि हृदये किमपि ध्वनन्ति ॥ ५१ ॥

नींद के कारण आँखों को बन्द किए हुए एवम् मद के कारण अलसायी हुई (सुस्त पड़ी हुई) उस सुन्दर शरीर वाली (मेरी प्रियतमा) के वे मधुर अक्षर आज भी हृदय में कुछ (अनिवंचनीय आनन्द को) ध्वनित करते हैं जो न तो अर्थ में ही युक्त थे और न निरर्थक ही थे ॥ ५१ ॥

अत्र किमपीति तदाकर्णनविहितायाश्चित्तचमत्कृतेरनुभवैकगोचरत्व-
लक्षणमव्यपदेश्यत्वं प्रतिपाद्यते । तानीति तथाविधानुभवविशिष्टतया
स्मर्यमाणानि । नाप्यर्थवन्तीति स्वसवेद्यत्वेन व्यपदेशाविषयत्वं प्रकाशयते ।
तेषां च न च यानि निरर्थकानीत्यलौकिकचमत्कारकारित्वाद्यर्थकर्तृ-
निवार्यते । त्रिष्वप्येतेषु विरोधव्यक्त्य प्रतीयते ।

यहाँ पर 'किमपि' इस पद के द्वारा उन (मधुर अक्षरों) के सुनने से उत्पन्न हृदय के चमत्कार की केवल अनुभव के द्वारा प्राप्त किए जानेवाली अनिवंचनीयता को प्रतिपादित किया गया है। 'तानि' इस पद के द्वारा उस प्रकार के चमत्कार-पूर्ण अनुभव के कारण विशिष्ट रूप से स्मरण किए जाते हुए अक्षरों की अनिवंचनीयता ज्ञात होती है। 'नाप्यर्थवन्ति' (अर्थात् जो अर्थयुक्त नहीं थे) इस पद के द्वारा अपने आप जानी जा सकने वाली शब्दों द्वारा प्रकट करने की असमर्थता का प्रकाशन किया गया है। और उन (अक्षरों) का 'न च यानि निरर्थकानि' (अर्थात् जो निरर्थक भी नहीं थे) इस (विशेषण के प्रयोग) से अलौकिक आनन्द को प्रदान करने के कारण उन अक्षरों की अर्थहीनता का निषेध किया गया है। (इस प्रकार 'अक्षराणि' के) इन तीनों ('तानि' 'नाप्यर्थवन्ति' 'न च यानि निरर्थकानि') विशेषणों में (उन्हीं के प्रयोग द्वारा वाक्य में चमत्कार आने से) 'विशेषण-वक्रता' की प्रतीति होती है।

इदमपर पदपूर्वार्धवक्रतायाः प्रकारान्तरं सम्भवति वृत्तिवैचित्र्यवक्रतय नाम—यत्र समामादितवृत्तीनां कासाश्चिद् विचित्राणामेव कविभिः परिग्रहः क्रियते। यथा—

मध्येऽङ्कुरं पल्लवाः ॥ ५० ॥

(अब 'पदपूर्वार्धवक्रता' के सातवें भेद का विवेचन करते हैं) यह 'वृत्तिवैचित्र्यवक्रता' नामक अन्य (सातवाँ) भेद सम्भव होता है। जहाँ पर प्राप्त (अनेक-समाम-तद्वित सुबादि) वृत्तियों के मध्य से कविजन (अपूर्व चमत्कार को उत्पन्न करने वाली) कुछ ही विचित्र वृत्तियों का प्रयोग करते हैं (वहाँ 'वृत्तिवैचित्र्यवक्रता' होती है)। जैसे—

अङ्कुरो के. मध्य मे. पल्लव है ॥ ५०, ५१, ५२ ॥

(यहाँ 'अङ्कुराणा मध्ये इति मध्येऽङ्कुर' इस प्रकार अव्ययीभाव समास की वृत्ति के प्रयोग से कवि ने एक अपूर्व चमत्कार की सृष्टि की है जबकि यहाँ वह 'अङ्कुरमध्ये' इत्यादि के प्रयोग से तत्पुष्ट समामवृत्ति का भी प्रयोग कर सकता था, किन्तु उसमें चमत्कार न आता। अतः यहाँ चमत्कार का कारण 'वृत्तिवैचित्र्यवक्रता' ही है।)

यथा च—

पाण्डिन्नि मग्नं यपुः ॥ ५३ ॥

और जैसे (दूसरा उदाहरण)—

पाण्डुता मे शरीर-रूखा हुआ है ॥ ५३ ॥

(यहाँ पर कवि यद्यपि 'पाण्डिम्नि' के स्थान पर 'पाण्डुतायाम्' इत्यादि अन्य शब्दों का प्रयोग कर सकता था किन्तु उसने 'इमनिच्' प्रत्ययान्त पाण्डु शब्द के प्रयोग से तद्विषय वृत्ति का प्रयोग कर एक अलौकिक चमत्कार को उत्पन्न कर दिया है। अतः यह 'वृत्तिवैविध्यवक्रता' का दूसरा उदाहरण है।)

यथा वा—

सुधाविसरनिष्यन्दसमुन्लासविधायिनि ।

हिमधामनि खण्डेऽपि न जनो नोन्मनायते ॥ ५४ ॥

अपनी सुधाधारा के प्रवाह से आह्लादित करने वाले खण्ड (अपूर्व) चन्द्र के भी (उदित) होने पर ऐसा कोई मनुष्य नहीं जो उत्कण्ठित हो जाता हो ॥ ५४ ॥

अपर लिङ्गवैचित्र्यं नाम पदपूर्वार्धवक्रतायाः प्रकारान्तर्गद्वशते—
यत्र भिन्नलिङ्गानामपि शब्दायां वैचित्र्याय सामानाधिकरण्योपनिबन्धः ।
यथा—

(यब पदपूर्वार्धवक्रता के आठवें भेद का विवेचन प्रस्तुत करते हैं—)

'पदपूर्वार्धवक्रता' का अन्य (अष्टम) 'लिङ्गवैविध्य' नामक अवान्तर-भेद दिखाई पड़ता है। जहाँ भिन्न-भिन्न लिङ्ग वाले शब्दों का चमत्कार की मृष्टि के लिए सामानाधिकरण्य से उपनिबन्धन किया जाता है (वहाँ 'लिङ्गवैविध्यवक्रता' होती है।) जैसे—

इत्थं जडे जगति को नु बृहत्प्रमाण-

कर्ण-करी ननु भवेद् ध्वनितस्य पात्रम् ॥ ५५ ॥

(यह श्लोक इसी ग्रन्थ के द्वितीय उन्मेष के उदाहरण-सख्या ३५ पर सम्पूर्ण रूप में उद्धृत हुआ है। इसका पदार्थ निम्न प्रकार है—

इत्यागतं जटिति योऽलिनमुन्ममाय

मातङ्ग एव किमतं परमुच्यतेऽतो ॥ अर्थात्)

इस प्रकार के जड सत्तार में बृहत्प्रमाण कानों वाले एवं सूँढ़वाले (अथवा हाथ वाले, हाथों से बढ़कर) दूसरा कौन (मेरी) ध्वनि को सुनने में समर्थ हो सकता है ॥ ५५ ॥

(ऐसा सोचकर पास आये हुए भौरे को जितने पीड़ित कर दिया वह मातङ्ग (चाण्डाल अथवा हाथी) ही है, इससे अधिक उसे और क्या कहा जा सकता है । इस प्रकार इस पद्य में यद्यपि 'बृहत्प्रमाणकर्णः करो' के साथ, (जो कि पुंलिङ्ग है) सामानाधिकरण्य पुंलिङ्ग शब्द के साथ ही होना सम्भव था, किन्तु कुशल कवि ने पुंलिङ्ग शब्द का प्रयोग न कर सामानाधिकरण्य से नपुमकलिङ्ग 'ध्वनितस्य पात्रम्' शब्द का प्रयोग कर सहृदयों के लिए एक विशेष प्रकार के चमत्कार की सृष्टि की है । अतः यहाँ 'लिङ्गवैचित्र्य वक्रता' स्वीकार की जायगी ।)

यथा च—

मैथिली तस्य दाराः ॥ इति ॥ ५६ ॥

और जैसे (इसी का दूसरा उदाहरण)—

मिथिलेशकुमारी जानकी उसकी भार्या है ॥ ५६ ॥

(यहाँ 'मैथिली' शब्द के साथ सामानाधिकरण्य स्त्रीलिङ्ग शब्दों का ही सम्भव था, किन्तु कवि ने अपने कौशल से 'पुंलिङ्ग दारा शब्द का सामानाधिकरण्य से प्रयोग किया है, जो किसी अलौकिक चमत्कार का विधायक है अतः यह भी 'लिङ्गवैचित्र्य वक्रता' का ही उदाहरण हुआ) ।

अन्यदपि लिङ्गवैचित्र्यवक्रत्वम्—यत्रानेकलिङ्गसम्भवेऽपि सौकुमार्यात् कविभिः स्त्रीलिङ्गमेव प्रयुज्यते, 'नामैव स्त्रीति पेशलम्' (२।२२) इति कृत्वा । यथा—

'लिङ्गवैचित्र्यवक्रता' का दूसरा भेद भी सम्भव हो सकता है । जहाँ (किसी शब्द में) विभिन्न लिङ्गों की सम्भावना रहने पर भी (कुशल) कवि लोग सुकुमारता के कारण स्त्रीलिङ्ग को ही 'स्त्री इस प्रकार का कथन ही हृदयहारि होता है' (२।२२) ऐसा स्वीकार कर, प्रयुक्त करते हैं (वहाँ भी लिङ्गवैचित्र्यवक्रता होती है) । जैसे—

एतां पश्य पुरस्तटीम् इति ॥ ५७ ॥

सामने स्थित इस किनारे को देखो ॥ ५७ ॥

(यहाँ यद्यपि किनारे के वाचक तट शब्द का (तटः, तटी, तटम्) पुंलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग एवं नपुंसक लिङ्ग तीनों लिङ्गों में प्रयोग किया जा सकता था, परन्तु कवि ने केवल सुकुमारता को चोखित करने के लिए यहाँ स्त्रीलिङ्ग

‘तटी’ शब्द का ही प्रयोग किया है। अतः यहाँ लिङ्गवैचित्र्यवक्ता ही सहृदयहृदयाद्वादकारिणी है।)

(इस प्रकार अभी तक ‘पदपूर्वाद्धिवक्ता’ के अन्तर्गत ‘प्रातिपदिक’ की वक्ता के मुख्य रूप से आठ अवान्तर भेदों का प्रतिपादन कर अब ‘धातु’ की वक्ता के अवान्तर भेदों का प्रतिपादन किया जा रहा है जैसा पहले ही बताया गया है कि सुबन्त पदों का पूर्वाद्धि ‘प्रातिपदिक’ तथा तिङन्त पदों का पूर्वाद्धि ‘धातु’ कहा जाता है तो)

पदपूर्वार्धस्य धातोः क्रियार्थवैचित्र्यवक्तृत्व नाम वक्तृत्वप्रकारान्तर विद्यते—यत्र क्रियावैचित्र्यप्रतिपादनपरत्वेन वैदग्ध्यमङ्गीभणितिरमणीयान् प्रयोगान् निबध्नन्ति कवयः। तत्र क्रियावैचित्र्यं बहुविध विच्छिन्न-विततन्यवहार दृश्यते। यथा—

(तिङन्त) पदों के पूर्वाद्धि धातु की ‘क्रियावैचित्र्यवक्ता’ नामक (पदपूर्वाद्धि) वक्ता का अन्य (नवम) भेद (भी) है। जहाँ क्रिया की विविधता (चमत्कारजनकता) का प्रतिपादन करने के लिए (कुशल) कविगण चातुर्यपूर्ण (कविकौशल की) विच्छिन्न द्वारा कथन (अर्थात् वक्तृत्व) से रमणीय (क्रिया पदों के) प्रयोगों की रचना करते हैं (वही ‘क्रियावैचित्र्यवक्ता’ होती है।) जैसे—

रङ्केलिहिअणिअंसणकरकिसलअरुद्धणअणजुअलस्म ।

रुदस्स तइअणअण पव्वइपरिचम्बिअं जअइ ॥ ५८ ॥

[रतिकेलिहृतनिवसनकरकिसलयरुद्धनयनयुगलस्य ।

रुद्रस्य तृतीयनयनं पार्वतीपरिचुम्बितं जयति ॥]

रतिक्रीडा करते समय वस्त्रहीन (नग्न) हो जाने के कारण (पार्वती के) कर-किसलयों द्वारा बन्ध किए गये दोनों नेत्रों वाले भगवान् शंकर का, पार्वती के द्वारा चूमा गया तीसरा (माल का) नेत्र (जिसे पार्वती ने अपने चुम्बन से बन्ध कर दिया है वह) ‘सर्वोत्कृष्ट रूप में विद्यमान है ॥ ५८ ॥

अत्र समानेऽपि हि स्थगनप्रयोजने साध्ये मुख्ये च लोचनत्वे, देव्याः परिचुम्बनेन यस्य निरोधः सम्पाद्यते सङ्गावतस्तृतीयं नयन जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तत इति वाक्यार्थः। अत्र जयतीति क्रियापदस्य किमपि सहृदयहृदयसंवेगं वैचित्र्यं परिस्फुरदेव लक्ष्यते। यथा —

इस पद्य में साध्यभूत (नेत्रों के) स्वयन (घन्द करने के प्रयोजन के (शिव के तीनों नेत्रों में) समान होने पर, तथा (उन तीनों नेत्रों में) नेत्रत्व के समान होने पर भी जिस (तृतीय नेत्र) का निरोध देवी (पार्वती) के परिचुम्बन द्वारा सम्पन्न किया गया है (ऐसा) वह भगवान् (शङ्कर) का तृतीय नेत्र 'जयति' अर्थात् सबसे उत्कृष्ट (नेत्र के) रूप में विद्यमान है, यह इस श्लोक का तात्पर्य है। यहाँ पर 'जयति' इस क्रियापद का (केवल) सहृद्यहृद्यो द्वारा अनुभव किया जाने वाला कोई (अनिर्वचनीय) वैचित्र्य परिस्फुरित होता दिखाई पड़ता है। (इस प्रकार यह 'त्रियावैचित्र्यवक्रता' का प्रथम उदाहरण प्रस्तुत किया गया)।

और जैसे (दूसरा उदाहरण)—

स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छस्वच्छायासासितेन्दवः।

त्रायन्तां वो मधुरिपोः प्रपन्नार्तिच्छिदो नखाः ॥ ४६ ॥

अपनी ही इच्छा से सिंह बने हुए (अर्थात् हिरण्यकशिपु राक्षस का वध करने के लिए नृसिंह रूप में अवतरित हुए) मधु के शत्रु (भगवान् विष्णु के), अपनी विमल कान्ति के द्वारा चन्द्रमा की भी कष्ट देने वाले (अर्थात् चन्द्रमा जिसे कि अपनी कान्ति का गर्व है उसे उससे भी अधिक कान्तिमुक्त होने के कारण कष्ट देने वाले) एवम् (अर्थात् शरण में आये हुए लोगों) की विपत्ति का विनाश करने वाले नाशून आप लोगों की रक्षा करें ॥ ४६ ॥

अत्र नखानां सकललोकप्रसिद्धछेदनव्यापारव्यतिरेकि किमप्य-
पूर्वमेव प्रपन्नार्तिच्छेदनलक्षणं क्रियावैचित्र्यमुपनिबद्धम्। यथा च—

स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥ ६० ॥

यहाँ (इस पद्य में नृसिंह-रूपधारी भगवान् विष्णु के) नाशूनों के समस्त लोकों में प्रसिद्ध छेदन व्यापार से भिन्न किसी अपूर्व ही शरण में आए हुए लोगों की विपत्ति के छेदन रूप क्रिया-वैचित्र्य को कवि ने उपनिबद्ध किया है (अर्थात् लोक में काष्ठ आदि को छेदन रूप क्रिया ही पायी जाती है, किन्तु यहाँ पर कवि ने अपूर्व विपत्ति की छेदन रूप क्रिया का वर्णन किया है जो कि अतिशय चमत्कार-पूर्ण होने के कारण 'त्रियावैचित्र्यवक्रता' की धारण करती है)। और जैसे (इसी का तीसरा उदाहरण)—

भगवान् पट्टर की यह (विनिष्ट) शराग्नि आपके पाप को जला दे ॥ ६० ॥

अत्र च पूर्ववदेव क्रियावैचित्र्यप्रतीतिः । यथा च—

कण्णुप्लवटलमिलितलोअणेहिं हेलालोलणमाणिअणअणेहिं ।

लीलाइ लीलावईहिं णिरुद्धओ सिढिलिअचाओ जअइ मअरुद्धओ ॥६१॥

[कर्णोत्पलदलमिलितलोचनैर्हेलालोलनमानितनयनार्भिः]

लीलयालीलावतीभिर्निरुद्धः शिथिलीकृतचापो जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तत इति किमुच्यते ॥]

यहाँ पर भी पूर्व की भाँति ही क्रियावैचित्र्य की प्रतीति होती है अर्थात् लोक में केवल काष्ठ आदि मूर्त वस्तुओं का ही अग्नि के द्वारा जलाया जाना प्रसिद्ध है लेकिन इस श्लोक-खण्ड में उससे भिन्न पाप-रूप-समूर्त वस्तु की दहन रूप अपूर्व क्रिया का प्रतिपादन किये जाने के कारण यहाँ 'क्रिया-वैचित्र्य-वक्रता' है । और जैसे (इसी का दूसरा उदाहरण)—

क्रीडा (करने) के कारण चञ्चलता को प्राप्त नयनोवाली विलासिनियों के द्वारा विलास के साथ कानों में लगे हुए कमलों के पत्तों से समुक्त होते हुए नेत्रों द्वारा रोक दिया गया (अतः) अपने धनुष को शिथिल कर देनेवाला कामदेव सर्वातिशायी है ॥ ६१ ॥

अत्र लोचनैर्लीलया लीलावतीभिर्निरुद्ध स्वव्यापारपराङ्मुखीकृतः सन् शिथिलीकृतचापः कन्दर्पो जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तत इति किमुच्यते, यतस्तास्तथाविधविजयावाप्तौ सत्यां जयन्तीति वक्तव्यम् ।

यहाँ क्रीडा करती हुई कामिनियों के द्वारा विलास के साथ नेत्रों द्वारा निरुद्ध किया गया अर्थात् अपने शर-सन्धान रूप व्यापार से पराङ्मुख किन्ना गया अपने धनुष को शिथिल कर देनेवाला कामदेव 'जयति' अर्थात् सर्वोत्कृष्ट रूप से विद्यमान है । यह क्या कहा जाता है अर्थात् यह कहना अनुचित है, क्योंकि कामदेव को अपने व्यापार से पराङ्मुख कर देने के कारण उस प्रकार कामदेव के ऊपर विजय को प्राप्त करने पर वे रमणियाँ ही सर्वोत्कृष्ट रूप से विद्यमान हैं यह कहना चाहिए न कि कामदेव ।

तद्यमत्राभिप्रायः—यत्तल्लोचनविलासानामेवविधं जैत्रताप्रौढभाव पर्यालोच्य चेतनत्वेन स स्वचापारोपणायामुपसंहृतवान् । यतस्तेनैव त्रिभुवनविजयावाप्तिः परिसमाप्यते । ममेति मन्यमानस्य तस्य सहायत्वोत्कर्षातिशयो जयतीति क्रियापदेन कर्तृतायाः कारणत्वेन कवेश्चेनसि परिस्फुरितः । तेन किमपि क्रियावैचित्र्यमत्र तद्विदाह्लाद-कारि प्रतीयते । यथा च—

तो यहाँ पर (इसका) अभिप्राय यह है कि—उन (कामिनियों के नेत्र-विलासों के इस प्रकार विजयी होने में प्रीति-भार का विवेचन कर चेतन होने के कारण उस (कामदेव) ने अपने धनुष खटाने के प्रयास को रोक दिया, क्योंकि उसी (कामिनियों के नेत्र-विलासों की विजयशीलता) से ही तीनों लोकों की विजय की प्राप्ति मुझे हो जाती है। ऐसा समझते हुए उस (कामदेव) का सहायता के उत्कर्ष का अतिशय 'जयति' इस क्रियापद के द्वारा कर्तृता के कारण रूप में कवि के हृदय में परिस्फुरित हुआ। अतः यहाँ पर सहृदयों को आनन्दित करने वाला कोई क्रियावैचित्र्य दृष्टिपथ में आता है। और जैसे (अन्य उदाहरण)—

तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति ॥ ६२ ॥

(यह पद्य अपने पूर्ण रूप में इसी उन्मेष के ५१ वें उदाहरण में उद्धृत हो चुका है। अतः उसे यही देखें।—मद के कारण अलसाई हुई मेरी सुन्दरी प्रियतमा के अनुभवकगम्य) के अक्षर (जो कि न सायंक ही थे और न निरयंक ही थे) हृदय में कुछ (अनिवंचनीय ही अस्पष्ट सी) ध्वनि उत्पन्न करते हैं ॥ ६२ ॥

अत्र जल्पन्ति ध्वनन्तीत्यादि न प्रयुक्तम्, यस्मात्तानि कयापि विच्छिन्न्या किमप्यनाख्येयं समर्पयन्तीति कवेरभिप्रेतम् ।

यहाँ पर (कवि ने) 'जल्पन्ति' (कहते हैं) तथा 'ध्वनन्ति' (बोलते हैं) इत्यादि शब्दों का प्रयोग नहीं किया क्योंकि ये (अक्षर) किसी (अपूर्व ही) वैचित्र्य के साथ अनिवंचनीय (अनुभवकगम्य आनन्द) को प्रदान करते हैं। किसी (अर्थात् यदि 'जल्पन्ति' आदि के द्वारा कहा जाता है तो उसके स्पष्ट ढंग से उच्चरित होने के कारण केवल अनुभवकगम्यता समाप्त हो जाती, और इस प्रकार उन अक्षरों के कथन की वाणी द्वारा व्यक्त किया जा सकता था। पर उससे वाक्य में ऐसा चमत्कार न आ पाता। इसीलिए कवि ने यहाँ 'ध्वनन्ति' शब्द का प्रयोग किया है अर्थात् वे कुछ स्पष्ट बोलते नहीं अपितु अस्पष्ट सी अनिवंचनीय अनुभवकगम्य ध्वनि करते हैं, जिसके द्वारा वाक्य में एक अपूर्व चमत्कार आ गया है, अतः यह क्रियावैचित्र्य यक्षता का उदाहरण हुआ)।

वक्रतायाः परोऽप्यस्ति प्रकारः प्रत्ययाभय इति । वक्रमाष-स्यान्योऽपि प्रभेदो विद्यते । कीदृशः—प्रत्ययाभयः । प्रत्ययः सुतिष्ठ-

च यस्याभयः स्थानं स तयोक्तः । तस्यापि बहवः प्रकाराः सम्भवन्ति—
सख्यावैचित्र्यविहितः कारकवैचित्र्यविहितः, पुरुषवैचित्र्यविहितश्च ।
तत्र, संख्यावैचित्र्यविहितः—यस्मिन् वचनवैचित्र्यं काव्यबन्धशोभायै
निबध्यते । यथा—

मैथिली तस्य दाराः ॥ इति ॥ ६३ ॥

(इस प्रकार 'पूर्वाद्धवक्रता' एव उसके अवान्तर भेदों का संक्षिप्त
विवेचन कर अब तीसरी 'प्रत्ययाश्रितवक्रता' एव उसके अवान्तर भेदों का
प्रतिपादन कर रहे हैं—)

(कविव्यापार) वक्रता का प्रत्यय के आश्रित रहने वाला अन्य
(तीसरा) भी भेद है (जिसे 'प्रत्ययाश्रितवक्रता' कहते हैं) । वक्रभाव
का दूसरा भी भेद विद्यमान है । कैसा (भेद) प्रत्यय के आश्रय वाला ।
प्रत्यय अर्थात् सुप् और तिङ् हैं जिसका आश्रय अर्थात् स्थान वह हुआ उस
प्रकार कहा गया (प्रत्ययाश्रय भेद) । उसके भी सङ्ख्या के वैचित्र्य से
उत्पन्न अनेक (अवान्तर) भेद सम्भव हैं । उनमें सङ्ख्यावैचित्र्य से उत्पन्न
('प्रत्ययाश्रयवक्रता' का अवान्तर भेद वहाँ होता है)—जहाँ (कविजन)
काव्यबन्ध की शोभा के लिये वचनों (एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन)
की विचित्रता का प्रयोग करते हैं । जैसे—

सीता उसकी पत्नी है ॥ ६३ ॥

(यहाँ 'मैथिली' शब्द एकवचन में और 'दाराः' शब्द बहुवचन में
प्रयुक्त है क्योंकि दारा शब्द नित्य बहुवचनान्त है, परन्तु कवि ने 'मैथिली'
की विशेषता बताने के लिए 'दारा' शब्द का ही प्रयोग समानाधिकरण्य
रूप में कर वाक्य में एक अपूर्व चमत्कार ला दिया है । अतः यहाँ एकवचन
के साथ बहुवचन का प्रयोग होने से सङ्ख्यावैचित्र्यकृत वक्रता है) ।

यथा च—

फुल्लेन्दीवरकाननानि नयने पाणी सरोजाकराः ॥ ६४ ॥

और जैसे (इसी वचनवैचित्र्यविहित 'प्रत्ययवक्रता' का दूसरा उदाहरण)—
(उस सुन्दरी की) दोनों आँखें विकसित कमलों के जगत हैं तथा दोनों
हाथ कमलों की छाने हैं ॥ ६४ ॥

अत्र द्विवचनबहुवचनयोः समानाधिकरण्यमतीव चमत्कारकारि ।

यहाँ (कुशल कवि द्वारा प्रयुक्त 'नयने' तथा 'पाणी' पदों के)
द्विवचन तथा (उन दोनों के उपमान रूप 'फुल्लेन्दीवरकाननानि' एवं
'सरोजाकराः' पदों के) बहुवचन का समानाधिकरण्य (अर्थात् समान

विभक्ति मे प्रयोग, सहृदयो के लिये) अत्यधिक आनन्ददायक है । (अतः यहाँ सङ्ख्या (वधन) की विचित्रता से उत्पन्न 'प्रत्ययाधिवक्त्रता' हुई ।)

कारकवैचित्र्यविहितः—यत्राचेतनस्यापि पदार्थस्य चेतनत्वाभ्यारोपेण चेतनस्यैव क्रियासमावेशलक्षण रसादिपरिपोषणार्थं कर्तृत्वादिकारकं निबध्यते । यथा—

(अब 'प्रत्ययाधिवक्त्रता' के दूसरे भेद का निरूपण करते हैं) कारक की विचित्रता से उत्पन्न ('प्रत्ययाधिवक्त्रता' यहाँ होती है)—जहाँ चेतनता का अभ्यारोप करके चेतन पदार्थ के ही समान अचेतन पदार्थ की भी क्रियाओं के समावेशरूप कर्तृता आदि कारक का, रस को परिपोष्य करने के लिये (कवि द्वारा) निबन्धन किया जाता है । अर्थात् जहाँ अचेतन पदार्थ में भी चेतन की ही भाँति विभिन्न क्रियाओं को करने की क्षमता दिखाता हुआ कवि उसे कर्ता आदि के रूप में कर्ता आदि कारकों के प्रयोग द्वारा व्यक्त करता है, यहाँ कारकवैचित्र्य-विहित 'प्रत्ययवक्त्रता' होती है) जैसे—

स्तनद्वन्द्वं मन्दं स्नपयति बलाद्वाष्पनिघहो
हठादन्तःकण्ठं लुठति सरसः पद्ममरधः ।
शरज्ज्योत्स्नापाण्डुः पतति च कपोलः करतले
न जानीमस्तस्याः क इव हि विकारव्यतिकरः ॥ ६५ ॥

(विरहभ्रम से विवश उस रमणी के) स्नान-युग्म को बलपूर्वक आसुओं का समूह धीरे-धीरे स्नान करा रहा है एवम् सरस पद्म-स्वर हठपूर्वक उसके गले के भीतर सोट रहा है तथा शरज्ज्योत्स्ना पाण्डु-वर्ण कपोल उसके करतल पर गिरा आ रहा है (यह तो उसके बाह्य अवयवों की अवस्था है जिसे कि हम देख रहे हैं, किन्तु) नहीं जानते कि उसके (आन्तरिक) विकारों की अवस्था कैसी है ? ॥ ६५ ॥

अत्र वाष्पनिघहादीनामचेतनानामपि चेतनत्वाभ्यारोपेण कविना कर्तृत्वमुपनिबद्धम्—यत्तस्या विवक्षायाः सत्यास्तेषामेवंविधो व्यवहारः, सा पुनः स्वयं न किञ्चिदप्याचरितुं समर्थेत्यभिप्रायः । अन्यच्च

१. यहाँ पर डा० डे ने 'यदि तस्या' ऐसा पाठान्तर बताया है, एव आचार्य विश्वेश्वर ने इस वाक्य में आये, 'सा पुनः स्वयं न किञ्चिदप्याचरितुं पाठ में से 'न' को हटा दिया है । इस प्रकार यदि 'न' से रहित, और आदि में 'यत्' के स्थान पर 'यदि' के पाठ को स्वीकार किया जाय तो

कपोलादीनां तदवयवानामेतदवस्थित्वं प्रत्यक्षतयास्मदादिगोचरतामा-
पद्यते, तस्याः पुनर्योऽसावन्तर्विकारव्यतिकरस्तं तदनुभवैकविधयत्वाद्यं
न जानीमः । यथा च—

यहाँ पर अश्रुसमूह आदि अचेतन (पदार्थों) की भी कर्तृता को, उन
पर चेतनता का आरोप करके, कवि ने उपनिबद्ध किया है (अर्थात् 'स्नान
कराते हैं' क्रिया के कर्ता के रूप में 'अश्रुसमूह' का, 'सौटते हैं' क्रिया के कर्ता
के रूप में 'पञ्चमख' का, तथा 'गिरते हैं' क्रिया के कर्ता के रूप में 'कपोल'
का प्रयोग किया है, जो कि अचेतन पदार्थ हैं, जिनके कारण वाक्य में
एक अपूर्व चमत्कार आ गया है) कि—उसके विरह-व्यथा से विवश होने
पर कपोल आदि उन अचेतन पदार्थों का इस प्रकार का व्यवहार है, वह
स्वयं कुछ भी करने में समर्थ नहीं है (अर्थात् वह कुछ भी कर सकने में
पूर्णतया विवश है) और दूसरी बात यह है कि उसके अज्ञभूत कपोलादि
की ऐसी अवस्था तो प्रत्यक्षरूप से हमको दिखाई पड़ती है, लेकिन उसकी
ओ यह केवल उसी के द्वारा अनुभव की जा सकनेवाली आन्तरिक विकार
की अवस्था है उसको हम नहीं जानते । और जैसे (इसी का दूसरा
उदाहरण)—राजशेखरविरचित 'बालरामायणम्' नामक नाटक के द्वितीय
अङ्क में परशुराम के प्रति रावण का यह कथन है कि—

चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी कार्तिकेयो विजेयः

शस्त्रव्यस्तः सदनमुदधिर्भूरिय हन्तकारः ।

अस्त्येवैतत् किमु कृतवता रेणुकाकण्ठबाधां

बद्धस्पर्शस्तथ परशुना सञ्जते चन्द्रहासः ॥ ६६ ॥

(हे परशुराम जी ! यह बात सही है कि) त्रिपुर पर विजय प्राप्त करने
वाले (भगवान् शङ्कर आपके) धनुष (अर्थात् धनुर्विद्या) के गुह्र हैं, तथा
स्वामिकार्तिकेय पर आपने विजय पायी है, एवम् आपके शस्त्र (पहले) से
व्यस्त किया गया समुद्र आपका निवास-स्थान है और यह पृथ्वी हन्तकार
है । यह भी सही है । किन्तु फिर भी (अपनी माता) रेणुका की गर्दन को

वाक्य का अर्थ इस प्रकार होगा—“यदि (विरह-व्यथा से) विवश होने
पर उस (रमणी) के उन कपोलादि अचेतन अवयवों) का इस प्रकार का
व्यवहार है तो वह स्वयं कुछ भी (अमगल व्यापार) करने में समर्थ होती है
है यह अभिप्राय हुआ । (अर्थात् विरह-व्यथा से अधिक पीड़ित होकर वह
अपनी जान भी दे सकती है) ।

पीडित करनेवाले (अर्थात् उसे काट डालनेवाले) तुम्हारे फरसे के साथ
स्पर्श करनेवाला यह चन्द्रहास (मेरा छद्म) लज्जित हो रहा है ॥ ६९ ॥

अत्र चन्द्रहासो लज्जत इति पूर्ववत् कारकवैचित्र्यप्रतीतिः ।
पुरुषवैचित्र्यविहितं वक्तव्यं विद्यते—यत्र प्रत्यक्कापरभावविपर्ययसं प्रयुज्यते
कथयः कथ्यवैचित्र्यार्थं युष्मदास्मदि वा प्रयुक्तव्ये प्रातिपदिकमात्रं
निबध्नन्ति । यथा—

यहाँ पर पहले की ही भाँति 'चन्द्रहासो लज्जते' इस वाक्य-रचना द्वारा
(अचेतन पदार्थ चन्द्रहास में चेतनता का आरोप कर उसे, लज्जित होता है
'लज्जते' इस क्रिया के कर्ता के रूप में प्रयोग कर कवि ने) कारक की
विचित्रता को प्रतिपादित किया है ।

(इस प्रकार कारक वैचित्र्यजन्य 'प्रत्ययवक्ता' की व्याख्या कर,
पुरुषवैचित्र्यविहित वक्ता का प्रतिपादन करने जा रहे हैं—

पुरुषवैचित्र्यजन्य वक्ता (वहाँ) होती है—जहाँ कविजन (प्रथमादि
पुरुष को) अपने भाव के विपर्यय को परित्यक्त करके प्रस्तुत करते हैं,
अर्थात् काव्य में वैचित्र्य (की सृष्टि करने) के लिए (मध्यम पुरुष) युष्मद्
अथवा (उत्तम पुरुष) अस्मद् (शब्द) को प्रयुक्त करने के बजाय (प्रथम
पुरुष) केवल प्रातिपदिक (शब्द को) प्रयुक्त करते हैं । जैसे—

अस्मद्भाग्यविपर्ययाद्यदि परं देवो न जानाति तम् ॥ ६७ ॥

(विभीषण के कथन कि) किन्तु यदि हम सभी के दुर्भाग्य के कारण
स्वामी (आप रावण) उर (समस्त सोकों में प्रसिद्ध शीशुवाले राम) को
नहीं जानते (तो क्या कहा जाय) ॥ ६७ ॥

अत्र त्वं न जानासीति वक्तव्ये वैचित्र्याय देवो न जानातीत्युक्तम् ।

यहाँ पर 'तुम नहीं जानते हो' (त्वं न जानासि, इस प्रकार मध्यम
पुरुष का प्रयोग न कर, उस) के स्थान पर 'स्वामी नहीं जानते' (देवो
न जानाति, ऐसे प्रथम पुरुष) का प्रयोग कर (कवि ने काव्य में अपूर्व
रमणीयता की सृष्टि की है इस उदाहरण में प्रातिपदिक 'देवः' का प्रयोग
'न जानाति' इस क्रियापद के साथ हुआ है, किन्तु कहीं २ बिना क्रियापद
के प्रयोग के केवल प्रातिपदिक का ही प्रयोग कविजन करते हैं ऐसा
दिखाते हैं) ।

एवं युष्मदादिविपर्ययः क्रियापदं बिना प्रातिपदिकमात्रेऽपि दृश्यते ।
यथा—

इसी तरह युष्मदादि का विपर्यास (अर्थात् मध्यम और उत्तम पुरुष के स्थान पर प्रथम पुरुष का प्रयोग) क्रिया पद (के प्रयोग) के बिना केवल प्रातिपदिक (के प्रयोग) में भी देखा जाता है । जैसे—

अयं जनः प्रष्टुमनास्तपोधने
न चेद्रहस्यं प्रतिवक्तुमर्हसि ॥ ६८ ॥

(कुमार-सम्भव के पञ्चम सर्ग में तपस्या करती हुई पार्वती से बटुवेष-धारी शंकर उनकी तपस्या का कारण पूछते हुए कहते हैं कि—) हे तप मात्र धनवासी (पार्वती) यह (तटस्थ) जन (आपसे कुछ) पूछने के लिये उत्सुक है, यदि (कोई) रहस्य न हो तो (आप उसे निस्तद्बोध) बता सकती हैं ॥ ६८ ॥

अत्राहं प्रष्टुकाम इति वक्तव्ये ताटस्थ्यप्रतीत्यर्थमयं जन इत्युक्तम्
यथा वा—

यहाँ पर (बटुवेषधारी शंकर ने) 'मैं पूछने के लिए उत्सुक हूँ' ('अहं प्रष्टुमना' ऐसे उत्तम पुरुष का प्रयोग करने) के बजाय तटस्थता को चोसित करने के लिए 'यह जन' (पूछने के लिए उत्सुक है ' इस प्रकार 'अयं जनः' इस प्रातिपदिक मात्र) का प्रयोग किया है । (इस प्रकार इस वाक्य में क्रियापद से रहित केवल प्रातिपदिक के प्रयोग द्वारा वैचित्र्य-सम्पादन हो गया है) अथवा जैसे (दूसरा उदाहरण)—

सोऽयं दम्भधृतव्रतः इति ॥ ६९ ॥

(पद्मावती के साथ विवाह करने के लिए उद्यत बत्सराज उदयन द्वारा आग में भस्म हो गई वासवदत्ता को सम्बोधित कर कहे गये कि)—वही यह दम्भ के कारण (एकपत्नीत्व) व्रत को धारण करने वाला (मैं पद्मावती परिणय करने को उद्यत हो गया हूँ) ॥ ६९ ॥

अत्र सोऽहमिति वक्तव्ये पूर्ववद् 'अयम्' इति वैचित्र्यप्रतीतिः ।

इस वाक्य में 'वह मैं' ('सोऽहम्' इस प्रकार उत्तम पुरुष) को न कह कर 'वह यह' (सोऽयं, इस प्रथम पुरुष) को (अपनी कृतघ्नता आदि को चोसित करने के लिए) प्रयुक्त कर (एक अपूर्व धमत्कार को उत्पन्न करने वाले) वैचित्र्य की प्रतीति (कराई) है ।

एते च मुख्यतया वक्रताप्रकाराः कतिचिन्निदर्शनार्थं प्रदर्शिताः ।
शिष्टाश्च सहस्रराः सम्भवन्तीति महाकविप्रवादे सहस्रैः स्वयमेवोत्प्रेक्ष-
णीयाः ।

इस प्रकार उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए ये (कविव्यापार) वक्रता के कुछ भेद प्रदर्शित किए गये । शेष तो इसके हजारों भेद सम्भव हो सकते हैं, इन्हें सहृदय लोग स्वयं महाकविमो के प्रवाह (अर्थात् काव्यो) में देखें ।

एय वाक्यावयवानां पदानां प्रत्येकं वर्णाश्रयवद्वारेण यथा-
सम्भवं वक्रभावं व्याख्यायेदानीं पदसमुदायभूतस्य वाक्यस्य वक्रता
व्याख्यायते—

इस प्रकार वाक्य के अवयव रूप (सुबन्त तथा तिङन्त) पदों में से प्रत्येक को (उनके) वर्णादि अवयवों के माध्यम से, यथासम्भव वक्रता की व्याख्या कर अब पद के समुदाय रूप वाक्य की वक्रता की व्याख्या करते हैं :—

वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा ।

यत्रालङ्कारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति ॥ २० ॥

(पद के समुदायभूत) वाक्य की वक्रता (पूर्वोक्त पदादि-वक्रता से भिन्न) दूसरी (ही) है, जो हजारों प्रकार के भेदों से युक्त है । तथा जिसमें (कवि प्रसिद्ध उपमा आदि) अलङ्कारों का समुदाय सब (का सब) अन्तर्भूत हो जाता है ॥ २० ॥

वाक्यस्य वक्रमाधोऽन्यः । वाक्यस्य पदसमुदायभूतस्य । आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यमिति यस्य प्रतीतिस्तस्य श्लोकादेर्वक्रभावो भङ्गीभणितिर्वैचित्र्यम् अन्यः पूर्वोक्तवक्रताव्यतिरेकी समुदायवैचित्र्य-
निबन्धनः कोऽपि सम्भवति । यथा—

वाक्य का वक्रभाव अन्य (ही) है । वाक्य का अर्थात् पदों के समूह रूप (वाक्य) का । 'अव्यय कारक तथा विशेषणों से युक्त आख्यात (क्रिया पद) वाक्य होता है' इस प्रकार जिसकी प्रतीति होती है, उस श्लोकादि ('वाक्यों का ') वक्रभाव अर्थात् भङ्गीभणितिर्वैचित्र्यम् अन्य अर्थात् (१६ वीं कारिका में प्रतिपादित वर्णविन्यास वक्रता आदि) पूर्वोक्त (पद की) वक्रताओं से व्यतिरिक्त समुदाय (भूत वाक्य) की विचित्रता का सम्पादन करनेवाला कोई (दूसरा भेद) सम्भव होता है । जैसे—

उपस्थितां पूर्वमपास्य लक्ष्मीं वन मया सार्धमसि प्रपन्नः ।

त्वामाश्रयं प्राप्य तथा नु कोपात्सोढास्मि न त्वद्गुणे वसन्ती ॥ ७० ॥

('रघुवश' महाकाव्य में भगवान् श्री राम के द्वारा परित्यक्त सीता, उन्हें जङ्गल में छोड़ कर सीटते हुए लक्ष्मण द्वारा राम के प्रति सन्देश भेजती है कि)—

पहले (वन-गमन-काल में) आपने राज्याभिषेक के समय उपस्थित हुई (राज्य) लक्ष्मी को त्याग कर मेरे साथ वन के लिये प्रस्थान किया था । (अर्थात् उसको उस समय आपने आश्रय न देकर मुझे अपनाया था लेकिन इस समय पुन आपके राज्य-सिंहासन ग्रहण कर लेने से) आपको आश्रय (रूप में) प्राप्त कर (पूर्वकाल में मेरे ही कारण अपना परित्याग होने से उत्पन्न) क्रोध के कारण, आपके (राज) भवन में निवास करती हुई मुझे यह सहन न कर सकी (अतः मुझे आपसे परित्यक्त करा दिया) ॥ ७० ॥

एतत्सातया तथाविधकरुणाक्रान्तान्त करणया वल्लभं प्रति सन्दिश्यते — यदुपस्थितां सेवासमापन्ना लक्ष्मीमपास्य त्रिधं परित्यज्य पूर्वं यस्त्वं मया सार्धं वनं प्रपन्नो विपिन प्रयातस्तस्य तव स्वप्नेऽप्येतन्न सम्भाव्यते । तथा पुनस्तस्मादेव कोपात् स्त्रीस्वभावसमुचितसपत्नीविद्वेषान्त्वद्गृहे वसन्ती न सोढास्मि । तदिदमुक्तं भवति—यत्तस्मिन् विधुरदशावि-संश्रुतेऽपि समये तथाविधप्रसादास्पदतामध्यारोप्य यदिदानीं साम्राज्ये निष्कारणपरित्यागतिरस्कारपात्रता नीतास्मीत्येतदुचितमनुचितं वा विदितव्यवद्वारपरम्परेण भवता स्वयमेव विचार्यतामिति ।

यह उस प्रकार (गर्भावस्था में वन में परित्यक्त होने के कारण उत्पन्न) करुणा से आक्रान्त अन्त करणवाली सीता अपने प्रियतम (राम) के पास सन्देश भेजती है कि—पहले (वनवास काल में) जो आपने उपस्थित अपना सेवा करने के लिये समीप आई हुई (राज्य) लक्ष्मी अर्थात् (राज्य) श्री का परित्याग कर मेरे साथ वन को प्राप्त हुए अर्थात् जंगल चले गये तो ऐसे (मेरे लिये राज्यश्री का परित्याग करने वाले) आप के लिये यह (मेरा परित्याग करना) कदापि सम्भव नहीं है । अपितु उसी (प्राचीन मेरे कारण अपने परित्याग से उत्पन्न) क्रोध के कारण, नारी स्वभाव के अनुरूप सवतिया डाह के कारण वही (लक्ष्मी) आपके घर में मेरे निवास को सहन न कर सकी । (अतः मुझे घर से निकलवा दिया) । इस वचन का अभिप्राय यह हुआ कि—जो आपने उस (वन गमन से उत्पन्न) कष्टावस्था से विषम समय में भी (मुझे) उस प्रकार (अपने साथ रखने की) कृपा का पात्र बना कर, आज साम्राज्य प्राप्त कर लेने पर (दुःखावस्था को समाप्ति हो जाने पर) बिना किसी कारण के परित्याग रूप तिरस्कार का पात्र बना दिया है, यह (आपने) उचित (किया है) अथवा अनुचित (किया) है, इसका विचार व्यवहार-प्रणाली को (भलीभाँति) जानने वाले आप स्वयं करें । (अर्थात् आपने सर्वदा अनुचित किया है । इस प्रकार इस उदाहरण में सारे वाक्य के अर्थ को समझने पर एक अपूर्व चमत्कार की उत्पत्ति होती है अतः यहाँ 'वाक्यचक्रता' हुई ।)

स च वक्रभावस्तथाविधो यः सहस्रधा भिद्यते बहुप्रकारं भेद-
मासादयति । सहस्र-शब्दोऽत्र संख्याभूयस्त्वमात्रवाची, न नियतार्थवृत्तिः,
यथा—सहस्रदलमिति । यस्मात् कविप्रतिभानामानन्यामियतत्वं न
नम्भवति । योऽसौ वाक्यस्य वक्रभावो बहुप्रकारः, न जानीमस्तं कीदृश-
मित्याह—यत्रालङ्कारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति । यत्र यास्मिन्-
सावलङ्कारवर्गं कविप्रवाहप्रसिद्धप्रतीतिरुपमादिलङ्कारणकलापं सर्वं
सकलोऽप्यन्तर्भविष्यति अन्तर्भावं प्रतिष्यति, पृथक्त्वेन नावस्थाप्यते ।
नग्नप्रकारभेदत्वेनैव व्यपदेशमासादयिष्यतीत्यर्थः । स चालङ्कारवर्गः
स्वलक्षणावसरे प्रतिपदमुदाहरिष्यते ।

और वह वक्रता उस प्रकार की है कि जो सहस्रधा भिन्न होती है अर्थात्
बहुत से भेदों से युक्त होती है । यहाँ प्रयुक्त सहस्र (हजार) शब्द केवल
संख्या की अधिकतामात्र का वाचक है न कि (हजार रूप) निश्चित अर्थ
का—जैसे 'सहस्रदल' यह (पद कमल अर्थ का वाचक है, जिसमें हजार
ही दल होने हो ऐसी बात नहीं है अपितु सहस्र शब्द द्वारा संख्या की
अधिकता का बोध कराया गया है कि कमल में बहुत से दल होते हैं ।)
क्योंकि कवि की प्रतिभा के अनन्त होने के कारण, उसकी निश्चितता (कि
वस इतने ही भेद होंगे, ऐसा कहना) सम्भव नहीं है । (यदि कोई सन्देह
करे कि) यह वाक्य की बहुत भेदों वाली वक्रता होती है कौसी ? यही हृग
नहीं जानते अतः (उसके स्वरूप बताने के लिये), कहने हैं—जहाँ यह सारा
अलङ्कार-समुदाय अन्तर्भूत हो जायगा । जहाँ अर्थात् जिस (वाक्यवक्रता)
में यह अलङ्कार-समुदाय अर्थात् कविप्रवाह में प्रसिद्ध अस्तित्व वाले उपमा
आदि अलङ्कारों का समूह सब अर्थात् सारा का सारा अन्तर्भूत होगा अर्थात्
अन्तर्भाव को प्राप्त करेगा अतएव ते (उसकी) स्थिति न रहेगी । उसी
(वाक्य-वक्रता) के भेद-प्रभेद रूप से संज्ञा को प्राप्त करेगा यह अभिप्राय
हुमा । और वह अलङ्कार-समुदाय अपने-अपने लक्षण के समय प्रतिपद
उदाहृत किया जायगा ।

एष वाक्यवक्रतां व्याख्याय वाक्यममृहरूपस्य प्रकारस्य तत्समु-
दायात्मकस्य च प्रबन्धस्य वक्रता व्याख्यायते—

इम प्रकार 'वाक्यवक्रता' की व्याख्या कर वाक्य के समुदायगत
'प्रकरण', तथा उस (प्रकरण) के समूह रूप 'प्रकाश की' वक्रता की व्याख्या
करने जा रहे हैं—

वक्रभावः प्रकरणे प्रबन्धे नास्ति यादृशः ।

उच्यते सहजाहार्यसौकुमार्यमनोहरः ॥ २१ ॥

प्रबन्ध अथवा प्रकरण में, स्वाभाविक (सहज) तथा व्युत्पत्ति के द्वारा उत्पन्न की गयी (आहार्य) सुकुमारता से चित्ताकर्षक जिस प्रकार की वक्रता (विद्यमान रहती) है, (उसे अब) कहा जाता है ॥ २१ ॥

वक्रभावो विन्यासवैचित्र्य प्रबन्धैकदेशभूते प्रकरण यादृशोऽस्ति यादृग् विद्यते प्रबन्धे वा नाटकादी सोऽत्युच्यते कथ्यते । कीदृशः— सहजाहार्यसौकुमार्यमनोहरः सहजं स्वाभाविकमाहार्यं व्युत्पत्त्युपार्जितं यत्सौकुमार्यं रामणीयकं तेन मनोहरो हृदयहारी यः स तथोक्तः ।

वक्रभाव अर्थात् विन्यास की विचित्रता, प्रबन्ध के एकदेशभूत प्रकरण में जिस प्रकार की है अथवा प्रबन्ध अर्थात् नाटक आदि में जिस ढङ्ग की (विचित्रता) है उसे कहते हैं । कंसा है (वह वक्रभाव) सहज तथा आहार्य, सौकुमार्य से मनोहर । सहज अर्थात् स्वाभाविक, आहार्य अर्थात् व्युत्पत्ति द्वारा उत्पन्न किया गया, जो सौकुमार्य अर्थात् रामणीयता उससे मनोहर हृदय को आकर्षित करने वाला है जो वह हृन्ना तथोक्त (अर्थात् सहज एवं आहार्य सौकुमार्य से मनोहर) ।

तत्र प्रकरणे वक्रभावो यथा—रामायणे मारीचमायामयमाणिक्य-मृगानुसारिणो रामस्य करुणाक्रन्दकर्णनकान्तरान्तकरणथा जनक-राजपुत्र्या तस्मिन्प्राणपरित्राणाय स्वजीवितपरिरक्षानिरपेक्षया लक्ष्मणो निर्मलस्य प्रेषितः ।

उन प्रकरण में वक्रता (का उदाहरण देते हैं) जैसे—वाल्मीकि रामायण में मारीच रूप मायानिर्मित माणिक्य (सोने) के मृग का पीछा करने वाले रामचन्द्र के करुण-आर्तनाद को सुनने में अधीर हो गये हृदय वाली जनकराज पुत्री सीता ने, उन (रामचन्द्र) के प्राण की रक्षा करने के लिए, अपने प्राणों की रक्षा की चिन्ता न कर, लक्ष्मण की मत्संज्ञा कर (लक्ष्मण को) भेजा था ।

तदेतद्व्यन्तमनोवित्युक्तम्, यस्मादनुचरसन्निधाने प्रधानस्य तथाविधव्यापारकरणसम्भावनीयम् । तस्य च सर्वातिशयचरित-युक्त्वेन वर्ण्यमानस्य तेन कनीयसा प्राणपरित्राणसम्भावनेत्येतदव्यन्त-मममीचीनमिति पर्यालोच्य उदात्तराघवे कविना वैदग्ध्यवशेन मारीचमृगमारणाय प्रयातस्य परित्राणार्थं लक्ष्मणस्य सीतया कातरत्वेन रामः प्रेरितः इत्युपनिबद्धम् । अत्र च तद्विदाह्यादकारित्वमेव वक्रत्वम् । यथा च—

यह बात अत्यन्त ही अनुचित है क्योंकि (सदमण रूप) अनुचर के समीप रहने पर प्रधान (‘राम’) के उस प्रकार (माणिक्यमृग का पीछा करने) या व्यापार करने की सम्भावना ही नहीं की जा सकती। (अतः रामायण में किया गया यह वर्णन अनुचित प्रतीत होता है।) साथ ही (रामायण में) सर्वातिशायी चरित्र से युक्त रूप में वर्णित किए जाते हुए उन (राम) के प्राणों की रक्षा की सम्भावना उनसे छोटे (भाई सदमण) के द्वारा की जाय यह और भी अधिक अनुचित है। इस प्रकार (इस प्रकरण के अनौचित्य) का भली भाँति विचार कर ‘उदात्त राघव’ (नामक नाटक) में (कुशल) कवि ने ठीक ही कौशल के साथ, “मारीच (रूप मायामयमाणिक्य) मृग के भारने के किए गये हुए सदमण की प्राणरक्षा के लिये (उनके करुण-क्रन्दन को सुनकर) सीता ने अघोरता से राम को भेजा था” ऐसे (प्रकरण की) रचना किया है। और इस ढङ्ग के रामायण से परिवर्तित प्रकरण में सहृदय-हृदय-ह्लादकारिता ही (प्रकरण की) वस्तु है। जैसे कि—

किरातार्जुनीये किरातपुरुषोक्तिषु वाच्यत्वेन स्वमार्गणमार्गणमात्र-
मेवोपक्रान्तम् । वस्तुनः पुनरर्जुनेन सह तात्पर्यार्थलोचनया विप्रहो
वाक्यार्थतामुपनीतः ।

(भारवि विरचित) ‘किरातार्जुनीयम्’ (महाकाव्य) में (भगवान् शङ्कर द्वारा प्रेषित) किरात पुरुष की उक्तियों में वाच्य ढङ्ग से केवल अपने बाण के अन्वेष्टन को ही (कवि ने) उपनिबद्ध किया है। किन्तु (उन दोनों किरातपुरुष तथा अर्जुन की वार्ता के) तात्पर्यार्थ का सम्यक् विचार करने से वास्तव में (शङ्कर का) अर्जुन के साथ युद्ध ही वाक्यार्थ रूप में उपन्यस्त किया गया है।

टिप्पणी—किरातार्जुनीय एक प्रबन्ध काव्य है जिसके भीतर अनेक प्रकरण सम्भव है। यहाँ जिस प्रकरण को कवि ने प्रस्तुत किया है वह १३ वें तथा १४ वें सर्गों की कथा से सम्बद्ध है। जब अर्जुन की तपस्या में प्रसन्न होकर इन्द्र उसे भगवान् शङ्कर की तपस्या करने का उपदेश देते हैं तो अर्जुन बिना किसी विषाद के भगवान् शङ्कर को प्रसन्न करने के लिए कठोर तप करने लगता है। उसके घोर तप को देख कर एक दिन सभी देवगण शङ्कर के पास जाते हैं और अर्जुन की घोर तपस्या का वर्णन कर उसका प्रयोजन पूछते हैं। सभी शङ्कर देवताओं को यह बताते हुए कि वह मुझे प्रसन्न करने के लिए तपस्या कर रहा है वहाँ से देवों के साथ, अर्जुन का वध करने के लिये आते हुए मूक दानव (वराह) से उसकी रक्षा करने के लिए चल

देते हैं। तथा स्थल पर पहुँच एक साथ ही अर्जुन तथा शङ्कर दोनों के बाणों के लगने से वह शूकर मर जाता है। अर्जुन एक ओर से अपना बाण लेने पहुँचते हैं दूसरी ओर से शङ्कर का भेजा हुआ किरात सैनिक शङ्कर के बाण को खोजता हुआ वही पहुँचता है। पहले वह बड़ी शान्तिपूर्वक भाषण करता हुआ अर्जुन से बाण वापस देने को कहता है। फिर शङ्कर के साथ सुग्रीव एवं राम की भाँति मैत्री करने का प्रलोभन देता है। और जब इस पर भी अर्जुन बाण देने को तैयार नहीं होते तो शङ्कर के अपूर्व पराक्रम का वर्णन कर अर्जुन को भय का प्रदर्शन करता है। और इसी प्रकार बात बतते २ अर्जुन की चुनौती स्वीकार कर शङ्कर सहित वे युद्ध करने के लिए उपस्थित हो जाते हैं। इस प्रकार यही कवि को अभिप्रेत रहा है शङ्कर और अर्जुन का युद्ध जिससे की आगे शङ्कर भगवान् प्रसन्न हो अर्जुन को दिव्यास्त्र प्रदान करते हैं। उस युद्ध का वर्णन प्रस्तुत करने के लिए ही कवि ने इस प्रकरण का निबन्धन किया है। अतः यद्यपि इसमें वर्णन तो बाण की खोज का ही किया गया है लेकिन यदि उसके अभिप्राय (तात्पर्याय) का विचार किया जाय तो साफ स्पष्ट है कि वह केवल युद्ध की ही भूमिका है। अतः यह प्रकरण की वक्रता हुई।

तथा च तत्रैवोच्यते—

प्रयुज्य सामाचरितं विलोभनं भयं विभेदाय धियः प्रदर्शितम्।

तथाभियुक्तं च शिलीमुखार्थिना यथेतरन्न्याय्यमिवावभासते ॥ ७१ ॥

जैसा कि वही (१४ वें सर्ग के ७ वें श्लोक में अर्जुन के द्वारा) कहा गया है—

(तुमने पहले शान्तिपूर्ण बातें कर) साम का प्रयोग कर (फिर अपने सेनापति के साथ मित्रता का लोभ देकर) प्रलोभन सम्पादित किया।

(तदनन्तर) बुद्धि को विचलित करने के लिए (अपने स्वामी के अतुल पराक्रम का वर्णन कर) भय का प्रदर्शन किया। एवं (केवल) बाण प्राप्त करने के इच्छुक तुमने उस प्रकार (की बाणों) का प्रयोग किया है जो अन्यायपूर्ण होते हुए भी न्याययुक्त सी प्रतीत होती है। (अथवा जो बाणी न्याय्य से इतर अन्यायपूर्ण सी प्रतीत होती है) ॥ ७१ ॥

व्याख्या की गयी है। विस्तार के साथ उनका विवेचन अपना-अपना लक्षण करते समय किया जायगा।

प्रबन्धे वरुमावा यथा—कुत्रचिन्महाकविविरचिते रामकथोप-
निबन्धे नाटकादौ पञ्चविधवक्रतासामग्रीसमुदायसुन्दर सहृदय-
हृदयहारि महापुरुषवर्णनमुपक्रमे प्रतिभासते परमार्थतस्तु विधि-
निषेधात्मकधर्मोपदेशः पर्यवस्यति, रामवद्वर्तितव्यं न रावणवदिति।

यथा च, तापसवत्सराजे कुसुमसुकुमारश्चेतसः सरसविनोदैकरसिकस्य नायकस्य चरितवर्णनमुपक्रान्तम् । वस्तुनस्तु व्यसनार्णवे निमग्न-निजो राजा तथाविधनयव्यवहारनिपुणैरमात्यैस्तैस्तेरुपायैश्चतारणीय इत्युपदिष्टम् । एतच्च स्वलक्षणव्याख्यानावसरे व्यक्ततामायास्यति ।

(इस प्रकार 'प्रकरण-वक्रता' का विवेचन कर अब 'प्रबन्ध-वक्रता' को विवेचित करते हैं)—प्रबन्ध में वक्रता का उदाहरण जैसे—

किसी महाकवि-विरचित रामकथा का वर्णन करनेवाले नाटक आदि में (पूर्व-विवेचित वर्ण्य-विन्यास-वक्रता, पदपूर्वाद्धि-वक्रता, प्रत्ययाश्रय-वक्रता, वाक्य-वक्रता एवं प्रकरण-वक्रता रूप) पाँच प्रकार की वक्रताओं से युक्त सामग्री के समुदाय से सुन्दर सद्दृश्यों के हृदयों को आकर्षित करने वाला महापुरुष के चरित्र का वर्णन आरम्भ में प्रतीत होता है । किन्तु वस्तुतः उसका पर्यवसान 'राम की तरह व्यवहार करना चाहिए' (में विधिरूप) 'रावण की तरह नहीं' (में निषेधरूप) इस प्रकार विधि तथा निषेधरूप धर्म के उपदेश में उस प्रबन्ध का पर्यवसान होता है । और जैसे (उदाहरणस्वरूप) 'तापसवत्सराज' (नामक नाटक) में रसपूर्ण विनोद के एकमात्र रसिक तथा पुष्प के सद्गुण सुकोमल हृदयवाले नायक (वत्सराज उदयन) के चरित्र का वर्णन आरम्भ किया गया है, लेकिन घास्तव में विपत्ति के सागर में डूबते हुए अपने राजा का उस प्रकार के नीति एवं व्यवहार में दक्ष भन्नियों द्वारा उन-उन तथा वर्णित उपायों द्वारा उद्धार करना चाहिए, यह उपदेश दिया गया है । यह बात अपने लक्षण की व्याख्या करते समय अधिक स्पष्ट हो जायगी ।

टिप्पणी—(इस प्रकार अब तक राजानक कुन्तक ने कविध्यापार की वक्रता का विवेचन करते हुए ६ प्रकार की वक्रताओं (१) वर्ण्य विन्यास-वक्रता (२) 'पदपूर्वाद्धि-वक्रता' एवं उसके अन्तर्गत 'रुद्धिर्विभ्र-वक्रता' आदि आठ अवान्तर भेदों का तथा (३) प्रत्ययाश्रय-वक्रता तथा उसके अन्तर्गत सध्या, कारक एवं पुरुषवैविध्य-कृत वक्रता रूप तीन अवान्तर भेदों का (४) वाक्यवक्रता (५) प्रकरण-वक्रता तथा (६) प्रबन्धवक्रता का संक्षिप्त विवेचन किया ।)

एवं कविध्यापारवक्रत पट्कमुद्देशमात्रेण व्याख्यातम् । विस्तरेण तु स्वलक्षणावसरे व्याख्यास्यते ।

इस प्रकार कवि-ध्यापार की ६ वक्रताओं की नाम सङ्कीर्तन मात्र से व्याख्या की गयी है । विस्तार के साथ उनका विवेचन अपना-अपना लक्षण करते समय किया जायगा ।

क्रमप्राप्तत्वेन बन्धोऽधुना व्याख्यास्यते—

वाच्यवाचकसौभाग्यलावण्यपरिपोषकः ।

व्यापारशाली वाक्यस्य विन्यासो बन्ध उच्यते ॥ २२ ॥

(इस प्रकार 'शब्दार्थो सहितो' ... (१।७) इत्यादि काव्य-लक्षण में प्रयुक्त 'शब्दार्थो' 'सहितो' एवं 'वाच्यवाचकविन्यास' पदों की व्याख्या कर चुकने के बाद) क्रम प्राप्त होने से अब 'बन्ध' पद का व्याख्यान किया जा रहा है—

अर्थ और शब्द के (आगे कहे जाने वाले) सौभाग्य एवं लावण्य (गुणों) को परिपुष्ट करनेवाली (कवि) व्यापार से शोभित होनेवाली वाक्य (श्लोकादि) की विशिष्ट संघटना को 'बन्ध' कहते हैं ॥ २२ ॥

विन्यासो विशिष्टं न्यसन यः सन्निवेशः स एष व्यापारशाली बन्ध उच्यते । व्यापारोऽत्र प्रस्तुतकाव्यक्रियालक्षणः । तेन शालते श्लाघते यं स तयोक्तं । कस्य—वाक्यस्य श्लोकादेः । कीदृशः—वाच्यवाचकसौभाग्यलावण्यपरिपोषकः वाच्यवाचकयोर्द्वयोरपि वाच्यस्याभिधेयस्य वाचकस्य च शब्दस्य वक्ष्यमाणं सौभाग्यलावण्यलक्षणं यद् गुणद्वयं तस्य परिपोषकः पुष्टतातिशयकारी सौभाग्यप्रतिभासंरम्भफलभूतं चेतनचमत्कारित्वलक्षणम्, लावण्यं सन्निवेश-सौन्दर्यम्, तयोः परिपोषकः । यथा—

विन्यास अर्थात् विशिष्ट ढंग से वर्णों एवं पदों का न्यास रूप जो संघटना है वही काव्य-कर्म रूप व्यापार से शोभित होनेवाला 'बन्ध' कहा जाता है । व्यापार का मतसब यहाँ पर काव्य-क्रिया रूप है । उसके द्वारा जो 'शालते' अर्थात् प्रशंसित होता है वह हुआ व्यापारशाली । किसका (विन्यास) वाक्य अर्थात् श्लोकादि का विन्यास । किस ढंग का (विन्यास)—वाक्य और वाचक के सौभाग्य तथा लावण्य का परिपुष्ट करने वाला । वाच्य और वाचक दोनों का भी वाच्य अर्थात् अर्थ, वाचक अर्थात् शब्द का आगे कहा जानेवाला सौभाग्य और लावण्य रूप जो गुण-द्वय उसका परिपोषक अर्थात् पोषण के अतिशय को उत्पन्न करने वाला । सौभाग्य अर्थात् (कवि) प्रतिभा के सरम्भ का परिणामस्वरूप सहृदयहृदय को आनन्दित करने की मोह्यता, लावण्य अर्थात् संघटना की सुन्दरता उन दोनों को परिपुष्ट करनेवाला (वाच्य-विन्यास) 'बन्ध' कहा जाता है ।

जैसे—

दत्त्वा वामकर नितम्बफलके लीलावलन्मध्यया
प्रोत्तुङ्गस्तनमसचुम्बिचिबुकं कृत्वा तथा मां प्रति
प्रान्तप्रोतनवेन्द्रनीलमणिमन्मुक्तावलीविभ्रमाः

सासूयं प्रहिताः स्मरज्वरमुचो द्वित्राः कटाक्षच्छटाः ॥ ७२ ॥

विलास के साथ कमर को सुकाये हुए, उस (मेरी प्रेमती) ने अपने वामहस्त को नितम्बस्थलपर रखकर स्तन को खूब उभाड़कर, और ठोड़ी को कन्धों का स्पर्श कराकर मेरे प्रति असूया के साथ मदनज्वर को छोड़ने वाले किनारों पर लगी हुई नयी-नयी इन्द्रनीलमणियों से युक्त, मोतियों की माला के विलास से युक्त दो-तीन कटाक्ष फेंके ॥ ७२ ॥

अत्र समप्रकविकौशलसम्पाद्यस्य चेतनचमत्कारित्वलक्षणस्य सौभाग्यस्य कियन्मात्रवर्णविन्यासविच्छित्तिविहितस्व पदसन्धानसम्पदुपार्जितस्य च लावण्यस्य परः परिपोषो विद्यते ।

यहाँ पर सहृदयहृदय को आनन्द देनेवाले, समग्र कवि की कुशलता से सम्पादित किये जानेवाले सौभाग्य गुण को, और केवल कुछ ही वर्णों की विशेष रचना के वैशिष्ट्य से उत्पन्न, पदों के संयोग की सम्पत्ति से उपार्जित होनेवाले लावण्य (गुण) को अत्यधिक परिपुष्ट किया गया है ।

एवं च स्वरूपमभिधाय तद्विदाह्लादकारित्वमभिधत्ते—

वाच्यवाचकवक्रोक्तित्रितयातिशयोत्तरम् ।

तद्विदाह्लादकारित्वं किमप्यामोदसुन्दरम् ॥ २३ ॥

इस प्रकार (वक्र) के स्वरूप को बताकर अब उसकी काव्य-मर्मज्ञों के लिए आनन्द प्रदान करने की योग्यता को बताते हैं—

अर्थ, शब्द एवं वक्रोक्ति इन तीनों के उत्कर्ष से भिन्न (अलौकिक उत्कर्षयुक्त) एवं, किसी (अनुभवकगम्य) आमोद (रंजकता) से रमणीय कोई अलौकिकतत्त्व ही काव्यमर्मज्ञों को आह्लादित करने की योग्यता है ॥ २३ ॥

तद्विदाह्लादकारित्वं काव्यविदानन्दविधायित्वम् । कीदृशम्—
वाच्यवाचकवक्रोक्तित्रितयातिशयोत्तरम् । वाच्यमभिधेयं वाचकं शब्दो वक्रोक्तिरलङ्करणम्, एतस्य त्रितयस्य योऽतिशयः कोऽप्युत्कर्षस्तस्मादुत्तरमतिरिक्तम् । स्वरूपेणातिशयेन च स्वरूपेणान्यत् किमपि तत्त्वान्तरमेतदतिशयेनैतस्मात्त्रितयादपि लोकतरमित्यर्थः । अन्यच्च कीदृशम्—किमप्यामोदसुन्दरम् । किमप्यव्यपदेशं सहृदयहृदय-

सन्देसम् आमोदः सुकुमारवस्तुधर्मो रक्षकत्वं नाम, तेन सुन्दर
चञ्चलत्वरमणीयम् । यथा—

तद्विदाह्लादकारिता अर्थात् काव्य को समझने वालों को आनन्दित करने
की योग्यता । कैसी है—तद्विदाह्लादकारिता—वाच्य, वाचक और वक्रोक्ति
तीनों के अतिशय से भिन्न । वाच्य अर्थात् अभिधेय अर्थ, वाचक अर्थात्
शब्द, वक्रोक्ति अर्थात् अलंकार—इन तीनों का जो अतिशय अर्थात् कोई
(अलौकिक) उत्कर्ष उससे उत्तर अर्थात् भिन्न, स्वरूप और अतिशय
(दोनों से भिन्न) स्वरूप से भिन्न अर्थात् वह कोई दूसरा तत्त्व है (ऐसी
प्रतीति होती है) और अतिशय से भिन्न अर्थात् इन (वाच्य, वाचक
और वक्रोक्ति) दोनों से भी लोकोत्तर है । और कैसा है यह तद्विदाह्लाद-
कारित्व—किसी (अलौकिक या अनिवंचनीय (आमोद में सुन्दर । कोई
अनिवंचनीय सहृदयहृदय के अनुभव द्वारा अनुभव किया जा सकनेवाला
आमोद अर्थात् रजकता नामक सुकुमार वस्तु का धर्म, उससे सुन्दर
रजकता से रमणीय । जैसे—

हंसानां निनदेषु यैः कयलितैरासज्यते कूजता-
मन्यः कोऽपि कषायकण्ठलुठनादाघर्घरो विभ्रमः ।
ते सम्प्रत्यकठोरवारणवधूदन्ताङ्कुरस्पर्धिनी
निर्याताः कमलाकरेषु बिसिनोकन्दाभिमग्रन्थयः ॥ ७३ ॥

(कोई कवि मृगालतन्तु की आरम्भ की ग्रन्थियों का वर्णन करता
है कि—

जिनका भक्षण कर लेने से शब्द करते हुए हंसी के कूजन में मधुर कण्ठ
के सयोग से धर-धर ध्वनिमुक्त कोई विलक्षण ही विलास उत्पन्न हो जाता है,
हयिनी के कोमल (तुरन्त निकले हुए) दन्ताङ्कुरों से होठ लगानेवाली
वे मृगालतन्तु की अभिम (नयी-नयी) ग्रन्थियाँ इस समय सरोवरों में
आविर्भूत हो गयी हैं ॥ ७३ ॥

अत्र त्रितयेऽपि वाच्यवाचकवक्रोक्तिलक्षणे प्राधान्येन न
कश्चिदपि कवेः संरम्भो विभाव्यते । किंतु प्रतिभावैचित्र्यवशेन
किमपि तद्विदाह्लादकारित्वमुन्मीलितम् ।

‘यहाँ पर वाच्य, वाचक और वक्रोक्ति तीनों के सम्भव होने पर भी
(उन्हें उपस्थित करने में) कवि का प्रधान रूप से कोई संरम्भ नहीं दिखाई
देता, अपितु प्रतिभा के वैचित्र्य के बशीभूत होकर कवि ने किसी अलौकिक
काव्य-मर्मज्ञों की आह्लादकारिता का उन्मीलन किया है ।

यद्यपि सर्वेषामुदाहरणानामविकलकाव्यलक्षणपरिसमाप्तिः सम्भवति तथापि यत्प्राधान्येनाभिधीयते स एवांशः प्रत्येकमुद्रिक्ततया तेषां परिस्फुरतीति सद्बुद्ध्यैः स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयम् ।

यद्यपि सभी उदाहरणों में (जिन्हें कि मैंने अभी तक उद्धृत किया है) काव्य के समस्त लक्षणों की प्राप्ति सम्भव हो सकती है, फिर भी जिसका प्राधान्यरूप से वर्णन किया जाता है (अर्थात् लक्षण के जिस अंश को वह उदाहरण होता है) वही अंश प्रधान रूप से उनमें परिस्फुरित होता है ऐसा सहृदयों को स्वयं समझ लेना चाहिए ।

एवं काव्यसामान्यलक्षणमभिधाय तद्विशेषलक्षणविषयप्रदर्शनार्थं मार्गभेदनिबन्धनं त्रैविध्यमभिधत्ते—

इस प्रकार काव्य के सामान्य लक्षण को बताकर उसके विशेष लक्षण का विषय बताने के लिए मार्ग-भेद के कारण होने वाले त्रैविध्य का कथन करते हैं—

सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः ।

सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः ॥ २४ ॥

उस (काव्य) में कवि की प्रवृत्ति के कारणभूत जो सुकुमार, विचित्र और उभयात्मक मध्यम मार्ग सम्भव हैं, उन्हें बताते हैं ॥ २४ ॥

तत्र तस्मिन् काव्ये मार्गाः पन्थानस्त्रयः सम्भवति । न द्वौ न चत्वारः, स्वरादिसंख्यावत्तावतामेव वस्तुतस्तज्ज्ञैरुपलम्भात् । ते च कीदृशाः— कविप्रस्थानहेतवः । कवीनां प्रस्थानं प्रवर्त्तनं तस्य हेतवः, काव्यकरणस्य कारणभूताः । किमभिधानाः—सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चेति । कीदृशो मध्यमः—उभयात्मकः । उभयमनन्तरोक्त मार्गद्वयमात्मा यस्येति विमहः । छायाद्वयोपजीवीत्युक्तं भवति । तेषां च स्वलक्षणावसरे स्वरूपमाख्यास्यते ।

वहाँ अर्थात् उस काव्य में तीन मार्ग अर्थात् रास्ते सम्भव हैं । न दो, न चार; स्वर आदि की संख्या के समान उतने (अर्थात् तीन) के ही वास्तव में काव्यमर्मज्ञों द्वारा अनुभव किये जाने से । और वे हैं कैसे— कवि प्रस्थान के हेतु । कवियों का प्रस्थान अर्थात् (काव्य करने की) प्रवृत्ति उसके हेतु, अर्थात् काव्य करने के कारणभूत । उनके क्या नाम हैं— सुकुमार मार्ग, विचित्रमार्ग और मध्यममार्ग । मध्यममार्ग कैसा है—

७

उभयात्मक है। उभय अर्थात् अभी-अभी कहा गया (सुकुमार और विचित्र रूप) मार्गद्वय है आत्मा अर्थात् स्वरूप, जिसका (वह उभयात्मक हुआ) इस प्रकार का विग्रह होगा। (मध्यम मार्ग) दोनों (सुकुमार और विचित्र) मार्गों की छाया पर आश्रित होता है यह तात्पर्य हुआ। उन (तीनों मार्गों) का स्वरूप अपने-अपने लक्षण के समय बताया जायगा।

अत्र च बहुविधा विप्रतिपत्तयः सम्भवन्ति । यस्माच्चिरन्तनैर्विदग्धादिदेशविशेषसमाश्रयणेन वैदर्भीप्रभृतयो रीतयस्तिष्ठः समाम्नाताः । तासां चोत्तमाधममध्यमत्ववैचित्र्येण त्रैविध्यम् । शन्यैश्च वैदर्भगौडीयलक्षणं मार्गद्वितयमाख्यातम् । एतच्चोभयमध्ययुक्तियुक्तम् । यस्माद्देशभेदनिबन्धनत्वे रीतिभेदानां देशानामानन्त्यादसंख्यत्वं प्रसज्यते । न च विशिष्टरीतियुक्तत्वेन काव्यकरणं मातुलेयभगिनीविद्याद्वद् देशधर्मतया व्यवस्थापयितुं शक्यम् । देशधर्मो हि वृद्धव्यवहारपरंपरामात्रशरणः शक्यानुष्ठानतां नातिवर्तते । तथाविधकाव्यकरणं पुनः शक्त्यादिकारणकलापसाकल्यमपेक्ष्यमाणं न शक्यते तथाकथंचिदनुष्ठातुम् । न च दाक्षिणात्यगीतविषयमुस्वरतादिध्वनिरामणीयकवत्तस्य स्वाभाविकत्वं वक्तुं पार्यते । तस्मिन् सति तथाविधकाव्यकरणं सर्वस्य स्यात् । किंच शकौ विद्यमानायामपि व्युपन्यादिराहार्यकारणसम्पत्प्रतिनियतदेशविषयतया न व्यवतिष्ठते, नियमनिबन्धनाभावात् तत्रादर्शनाद् अन्यत्र च दर्शनात् ।

इस (मार्ग-त्रितय) के विषय में अनेक प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ सम्भव हैं। क्योंकि प्राचीन (वामन, राजशेखर आदि) आचार्यों ने (विदर्भ आदि देशविशेषों (में प्राप्ति) के आधार पर वैदर्भी आदि (वैदर्भी, गौडीया और पाञ्चाली) तीन रीतियों को स्वीकार किया है। और उन (वैदर्भी आदि तीनों रीतियों) के उत्तम, अधम और मध्यम रूप-वैचित्र्य (का प्रतिपादन करने) के कारण (उत्तम, अधम और मध्यम) तीन प्रकार स्वीकार किये हैं। तथा दूसरे (दण्डी आदि) आचार्यों ने वैदर्भ और गौडीय रूप दो मार्गों की स्थापना किया है। ये दोनों ही (वामन, राजशेखर और दण्डी के मत) युक्तियुक्त नहीं हैं। क्योंकि रीतिभेदों का आधार (वामन, राजशेखर के अनुसार) वेशभेद को स्वीकार कर लेने पर देशों के अनन्त होने से (रीतियाँ भी) असंख्य हो जायेंगी। और विशिष्ट रीति से युक्त रूप में काव्य-रचना की स्थापना मर्यादा की लड़की के साथ विवाह की भाँति (मातुलेयभगिनी-विवाहवद्) देशधर्म के आधार पर नहीं की जा सकती

है । क्योंकि देशघमं वृद्धों की व्यवहार-परम्परा को ही आश्रय करने के कारण अपने अनुष्ठान की सम्भावना का अतिक्रमण नहीं करता है (अर्थात् वृद्धों की परम्परा पर आधारित होने के कारण उसकी स्थिति वहाँ पर असम्भव नहीं है) । लेकिन शक्ति आदि कारण-समुदाय के साकल्य की अपेक्षा रहनेवाली उस प्रकार की काव्य-रचना तो किसी भी प्रकार देश-विदेश के आधारपर स्थापित नहीं की जा सकती । और न, दाक्षिणात्य गीत-विषयक सुस्वरता इत्यादि ध्वनि के सौन्दर्य के सङ्ग उसकी स्वाभाविकता ही कही जा सकती है, क्योंकि उस प्रकार की स्वाभाविकता स्वीकार कर लेने पर उसी प्रकार की काव्य-रचना सभी के लिए सम्भव हो जायगी । और फिर (यदि शक्ति को सभी के अन्दर समानरूप से मान लिया भी जाय तो फिर) शक्ति के विद्यमान रहने पर भी, व्युत्पत्ति इत्यादि आहायं (अर्थात् प्रयत्न द्वारा सम्पन्न होने वाली कारण-सम्पत्ति हर एक देश के विषय रूप में निश्चित नहीं है (क) किसी नियम के आधार के अभाव के कारण (छ) उस (देश-विदेश) के सभी कवियों में दिखाई न पढ़ने से (ग) अन्यत्र (दूसरे देश के कवियों में भी) दिखाई पढ़ने से । (अर्थात् यदि देश के सभी व्यक्तियों में शक्ति को स्वीकार भी कर लिया जाय तो व्युत्पत्ति इत्यादि आहायं कारण-सम्पत्ति भी वहाँ निश्चित रूप से पायी जाय यह सर्वथा असम्भव है अतः देशभेद के आधार पर रीतियों का भेद करना ठीक नहीं है) ।

न प रीतिनामुत्तमाधममध्यमत्वभेदेन त्रैविध्यं व्यवस्थापयितुं न्याय्यम् । यस्मात् सहृदयाह्लादकारिकाव्यलक्षणप्रस्तावे वैदर्भीसदृश-सौन्दर्योत्सवत्वान्मध्यमाधमयोरुपदेशवैयर्थ्यमायाति । परिहार्यत्वे-नाप्युपदेशो न युक्तनामालम्बते, तैरेवानभ्युपगतत्वात् न चागतिक गतिन्यायेन यथाशक्ति दरिद्रदानादिवत् कार्यं करणीयतामर्हति । तदेवं निर्बचनसमाख्यामात्रकरणकारणत्वे देशविशेषाश्रयणस्य घयं न विवदामहे । मार्गद्वितयवादिनामप्येतान्येव दूषणानि । तदलमनेन निःसारवस्तुपरिमलनव्यसनेन ।

और न तो रीतियों का उत्तम, मध्यम और अधम रूप भेदों के द्वारा उनका विविध विभाजन उचित है क्योंकि सहृदयों के हृदयों को आनन्दित करनेवाले काव्य के भक्षण के प्रसंग में वैदर्भी के सङ्ग सुन्दरता सम्भव न हो सकने से अन्य (दो भेद) मध्यम और अधम का उपदेश व्यर्थ हो जायगा (क्योंकि वैदर्भी के समान आह्लादजनक न होने के कारण गौरी

तथा पाञ्चाली के प्रति महृदय आकृष्ट ही न होंगे, अतः उनका उपदेश व्यर्थ सिद्ध होगा और यदि कोई यह कहना चाहे कि वामन आदि ने इन दो रीतियों-पाञ्चाली और गौडी का) उपदेश परिहर्यरूप (अर्थात् त्याज्यरूप) में किया है (कि कवियों को इन दो रीतियों को नहीं ग्रहण करना चाहिए तो यह कथन भी) युक्तिसंगत नहीं हो सकता, उन्हीं (वामन आदि) को ऐसा स्वीकार न होने से और न तो अगतिगतिन्याय से (अर्थात् जो चलने में सर्वथा असमर्थ है वह जो कुछ भी थोड़ा-बहुत चल से वही पर्याप्त होता है) यथाशक्ति दरिद्र के दान की तरह (मध्यम अथवा अधम) काव्य करने के योग्य होता है । (अर्थात् काव्य-रचना उत्तम ही की जानी चाहिए अतः रीतियों का उत्तम-मध्यम और अधम रूप से किया गया विभाजन ठीक नहीं है) । इस प्रकार देश-विशेष के आधार का केवल रीतियों के नियन्त्रण अथवा सजा रखने का कारण होने में ही हमारा मतभेद नहीं है, अपितु उनके स्वरूप के विषय में भी मतभेद है, जिसके कि आधार पर उन्हें उत्तम, मध्यम और अधम कोटि में विभक्त किया जाता है । दो भागों का भी विवेचन करने वाले (दण्डी आदि के मतों में भी) ये ही दोष होंगे । अतः इस प्रकार की सारहीन वस्तु की आलोचना करने से कोई लाभ नहीं है ।

कविस्वभावभेदनिबन्धनत्वेन काव्यप्रस्थानभेदः समुल्लसतां गाहते । सुकुमारस्वभावस्य कवेस्तथाविधैव सहजा शक्तिः समुद्भवति, शक्तिः शक्तिमतोरभेदात् । तथा च तथाविधसौकुमार्यरमणीयां व्युत्पत्तिमाबध्नाति । ताभ्यां च सुकुमारवर्त्मनाभ्यासतत्परः क्रियते । तथैव चैतस्माद् विचित्रः स्वभावो यस्य कवेस्तद्विदाह्लादकारिकाव्यलक्षणकरण-प्रस्तावात् सौकुमार्यव्यतिरेकिणा वैचित्र्येण रमणीय एव, तस्य च काचिद्विचित्रैव तदुत्तरा शक्तिः समुल्लसति । तथा च तथाविधवैदग्ध्य-बन्धुरां व्युत्पत्तिमाबध्नाति । ताभ्यां च वैचित्र्यवासनाधिवासित-मानसो विचित्रवर्त्मनाभ्यासभाग भवति । एवमेतदुभयकविनिबन्धन-संवलितस्वभावस्य कवेस्तदुचितैव शबलशोभातिशयशालिनी शक्तिः समुदेति । तथा च तदुभयपरिस्पन्दसुन्दरव्युत्पत्त्युपार्जनमाचरति । ततस्तच्छ्रयाद्वितयपरिपोषपेशलाभ्यासपरवशः सपद्यते ।

(इस प्रकार वामन एवं दण्डी इत्यादि के द्वारा देशभेद के आधार पर रीतियों के विभाजन का खण्डन कर अब अपने मत की स्थापना करते हैं)—

कविस्वभाव के भेद को कारण स्वीकार कर किया गया काव्य-भार्य का भेद समीचीन हो सकता है । सुकुमार स्वभाव वाले कवि की सहजशक्ति भी

इसी प्रकार (सुकुमार ही) होती है। शक्ति और शक्तिमान् में अभेद होने से। और (वह सुकुमार स्वभाव वाला कवि अपनी सहज सुकुमार) उस (शक्ति) के द्वारा उस प्रकार के सौकुमार्य से मनोहर व्युत्पत्ति को धारण करता है। और उस शक्ति तथा व्युत्पत्ति के द्वारा सुकुमार मार्ग से अभ्यास में तत्पर होकर (काव्य-रचना) करता है। उसी प्रकार दम सुकुमार स्वभाव वाले कवि से जिस कवि का, सहृदयो को आह्लादित करने वाले काव्य लक्षण करने के प्रसंग से सौकुमार्य से भिन्न वैचित्र्य के कारण रमणीय ही विचित्र स्वभाव होता है। उस कवि की उसके स्वभाव के अनुरूप कोई विचित्र ही शक्ति परिस्फुरित होती है। तथा उस विचित्र शक्ति के द्वारा कवि उस प्रकार के वैदग्ध्य से मनोहर व्युत्पत्ति को धारण करता है। एवं उस विचित्र शक्ति और विचित्र व्युत्पत्ति के द्वारा वैचित्र्य की वासना से अधिवासित चित्तवाला कवि विचित्र मार्ग के आश्रयण से अभ्यास करने का अधिकारी होता है। इस प्रकार इन दोनों कवियों के कारणभूत (सुकुमार और विचित्र) से युक्त स्वभाव वाले कवि की उसके अनुरूप ही विचित्र शोभा के अतिशय से सुशोभित होने वाली शक्ति उल्लसित होती है। उस शक्ति के द्वारा वह उभय-कवि दोनों सुकुमार और विचित्र के स्वभाव से सुन्दर व्युत्पत्ति का उपाजन करता है। उसके अनन्तर उन सुकुमार और विचित्र मिश्रित शक्ति तथा व्युत्पत्ति दोनों की छाया के परिपोषण से कोमल अभ्यास में कवि तत्पर हो जाता है।

तदेवमेते कवयः सकलकाव्यकरणकलापकाष्टाधिरुद्धिरमणीय किमपि काव्यमारभन्ते, सुकुमारं विचित्रमुभयात्मकं च । त एव तत्प्रवर्तननिमित्तभूता मार्गा इत्युच्यन्ते ।

तो इस प्रकार ये (सुकुमार, विचित्र एवं उभयात्मक स्वभाववाले, तीनों प्रकार के) कविजन काव्य को समस्त कारण-समुदाय की पराकाष्ठा से पत्तोहारी किन्ती सुकुमार, विचित्र या उभयात्मक काव्य की रचना करते हैं। वे ही (सुकुमार, विचित्र एवं उभयात्मक काव्य ही) उन (कवियों) की (काव्य-रचना में) प्रवृत्ति के कारण होने से 'मार्ग' कहे जाते हैं।

यद्यपि कविस्वभावभेदनिबन्धनत्वादनन्तभेदभिन्नत्वमनिवार्य तथापि परिसंख्यातुमशक्यत्वात् सामान्येन त्रैविध्यमेवोपपद्यते । तथा च रमणीयकाव्यपरिमहप्रस्तावे स्वभावसुकुमारस्तावदेको राशिः, तद्व्यतिरिक्तस्यारमणीयस्यानुपादेयत्वात् । तद्व्यतिरेकी रमणीयक-विशिष्टो विचित्र इत्युच्यते । तदेतयोर्द्वयोरपि रमणीयत्वादेतदीयच्छाया-द्वितयोपजीविनोऽस्य रमणीयत्वमेव न्यायोपपन्नं पर्यवस्यति । तस्मादेषां

प्रत्येकमस्खलितस्वपरिस्पन्दमहिम्ना तद्विदाह्लादकारित्वपरिसमाप्तेर्न कस्यचिन्मूनता ।

यद्यपि कवि-स्वभाव के भेद के (मार्गभेद का) आधार होने के कारण (कवियों के अनन्त स्वभाव होने से मार्गों में भी) असंख्य प्रकारों से भिन्नता (आ जाना) अनिवार्य है, फिर भी उनकी सख्या निर्धारित कर सकना असम्भव होने से, सामान्य रूप से तीन भेदों से युक्त होना ही युक्तियुक्त (प्रतीत होता) है । और इस प्रकार मनोहर काव्य को स्वीकृत करने के संन्दर्भ में—(१) स्वभाव से सुकुमार (काव्य की) एक राशि है, उससे भिन्न सौन्दर्यहीन (काव्य) के उपादेय न होने से । (२) उस (सुकुमार स्वभाव काव्य) से भिन्न सौन्दर्ययुक्त (दूसरा प्रकार) विविध कहा जाता है । (३) इन (सुकुमार एवं विविध) दोनों के ही रमणीय होने से इन दोनों की छाया पर आधारित इस (उभयात्मक-मध्यम भेद) का सौन्दर्ययुक्त होना (स्वतः ही) तर्कसङ्गत हो जाता है । (इस प्रकार ये सुकुमार विविध और मध्यम तीनों ही स्वभावतः रमणीय होते हैं) । अतः इन तीनों में हर एक की अपने पूर्ण परिस्पन्द की महत्ता के कारण सहृदयों को आह्लाद प्रदान करने में परिसमाप्ति होने से किसी की भी न्यूनता नहीं है । (सभी समान महत्त्व के हैं और रमणीय होते हैं) ।

टिप्पणी—आचार्य कुन्तक ने अब तक देशभेद के आधार पर रीति-भेद की स्थापना का खण्डन कर कवि-स्वभाव के आधार पर मार्गभेद की स्थापना की । उन्होंने यह बताया कि कवि-स्वभाव के अनुसार उसी ढंग की सहज शक्ति कवि में उत्पन्न होती है तथा उस शक्ति के द्वारा वह कवि उसी प्रकार की व्युत्पत्ति प्राप्त करता है तथा शक्ति और व्युत्पत्ति के बल पर अभ्यास करता हुआ वह काव्य रचना करता है । इस प्रकार हम यह देखते हैं कि शक्ति तो कवि में सहज रूप से विद्यमान रहती है, किन्तु व्युत्पत्ति और अभ्यास आहार्य—रूप से प्राप्त होते हैं जब कि काव्य-रचना में केवल शक्ति ही नहीं कारण होती अपि तु व्युत्पत्ति और अभ्यास भी कारण होते हैं । अतः पूर्वपक्षी आहार्य-रूप व्युत्पत्ति और अभ्यास की स्वाभाविकता में सदेह करता हुआ प्रश्न करता है —

ननु च शक्त्योरान्तरतम्यात् स्वाभाविकत्वं वक्तुं युज्यते, व्युत्पत्त्यभ्यासयोः पुनराहार्ययोः कथमेतद् घटते ? नैव दोषः, यस्मादास्तां तावत् काव्यरूपम्, विषयान्तरेऽपि सर्वस्य कस्यचिद्विषयादिवासना-भ्यासाधिवासितचेतसः स्वभावानुसारिणावेव व्युत्पत्त्याभ्यासौ प्रवर्तते ।

तौ च स्वाभावमिव्यञ्जनेनैव साफल्यं भजतः । स्वभावस्य तयोश्च परस्परमुपकार्योपकारकभावेनावस्थानात् स्वभावस्तावदभते, तौ च तत्परिपोषमातनुः । तथा चाचेतनानामपि भावः स्वभावस्यैव भावान्तरसन्निधानमाहोत्थ्यादभिव्यक्तिमासादयति, यथा चन्द्रकान्त-मणयश्चन्द्रमसः करपरामर्शविशेषेण स्पन्दमानसहजरसप्रसराः सम्पद्यन्ते ।

(सुकुमार और विचित्र दोनों) शक्तियों की स्वाभाविकता का कथन तो (उनके) आन्तरिक होने के कारण ठीक है, लेकिन आहार्यरूप (बाह्य प्रयत्न से प्राप्त होने वाले) व्युत्पत्ति और अभ्यास की स्वाभाविकता कैसे सम्भव हो सकती है । (अतः स्वभाव-भेद के आधार पर मार्गभेद भी करना ठीक न होगा । इसका उत्तर देते हैं)—यह (कोई) दोष नहीं है क्योंकि काव्य-रचना की बात तब तक छोड़ दीजिए । दूसरे विषयों में भी सभी किसी के अनादि वासना के अभ्यास से अधिवासित अन्तःकरण आते सभी किसी के व्युत्पत्ति और अभ्यास स्वभाव के अनुसार ही प्रवृत्त होने हैं, (अर्थात् जिसका जैसा स्वभाव होता है उसी प्रकार उसके व्युत्पत्ति और अभ्यास होते हैं । (व्युत्पत्ति और अभ्यास) दोनों स्वभाव की अभिव्यक्ति कराने से ही सफल होते हैं । स्वभाव तथा उन दोनों के परस्पर उपकार्य और उपकारक रूप से अवस्थित होने के कारण स्वभाव पहले प्रारम्भ करता है और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास दोनों उसका परिपोषण करते हैं इसीलिए जड़ पदार्थों का भी स्वभाव (अपनी) गुप्ता में साम्य रखनेवाली दूसरी सत्ता के सम्पर्क के माहात्म्य से अभिव्यक्त होता है । जैसे—चन्द्रकान्तमणयौ चन्द्रमा की किरणों के साथ सम्पर्क होने के कारण प्रवाहित होने वाले स्वाभाविक जल के प्रवाह से युक्त हो जाते हैं ।

तदेवं मार्गानुद्दिश्य तानेष क्रमेण लक्षयति—

तो इस प्रकार (२४ वीं कारिका से सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम) मार्गों का केवल नाम बताकर उनका ही क्रमानुसार सङ्गण करते हैं । (उनमें सबसे पहले क्रमप्राप्त सुकुमार मार्ग को प्रारम्भ में लक्षित करते हैं)—

अम्लानप्रतिभोद्धिजनवशन्दार्थवन्धुरः ।

अयत्नविहितस्वल्पमनोहारिविभूषणः ॥ २५ ॥

(कवि की) दोषहीन प्रतिभा से (स्वतः) स्फुरित हुए नवीन (सहस्राह्लादजनक) शब्द तथा अर्थ से रमणीय (हृदयावर्जक), एवं विना

किसी प्रयत्न के (स्थाःशायिक रूप से) उत्पादित, हृदय को आनन्द देने वाले थोड़े से अनकार से युक्त—॥ २५ ॥

भावस्वनाद्यप्राधान्यन्यवकृताहार्यकौशलः ।

रसादिपरमार्थज्ञमनःसंवादसुन्दरः ॥ २६ ॥

तथा पदार्थों के स्वभाव की प्रधानता से, व्युत्पत्तिजन्य निपुणता का विरस्कार करने वाला, (श्रृंगार आदि) रसों (एवम् रति) आदि (स्थायी-भावों) के परमरहस्य को जानने वाले (सहृदयो) के हृदयों के द्वारा अनुभव आने वाले ज्ञान से सुन्दर—॥ २६ ॥

अविभावितसंस्थानरामणीयकरञ्जकः ।

विधिवैदग्ध्यनिष्पन्ननिर्माणातिशयोपमः ॥ २७ ॥

एव अविभावित स्थितिवाले (अर्थान् जिसकी सत्ता का केवल अनुभव किया जा सकता है, शब्दों द्वारा नहीं व्यक्त किया जा सकता उस) सौन्दर्य से (सहृदयो को) आनन्दित करने वाला तथा विधाता के कौशल से निष्पन्न सृष्टि-रचना के (अर्थान् रमणी, लावण्य आदि रूप) सौन्दर्य के साथ सादृश्य रखने वाला—॥ २७ ॥

यत् किनापि वैचित्र्यं तत्सर्वं प्रतिभोद्भवम् ।

सौकुमार्यपरिस्पन्दस्यन्दि यत्र विराजते ॥ २८ ॥

तथा जहाँ सुकुमारताजन्य (सहृदयहृदयाह्लादकारित्व रूप) रमणीयता के द्वारा (रसमय) प्रवाहित होने वाला जो कुछ भी वैचित्र्य (अर्थात् वक्रोक्ति का योग) शोभातिशय का पोषण करता है, वह सब प्रतिभा से ही उल्लसित होता है (आहार्य रूप व्युत्पत्ति आदि के द्वारा नहीं) ॥ २८ ॥

सुकुमाराभिधः सोऽयं येन सत्कवयो गता ।

मार्गेणोत्फुल्लकुसुमकाननेनेव पट्पदाः ॥ २९ ॥

ऐसा वह सुकुमार नाम का मार्ग है, जिस मार्ग से (कालिदास आदि) सत्कवि, विकसित हुए फूलों के बग से (गुजरने वाले) भ्रमरों के समान गुजरे अर्थात् काव्य-रचना में प्रवृत्त हुए हैं ॥ २९ ॥

सुकुमाराभिधः सोऽयम्, सोऽयं पूर्वोक्तलक्षणः सुकुमारशब्दाभिधानः । येन मार्गेण सत्कवयः कालिदासप्रभृतयो गताः प्रयाताः, तद्वन्नयेन काव्यानि कृतवन्तः । कथम्—उत्फुल्लकुसुमकाननेनेव

षट्पदाः । चतुष्पदानि विकसिताभिः कुसुमानि पुष्पाणि यस्मिन् कानने वने तेन षट्पदा इव भ्रमरा यथा । विकसितकुसुमवाननसाम्येन तस्य कुसुमसौकुमार्यसदृशमाभिजात्य द्योत्यते । तेषां च भ्रमरसादृश्येन कुसुममकरन्दकल्पसारसंप्रद्वयसनिता । स च कीदृशः—यत्र यस्मिन् किञ्चनापि किञ्चिन्मात्रमपि वैचित्र्यं विचित्रभावो वक्रोक्तियुक्तत्वम्, तत्सर्वमलंकारादिप्रतिभोद्धृष्टं कविशक्तिसमुल्लसितमेव, न पुनराहार्यं यथाकथंचित्प्रयत्नेन निष्पाद्यम् । कीदृशम् —सौकुमार्यपरिस्पन्दस्यन्दि । सौकुमार्यमाभिजात्य तस्य परिस्पन्दस्तद्विधाद्वाद्वाकारित्वलक्षणं रामणीयक तेन स्यन्दते रसमयं संपद्यते यत्तथोक्तम् । यत्र विराजते शोभातिशयं पुष्पातीति सम्बन्धः । यथा—

सुकुमार नाम का वह यह अर्थात् पूर्व-कथित लक्षण वाला एव सुकुमार शब्द के द्वारा कहा जाने वाला (यह मार्ग है) जिस मार्ग से कालिदास आदि श्रेष्ठ कवि गये हैं अर्थात् उस मार्ग का आश्रय ग्रहण कर काव्यों का निर्माण किये हैं । किस ढङ्ग से—छिले हुए फूलों से युक्त जङ्गल से भीरे की तरह । उत्फुल्ल अर्थात् छिले हुए कुसुम अर्थात् फूल हैं जिस कानन अर्थात् जङ्गल में, उस (जङ्गल) से षट्पदों के समान अर्थात् भीरे की तरह (तात्पर्य यह है कि जैसे छिले हुए फूलों से युक्त जङ्गल से भीरे बड़े ही आनन्द के साथ सरलता पूर्वक भ्रमण करते हैं, तमै, प्रकार श्रेष्ठ कवि सुकुमार मार्ग का आश्रयण कर काव्य-रचना करते हैं वैकथित फूलों से युक्त वन के साथ सादृश्य के द्वारा उस (सुकुमार मार्ग) की पुष्पों की सुकुमारता के समान रामणीयता द्योतित होती है, तथा उन (श्रेष्ठ कवियों) की भीरों के साथ समानता के द्वारा पुष्पों के मकरन्द (पुष्प-रस) के सदृश (सरस) तत्त्व के समूह का व्यसन (प्रतिपादित किया गया है) । और वह (सुकुमार-मार्ग) है कैसा ? जहाँ अर्थात् जिस (मार्ग) में कुछ भी अर्थात् कितना भी वैचित्र्य विचित्रता अर्थात् वक्रोक्ति का संयोग (होता) है । वह सब असंख्यार इत्यादि (वैचित्र्य) प्रतिभाज्य अर्थात् केवल कवि की शक्ति से ही समुल्लसित होता है, जैसे जैसे भी प्रयत्न द्वारा सम्पादित किया गया आहार्य (अर्थात् बनाबटी) नहीं होता (वह कवि की स्वाभाविक शक्ति से ही निष्पन्न होता है वह वैचित्र्य पुनः होता) कैसा है ? सौकुमार्य के परिस्पन्द से प्रवाहित होने वाला । सौकुमार्य अर्थात् आभिजात्य (रामणीयता) उसका परिस्पन्द अर्थात् सहृदयों को आह्लादित करने वाला सौन्दर्य उससे जो प्रवाहित होता है अर्थात् रसमय हो जाता है वैसा (वैचित्र्य) हुआ

तथोक्त (सुकुमारता के सौन्दर्य से रसमय सम्पन्न होने वाला वैचित्र्य), जहाँ विराजमान होता है अर्थात् सौन्दर्यातिशय का पोषण करता है (वह सुकुमार नाम का मार्ग होता है) इस प्रकार का वाक्य का सम्बन्ध है। जैसे—

प्रवृत्ततापो दिवसोऽतिमात्रमत्यर्थमेव क्षणदा च तन्वी।

उभौ विरोधक्रियया विभिन्नौ जायापती सानुशयाविवास्ताम् ॥७४॥

अत्यधिक गर्मी से युक्त दिन एवं अत्यन्त ही कृश (क्षीण) हुई रात्रि दोनों विरोध क्रिया (अर्थात् दिन तापयुक्त होने के कारण कष्ट प्रदान करता है जब कि रात्रि (क्षणदा) शीतलतायुक्त होने से आनन्द प्रदान करती है। अतः दोनों की क्रियाएँ विपरीत हुई) के कारण मलग हो गए पश्चात्तापयुक्त पति-पत्नी के समान स्थित हैं ॥ ७४ ॥

अत्र श्लेषच्छायाच्छुरित . कविराक्तिमात्रसमुल्लसितमलंकरण-मनोहार्यं कामपि कमनीयतां पुष्पाति। तथा च 'प्रवृत्ततापः' 'तन्वी' इति वाचकौ सुन्दरस्वभावमात्रसमर्पणपरत्वेन वर्तमानावर्थान्तरप्रती-त्यनुरोधपरत्वेन प्रवृत्ति न समन्येते, कविव्यक्तकौशलसमुल्लसितस्य पुनः प्रकारान्तरस्य प्रतीतावानुगुण्यमात्रेण तद्विदाह्यादकारितां प्रति-पद्येते। किं तत्प्रकारान्तरं नाम?—विरोधविभिन्नयोः शब्दयोरर्थ-ान्तरप्रतीतिकारिणोरुपनिबन्धः। तथा चोपमेययोः सहानवस्थानलक्षणो विरोधः, स्वभावभेदलक्षणं च विभिन्नत्वम्। उपमानयोः पुनरीर्ष्याकलह-लक्षणो विरोधः, कोपात् पृथगवस्थानलक्षणं विभिन्नत्वम्। 'अतिमात्रम्' 'अत्यर्थ' चेति विशेषणद्वितयं पक्षद्वयेऽपि सातिशयताप्रतीतिकारित्वे-नातितरां रमणीयम्। श्लेषच्छायोत्क्लेशसंपाद्याप्ययत्नधटितत्वेनात्र मनोहारिणी।

यहाँ पर केवल कवि की (सहज) प्रतिभा से निष्पन्न, स्वाभाविक एवं श्लेष (अलङ्कार) की शोभा से सयुक्त (उपमा नामक) अलङ्कार किसी अपूर्व रमणीयता को पुष्ट करता है। तथा 'प्रवृत्तताप' (सतापयुक्त) एवं 'तन्वी' (क्षीण, दुर्बल) ये दोनों शब्द केवल (दिन एवं रात के) सुन्दर स्वभाव को ही बताने के लिए स्थित होकर, (पति-पत्नी के विरहजन्य ताप एवं कृशता रूप) अन्य अर्थों की प्रतीति कराने में प्रवृत्त नहीं होते (अर्थात् प्रकरणवश इन दोनों शब्दों का ग्रीष्मकालिक दिन तथा रात की ही ताप-युक्तता एवं क्षीणता अर्थों में भी अभिधा द्वारा नियन्त्रण ही जाता है, पति-पत्नी के विरहजन्य ताप और कृशता का अभिधा द्वारा प्रतिपादन नहीं किया जा सकता) फिर भी कवि द्वारा व्यक्त किए गये कौशल से निष्पन्न

दूसरे प्रकार की प्रतीति में अनुरूपता मात्र से (ये दोनों 'प्रवृत्तताप' एवं 'तन्वी' शब्द) सहृदयहृदयाह्लादकारी हो जाते हैं । वह दूसरा प्रकार है कौन सा ? (जिसकी प्रतीति के अनुरूप होने से ये दोनों शब्द सहृदयों को आनन्द प्रदान करते हैं)—(वह है) अन्य अर्थ की प्रतीति कराने वाले 'विरोध' एवं 'विभिन्न' शब्दों का प्रयोग ।

और इस प्रकार उपमेयो (दिन तथा रात्रि) का सहानवस्थान रूप (अर्थात् साय-साय न रह सकने का) विरोध है, तथा स्वभाव का भेद रूप अर्थात् दोनों के स्वभाव विरुद्ध हैं) विभिन्नता है । साय ही उपमानो (पति-पत्नी) का (भी) ईर्ष्या, कलह रूप विरोध एवं कोप के कारण अलग-अलग निवास रूप विभिन्नता है । इसी प्रकार 'अतिमात्रम्' तथा 'अल्पम्' ये दोनों विशेषण दोनों ही (दिन एवं रात्रि तथा पति एवं पत्नी रूप) पक्षों में अतिशय युक्तता का बोध कराने के कारण बहुत ही मनोहर है । (अतः) यहाँ पर कुछ क्लेश के द्वारा सम्पादित होने पर भी श्लेष की छाया, अनायास घटित हो जाने के कारण, रमणीय हो गई है ।

यश्च कीदृश —अम्लानप्रतिभोद्भिन्नवशब्दार्थबन्धुरः । अम्लानायासावदोपोपहता प्राक्तनाद्यतनसस्कारपरिपाकप्रौढा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः, तत उद्भिन्नो नूतनाङ्कुरन्यायेन स्वयमेव समुल्लसितो, न पुनः कदर्थनाकृष्टौ नवी प्रत्ययौ तद्विदाह्लादकारित्वसामर्थ्यदुक्तौ शब्दार्थावभिधानाभिधेयौ ताभ्यां बन्धुरो हृदयहारी । अन्यच्च कीदृशः—अयत्नविहितस्वलपमनोहारिविभूषणः । अयत्नेनाक्लेशेन विहितं कृतं यन् स्वल्प मनाङ्गात्रं मनोहारि हृदयाह्लादकं विभूषण-मलंकरण यत्र स तथोक्त । 'स्वलप' शब्दोऽत्र प्रकरणाद्यपेक्ष, न वाक्यमात्रपरः । उदाहरणं यथा—

(इस प्रकार सुकुमार मार्ग की एक विशेषता का प्रतिपादन कर दूसरी विशेषता बताते हैं—) और जो (सुकुमार मार्ग) कैसा है अम्लान प्रतिभा से निष्पन्न शब्द एवं अर्थ के कारण हृदयावर्जक । अम्लान अर्थात् दोषों से उपहत न हुई जो यह पूर्वजन्म एवं वर्तमान जन्म के सन्सारों के परिपक्व हो जाने से प्रवृद्ध हुई प्रतिभा अर्थात् कोई (अनिवंचनीय अपूर्व ही) कवि की शक्ति, उस (शक्ति) से उद्भिन्न अर्थात् नये अँखुए के समान स्वय ही फूट पड़े (समुत्पत्तिवत् हुए), न कि (छोचातानी से) कष्टपूर्वक (कठिनाता से) आकृष्ट किए गए नवीन अर्थात् (मनोहर कल्पना से उद्भावित) अपूर्व सहृदयों को आनन्दित करने में समर्थ (जो) शब्द और

अर्थ अर्थात् अभिधान एवम् अभिधेय, उन दोनों से बन्धुर अर्थात् मनोहर । और किस प्रकार का—बिना (किसी) प्रयत्न से निष्पन्न थोड़े ही मनोहर अलङ्कारों से युक्त अयत्न अर्थात् बिना किसी वलेश के (स्वाभाविक रूप से ही) विहित अर्थात् (निष्पन्न) किया गया जो स्वल्प अर्थात् थोड़ा सा ही मनोहारि अर्थात् हृदय को आह्लादित करनेवाला विभूषण अर्थात् अलङ्कार है जहाँ वह (हुआ) तत्क्षोक्त (सुकुमार भाव) । यहाँ स्वल्प शब्द का प्रयोग प्रकरणादि की अपेक्षा रखने वाला है केवल वाक्यपरक ही नहीं । (अर्थात् प्रत्येक श्लोक में कुछ अलङ्कारों का प्रयोग हो ऐसी कोई अपेक्षा नहीं है अपितु सम्पूर्ण प्रकरण में अयत्न निष्पादित सहृदयहृदयहारी स्वल्प अलङ्कारों की अपेक्षा होती है ।) (इसका) उदाहरण जैते—

बालेन्दुवक्राण्यविकाशभावादु बभूवः पलाशान्यतिनोहितानि ।

सद्यो वसन्तेन समागताना नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ॥ ७४ ॥

(पूर्ण) विकाश न (प्राप्त) होने के कारण बालेन्दु (द्वितीया के चन्द्रमा) के सदृश टेढ़े, अत्यधिक लोहित पलाश (ढाक के फूल), वसन्त (ऋतुरूप नायक) के साथ तत्काल समागम किए हुए वनस्थलियों (अर्थात् तद्रूप नायिकाओं) के नखक्षतों की भाँति शोभायमान हुए ॥ ७४ ॥

अत्र 'बालेन्दुवक्राणि' 'अतिलोहितानि' 'सद्यो वसन्तेन समागतानाम्' इति पदानि सौकुमार्यान् स्वभाववर्णनामात्रपरत्वेनोपात्तान्यपि 'नखक्षतानीव' इत्यलंकरणस्य मनोहारिणः वलेशं विना स्वभावोद्भिन्नत्वेन योजनां भजमानानि चमत्कारितामापद्यन्ते ।

यहाँ पर 'बालेन्दुवक्राणि' (बाल चन्द्रमा के समान टेढ़े) 'अतिलोहितानि' (अत्यधिक रक्तवर्ण के) एवं 'सद्यो वसन्तेन समागतानाम्' (तत्काल वसन्त के साथ समागम करने वाली) ये पद सुकुमार होने के कारण केवल स्वभाव का वर्णन करने के लिये प्रयुक्त होकर भी बिना किसी प्रयत्न के स्वाभाविक रूप से 'नखक्षतानीव' अर्थात् नखक्षतों के समान इस (पद में प्रयुक्त उपमारूप) मनोहर अलङ्कार की योजना को धारण करते हुए चमत्कारपूर्ण हो गये हैं । (अर्थात् यद्यपि 'बालेन्दुवक्राणि' इत्यादि पद पलाशपुष्प की स्वाभाविकता का ही प्रतिपादन करते हैं फिर भी जो नखक्षत से उसकी उपमा दी गई है उसके साथ पूर्णरूपेण योजना रखते हुए, अर्थात् नखक्षत भी टेढ़ा एव खून आ जाने के कारण साल होता है, साथ ही ऐसी सम्भावना नायक-नायिका के समायम काल में ही होती

है। अतः नायक-नायिका रूप में वसन्त एव वनस्थली के पूर्ण सामञ्जस्य को स्थापित करते हुए ये सभी पद एक अपूर्व चमत्कार की सृष्टि करते हैं।)

यश्चान्यच्च कीदृशः—भावस्वभावप्राधान्यन्यकृताहार्यकौशलः।
भावाः पदार्थास्तेषां स्वभावस्तत्त्व तस्य प्राधान्य मुख्यभावस्तेन
न्यकृतं तिरस्कृतमाहार्य व्युत्पत्तिविहितं कौशलं नैपुण्यं यत्र स
तथोक्तः। तदयमभिप्रायः—पदार्थपरमार्थमहिमैव कविशक्तिसमुन्नीलितः,
तथाविधो यत्र विजृम्भते। येन विविधमपि व्युत्पत्तिविलसितं
काव्यान्तरगतं तिरस्कारास्पदं सपद्यते। अत्रोदाहरणं रघुवंशे
मृगयावर्णनपरं प्रकरणम्, यथा—

(इस प्रकार मुकुमार मार्ग की दूसरी विशेषता बता कर अब उसकी तीसरी विशेषता का प्रतिपादन करते हैं—) और जो (मुकुमार मार्ग है वह) अन्य किस प्रकार का है—पदार्थों के स्वभाव की प्रधानता से आहार्य फुलता को तिरस्कृत करने वाला। भाव अर्थात् पदार्थ उनका स्वभाव अर्थात् स्वरूप (परमार्थ तत्त्व), उसका प्राधान्य अर्थात् मुख्यरूपता, उसके द्वारा न्यकृत अर्थात् तिरस्कृत किया गया है आहार्य अर्थात् व्युत्पत्तिजन्य कौशल अर्थात् निपुणता को जिससे, वह (मुकुमार मार्ग होता है) तो इसका अभिप्राय यह है कि यहाँ कवि की (सहज) प्रतिभा से (स्वाभाविक ढङ्ग से) निबद्ध की गई पदार्थों के स्वभाव की महिमा ही उस प्रकार से प्रस्फुटित होती है जिससे अन्य काव्यगत (कवि की) व्युत्पत्ति का, अनेकों प्रकार का विलास भी उपेक्षणीय हो जाता है। यहाँ उदाहरण (रूप में) रघुवंश (महाकाव्य) में (वर्णित) मृगयावर्णन का प्रकरण (लिया जा सकता) है। जैसे—

तस्य स्तनप्रणयिभिर्मुहुरेणशब्दैर्व्याहन्यमानहरिणीगमनं पुरस्तात्।

आविर्गर्भूष कुशगर्भमुखे मृगाणां यूथं तदमसरगवितकृष्णसारम् ॥७६॥

उस (राजा) के सामने तो, आगे चलनेवाले गर्वित कृष्णसार (मृगविशेष) से युक्त, एव स्तनों के प्रणयि (अर्थात् माँ का दूध पीने वाले) मृगछीनों से बार-बार बाधित होते हुए हरिणियों के गमन से युक्त, तथा कुशों के मध्यभाग से युक्त मुख वाले मृगों का समूह, गुजरा ॥ ७६॥

(यहाँ पर मृगों के स्वभाव का ही इतना चमत्कारपूर्ण वर्णन कवि ने प्रस्तुत किया है जिसके आगे अन्य व्युत्पत्ति-विहित कौशलों का कोई महत्त्व नहीं। उससे कहो अधिक परमार्थ स्वभाव का वर्णन ही सहृदयहृदया-ह्लादकारी है।)

यथा च कुमारसम्भव (३।३५)

द्वन्द्वानि भावं क्रियया विवर्त्त ॥ ७७ ॥

और जैसे (दूसरा उदाहरण) कुमारसम्भव मे (३।३५) से उद्धृत किया जा सकता है जहाँ कवि वसन्तऋतु के आगमन का वर्णन करते हुए कहता है कि—वसन्त ऋतु के आगमन काल में जगती पशुपक्षियों के—)
द्वन्द्वो ने (अपने) भावों को क्रिया द्वारा व्यक्त किया ॥ ७७ ॥

इतः परं प्राणिधर्मवर्णनम् , यथा

शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताश्री

मृगीमङ्गण्डयत कृष्णसारः ॥ ७८ ॥

इसी के अनन्तर प्राणियों के धर्म का वर्णन (स्वभाव की प्रधानता से व्युत्पत्तिजन्य कौशल का तिरस्कार कर देने वाला है) जैसे—

कृष्णसार (मृगविशेष) ने (सींगों के) स्पर्श (जन्य आनन्द) से बन्द किए हुए आँखों वाली मृगी को सींग से खुजलाया ॥ ७८ ॥

(यहाँ भी मृग एव मृगी के स्वभाव का वर्णन ही इतना सहृदयों के लिये भमत्कारजनक है कि अन्य व्युत्पत्तिविहित कविकौशल उसके आगे हेय सिद्ध होते हैं ।)

अन्यच्च कीटशः—रसादिपरमार्थज्ञमनःसंवादसुन्दरः । रसाः शृङ्गारादयः । तदादिग्रहणेन रत्यादयोऽपि गृह्यन्ते । तेषां परमार्थः परमरहस्यं तज्ज्ञानन्तीति तज्ज्ञास्तद्विदस्तेषां मनःसंवादो हृदयसंवेदनं स्वानुभवगोचरतया प्रतिभासः, तेन सुन्दरः सुकुमार सहृदय-हृदयाह्लादकारी वाक्यस्योपनिबन्ध इत्यर्थः । अत्रोदाहरणानि रघौ रावण निहत्य पुष्पकेणागच्छतो रामस्य सीतायास्तद्विरहविधुरहृदयेन मयास्मिन्नस्मिन् समुद्देशे किमप्येवंविधं वैशम्यमनुभूतमिति वर्णयतः सर्वाण्येव वाक्यानि । यथा—

और किस प्रकार का है (वह सुकुमार मार्ग)—रसादि के परमार्थ को जानने वालों के मन संवाद से सुन्दर । रस अर्थात् शृङ्गारादि । उस (रस) के साध आदि के ग्रहण के द्वारा रति आदि (स्थायी भावों) का भी ग्रहण हो जाता है । उन (रसादि) का (जो) परमार्थ अर्थात् परम रहस्य (है), उसे जानते हैं जो वे हुये रसादि के परमार्थ को जानने वाले । उनका मन संवाद अर्थात् हादिक ज्ञान अर्थात् स्वानुभवगम्य प्रतीति, उससे सुन्दर अर्थात् सहृदयों के हृदयों को आनन्दित करने वाले सुकुमार वाक्य का निबन्धन (जहाँ होता है वह सुकुमार मार्ग होता है) इस विषय के

उदाहरण रूप में रघुवश (महाकाव्य) में रावण का वध कर पुरुषक विमान से आते हुए, एव सीता से, उन (सीता) के विरह के कारण व्याकुल हृदयवाले हमने इस स्थान पर इस प्रकार किसी कष्ट का अनुभव किया था, ऐसा (अमुक अमुक स्थलों के विषय में) वर्णन करते हुए राम के सभी वाक्य (उद्धृत किये जा सकते हैं) । जैसे—

पूर्वानुभूत स्मरता च रात्रौ कम्पोत्तर भीरु तवोपगूढम् ।

गुहाधिसारीण्यतिघाहतानि मया कथंचिद् धनगर्जितानि ॥ ७६ ॥

हे भयशीले (सीते ! इस स्थान पर) रात्रि में (पहले बादलों के गरजने से डरी हुई) कांपते हुए तुम्हारे आलिङ्गन का स्मरण करते हुए मैंने किसी प्रकार से (बड़े कष्ट के साथ), गुफाओं के भीतर फँस जाने वाली बादलों की गड़गड़ाहट को सहन किया था ॥ ७६ ॥

अत्र राशिद्वयकरणस्यायमभिप्रायो यद् विभावादिरूपेण रसाङ्गभूताः शकुनिरुततरुसलिलकुसुमसमयप्रभृतयः पदार्थाः सातिशयस्वभाववर्णन-प्राधान्येनैव रसाङ्गतां प्रतिपद्यन्ते । तद्व्यतिरिक्ताः सुरगन्धर्वप्रभृतयः सोत्कर्षचेतनायोगिनः शृङ्गारादिरसनिर्भरतया वर्ण्यमानाः सरसहृदया-ह्लादकारितामायातीति कविभिरभ्युपगतम् । तथाविधमेव लक्ष्ये दृश्यते ।

यही पर जो (पहला पशु-पक्षियों के स्वभाव के प्राधान्य का वर्णनरूप, एव दूसरा चेतन पदार्थों का रस-परिपूर्ण ढंग से वर्णनरूप) दो विभाग किए गए हैं उसका यही अभिप्राय है कि रस के अङ्गभूत पक्षियों की ध्वनि, पेड़, जल, कुसुमों के समय आदि पदार्थ, अतिशय सम्पन्न अपने स्वभाव-वर्णन के मुख्यरूप से ही युक्त होकर विभावादिरूप से (वर्णित किए जाने पर) रसों के अङ्ग बनते हैं । (जबकि) उनसे भिन्न-उत्कृष्ट चेतना से युक्त सुर, गन्धर्व आदि शृङ्गारादि रसों की परिपूर्णता के साथ ही वर्णित किए जाने पर सहृदयों के हृदयों को आनन्द प्रदान करते हैं, ऐसा (भेद) कवियों ने स्वीकार किया है और उसी प्रकार का वर्णन भी सद्यः ग्रन्थों के (अर्थानुकांक्षादिको) में प्राप्त भी होता है । (इसीलिये पशु-पक्षियों के वर्णन के लिए—'भावस्वभावप्राधान्यम्यस्कृताहार्यंकीशलः—विशेषण का प्रयोग कर, तथा सुरगन्धर्वादिको के वर्णन के लिये—'रसादिपरमार्थसमनः—सवादसुन्दर' विशेषण देकर दो भेद कर दिए हैं ।)

अन्यरुच कीदृशः—अविभावितसंस्थानरामणीयकरभ्रुकः । अवि-भाविषमनालोपितं संस्थानं संस्थितिर्यत्र तेन रमणीयकेन रमणीयत्वेन

रञ्जक सहृदयाह्लादकः । तेनायमर्थः—यदि तथापि कविकौशलमत्र संभवति तद् व्यपदेश्युक्त्या न कथंचिदपि पार्यते, केवल सर्वातिशायितया चेत्तसि परिस्फुरति । यश्च कीदृशः—विधि-वैदग्ध्यनिष्पन्ननिर्माणातिशयोपमः विधिर्विधाता तस्य वैदग्ध्य कौशल तेन निष्पन्नः परिसमाप्तो योऽसौ निर्माणातिशयः सुन्दरः सर्गोन्लेखो रमणीयरमणीलावण्यादिः स उपमा निदर्शनं यस्य स तथोक्तः तेन विधातुरिव कवेः कौशलं यत्र विवेक्तुमशक्यम् । यथा—

और कैसा है (सुकुमार मार्ग) —अविभावित संस्थान की रमणीयता से आनन्ददायक । अविभावित अर्थात् अनालोचित है संस्थिति अर्थात् अवस्थान जिसमें (अर्थात् जिसकी सत्ता को शब्दों द्वारा नहीं व्यक्त किया जा सकता अपितु जो केवल अनुभवगम्य होती है) उस रमणीयक अर्थात् रमणीयता के द्वारा रञ्जक अर्थात् सहृदयों को आनन्दित करने वाला । इस प्रकार इसका अर्थ यह हुआ कि—यदि उस प्रकार का कविकौशल यहाँ (काव्य में) सम्भव होता है तो वह 'इतना ही है' इस प्रकार किसी भी तरह कहा नहीं जा सकता, वह केवल सबसे अतिशययुक्त रूप में हृदय में स्फुरित होता है (अर्थात् उसे शब्दों द्वारा कहा नहीं जा सकता, उसका केवल अनुभव किया जा सकता है ।) और जो (सुकुमार मार्ग) कैसा है कि—विधि के वैदग्ध्य से निष्पन्न निर्माण के अतिशय के समान । विधि अर्थात् ब्रह्मा (विधाता), उनका (जो) वैदग्ध्य अर्थात् कौशल (चातुर्य), उसके द्वारा निष्पन्न अर्थात् अन्धे प्रकार समाप्त हुआ जो यह निर्माण का अतिशय अर्थात् सुन्दर सृष्टि की रचना, रमणी के रमणीय लावण्यादि वह है उपमा अर्थात् निदर्शन (सद्गुण स्वरूप वाला) जिसका वह हुआ उस प्रकार कहा गया (अविभावित संस्थान युक्त रमणीयता से आह्लादकारी) । इस प्रकार विधाता के (कौशल) की भाँति कवि के कौशल का विवेचन जहाँ नहीं किया जा सकता । ऐसा सुकुमार मार्ग होता है । जैसे—

व्याबन्धनिष्पन्दभुजेन यस्य विनिःश्वसद्वक्त्रपरंपरेण ।

कारागृहे निर्जितवदसवेन दशाननेनोपितमा प्रसादात् ॥ ८० ॥

(यह रघुवश महाकाव्य के छठवें सर्ग का ४० वाँ श्लोक है । इन्दुमती के स्वयंवर में प्रतीप नामक राजा का परिचय देती हुई सुनन्दा उसके पूर्वज कार्तवीर्य को बोरता का परिचय देती हुई कहती है) कि—जिस (कार्तवीर्य अर्जुन) के कारागार में उसके प्रसादपर्यन्त (अर्थात् स्वयं कृपा कर जब

विजैन स्थल से कान-केलि के आनन्द से युक्त पार्वती के द्वारा, मुस्तुराहट के साथ (शिवललाट पर स्थित) चन्द्रकला को घींच कर (अपने) सिर पर स्थापित कर 'क्या मैं इस (चन्द्रमेघा) से शोभायमान हो रही रही हूँ' ऐसा प्रश्न किये गए चन्द्रमौलि (गगवान् शङ्कर) का (पार्वती का बिधा गया) परिचुम्बन रूप उत्तर आप सबकी रक्षा करे ॥ ८१ ॥

अत्र पदानामसमस्तत्वं शब्दार्थरमणीयता विन्यासदैविक्य च त्रितयमपि चकास्ति ।

यहाँ पर पदों का (१) (प्रचुर) समासों से वर्जित होना, (अर्थात् यहाँ जो 'ललाटकुमौलेः' अथवा 'श्रीदारसेन' में समासों का प्रयोग हुआ है वे कोई कठिन अथवा दीर्घ समास नहीं हैं जिनसे कि अर्थ-प्रतीति में कुछ भी बाधा पड़े, अपितु वे एक अपूर्व चमत्कार की ही सृष्टि करते हैं) (२) (कर्णपट्टका आदि दोषों से रहित मनोहर) शब्दों तथा (सदा रस को परिपुष्ट करनेवाले रमणीय) वर्णों का सौन्दर्य, एवं (३) (वाक्य) विन्यास की विविधता, ये तीनों ही (माधुर्य गुण के लिये अपेक्षित वस्तुओं) यहाँ विद्यमान हैं ।

तदेवं माधुर्यमभिधाय प्रसादमभिधत्ते—

अक्लेशव्यञ्जिताकृतं श्रुतित्यर्थसमर्पणम् ।

रसवक्रोक्तिविषयं यत्प्रसादः स कथ्यते ॥ ३१ ॥

'तो इस प्रकार 'माधुर्य' (नामक सुकुमार मार्गों के प्रथम एवं प्रधान गुण) का कथन कर 'प्रसाद' (नामक दूसरे गुण का) अभिधान करते हैं—

(शृङ्गारादि) रस एवं (सर्वातिशयारसामान्य) वक्रोक्तिविषयक अभिप्राय को बनायास ही प्रकट कर देने वाला, एवं अर्थ की तुरन्त प्रतीति कराने वाला जो (गुण) है वह 'प्रसाद' (गुण होता है) ऐसा कहा जाता है ॥ ३१ ॥

श्रुतिप्रथमतरमेवार्थसमर्पणं वस्तुप्रतिपादनम् । कीदृशम्—
अक्लेशव्यञ्जिताकृतम् अकदर्थनाप्रकटिताभिप्रायम् । किंविषयम्—
रसवक्रोक्तिविषयम् । रसाः [शृङ्गारादयः, वक्रोक्तिः सकललङ्कारसामान्यं
विषयो गोचरो यस्य तत्तथोक्तम् । स एव प्रसादादयो गुणो कथ्यते
अथ पदानामसमस्तत्वं प्रसिद्धाभिधानत्वम् अव्यवहितसम्बन्धत्व
समाससद्भावेऽपि गमकसमासयुक्ता च परमार्थः । 'आकृत' शब्दस्ता-
त्पर्यविच्छिन्नौ च वर्तते । उदाहरणं यथा—

ज्ञाति अर्थात् सवप्रथम (सुनने के बाद तुरन्त) अर्थ-समर्पण अर्थात् वस्तु का प्रतिपादन (करने वाला) । किस प्रकार (के अर्थ का प्रतिपादन) बिना क्लेश के अभिप्राय को व्यक्त करने वाले अर्थात् अनायास ही अभिप्राय को प्रकट कर देने वाले (अर्थ का समर्पण) । किस विषय (से सम्बन्धित) रस एव वक्रोक्ति विषयक । रस अर्थात् शृङ्गारादि वक्रोक्ति अर्थात् ममस्त अलङ्कारों में सामान्यभूत (वाग्विच्छित्ति) है विषय अर्थात् गोचर जिनका वह दृष्टा तथोक्त (रसवक्रोक्तिविषयक अभिप्राय) उसे ही बिना वष्ट के व्यक्त करने वाला) वह ही 'प्रसाद' नामक (सुकुमार मार्ग का दूसरा) गुण कहा जाता है । यहाँ (इस 'प्रसाद' नामक गुण का) परम रहस्य है—पदों का (१) समास से वंजित होना, (२) प्रतिद्ध (ही अर्थ) का अभिप्राय करना (३) (अर्थ के साथ) साक्षात् (अव्यवहित, सम्बन्ध होना, एव (४) समास के विद्यमान होने पर भी (सरलतापूर्वक अर्थ की) प्रतीति करने वाले समास से युक्त होना । (इस कारिका में जो) 'आकृत' शब्द (का उपादान किया गया है वह) तात्पर्य की विच्छित्ति (रमणीयता के अर्थ) में किया गया है । (अर्थात् रमणीय तात्पर्य वाली वस्तु को अनायास व्यक्त करने वाला प्रसाद नामक गुण होता है ।) उदाहरण जैसे—

हिमव्यपायाद्विशदाधराणामापाण्डुतीभूतमुखरुद्धवीनाम् ।

स्वेदोद्गम किंपुरुषाङ्गनानां चक्रे पद् पत्रविशेषकेषु ॥ ८२ ॥

शीत के व्यतीत हो जाने से स्वच्छ अधरो वाली एव गौर वर्ण की मुख-कान्ति से युक्त किशोरी की सुन्दरिणी के (मस्तक पर स्थित) पलाश के तिलको (पत्रविशेषको) में पसीने के आविर्भाव ने अपना स्थान बना लिया (अर्थात् गर्मी के कारण मायो पर पसीना आने लगा) ॥ ८२ ॥

अत्रासमस्तत्वादिसामग्री विद्यते । यदपि विविधपत्रविशेषक-वैचित्र्यविहितं किमपि वदनसौन्दर्यं मुक्ताकणाकारस्वेदलवोपबृंहितं तदपि सुव्यक्तमेव । यथा वा—

यहाँ पर (प्रचुर) समास का अभाव आदि (प्रसाद गुण की) सम्पूर्ण सामग्री विद्यमान है । और जो भी विविध पत्र के विशेषको के वैचित्र्य से उत्पन्न कोई (अनिर्णीय) मुख की सुन्दरता मुक्ताकणों के आकार वाले स्वेदकणों से परिपूर्ण की गई है, (अर्थात् जिसमें तात्पर्य (अभिप्राय) की विच्छित्ति है) वह भी सुस्पष्ट हो है । (अतः यहाँ प्रसाद गुण स्वीकार किया गया है) । अथवा जैसे (दूसरा उदाहरण)—

तक उसने कारागार से मुक्त नहीं कर दिया तबतक) घनुष की डोरी से बंधी होने के कारण स्पन्दरहित भुजाओ वाले, (अत्यधिक कष्ट के कारण) निश्वास लेते हुए (दसो) मुखो की परम्परा वाले एव इन्द्र को पराजित करने वाले रावण ने निवास किया था । (ऐसे कार्तवीर्य का यह वशज है) ॥ ८० ॥

अत्र व्यपदेशप्रकारान्तरनिरपेक्षः कविशक्तिपरिणामः परं परिपाकमधिरूढः ।

यहाँ (इस श्लोक में) दूसरे प्रकार के कथन की अपेक्षा न रखने वाला कवि की (सहज) प्रतिभा का परिणाम अत्यन्त ही परिपोष को प्राप्त हो गया है । अर्थात् कवि ने रावण के लिए जिन विशेषणों का प्रयोग किया है उन्हें अब किसी अन्य शब्द द्वारा व्यक्त किये जाने की अपेक्षा नहीं । तात्पर्य यह कि 'निजितवासवेन' अर्थात् जिसने इन्द्र को पराजित किया था उसो को कार्तवीर्य ने 'विनिश्चसद्वक्त्रपरम्परेण' अर्थात् निश्वास लेती हुई दसो मुखो की परम्परा वाला बना दिया है कहीं देवराज इन्द्र को जीतने वाला रावण कहीं, उसकी यह दशा कि वहाँ एक दो मुखो से नहीं बल्कि सभी मुखो से हाँके वह भी किसी भारी कष्ट द्वारा पीड़ित किये जाने पर नहीं बल्कि एक मामूली घनुष की डोरी से बंधे जाने के कारण बीसो भुजाओ के स्पन्द से रहित 'ज्याबन्धनिष्पन्दभुजेन' । इस प्रकार यहाँ रावण के लिए प्रयुक्त सभी विशेषण किसी एक अपूर्व चमत्कार के जनक हैं उन्हें किसी अन्य व्यपदेश की आवश्यकता नहीं) ।

एतस्मिन् कुलके—प्रथमश्लोके प्राधान्येन शब्दालंकरणयोः सौन्दर्यं प्रतिपादितम् । द्वितीये वर्णनीयस्य वस्तुनः सौकुमार्यम् । तृतीये प्रकारान्तरनिरपेक्षस्य संनिवेशस्य सौकुमार्यम् । चतुर्थे वैचित्र्यमपि सौकुमार्यविसंवादि विधेयमित्युक्तम् । पञ्चमो विषय-विषयिसौकुमार्यप्रतिपादनवरः ।

इस (२५ से २६ कारिका वाले) कुलक में, प्रथम श्लोक (२६ वी कारिका) में मुख्यरूप से शब्द तथा अलङ्कारों के सौन्दर्य की प्रतिपादित किया गया है । दूसरे (श्लोक २६ वी कारिका) में वर्ण्य वस्तु की सुकुमारता (का प्रतिपादन किया गया है) । तीसरे (श्लोक २७ वी कारिका) में प्रकारान्तर की अपेक्षा न रखने वाली सघटना की सुकुमारता (प्रतिपादित की गई है) चौथे (श्लोक २८ वी कारिका) में सुकुमारता के अनुरूप ही वैचित्र्य की सृष्टि करना चाहिए ऐसा कहा गया है । एव पाचवों (श्लोक

२१वीं कारिका सुकुमार मार्ग के) विषय और विषयी की सुकुमारता का प्रतिपादन करता है ।

एवं सुकुमाराभिधानस्य मार्गस्य लक्षणं विधाय तस्यैव गुणान् लक्षयति—

असमस्तमनोहारिपदविन्यासजीवितम् ।

माधुर्यं सुकुमारस्य मार्गस्य प्रथमो गुणः ॥ ३० ॥

इस प्रकार 'सुकुमार' नामक मार्ग का लक्षण बता कर उसी (सुकुमार मार्ग) के गुणों को लक्षित करते हैं—

* समास (की प्रचुरता से) हीन हृदयहारी पदों के विन्यासरूप प्राण वाला 'माधुर्य' (नामक गुण) सुकुमार मार्ग का पहला गुण है ॥ ३० ॥

असमस्तानि समासवर्जितानि मनोहारीणि हृदयाह्लादकानि श्रुतिरम्यत्वेनार्थरमणीयत्वेन च यानि पदानि सुप्तिङन्तानि तेषां विन्यासः सन्निवेशवैचित्र्यं जीवितं सर्वस्वं यस्य तत्तयोक्तं माधुर्यं नाम सुकुमारलक्षणस्य मार्गस्य प्रथमः प्रधानभूतो गुणः । असमस्तशब्दोऽत्र प्राचुर्यार्थः, न समासाभावनियमार्थः । उदाहरणं यथा—

असमस्त अर्थात् समास से हीन मनोहारी अर्थात् सुनने में मनोहर एवं अर्थ से भी मनोहर होने के कारण (सहृदय) हृदयों को आह्लादित करने वाले, जो पद अर्थात् सुबन्त एव तिङन्त पद, उनका (जो) विन्यास अर्थात् सघटना का वैचित्र्य (बही है) जीवित अर्थात् सर्वस्व जिसका यह हुआ तथोक्त (असमस्त एव मनोहारि पदों के विन्यासरूप जीवित वाला) माधुर्य नामक, सुकुमार रूप मार्ग का प्रथम अर्थात् प्रधानभूत गुण । असमस्त पद यहाँ प्राचुर्य अर्थ का बोधक है (अर्थात् समास के प्रचुर प्रयोग का निषेध करने वाला है) न कि समास के (पूर्ण) अभाव का नियम करने के अर्थ में (कि समास बिल्कुल हो ही नहीं) । तात्पर्य यह कि समस्त पदों का प्रयोग किया जा सकता पर प्रचुरता से नहीं क्योंकि प्रचुरता से किया गया समास सुकुमारता में बाधक होगा ।) इसका उदाहरण जैसे—

श्रीधारसेन रहसि स्मितपूर्वमिन्दो-

ल्लेखं विकृष्य विनिबन्ध्य च मूर्ध्नि गौर्या ।

* किं शोमिताद्मनयेति शराङ्गमौलेः

पृष्ठस्य पातु परिशुम्भनमुत्तरं वः ॥ ८१ ॥

निर्जन स्थल में काम-केसि के आनन्द से युक्त पार्वती के द्वारा, भुस्सुराहट के साथ (शिवललाट पर स्थित) चन्द्रकला को धींच कर (अपने) सिर पर स्थापित कर 'क्या मैं इस (चन्द्रलेखा) से शोभायमान हो रही रही हूँ' ऐसा प्रश्न किये गए चन्द्रमौलि (भगवान् शङ्कर) का (पार्वती का किया गया) परिपुम्बन रूप उत्तर आप सबकी रक्षा करे ॥ ८१ ॥

अत्र पदानामसमस्तत्वं शब्दार्थरमणीयता विन्यासवैचित्र्य च त्रितयमपि चकास्ति ।

यहाँ पर पदों का (१) (प्रचुर) समासों से वज्रित होना, (अर्थात् यहाँ जो 'शशाङ्कमौले' अथवा 'क्रीडारसेन' में समासों का प्रयोग हुआ है वे कोई कठिन अथवा दोष समास नहीं हैं जिनसे कि अप्र-प्रतीति में कुछ भी बाधा पड़े, अर्थात् वे एक अपूर्व चमत्कार की ही सृष्टि करते हैं) (२) (कर्णपट्टका आदि दोषों से रहित मनोहर) शब्दों तथा (सद्य रस को परिपुष्ट करनेवाले रमणीय) अर्थों का सौन्दर्य, एवं (३) (वाक्य) विन्यास की विविधता, ये तीनों ही (माधुर्य गुण के लिये अपेक्षित वस्तुएँ) यहाँ विद्यमान हैं ।

सदेवं माधुर्यमभिधाय प्रसादमभिपत्ते—

अक्लेशन्यञ्जिताकूतं झगित्यर्थसमर्पणम् ।

रसवक्रोक्तिविषयं यत्प्रसादः स कथ्यते ॥ ३१ ॥

तो इस प्रकार 'माधुर्य' (नामक सुकुमार भाष्य के प्रथम एवं प्रधान गुण) का कथन कर 'प्रसाद' (नामक दूसरे गुण का) अभिधान करते हैं—

(शृङ्गारादि) रस एवं (सर्वालङ्कारसामान्य) वक्रोक्तिविषयक अभिप्राय को अनायास ही प्रकट कर देने वाला, एवं अर्थ की तुरन्त प्रतीति कराने वाला जो (गुण) है वह 'प्रसाद' (गुण होता है) ऐसा कहा जाता है ॥ ३१ ॥

मगिति प्रथमतरमेवार्थसमर्पणं वस्तुप्रतिपादनम् । कीदृशम्—
अक्लेशन्यञ्जिताकूतम् अकदर्थनाप्रकटिताभिप्रायम् । किंविषयम्—
रसवक्रोक्तिविषयम् । रसाः [शृङ्गारादयः, वक्रोक्तिः सकललङ्कारसामान्यं
विषयो गोचरो यस्य तत्तद्योक्तम् । स एव प्रसादादयो गुणो कथ्यते
भण्यते । अत्र पदानामसमस्तत्वं प्रसिद्धाभिधानत्वम् अव्यवहितसम्बन्धत्व
समाससद्भावेऽपि गमकसमासयुक्तता च परमार्थः । 'आकूत' शब्दस्ता-
त्पर्यविच्छिन्नो च वर्तते । उदाहरणं यथा—

क्षगिति अर्थात् सबप्रथम (सुनने के बाद तुरन्त) अर्थ-समर्पण अर्थात् वस्तु का प्रतिपादन (करने वाला) । किस प्रकार (के अर्थ का प्रतिपादन) बिना वनेश के अभिप्राय को व्यक्त करने वाले अर्थात् अनायास ही अभिप्राय को प्रकट कर देने वाले (अर्थ का समर्पण) । किस विषय (से सम्बन्धित) रस एव वक्रोक्ति विषयक । रस अर्थात् शृङ्गारादि वक्रोक्ति अर्थात् समस्त अलङ्कारों में सामान्यभूत (वाग्विच्छित्ति) है विषय अर्थात् गोचर जिसका वह हुआ तथोक्त (रसवक्रोक्तिविषयक अभिप्राय) उसे ही बिना कष्ट के व्यक्त करने वाला) वह ही 'प्रसाद' नामक (सुकुमार मार्ग का दूसरा) गुण कहा जाता है । यहाँ (इस 'प्रसाद' नामक गुण का) परम रहस्य है—पदों वा (१) समास से वञ्चन होना, (२) प्रसिद्ध (ही अर्थ) का अभिप्राय करना (३) (अर्थ के साथ) साक्षात् (अव्यवहित) सम्बन्ध होना, एव (४) समास के विद्यमान होने पर भी (सरलतापूर्वक अर्थ की) प्रतीति कराने वाले समास से युक्त होना । (इस कृत्तिका में जो 'आकृत' शब्द (का उपादान किया गया है वह) तात्पर्य की विच्छित्ति (रमणीयता के अर्थ) में किया गया है । (अर्थात् रमणीय तात्पर्य वाली वस्तु को अनायास व्यक्त करने वाला प्रसाद नामक गुण होता है ।) उदाहरण जैसे—

हिमव्यपायाद्विशदाधराणामापरण्डुरीभूतमुखच्छवीनाम् ।

स्वेदोद्गमः किंपुरुषाङ्गनानां चक्रे पदं पत्रविशेषकेषु ॥ ८२ ॥

जीत के व्यतीत हो जाने से स्वच्छ अधरो वाली एव गौर वर्ण की मुख-कान्ति से युक्त किन्नरों को सुन्दरियों के (मस्तक पर स्थित) पलाश के तिलको (पत्रविशेषको) में पसीने के आबिर्भाव ने अपना स्थान बना लिया (अर्थात् गर्मों के कारण भाग्य पर पसीना जाने लगा) ॥ ८२ ॥

अत्रासमस्तत्वादिसामग्री विद्यते । यदपि विविधपत्रविशेषक-वैचित्र्यविहितं किमपि वदनसौन्दर्यं मुक्ताकणाकारस्वेदलवोपवृद्धितं तदपि सुव्यक्तमेव । यथा वा—

यहाँ पर (प्रचुर) समास का अभाव आदि (प्रसाद गुण की) सम्पूर्ण सामग्री विद्यमान है । और जो भी विविध पत्र के विशेषको के वैचित्र्य से उत्पन्न कोई (अनिर्दिष्टनीय) मुख की सुन्दरता मुक्ताकणों के आकार वाले स्वेदकणों से परिकल्पित की गई है, (अर्थात् जिसमें तात्पर्य (अभिप्राय) की विच्छित्ति है) वह भी सुस्पष्ट ही है । (अतः यहाँ प्रसाद गुण स्वीकार किया गया है) । अथवा जैसे (दूसरा उदाहरण)—

अनेन साधं विहराम्बुराशेस्तीरेषु ताडीवनमर्मरेषु ।

द्वीपान्तरानीतलवज्जपुष्पैरपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः ॥ ८३ ॥

(इन्दुमती स्वयंवर के प्रसंग में कलिङ्ग-नरेश हेमाङ्गद का परिचय देते हुए सुनन्दा इन्दुमती से कहती है कि आप) ताडी के जङ्गलों के मर्मर शब्दों से युक्त सागर के किनारों पर दूसरे द्वीपों से लवङ्ग पुष्पों की लाने वाली हवा के द्वारा पसीने की बूंदों को सुखते हुए इस (कलिङ्ग नरेश हेमाङ्गद) के साथ विहार करें ॥ ८३ ॥

अलङ्कारव्यक्तिर्यथा —

बालेन्दुवक्राणि, इति ॥ ८४ ॥

(यहाँ पर भी प्रचुर समासों का अभाव इत्यादि प्रसाद गुण की समस्त सामग्री विद्यमान है । साथ ही 'अपाकृतस्वेदलवा' के द्वारा जो सुरतजग्य रोद के कारण उत्पन्न हुए स्वेदकणों का संकेत किया गया है वह भी सुस्पष्ट है । इस प्रकार रसविषयक अभिप्राय व्यक्त करने के दो उदाहरण देकर) अलंकार व्यक्ति (का उदाहरण देते हैं) जैसे—

बास चन्द्रमा के समान देदे इत्यादि पूर्वोक्त उदाहरण सख्या ७५ पर उदाहृत पद्य है ॥ ८४ ॥ (इसका अर्थ वही देखें) । (इस पद्य में रुमास के अभाव के साथ-साथ अर्थ की स्पष्टता आदि प्रसाद गुण की समग्र सामग्री की विद्यमानता के साथ-साथ 'नखसतानीव' से प्रयुक्त उपमासकार बड़े ही रमणीय ढंग से व्यक्त हुआ है) ।

एव प्रसादमभिधाय-लावण्यालक्ष्यति—

वर्णविन्यासविच्छित्तिपदसंधानसंपदा ।

स्वल्पया वन्धसौन्दर्यं लावण्यमभिधीयते ॥ ३२ ॥

इस प्रकार (सुकुमार मार्ग के 'द्वितीयगुण') प्रसाद का कथन कर (तृतीयगुण) लावण्य को लक्षित करते हैं—

असरो की विविध सघटना की शोभा से (लक्षित) पदों की योजना की अत्यल्प संपत्ति से (उत्पन्न शोभा द्वारा निष्पन्न) वाक्य-रचना का सौन्दर्य 'लावण्य' नामक गुण कहा जाता है ॥ ३२ ॥

बन्धो वाक्यविन्यासस्तस्य सौन्दर्यं रामणं च लावण्यमभिधीयते लावण्यमित्युच्यते । कीदृशम्—वर्णानाम्बराणां विन्यासो विविध न्यसनं तस्य विच्छित्तिः—शोभा वैदग्ध्यमङ्गी तथा लक्षितं पदानां सुप्तिङन्तानां संधानं संयोजनं तस्य सम्पत्, सापि शोभैव,

तथा लक्षितम् । कीदृश्या—उभयरूपयापि स्वल्पया मनाङ्गमात्रया नातिनिबन्धनिर्मितया । तदयमत्रार्थः शब्दार्थसौकुमार्यसुभगः सन्निवेशमहिमा लावण्याख्यो गुणः कथ्यते । यथा—

बन्ध अर्थात् वाक्य की विशेष सघटना, उसका सौन्दर्य अर्थात् रमणीयता लावण्य कही जाती है अर्थात् “लावण्य नामक गुण” के द्वारा उसका कथन किया जाता है । कैसा (बन्ध सौन्दर्य)—वर्णों अर्थात् अक्षरों का विन्यास अर्थात् विचित्र सघटना उसकी विच्छित्ति अर्थात् शोभा विदग्धतापूर्ण भङ्गिमा इसके द्वारा लक्षित—मुबन्त तथा तिङन पदों का सन्धान अर्थात् सम्पक् योजना उसकी सम्पत्ति अर्थात् शोभा उनसे लक्षित अर्थात् सयुक्त (बन्धसौन्दर्य) । भौंसी (सम्पत्ति) के द्वारा—उभयरूप सम्पत्ति के द्वारा (अर्थात्—(१) वर्णों के विचित्रन्यास से जन्य शोभा (२) तथा उससे युक्त पदयोजना की शोभा इन दोनों से जो) स्वल्प अर्थात् अत्यन्त थोड़ी एव बिना अधिक प्रयास के निमित्त की हुई (अर्थात् स्वाभाविक रूप से उत्पन्न शोभा के द्वारा) । इसका यहाँ यह अर्थ हुआ कि—शब्द और अर्थ की सुकुमारता से रमणीय सघटना की शोभा लावण्य नामक गुण कही जाती है । जैसे—

स्नानार्द्रमुक्तेष्वनुधूपवास विन्यस्तसायन्तनमल्लिकेषु ।

कामो वसन्तात्ययमन्दवीर्यः केशेषु लेभे बलमङ्गनानाम् ॥ ८५ ॥

नहाने के कारण गीले हो जाने से खूँटे एव धूप से सुगन्धित किये जाने के अनन्तर सायंकाल गूँथे गये बेला के पुष्पों से युक्त सुन्दरियों के केशकलाप में, वसन्तऋतु रूप अपने सुहृद् का विनाश हो जाने से (अर्थात् वसन्त की समाप्ति पर) मन्द हो गये पराक्रम वाले कामदेव ने शक्ति प्राप्त किया ॥ ८५ ॥

अत्र सन्निवेशसौन्दर्यमहिमा सहृदयसवेद्यो न व्यपदेष्टु पार्यते । यथा वा—

चकार बाणैरसुराङ्गनानां गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेखाः ॥ ८६ ॥

यहाँ पर सघटना के सौन्दर्य की शोभा का कथन नहीं किया जा सकता क्योंकि वह केवल सहृदय-हृदय के द्वारा अनुभवगम्य है । (अर्थात् इस श्लोक में जो वर्ण-विन्यास की विच्छित्ति है अर्थात् सुकुमार वर्णों का मनोहारी विन्यास है उसकी शोभा एवम् पदों की जो मनोहारी योजना है, उसकी शोभा दोनों का केवल अनुभव किया जा सकता है शब्दों द्वारा नहीं व्यक्त किया जा सकता । अथवा जैसे (इसी का दूसरा उदाहरण)—

(रघुवंश महाकाव्य के इन्दुमती-स्वयंवर के प्रकरण में इन्दुमती से राजा ककुत्स्थ का परिचय देती हुई कहती है कि ये वे ही राजा ककुत्स्थ हैं

विग्रहीते संग्राम मे) बाणो के द्वारा (राक्षसों का वधकर) राक्षसों की पत्नियों की कपोतस्थली को (उनके विग्रहा हो जाने के कारण सदा के लिए) पत्र-रचना (रूप प्रसाधन) से निर्मुक्त कर दिया या ॥ ८६ ॥

अत्रापि वर्णविन्यासविच्छित्तिः पदसन्धानसम्पन्न सन्निवेशसौन्दर्य-निबन्धनस्फुटावभासैव ।

यहाँ पर वाक्य-सघटना के सौन्दर्य की कारणभूत वर्णों के विविन्न सन्निवेश से अन्य शोभा तथा पदों की सम्पक् योजना की शोभा स्पष्ट रूप से क्षमकती है ।

एवं लावण्यमभिधाय आभिजात्यमभिधत्ते—

श्रुतिपेशलतांशालि सुस्पर्शमिव चेतसा ।

स्वभावमसृणच्छायमभिजात्यं प्रचक्षते ॥ ३३ ॥

इस प्रकार सुकुमार मार्ग के माधुर्य, प्रसाद तथा लावण्य तीन गुणों का प्रतिपादन कर अब चौथे गुण आभिजात्य का कथन करते हैं—

सुनने में रमणीयता से सम्पन्न एवम् हृदय के साथ सुन्दर स्पर्श के समान स्वभावतः स्निग्ध कति से युक्त वस्तु आभिजात्य नामक गुण नहीं जाती है ॥ ३३ ॥

एवंविधं वस्तु आभिजात्यं प्रचक्षते आभिजात्याभिधानं गुणं वर्णयन्ति । श्रुति. श्रवणेन्द्रियं तत्र पेशलता रमणीयकं तेन शालते रक्षायते यत्तयोक्तम् । सुस्पर्शमिव चेतसा मनसा सुस्पर्शमिव । सुखेन स्पृश्यत इवेत्यतिशयोक्तिरियम् । यस्मादुभयमपि स्पर्शयोग्यत्वे सति सौकुमार्यात् किमपि चेतसि स्पर्शसुखमर्पयतीव । यतः स्वभावमसृणच्छायम् अहायेऽदृष्टकान्ति यत्तद् आभिजात्यं कथयन्तीत्यर्थः । यथा—

इस प्रकार की वस्तु आभिजात्य कही जाती है अर्थात् उसे आभिजात्य नामक गुण कहते हैं । श्रुति अर्थात् श्रवणेन्द्रिय कर्ण वहाँ जो पेशलता अर्थात् सौन्दर्य होता है उससे जो शालित सुशोभित होता है वह हुआ तपोक्त श्रुति की रमणीयता से सुशोभित होनेवाला । चित्त के साथ सुस्पर्श की भाँति अर्थात् मन के साथ सुखदायी स्पर्श की तरह । सुखपूर्वक स्पर्श किया जाता है जिसका उसके समान—यहाँ अतिशयोक्ति है । क्योंकि दोनों ही स्पर्श को योग्यता के विद्यमान रहने पर सुकुमारता के कारण किसी अपूर्व स्पर्शसुख को हृदय में उत्पन्न करते हैं । क्योंकि जो स्वभाव से असृण छाया वाता

अर्थात् स्वाभाविक (न कि व्युत्पत्तिजन्य) स्निग्धकान्ति से युक्त होता है, उसे आभिजात्य नामक गुण कहा जाता है जैसे—

व्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बह्वं भवानी ।

पुत्रप्रीत्या कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति ॥ ८७ ॥

(मेघदूत काव्य मे देवगिरि पर स्थित स्वामिकार्तिकेय के वाहनभूत मयूर को नाचने के लिए प्रेरित करने के लिए कहते हुए यदा मेघ से उस मयूर की विशेषता बताते हुए कहता है कि)—

जिस (स्वामिकार्तिकेय के वाहन मयूर) के कान्तिमय रेखा के बलयवाले गिरे हुए पक्ष को भवानी (पार्वती स्वामिकार्तिकेय की माता अपने-) पुत्र के प्रेम के कारण कमलदल से युक्त कान में (धारण) करती हैं । अर्थात् कर्णधारण के रूप में उस पंख का प्रयोग भवानी करती हैं ॥ ८७ ॥

अत्र श्रुतिपेशलतादि स्वभावमसृणच्छायात्वं किमपि सहृदयसंवेधं परिस्फुरति ।

यहाँ पर श्रुतिरमणीयतादि तथा स्वभावतः स्निग्ध कान्तियुक्तता कोई अपूर्व एवम् अनिवार्य सहृदयों का अनुभवमय तत्त्व परिस्फुरित होता है ।

ननु च लावण्यमाभिजात्यं च लोकोत्तरतरुणीरूपलक्षणवस्तुधर्मतया यत् प्रसिद्धं तत् कथं काव्यस्य भवितुमर्हतीति चेत्तत्र । यस्मादनेन न्यायेन पूर्वप्रसिद्धयोरपि माधुर्यप्रसादयोः काव्यधर्मत्वं विषटते । माधुर्यं हि गुडादिमधुरद्रव्यधर्मतया प्रसिद्धं तथाविधाहादकारित्वसामान्योपचारात् काव्ये व्यपदिश्यते । तथैव च प्रसादः स्वच्छसलिलस्फटिकादि-धर्मतया प्रसिद्धः स्फुटतावभासित्वसामान्योपचारात् भगितिप्रतीति-पेशलतां प्रतिपद्यते । तद्वदेव च काव्ये कविशक्तिशैलीश्लिखितकान्ति-कमनीयं बन्धसौन्दर्यं चेतनचमत्कारकारित्वसामान्योपचाराज्जावण्यशब्द-व्यतिरेकेण शब्दान्तराभिधेयतां नोत्सहते । तथैव च काव्ये स्वभावम-सृणच्छायात्वमाभिजात्यशब्देनाभिधीयते ।

(पूर्वपक्षी प्रश्न करता है कि) लावण्य और आभिजात्य जो अलौकिक तरुणी के सौन्दर्यरूप वस्तु के धर्मरूप से प्रसिद्ध है वह काव्य का गुण रूप कैसे हो सकता है ? इस बात का उत्तर देते हुए कहते हैं कि यह प्रश्न ठीक नहीं क्योंकि इस न्याय का आशय करने से पूर्वप्रसिद्ध माधुर्य एवं प्रसाद गुण भी काव्य के धर्म न हो सकेंगे क्योंकि गुड़ आदि मीठे पदार्थों के

धर्म के रूप में प्रसिद्ध [माधुर्य गुण भी उसी प्रकार (गुह इत्यादि मधुर द्रव्यों की भाँति) आह्लादजनकता रूप सादृश्य के कारण उपचार से (लक्षणया) काव्य में (माधुर्य गुण के रूप में) कहा जाता है । उसी प्रकार स्वच्छ जल अथवा स्फटिक मणि आदि (द्रव्यों के) धर्म रूप से प्रसिद्ध प्रसाद गुण भी स्पष्ट रूप से (अर्थ को) प्रकट कर देने रूप सादृश्य के आधार पर उपचार से (काव्य के प्रसाद गुण के रूप में प्रसिद्ध होकर) सदा अर्थ-प्रतीति की रमणीयता को प्राप्त होता है । तथा उसी प्रकार कवि की सहज प्रतिभा के कौशल से निष्पन्न की गयी कान्ति से रमणीय वाक्य-विन्यास का सौन्दर्य सहृदयों को आनन्द प्रदान करने रूप सामान्य के आधार पर उपचार से सावध्य शब्द से भिन्न किसी अन्य शब्द के द्वारा अभिव्येता को नहीं सहन कर पाता (अर्थात् उसे केवल सावध्य शब्द के द्वारा ही व्यक्त किया जा सकता है) तथा उसी प्रकार काव्य में स्वाभाविक रूप से स्निग्ध कान्तिपुक्तता आभिजात्य शब्द के द्वारा कही जाती है (जैसे—रमणी आदि के अलौकिक सहज स्निग्ध कान्ति को आभिजात्य कहते हैं इन दोनों में भी उपचार का हेतु सहृदयहृदयाह्लादकारित्व रूप सामान्य ही है ।)

ननु च कैश्चित्प्रतीयमानं वस्तु! ललनालावण्यश्रान्धालावण्यमित्युत्पादितप्रतीति—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।

यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तमाभातिः सावध्यमिवाङ्गनासु ॥ ८८ ॥

(पूर्वपक्षी यह प्रश्न करता है कि) कुछ (आनन्दवर्द्धन आदि आचार्यों) ने मुन्दरियों के सावध्य के साम्य के कारण प्रतीयमान (रम्य) वस्तु को सावध्य ऐसा कहा है—

वाक्य को उपमा आदि प्रकारों से प्रसिद्ध बताकर प्रतीयमान रूप अर्थ के दूसरे भेद का प्रतिपादन करते हैं—

कि महाकवियों की वाणी के प्रतीयमान नामक वस्तु दूसरी ही (वाक्य से भिन्न वस्तु) है, जो अङ्गनाओं में उनके प्रसिद्ध अवयवों से भिन्न सावध्य के समान विशेषरूप से सुशोभित होती है ॥ ८८ ॥

तत्कथं बन्धसौन्दर्यमात्रं लावण्यमित्यभिधीयते ? नैष टोषः, यस्मादनेन दृष्टान्तेन वाच्यवाचकलक्षणप्रसिद्धावयवव्यतिरिक्तत्वास्तित्वमात्रं साध्यते प्रतीयमानस्य, न पुनः सकललोकलोचनसंघेद्यस्य ललनालावण्यस्य । सहृदयहृदयानामेव सर्वेषां सत् प्रतीयमानं समीक्षुपायते ।

आपने केवल बन्ध-सौन्दर्य को ही लावण्य कहे कहा ? (इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि) यह कोई दोष नहीं है क्योंकि इस दृष्टान्त के द्वारा (आनन्दवर्द्धन) वाच्य-वाचक रूप से प्रतिद्ध अवयवों से भिन्न प्रतीयमान (वस्तु) की सत्तामात्र का प्रतिपादन करते हैं न कि समस्त लोक के नेत्रों द्वारा जाने जा सकने योग्य सलना के लावण्य के साथ केवल सहृदयों के हृदयों द्वारा अनुभव किये जा सकने वाले प्रतीयमान अर्थ को समान किया जा सकता है । (अर्थात् सलना का लावण्य सभी लोग जान सकते हैं जब कि प्रतीयमान अर्थ का अनुभव केवल सहृदय ही कर सकते हैं तो भला वे दोनों समान कैसे हो सकते हैं ? अतः आनन्दवर्द्धन ने केवल प्रतिद्ध उपमा आदि वाच्य रूप अवयवों से भिन्न प्रतीयमान वस्तु की सत्तामात्र का निर्देश किया है) ।

(लेकिन मैंने जो काव्य के लावण्य गुण की सलना के लावण्य के साथ समता स्थापित की है उसका यही कारण है कि)

तस्य बन्धसौन्दर्यमेवाव्युत्पन्नपदपदार्थानामपि श्रवणमात्रेणैव हृदयहारित्वस्पर्धया व्यपदिश्यते । प्रतीयमानं पुनः काव्यपरमार्थ-ज्ञानामेवानुभवगोचरतां प्रतिपद्यते । यथा कामिनीनां किमपि सौभाग्यं तदुपभोगोचितानां नायकानामेष सवेद्यतामर्हति, लावण्यं पुनस्तासामेव सत्कविगिरामिष सौन्दर्यं सकललोकगोचरतामायातीत्युक्तमेवेत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

उस (काव्य) का बन्ध सौन्दर्य ही पद और पदार्थ को न जानने वाले (सहृदयभिन्न) लोगों के भी सुनने मात्र से मनोहर होने के कारण (सलना लावण्य, जो कि समस्तलोक लोचनगोचर होता है उसकी) स्पर्धा से कपन किया जा सकता है । (अर्थात् जैसे सलना का लावण्य सभी पाणियों को आनन्द प्रदान करता है चाहे वे सहृदय हो अथवा असहृदय हो उसी प्रकार काव्य का बन्ध सौन्दर्य भी सभी के हृदयों को केवल श्रवण मात्र से आनन्दित कर देता है, चाहे वे पद एवं पदार्थ को समझने वाले सहृदय हो अथवा पद-पदार्थ ज्ञान से हीन असहृदय) । जब कि प्रतीयमान अर्थ केवल काव्य के परामर्श को जानने वाले । (सहृदयों के ही अनुभव का विषय बनता है जैसे कामिनियों का कोई अनिवर्चनीय सौभाग्य (सौन्दर्य)-उनका उपभोग करने योग्य नायकों का ही अनुभवगम्य होता है जब कि उन्हीं का लावण्य श्रेष्ठ कवियों की वाणी के सौन्दर्य की भाँति समस्त लोक के ज्ञान का विषय बनता है यह कहा ही जा चुका है अतः इस अतिप्रसंग की आवश्यकता नहीं ।

एवं सुकुमारस्य लक्षणमभिधाय विचित्रं लक्षयति—

प्रतिभाप्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता ।

शब्दाभिधेययोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते ॥ ३४ ॥

इस प्रकार सुकुमार-भाग का लक्षण करने के उपरान्त विचित्र-भाग का लक्षण करते हैं—

जहाँ कवि की शक्ति की प्रथम ही उत्प्रेक्ष के समय शब्द और अर्थ के अन्दर (उक्तिवैचित्र्य रूप) वक्रता स्फुरित होती हुई सी प्रकाशित होती है ॥ ३४ ॥

अलंकारस्य कवयो यत्रालंकरणान्तरम् ।

असंतुष्टा निबध्नन्ति॥द्वारादेर्मणिवन्धयत् ॥ ३५ ॥

(तथा) जहाँ कवि लोग एक ही अलंकार के प्रयोग से असंतुष्ट होकर हार इत्यादि के मणि-विन्यास के समान एक अलंकार के लिए दूसरे अलंकार की रचना करते हैं ॥ ३५ ॥

रत्नरश्मिच्छटोत्सेकभासुरैर्भूषणैर्यथा ।

कान्ताशरीरमाच्छाद्य भूपायै परिकल्प्यते ॥ ३६ ॥

यत्र तद्वदलंकारैर्भ्राजयन्निजात्मना ।

स्वशोभातिशयान्तःस्थमलंकार्यं प्रकाश्यते ॥ ३७ ॥

(एवम्) जिस प्रकार से रत्नों की किरणों की शोभा के उत्सास से देदीप्यमान आभूषणों के द्वारा रमणी के शरीर को ढंककर अलंकृत करते हैं उसी प्रकार उज्ज्वल उपमा आदि अलंकार जहाँ अपने स्वरूप के द्वारा अपने शोभातिशय के अन्तर्गत विद्यमान अलंकार्य (स्वभाव) को प्रकाशित करते हैं ॥ ३६-३७ ॥

यदप्यनूतनोल्लेखं वस्तु यत्र तदप्यलम् ।

उक्तिवैचित्र्यमात्रेण काष्ठां कामपि नीयते ॥ ३८ ॥

(तथा) जहाँ जो (वाच्य रूप) वस्तु अभिनव ढंग से उल्लिखित नहीं होती (अर्थात् कवि किसी प्राचीन वस्तु का ही वर्णन करता है) वह भी उक्ति-वैचित्र्यमात्र से पर्याप्त किसी अपूर्व सौन्दर्य की कोटि पर पहुँचा दी जाती है ॥ ३८ ॥

यत्रान्यथाभवत् सर्वमन्यथैव यथारुचि ।

भाव्यते प्रतिभोल्लेखमहत्त्वेन महाकवेः ॥ ३९ ॥

(तथा) जहाँ अन्य ढंग से विद्यमान सम्पूर्ण वस्तु महाकवि की प्रतिभा के उन्मेष के अतिशय के कारण अपनी प्रतिभा के अनुरूप अन्य ढंग से ही वर्णित होकर शोभायुक्त हो जाती है ॥ ३९ ॥

प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते ।

वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां व्यतिरिक्तस् यकस्यचित् ॥ ४० ॥

(एवं) जहाँ शब्द और अर्थ की शक्तियों से भिन्न (व्यङ्ग्य रूप) किसी अनिवर्चनीय वाक्यार्थ की प्रतीयमानता (अर्थात् गम्यमानता) निबद्ध की जाती है (अर्थात्—जहाँ पर वाच्यार्थ शब्द तथा अर्थ की शक्ति अभिप्रा के द्वारा न कहा जाकर व्यङ्ग्य रूप में (व्यञ्जना शक्ति के द्वारा) निबद्ध किया जाता है) ॥ ४० ॥

स्वभावः सरसाकृतो भावानां यत्र बध्यते ।

केनापि कमनीयेन वैचित्र्येणोपबृंहितः ॥ ४१ ॥

(तथा) जहाँ किसी (अलौकिक) हृदयहारी वैचित्र्य से वृद्धि को प्राप्त कराया गया, पदार्थों का सरस अभिप्राययुक्त स्वभाव वर्णित होता है ॥ ४१ ॥

विचित्रो यत्र वक्रोक्तिवैचित्र्यं जीवितायते ।

परिस्फुरति यस्यान्तः सा काव्यतिशयाभिधा ॥ ४२ ॥

सोऽतिदुःसञ्चरो येन विदग्धकवयो गताः ।

खङ्गधारापथेनेव सुमटानां मनोरथाः ॥ ४३ ॥

(तथा) जहाँ वक्रोक्ति की विचित्रता प्राण के समान आचरण करती है जिसके भीतर कोई (अलौकिक) अतिशय की उक्ति उल्लसित होती है, वह अत्यन्त कठिनता से चलने योग्य विचित्र (नामक मार्ग) है, जिससे (जिसका आश्रयण कर) चतुर कवि लोग बड़े-बड़े धीरों के तलवार की धारा के मार्ग से चलने वाले मनोरथों की भाँति गुजरे हैं (अर्थात् काव्य-रचना किए हैं) ॥ ४२-४३ ॥

स विचित्राभिधानः पन्थाः, कीदृक्—अतिदुःसञ्चर, यत्रातिदुःखेन सञ्चरते । किं बहुना, येन विदग्धकवयः केचिदेव व्युत्पन्नाः केवलं गताः प्रयाताः, तदाश्रयेण ॥ काव्यानि चक्रुरित्यर्थः । कथम्—खङ्ग-

धारापथेनेव सुभटानां मनोरथाः । निश्चिंशधारामार्गेण यथा सुभटानां
महावीराणां मनोरथाः सङ्कल्पविशेषा । तदयमत्राभिप्रायः—यदसि-
धारामार्गगमने मनोरथानामौचित्यानुसारेण यथारुचि प्रवर्तमानानां
मनाङ्गमात्रमपि म्लानता न सम्भाव्यते । साक्षात्समरसमर्दसमाचरणे
पुनः कदाचित् किमपि म्लानत्वमपि सम्भाव्येत । तदनेन मार्गस्य दुर्गमत्वं
तत्प्रस्थितानां च विहरणप्रौढिं प्रतिपाद्यते ।

वह विचित्र नाम का मार्ग कैसा है—अतिदुःसखर अर्थात् जहाँ बड़े
कष्ट के साथ गमन किया जाता है । अधिक कहने से क्या लाभ, जिस
(मार्ग) से विदग्ध कविजन अर्थात् केवल कुछ ही व्युत्पन्न (कवि) लीये
गये हैं इसका भाव यह है कि उस (विचित्र-मार्ग) का आश्रयण कर काव्य-
रचना किए हैं । किस प्रकार से—छङ्गधारा के मार्ग से सुभटों के मनोरथ
के समान । तलवार की धारा के मार्ग से जैसे सुभटों अर्थात् बड़े-बड़े वीरों
के मनोरथ अर्थात् सङ्कल्पविशेष (प्रयाण करते हैं) । तो यही इसका
अभिप्राय यह है कि अपनी रुचि के अनुकूल औचित्य के अनुसार छङ्ग की
धारा के मार्ग से चलने में प्रवृत्त हुए मनोरथों की षोढी षो म्लानता सम्भव
नहीं है, चाहे साक्षात् संग्राम की भोड़ में आचरण करने पर शायद कभी
कुछ म्लानता भी सम्भव हो जाय (लेकिन तलवार की धारा के मार्ग पर
चलने पर म्लानता बड़ापि सम्भव नहीं है) । तो इस प्रकार मार्ग की दुर्गमता
तथा उस (मार्ग) से प्रस्थान करने वालों की विचरण की परिपक्वता का
(प्रौढि का) प्रतिपादन किया गया है ।

कीटक् म मार्गः—यत्र यस्मिन् शब्दाभिधेययोरभिधानाभिधीय-
मानयोरन्तःस्वरूपानुप्रवेशिनी वक्रता भणितिविच्छित्तिः स्फुरतीव
प्रस्पन्दमानेव विभाव्यते । लक्ष्यते । कदा—प्रतिभाप्रथमोद्भेदसमये ।
प्रतिभायाः काव्यशक्तेरचरमोल्लेखावसरे । तदयमत्र परमार्थः—यत्
यदिप्रयत्ननिरपेक्षयोरैव शब्दार्थयोः स्वाभाविकः कोऽपि वक्रताप्रकारः
परिस्फुरन् परिदृश्यते । यथा—

वह विचित्र मार्ग है कैसा—जहाँ अर्थात् जिस मार्ग में शब्द एवम्
अभिधेय अर्थात् वाचक और वाच्य (अर्थ) के भीतर अर्थात् स्वरूप में
प्रवेश किये हुए वक्रता अर्थात् कथन की विच्छित्ति स्फुरित होती हुई-सी
अर्थात् प्रवाहित होती हुई-सी विभावित अर्थात् लक्षित होती है । कब—
प्रतिभा के प्रथम उद्भेद के समय में । प्रतिभा अर्थात् कवि की शक्ति के
आदिम उत्प्रेष के अवसर पर । तो इसका वास्तविक अर्थ यह हुआ कि—

कवि के प्रयत्न की (अर्थात् आह्वयं कौशल की अपेक्षा न रखने वाले केवल सहज प्रतिभा से निष्पन्न) शब्द और अर्थ की वक्षता का कोई स्वाभाविक भेद स्फुरित होता हुआ दिखाई देता है । जैसे—

कोऽयं भाति प्रकारस्तव पवनपद्मं लोकपादाहतनीना
तेजस्विव्रातसेव्ये नभसि नयसि यत्पांसुपूरं प्रतिष्ठाम् ।
यस्मिन्नुत्थाप्यमाने जननयनपथोपद्रवस्तावदास्ता
केनोपायेन मह्यो वपुषि क्लृप्तादोष एव त्वयैव ॥ ८६ ॥

हे पवन ! यह तुम्हारा कौन-सा ढङ्ग है कि (तुम) लोक के पैरों से आहत किए जाने के पात्र धूलि समुदाय को तेजस्वियों के समूह द्वारा उपभोग किए जाने वाले आकाश में (उड़ा) ले जाते हो (अर्थात् इतने नीच को इतना ऊँचा स्थान क्यों देते हो) जिसके उठाने जाने पर लोगों के दृष्टिपथ (नेत्रों) में (होने वाले कष्ट रूप) उपद्रव की बात तो जाने दीजिए (लेकिन जो उसे आकाश में ले जाते समय तुम्हारे) शरीर में यह कालुष्य रूप दोष (आ जाता) है (उसे) तुम्हीं किस प्रकार सहन कर सकते हो । (अर्थात् वह धूलि समूह जो कि इतने ऊँचे उठाने वाले आपको भी कालुष्य दोष से युक्त कर देता है, उस नीच को इतने ऊँचे उठाने का यह आपका कौन-सा ढंग है ।) ॥ ८६ ॥

अत्राप्रस्तुतप्रशंसाश्लेषोऽलंकारः प्राधान्येन वाक्यार्थः । प्रतीयमान-पदार्थान्तरत्वेन प्रयुक्तत्वात्तत्र विचित्रकविशक्तिसमुल्लिखितवक्त्र-शब्दार्थोपनिबन्धमाहात्म्यात् प्रतीयमानमन्यभिधेयतामिव प्रापितम् । प्रक्रम एव प्रतिभासमानत्वान्न चार्थान्तरप्रतीतिकारित्वेऽपि पदानां श्लेषव्यपदेशः शक्यते कर्तुम् । वाच्यस्य समप्रधानभावेनान्वस्थानात् । अर्थान्तरप्रतीतिकारित्वं च प्रतीयमानार्थस्फुटत्वावभासनार्थमुपनिबध्य-मानमतीवचमत्कारकारितं प्रतिपद्यते ।

यहाँ 'अप्रस्तुतप्रशंसा' रूप अलंकार मुख्यतया वाक्यार्थ है । प्रतीयमान (किसी निम्न श्रेणी के लोगो का उद्धार करने वाले परोपकारी महापुरुष के वर्णन रूप) अन्य पदार्थ के रूप में (वायु के चरित्र के वर्णन के) प्रयुक्त होने से वहाँ कवि की विचित्र प्रतिभा से निष्पन्न (समुल्लसित) वक्त्र (वैचित्र्य-युक्त) शब्दों एवं अर्थों के प्रयोग के माहात्म्य से (महापुरुष की प्रशंसा रूप अर्थ तुरन्त प्रतीत हो जाने के कारण) प्रतीयमान होते हुए भी वाच्यार्थ सा हो गया है । तथा आरम्भ में ही (श्लोक के पढ़ते ही महापुरुषचरित-वर्णन रूप प्रतीयमान अर्थ के) प्रतिभासित हो जाने से (उस श्लोक में

प्रयुक्त) पदों के (प्रतीयमान) अन्य अर्थ की प्रतीति कराने वाला होने पर भी उन्हें शिष्ट सजा नहीं दी जा सकती, वाच्य के शाब्द भगवद्वाच्य से (प्रतीयमान अर्थ के) स्थित न होने से (क्योंकि श्लेष में दोनों अर्थ वाच्य एक समवाधान्ययुक्त होते हैं) । तथा (इस श्लोक में प्रयुक्त पदों की) अन्य (प्रतीयमान रूप) अर्थ की प्रतीतिवारिता, प्रतीयमान (महापुरुष रूप) अर्थ की स्पष्ट प्रतीति कराने के लिए प्रयुक्त होकर अत्यन्त ही चमत्कारजनक हो गई है ।

तमेव विचित्रं प्रकारान्तरेण लक्षयति—अलङ्कारस्येत्यादि । यत्र यस्मिन्मार्गे कवयो निबध्नन्ति विरचयन्ति, अलङ्कारस्य विभूषण-स्यालङ्करणान्तरं विभूषणान्तरम् असंतुष्टा मन्तः । कथम्—हारादेर्मणि-बन्धवत् । मुक्ताकलाप्रभृतेर्यथा पदकादिमणिबन्ध रत्नविशेषविन्यासं वैकटिकाः यथा—

उसी विचित्र (मार्ग) का दूसरे ढंग से लक्षण करते हैं—अलङ्कारस्ये-त्यादि (३५वीं कारिका के द्वारा) । जहाँ अर्थात् जिस मार्ग में कवि लोग (एक ही अलङ्कार के प्रयोग से) असंतुष्ट होकर अलङ्कार अर्थात् (एक) विभूषण के अलङ्करणान्तर अर्थात् दूसरे विभूषण का निबन्धन अर्थात् रचना करते हैं । किस प्रकार से—हारादि के मणिबन्ध के समान । जैसे— (वैकटिक) मुक्तावली इत्यादि (रत्नों) के पदक आदि (रूप में मणियों का बन्ध अर्थात् विशेष रत्नों का विन्यास (करते हैं) । जैसे—

हे हेलाजितबोधिमेववचसां किं विस्तरैस्तोयवे -

नास्ति त्वसदृशः परः परहिताधाने गृहीतव्रतः ।

लृप्यत्यान्यजनोपकारघटनावैमुख्यलब्धायशो-

भारप्रोद्धहने करोपि कृपया साहायकं यन्मरोः ॥ ६० ॥

सीलामात्र से भगवान् बुद्ध को जीत लेने वाले हे सागर (महाराज) ! (आपकी तात्पीफ करने के लिए) वाणी के अधिक विस्तार से क्या (लाभ अर्थात् ज्यादा कहने की जरूरत नहीं । वास्तव में) आपके समान (समार भर में) परोपकार करने का व्रत ग्रहण करने वाला कोई दूसरा नहीं (दिखाई पड़ता) है । जो तुम प्यासे राहियों का (पानी पिलाने रूप) उपकार करने से विमुख होने के कारण प्राप्त अवधमश के भार को वहन करने में, कृपापूर्वक मरत्यप की सहायता करते हो ॥ ६० ॥

अग्रात्यन्तगर्हणीयचरितं पदार्थान्तरं प्रतीयमानतया चेतसि निधाय तथाविधविलसितः सलिलनिधिर्वाच्यतयोपक्रान्तः । तदेवाधदेबा-

लंकृतैरप्रस्तुतप्रशंसायाः स्वरूपम्—गर्हणीयप्रतीयमानपदार्थान्तरपर्यव-
सानमपि वाक्यं वस्तुन्युपक्रमरमणीयतयोपनिबध्यमानं तद्वि-
वाहादकारितामायाति । तदेतद् व्याजस्तुतिप्रतिरूपकप्रायमलङ्कारा-
न्तरमप्रस्तुतप्रशंसाया भूषणत्वेनोपान्तम् । न चात्र सङ्ख्यालङ्कारव्यवहारो
भवितुमर्हति, पृथगतिपरिस्फुटत्वेनावभासनात् । न चापि ससृष्टिसम्भव-
समप्रधानभावेनानवस्थितेः । न च द्वयारपि वाच्यालङ्कारत्वम्,
विभिन्ननिपयत्वात् । यथा या—

यहाँ पर (कवि ने) प्रतीयमान रूप से (किसी) अत्यन्त निन्द्य चरित्र
वाले किसी (कजूस घनवान रूप) अन्य पदार्थ को हृदय में स्थापित कर
उसी प्रकार के व्यापार वाले (अर्थात् जैसे किसी घनाढ्य व्यक्ति के पास
अपार धन होता है लेकिन स्वभावतः कजूस होने के कारण वह निर्धनो को
धन देकर सन्तुष्ट नहीं कर सकता, उसी प्रकार समुद्र भी अथाह जल से
भरा हुआ होने पर भी जलामिलायी किसी भी प्यासे राही को (जारा होने
के कारण अपेय) जल को पिला कर सन्तुष्ट नहीं कर सकता । अतः दोनों
के समान व्यापार वाला होने के कारण समुद्र को वाच्य रूप से वर्णित किया
है । (इस श्लोक में वस) इतना ही अप्रस्तुतशसा नामक अलङ्कार का
स्वरूप है । निन्द्य चरित्र वाले घनाढ्य, कृपण रूप प्रतीयमान दूसरे पदार्थ
में समाप्त होने वाला भी यह श्लोक (सागर चरित्र रूप वर्ण्य) वस्तु में
यत्नपूर्वक आरम्भ की रमणीयता से उपनिबद्ध होकर सहृदयो को आह्लादित
करने में समर्थ होता है । तो इस प्रकार यह व्याजस्तुति रूप अन्य अलङ्कार
को अप्रस्तुतप्रशंसा के अलङ्कार रूप में (कवि ने) ग्रहण किया है ।
(अर्थात् यहाँ पर कवि ने वाच्य रूप से व्याजस्तुति अलङ्कार को उपनिबद्ध
किया है । व्याज-स्तुति का लक्षण 'अलङ्कारसर्वस्वकार राजानक रूप्यक
ने इस प्रकार दिया है—“स्तुतिनिन्दाभ्या निन्दस्तुत्योगम्यत्वे व्याजस्तुति”
अर्थात् जहाँ पर वाच्य रूप से वर्ण्यमान स्तुति एवं निन्दा के द्वारा क्रम
से निन्दा और स्तुति गम्य प्रतीयमान) हो, वहाँ व्याजस्तुति अलङ्कार
होता है तथा उन्होंने उदाहरण के रूप में भी इस पद्य को उद्धृत किया है
यहाँ पर स्तुतिमुखेन समुद्र की निन्दा की गयी है अर्थात् वाच्य रूप से तो
समुद्र की प्रशंसा की गई है कि आपके ससान कोई परोपकारी है ही नहीं
लेकिन उससे गम्य होती है समुद्र की निन्दा कि तुम इतने नीच हो कि
अथाह जल से युक्त होते हुए भी प्यासों की प्यास नहीं बुझा सकते । साथ
ही कवि ने समुद्र के चरित्र के वर्णन द्वारा किसी निन्द्य चरित्र वाले कजूस
घनी व्यक्ति के चरित्र को प्रस्तुत किया है जो कि सागर की भाँति अपार

घन से मुक्त होते हुए भी घनाभिलाषी निर्घनो का धन देकर उपकार नहीं कर सकता । इस प्रकार अप्रस्तुतप्रशंसासङ्कार भी प्रतीयमान रूप से उपनिबद्ध किया गया है । इस प्रकार यह अप्रस्तुतप्रशंसासङ्कार व्याजस्तुति सङ्कार से और भी अलङ्कृत हो जाता है ।

और न, यहाँ पर अप्रस्तुतप्रशंसा तथा व्याजस्तुति के सङ्कारसङ्कार का ही व्यवहार हो सकता है अलग-अलग दोनों के स्पष्टरूप से प्रतीत होने के कारण । (अर्थात् सन्देह-सङ्कार इसलिए नहीं स्वीकार किया जा सकता क्योंकि दोनों अलग-अलग स्पष्ट झलकते हैं सन्देह की कोई गुजाइश नहीं । अङ्गान्निभाव सङ्कार भी नहीं माना जा सकता क्योंकि दोनों में से कोई भी किसी के अङ्गरूप में उपात्त नहीं किया गया एवं एकाध्यानुप्रवेश भी नहीं माना जा सकता क्योंकि दोनों के आश्रय अलग-अलग हैं अर्थात् एक का आश्रय प्रतीयमान है दूसरे का आश्रय वाच्यार्थ है) । तथा दोनों के समप्रधान भाव से स्थित न होने के कारण दोनों की समृष्टि भी सम्भव नहीं है । (क्योंकि वाच्यरूप से दोनों अलङ्कार नहीं उपात्त हुए अतः दोनों का सम प्राधान्य नहीं कहा जा सकता) । तथा दोनों अलङ्कार वाच्य भी नहीं हैं, दोनों का विषय भिन्न होने से अर्थात् एक का विषय वाच्यार्थ है दूसरे का प्रतीयमान । अतः सिद्ध हुआ कि यहाँ व्याजस्तुति का प्रयोग अप्रस्तुतप्रशंसा के अलङ्कार रूप में किया गया है क्योंकि कवि केवल अप्रस्तुतप्रशंसाजन्य चमत्कार से सतुष्ट नहीं था) । अथवा जैसे इसी का दूसरा उदाहरण—

नामाप्यन्यतरोर्निर्मलितमभूत्तावदुन्मीलितं
प्रस्थाने स्खलतः स्ववर्त्मनि विधेरन्यद् गृहीतः करः ।
लोकश्रायमट्टदर्शनकृताद् दग्धैरासादुद्धृतो
युक्तं काष्ठिकं लूनवान् यदसि तामाम्नालिमाकालिकीम् ॥ ६१ ॥

हे काष्ठवाहक (महाशय) आपने बड़ा ही अच्छा किया जो उस अक्षामयिक ! (बिना फल के बारहो महीने फल देने वाली) आम (के पेड़ो) की पत्ति को काट डाला । (क्योंकि उससे जो) अन्य वृक्षों का नाम भी समाप्त हो गया था उसे आपने प्रकट कर दिया (यह पहला साम हुआ) तथा अपने मार्ग में चलते समय गिरते हुए ब्रह्मा का हाथ पकड़ लिया (अर्थात् उन्हे सहारा दिया) यह दूसरा (फल प्राप्त हुआ) तथा इस मोक का अदृष्ट के दर्शन से अन्य नेत्रों के कण्ठ से उडार किया (यह तीसरा साम हुआ) ॥ ६१ ॥

टिप्पणी—कवि से इस पद्य में पूर्व उदाहृत पद्य की भाँति वाच्य रूप से

तो लकड़हारे की प्रशंसा की है लेकिन उससे गम्भीर हो रही है तद्विषयक निन्दा कि तुम बड़े नीच हो, क्योंकि तुम इस बात को सहन न कर सके कि लोग सभी समय अच्छे-अच्छे आम के मधुर फलों का सेवन करें। अतः ईर्ष्यावश हर समय आम-फल देने वाली उस आम वृक्ष की पत्ति को काट डाला इस प्रकार यहाँ स्तुतिमुखेन निन्दा के प्रस्तुत होने से व्याज-स्तुति अलंकार है। साथ ही इस लकड़हारे के चरित्र-वर्णन द्वारा कवि ने उस नृशंस पुरुष का वर्णन प्रस्तुत किया है जिसने सदैव परोपकार में रत रहने वाले किसी महापुरुष का विनाश किया है अतः प्रतीयमान ढंग से यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार उपनिबद्ध किया गया है। वह अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार उक्त व्याजस्तुति अलंकार से और अधिक शोभायुक्त होकर अलंकृत हुआ है अतः इस उदाहरण में भी व्याजस्तुति अलंकार का उपनिबन्धन कवि ने अप्रस्तुतप्रशंसा मात्र अलंकार से असन्तुष्ट होकर उसके अलंकार रूप में किया है। इसीलिए आचार्य कुन्तक कहते हैं कि—

अत्रायमेव न्यायोऽनुसन्धेयः। यथा च—

किं तारुण्यतरोरिय रक्षभरोद्धिभा सखा वल्लरी
लीलाप्रोक्कलितस्य किं लहरिका लावण्यवारांनिधेः॥

उद्गाढोत्कलिकावतां स्वसमयोपन्यासविभन्मिवः

किं साक्षादुपदेशयष्टिरथवा देवस्य शृङ्गारिणः॥ ३२॥

यहाँ भी यही न्याय अपनाया चाहिए। (जिस पूर्व उदाहृत “हे हेलाजित”..... इत्यादि पद्य में अपनाया गया था)। और जैसे (इसी का तीसरा उदाहरण) —

(किसी नायिका के सौन्दर्य का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि) — क्या यह (सुन्दरी) तारुण्यरूपी वृक्ष की रस के अतिशय से उत्पन्न नूतन सक्तिका है या कि वाचस्पत्यवश उछले हुये लावण्यरूपी सागर की तरंग है? अथवा तीव्र उत्कण्ठावाले प्रेमीजनों को अपने सिद्धान्त (प्रेम) का पाठ पढ़ानेवाले शृङ्गार-देवता (काम) की उपदेश-वष्टि है ॥ ३२ ॥

अत्र रूपकलक्षणो योऽयं वाक्यालङ्कारः तस्य सन्देहोक्तिरियं
छायांतरातिशयोत्पादनायोपनिबद्धा चेतनचमत्कारितामावर्तितः।
शिष्टं पूर्वोदाहरणद्वयोक्तमनुसर्तव्यम्।

यहाँ पर उपचार के अन्त पर जो सुन्दरी नायिका पर वरसरी सहारिका एवम् उपदेश वष्टि का आरोप किया गया है इस रूप का जो रूपक नामक

इत्येव प्रयुक्त अलंकार है उसके शोभाधिव्यय को उत्पन्न करने के लिए उपनिबद्ध की गई यह सन्देह की उक्तिरूप सन्देहालङ्कार सहृदयों को आनन्द प्रदान करती है । (अर्थात् यहाँ पर वाच्यरूप से सन्देहालङ्कार को कवि ने निबद्ध किया है जो कि प्रतीयमान रूपक अलंकार के अलंकाररूप में प्रयुक्त हुआ है । तात्पर्य यह है कि यहाँ प्रतीयमान रूपक अलंकार वाच्यरूप सन्देहालङ्कार से अलंकृत होकर किसी अपूर्व चमत्कार की सृष्टि करता है । इसलिए यहाँ भी कवि ने केवल प्रतीयमान रूपक से असन्तुष्ट होकर उसके लिए सन्देहरूप अन्य अलंकार की सृष्टि की है ।) ये बातें पहले उदाहृत दोनों श्लोकों की भाँति समझ लेनी चाहिए । (अर्थात् इन दोनों अलंकारों में सहज तथा ससृष्टि को नहीं स्वीकार किया जा सकता, दोनों के असंग-अलग स्फुटिरूप से प्रतीत होने से तथा समप्राधान्य से स्थित न होने के कारण) तथा दोनों को वाच्य ही अलंकार न समझ लेना चाहिए क्योंकि दोनों का विषय भिन्न है) ।

अन्यच्च कीदृक्—रत्नेत्यादि । युगलकम् । यत्र यस्मिन्नलङ्कारै-
र्भोजमानैर्निजात्मना स्वजीविनेन भासमानैर्भूषणैः परिकल्प्यते
शोभायै भूष्यते । कथम्—यथा मूषणैः कङ्कणादिभिः । कीदृशै—
रत्नरश्मिचन्द्रतोत्सेकमासुरैः मणिमयूखोल्लासभ्राजिष्णुभिः । किं
कृत्वा—कान्ताशरीरमाच्छाद्य कामिनोवपु स्वप्रभापसरतिराद-
विधाय । भूषणैः कल्प्यते तद्देवालङ्कारणैरुपमादिभिर्धनैः कल्प्यते ।
एतच्चैतेषां भूषणैः कल्पनम्—यदेतैः स्वशोभातिशयान्तःस्थ निजकान्ति-
कमनीयान्तर्गतमलङ्कार्यमलङ्कारणोप्यं प्रकाशयते द्योत्यते । तदिदमत्र
तात्पर्यम्—तदलङ्कारमहिमैव तथाविधोऽत्र भ्राजते, तस्यात्यन्तो-
द्विक्लृप्तेः स्वशोभातिशयान्तर्गतमलङ्कार्यं प्रकाशयते । यथा—

(इस तरह विचित्र-मार्ग के एक प्रकार का वर्णन कर दूधरे प्रकार को बताते हैं कि) और कैसा है (वह विचित्र-मार्ग)—रत्नेत्यादि, २६ एवं २७ वीं कारिकाओं के द्वारा इसका प्रतिपादन करते हैं । जहाँ अर्थात् जिस (मार्ग) में अपनी आत्मा अर्थात् अपने प्राणों (स्वरूप) से भ्राजमान अर्थात् देदीप्यमान अलंकारों के द्वारा भूषा अर्थात् शोभा के लिए परिकल्पित अर्थात् भूषित की जाती है । कैसे—जैसे—कङ्कणादि भूषणों के द्वारा । किस प्रकार के (भूषणों द्वारा)—रत्नरश्मियों की छाया के वलोक से आसुर अर्थात् मणियों की किरणों के उत्सास से चमकने हुए (आभूषणों) द्वारा । क्या करके—कान्ता के शरीर को आच्छादित कर अर्थात् रमणी के शरीर अपनी ज्योति के विस्तार से तिरोहित कर । भूषा के लिए कल्पित किया जाता है

अर्थात् उसी प्रकार (जिस प्रकार कि रमणी के शरीर को फटक-कुण्डलादि अलंकारों से डँककर विभूषित किया जाता है उसी प्रकार) जहाँ उपमा आदि अलंकारों के द्वारा (अलंकारों को) प्रकाशित किया जाता है । इन उपमा आदि अलंकारों का शोभा के लिए निबन्धन इस प्रकार होता है । कि ये उपमा आदि अलंकार अपनी शोभातिशय के अन्दर स्थित अर्थात् अपनी कमनीय कान्ति के अन्तर्गत अलङ्कारों अर्थात् अलंकृत करने योग्य (वस्तु) को प्रकाशित करते हैं । तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि उन अलंकारों की महिमा भी उस प्रकार से शोभित होती है कि अत्यन्त उच्च स्थिति वाले उस (अलंकार) सौन्दर्यतिशय से अन्तर्भूत अलंकारों प्रकाशित होता है ।

जैसे—

आर्यैस्माजिमहोत्सवव्यतिकरे नासंविभक्तोऽत्र वः
कश्चित् द्वाप्यरशिष्यते त्यजत रे नक्तञ्चराः संभ्रमम्
भूयिष्ठेष्वपि स्त्रा भवत्सु गणनात्यर्थं किमुत्तान्यते
तस्योदारभुजोष्मणोऽनवसिता नाचारसम्पत्तयः ॥ ६३ ॥

हे निशाचरो ! तुम सब आर्य (धीराम) के समरूप महोत्सव के सम्बन्ध में (कि हमें शायद हिस्सा न मिल पाये इस प्रकार की) जल्दबाजी को छोड़ दो, (क्योंकि) यहाँ तुम में से कोई भी कहीं भी बिना हिस्सा पाये शेष नहीं रहेगा (अर्थात् सब को रामचन्द्र भारेण) । यदि तुम समझते हो कि तुम्हारी सख्या बहुत है कैसे सबको हिस्सा मिलेगा, तो यह समझना ठीक नहीं क्योंकि) बहुत से होने पर भी तुम्हारी क्या गणना है (तुम लोग बेकार ही) अत्यधिक, उतावले क्यों हो रहे हो, (सभी को हिस्सा मिलेगा क्योंकि) विशाल भुजाओं की गर्मी से युक्त उन राम के न तो अभी (राक्षसवध रूप) आचार समाप्त हुए हैं (अर्थात् राक्षसवध करने में कृपणता नहीं आई है) और न (राक्षसवध करने की अतिरूप) सम्पत्तियाँ ही (समाप्त हुई हैं अर्थात् उनके पास राक्षसवध करने की अथाह शक्ति विद्यमान है । अतः आप लोग बबड़ामें नहीं सबका वध होगा ॥ ६३ ॥

अत्राजैर्महोत्सवव्यतिकरत्वेन तथाविध रूपणं विहितं यत्रा-
लङ्कार्यम् “आर्यः स्वशौर्येण युष्मान् सर्वानेव मारयति” इत्यलङ्कार-
शोभातिशयान्तर्गतत्वेन भ्राजते । तथा च कश्चित् सामान्योऽपि
कापि द्वीयस्यपि देशे नासंविभक्तो युष्माकमवशिष्यते । तस्मात्
समरमहोत्सवसंविभागलम्पटतया प्रत्येकं युयं सम्भ्रमं त्यजत ।
गणनया धयं भूयिष्ठा इत्यशक्त्यानुष्ठानतां यदि मन्यन्ते त्वय्य-

युक्तम् । यस्मादसंख्यसंविभागाशङ्क्यता फदाचिदसम्पत्त्या कार्पण्येन
वा सम्भाव्यते । तदेतदुभयमपि नास्तीत्युक्तम्—तस्योदारभुजोष्मणो-
ऽनवसिता नाचारसम्पत्तयः [इति] । यथा च—

यहाँ पर संग्राम का महोत्सव के साथ सम्बन्ध बताकर उस प्रकार के
रूपक की सृष्टि की गई है जिसमें असंकाय "आयं अपनी धीरता से तुम सब
का वध करेगे" यह असंकार (रूपक) की शोभा के आश्रित्य के अन्दर
समाया हुआ दिखाई पड़ता है । जैसा कि तुम सब में से कोई साधारण भी
(राक्षस) बहुत दूर के भी देशों में कहीं भी बिना हिस्सा पाये नहीं शेष
रहेगा । इसलिए संग्रामरूप महोत्सव के समुचित हिस्सा पाने की सम्पत्ता
के कारण तुममें से हर एक (राक्षस) जल्दबाजी (उतावली) को छोड़
दे । गिनती में हम लोग बहुत ज्यादा हैं, इस लिए (सब के विभाजन
का) अनुष्ठान असम्भव है । यदि ऐसा आप लोग समझते हैं तो वह भी
उचित नहीं है । क्योंकि असंख्य लोगों में विभाजन की असमर्थता तो
कदाचित् सम्पत्ति का अभाव होने से अथवा (सम्पत्ति होते हुए भी बाँटने
की कृपणता के कारण ही सम्भव है । लेकिन आयं के पास (सम्पत्ति का
अभाव अथवा कृपणता) ये दोनों ही नहीं हैं इसे—'विशाल भुजाओं की
उष्णता से युक्त उन (आयं) के न आचार ही समाप्त हुए हैं और न
सम्पत्तियाँ ही' इस कथन के द्वारा प्रतिपादित किया जा चुका है । (इस
प्रकार इस श्लोक में असंकाय असंकार के शोभातिशय में समाया हुआ प्रतीत
होता है । अतः यह विविन्नमोमें का उदाहरण हुआ) ।

और जैसे (इसी का दूसरा उदाहरण)

कृतमः प्रविजृम्भितधिरहव्ययः शून्यतां नीतो देशः ॥ ६४ ॥

अत्यधिक बढ़ी हुई विरह की व्यापा से युक्त कौन-सा देश (आपने)
शून्य कर दिया है ॥ ६४ ॥

इति । यथा च—

कानि च पुण्यमास्त्रि मजन्त्यभिख्यामक्षराणि ॥ ६५ ॥ इति ।

इस वाक्य में और जैसे—(इसी प्रसङ्ग में)

तथा कौन से पुण्यवान् वर्ण आपके नाम का आश्रय करते हैं ॥ ६५ ॥

इस वाक्य में—

अत्र कस्मादागताः स्य, किं चास्य नाम इत्यलङ्कारमप्रस्तुत-
प्रसंगसालक्षणात् । अत्र चास्य नाम इत्यलङ्कारमप्रस्तुत-
प्रसंगसालक्षणात् । अत्र चास्य नाम इत्यलङ्कारमप्रस्तुत-

हृदयाह्लादकारितां प्रापितम् । एतच्च व्याजस्तुतिपर्यायोक्तप्रभृतीनां भूयसा विभाव्यते ।

यहाँ (क्रम से) 'आप कहीं से आये हैं,' तथा 'इनका नाम क्या है' ये ही अलंकार, अप्रस्तुतप्रशंसा रूप अलंकार की शोभा से युक्त होने के कारण इसी (अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार की शोभा में समाये हुए ही सहृदयो के हृदयों को आह्लादित करते हैं । (इस प्रकार का) यह (वैचित्र्य) व्याजस्तुति तथा पर्यायोक्त आदि (अलंकारों) में प्रचुरता से देखा जाता है ।

ननु च रूपकादीनां स्वलक्षणान्वसर एव स्वरूपं निर्णेष्यते तत् किं प्रयोजनमेतेषामिहोदाहरणस्य ? सत्यमेतत्, किन्त्वेतदेव विचित्रस्य वैचित्र्यं नाम यदलौकिकचङ्चायातिशययोगित्वेन भूषणोपनिबन्धः कामपि वाक्यवक्रतामुन्मीलयति ।

(क्योंकि प्रकरण यहाँ विचित्रमार्ग का चल रहा है लेकिन उदाहरण रूपक, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति आदि अलंकारों के दिये जा रहे हैं, तो पूर्वपक्षी यह देख कर शंका करता है कि—) रूपक आदि अलंकारों के स्वरूप का निर्णय तो उनका लक्षण करते समय ही किया जायगा तो उनके उदाहरणों को यहाँ (विचित्रमार्ग के प्रसङ्ग में) क्यों उद्धृत किया जा रहा है ? (इनका उत्तर देते हैं कि) यह बात सही है (कि रूपकादि के स्वरूप का निर्णय उनका लक्षण करते समय होगा अतः यहाँ उनके उदाहरण न प्रस्तुत किये जाने चाहिए) किन्तु विचित्र (मार्ग) का तो यही वैचित्र्य ही है कि (उसमें) अलौकिक शोभा के अतिशय से युक्त रूप में ही अलंकारों का प्रयोग किसी (अनिवार्य, अपूर्व) वाक्यवक्रता को उन्मीलित करता है । (अतः उसे समझाने के लिए यहाँ भी रूपकादि अलंकारों के उदाहरणों को उद्धृत करना आवश्यक हो गया है ।)

विचित्रमेव रूपान्तरेण लभ्यति—यदपीत्यादि । यदपि वस्तु वाच्यमनूतनोल्लेखमनभिनवत्वेनोल्लिखितं तदपि तत्र यस्मिन्नलं कामपि काष्ठां नीयते लोकोत्तरातिशयोक्तोक्तिमहिरोप्यते ॥ कथम्—उक्तिवैचित्र्यमात्रेण, भणितिवैदग्ध्येनैवेत्यर्थः । यथा—

(अब) विचित्र (मार्ग) को ही दूसरे ढंग से प्रतिपादित करते हैं— 'यदपि' इत्यादि (३८ वीं कारिका के द्वारा) । (जिस मार्ग में) जहाँ जो भी वाच्यवस्तु अनूतनोल्लेख अर्थात्) पूर्व कवियों द्वारा उल्लिखित होने के कारण) अभिनव रूप से नहीं चित्रित होती वह भी पर्याप्त किसी काव्य को

से जाई जाती है अर्थात् असौकिक) सौन्दर्य के) अतिशय की कोटि पर स्थापित कर दी जाती है । किस प्रकार से—उक्तिर्वचिष्यमात्र से अर्थात् केवल कहने के ढङ्ग की चतुरता द्वारा (सौन्दर्य की परकाष्ठा को पहुँचा दी जाती है) । जैसे—

अण्णल्लहत्तणअं अण्णं अिअं काइ अत्तणच्छाआ ।

सामा .सामण्णपभावइणो रेह अिअ ण होई ॥ १६ ॥

(अन्यद् लटभत्वमन्यैव च कापि वर्तनच्छाया)

श्यामा सामान्यप्रजापते रसैव च न भवति ॥

कवि बोद्धव्यवर्षीया सुन्दरी 'श्यामा' का वर्णन करता हुआ कहता है । जिसका शरीर जाड़े में गरम, गर्मी में ठंडा रहता है एवम् सभी अङ्गों से शोभा सम्पन्न होती है जैसा उसका ससण बताया गया है कि—

गीतकाले धवेदुष्णा ग्रीष्मे च सुखशीतला ।

सर्वादयमलोभाढ्या सा श्यामा परिकीर्तिता ॥

इस श्यामा की सुकुमारता दूसरे ही प्रकार की (अनिवर्चनीय) है एवम् शरीर की कान्ति कुछ (असौकिक) ही है (ऐसा समझ पड़ता है कि वह) श्यामा सामान्य प्रजापति की सृष्टि ही न हो । (अर्थात् वह ऐसे असौकिक सौन्दर्य से युक्त है कि वैसा सौन्दर्य सामान्य प्रजापति की सृष्टि में सम्भव ही नहीं है, अतः उसकी रचना उनसे भिन्न किसी दूसरे ने ही किया हीगा । वहाँ पर यद्यपि 'श्यामा' का वर्णन कोई नवीन वर्णन नहीं है फिर भी कवि ने केवल उक्ति के वैचित्र्यमात्र से इस वर्णन में अपूर्व चमत्कार सा दिया है) ॥ १६ ॥

यथा वा—

उद्वेरोऽयं सरसकदलीश्रेणिशोभातिशायी

कुष्ठोरकर्षाद्भुरितहरिणीविभ्रमो नर्मदायाः ।

किं चैतस्मिन् सुरतसुहृदस्तन्वि ते यान्ति वाता

येषामग्रे सरति वलिताकाण्डकोपो मनोमूः ॥ १७ ॥

अथवा जैसे (इसी का दूसरा उदाहरण)—

(कोई प्रेमी अपनी प्रेमिका से कहता है कि) हे सुन्दरि ! सरस (हरे-जरे) केसों की कतारों से उत्पन्न शोभा के अतिशय से युक्त तथा बूजों के लवण से हरिणी के शिंसासों को यद्भुरित करने वाला नर्मदा नदी का यह प्रदेश है और इस (प्रदेश) में सम्मोग के मित्र वे हवाएँ बहती हैं जिनके जागे अनन्तर में भी अक्रान्त होता हुआ कामदेव चमत्ता है ॥ १७ ॥

भणितिवैचित्र्यमात्रमेवात्र काव्यार्थः । न तु नूतनोल्लेखशालि-
वाच्यविजृम्भितम् । एतच्च भणितिवैचित्र्यं सहस्रप्रकारं सम्भवतीति
स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयम् ।

यहाँ पर भी केवल उक्ति-वैचित्र्यमात्र ही काव्य का अर्थ है न कि
नवीन उल्लेख से शोभित होने वाला वाच्यार्थ का विलास । यह उक्ति का
वैचित्र्य अनेको प्रकार का सम्भव हो सकता है अतः सहृदय लोगो को उसे
स्वयं जान लेना चाहिए ।

पुनर्विचित्रमेव प्रकारान्तरेण लक्षयति—यत्रान्यथेत्यादि । यत्र
यस्मिन्नन्यथाभवदन्येन प्रकारेण सत् सर्वमेव पदार्थजानम्-अन्यथैव
प्रकारान्तरेणैव भाव्यते । कथम्—यथारुचि । स्वप्रतिभासानुरूपेणो-
त्पद्यते । केन—प्रतिभोल्लेखमहत्त्वेन महाकवेः, प्रतिभासोन्मेषाति-
शयत्वेन सत्कवेः । यावत्कल वर्ण्यमानस्य वस्तुनः प्रस्तावसमुचित
किमपि सहृदयहृदयहार रूपान्तरं निमिमीते कवि । यथा—

फिर विचित्र मार्ग को ही दूसरे ढंग से लक्षित करते हैं—“यत्रान्यथा”
(इत्यदि (६६ वीं कारिका के द्वारा) । जहाँ अर्थात् जिस (मार्ग) में
अन्यथा स्थित अर्थात् अन्य ढंग से विद्यमान सारा का सारा पदार्थ समूह
अन्यथा ही अर्थात् दूसरे ही ढंग से दिखाई पड़ता है । कैसे—यथारुचि ।
अपने अनुभव के अनुसार उत्पन्न होता है । किस कारण से—महाकवि की
प्रतिभा के उल्लेख की महत्ता से अर्थात् श्रेष्ठ कवि के अनुभव के उन्मेष के
अतिशय से । तात्पर्य यह है कि कवि प्रकरण के अनुरूप वर्ण्यमान वस्तु के
किसी अपूर्व सहृदयो के मनोहारी अन्य स्वरूप की सृष्टि करता है । जैसे—

सापः स्वात्मनि मंत्रितद्रुमलतारोपोऽभ्यगैर्वर्जनं
सकृपं दुःशमया तृपा तव भरो कोऽसाधनर्थो न यः ।
एकोऽर्थस्तु महानयं जललवस्थाम्भस्मथोद्गर्जिनः
समस्रन्ति न यत्तवोपकृतये धाराधराः प्राकृताः ॥ ६८ ॥—

हे मरुस्थल ! तुम्हारे अपने शरीर के अन्दर ताप, (तुम्हारे) आधित
वृक्षों एवं सताओ का सूख जाना, राहिमों के द्वारा (तुम्हारा) परित्याग
तथा बड़े ही दुःख के साथ शान्ति होने वाली विपासा के साथ
(तुम्हारी) मित्रता (सब तो है) कौन ऐसा अनर्थ (शेष बचता) है
जो तुम्हारे पास न हो (अर्थात् सभी अनर्थ तुम्हारे अन्दर विद्यमान हैं) ।
हाँ ! एक महान् अर्थ (गुण) आपके पास यह (अवश्य) है कि जल के

(बोड़े से) कणों के आघिपत्य के घमण्ड से गरजने वाले पामर जलघर गुम्हारे उपकार के लिए तैयार नहीं होते ॥ ६५ ॥

टिप्पणी—यहाँ पर कवि ने अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार को बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है मरुस्थल के माध्यम से वह प्रतीयमान रूप से किसी उस उदार व्यक्ति का वर्णन प्रस्तुत करता है जो कि निर्धन है किन्तु स्वाभिमानी है। थोड़ा-सा धन पाकर घमण्डी हो गए लोगों के द्वारा अपने को उपहृत नहीं करना चाहता, बल्कि स्वयं अन्य लोगों के द्वारा अपनी निर्धनता के कारण किए गये त्याग रूप अपमान को, अपने आश्रित स्त्री-पुत्रादिकों के कष्ट को, तथा उससे उत्पन्न अपने दुःख को सभी को सहन करने को तैयार है।

यथा वा—

विशति यदि नो कश्चित्कालं क्लाम्बुनिधिं विधेः
कृतिषु सकलास्वेको लोके प्रकाशकतां गतः ।
कथमितरथा धाम्नां धाता तमांसि निशाकरं
स्फुरदिदमियत्ताराचक्रं प्रकाशयति स्फुटम् ॥ ६६ ॥

विधाता की समस्त कृतियों में लोक में अकेला प्रकाशक प्रकाश को धारण करने वाला (सूर्य) कुछ समय यदि सागर में प्रवेश नहीं करता, तो मत्ता फिर वह अव्यकार, चन्द्रमा एवं चमकते हुए इनने (बड़े) इस नज्म-समूह को स्पष्ट रूप से कैसे प्रकाशित करता ॥ ६६ ॥

अत्र जगद्गर्हितस्यापि ग्रोः कविप्रतिभोलिलखितेन लोकोत्तरो-
दार्यपुत्राधिरावणेन तादृक् स्वरूपान्तरमुन्मोलित यप्रतीयमानत्वेनो-
दारचरितस्य कस्यापि सत्स्वप्नुचितपरिस्पन्दसुन्दरेषु पदार्थनदस्त्रेषु
सदैव व्यपदेशपात्रनामर्हतीति तात्पर्यम् । अवयवार्थस्तु—दुःशमयेति
'वृद्ध'-विशेषणेन प्रतीयमानस्य त्रैलोक्यराज्येनाप्यपरितोषः पर्यवस्यति ।
अश्वगैर्वर्जनमित्योदायैऽपि तस्य समुचितमभिभागासन्मवादर्धि-
भिर्लज्जमानैरपि स्वयमेवानभिभरणं प्रतीयते । मन्त्रिभद्रमलनाशाप
इति तदाश्रितानां तथाविधैऽपि सङ्कटे तदेकनिष्ठताप्रतिपात्तः । नस्य
च पूर्वोक्तस्वपरिहारापरितापाश्रमतया तापः स्वात्मनि न भाग्यप्रलान्घ्ये-
नेति प्रतिपद्यते । उत्तरार्धेन—तादृशे दुर्धिलमितेऽपि परोपकार-
विषयत्वेन श्लाघास्पदत्वमुन्मोलितम् ।

यहाँ (पहले उदाहरण में) संसार में कुतिसत (रूप से प्रमिट) भी रेगिस्तान का, कवितक्ति द्वारा वर्णित लोकातिशायी अीशायं की वरम सीमा लगे

पहुँचा दिए जाने के कारण, वैसा दूसरा स्वरूप उन्मीलित हुआ है जो कि प्रतीयमान रूप से इस अभिप्राय को व्यक्त करता है कि, (दूसरे) हजारों अपने उचित स्वभाव से सुन्दर पदार्थों के विद्यमान रहने पर भी केवल वही (रेगिस्तान ही) किसी भी उदारचरित वाले (व्यक्ति) की सहायता का भाजन बनने योग्य है (दूसरे पदार्थ नहीं) ।

वैसे इसका प्रतीकार्य तो यह होगा — 'पिपासा' के 'कष्टपूर्वक शान्ति होने वाली' इस विशेषण के द्वारा प्रतीयमान (व्यक्ति) की तीनों लोको के राज्य की प्राप्ति से भी असन्तुष्टि का बोध होता है । 'राहियों द्वारा परित्याग' इस (वाक्य) उदारता के रहने पर भी उसका समुचित सविभाजन सम्भव न होने से स्वयं लज्जाते हुए से प्राणियों द्वारा (उसके पास) न आने का बोध होता है । 'आश्रित वृथो एव लताओ का सूख जाना' इस (विशेषण) से उसके आश्रितों की उस प्रकार का सकट पड़ने पर भी केवल उसी पर आश्रित रहने का बोध होता है । (अर्थात् उसके परिजन सकट में उसे छोड़ कर दूसरे का आश्रय नहीं करते) । और इस प्रकार 'उस (प्रतीयमान व्यक्ति) का अपने भीतर सन्ताप पहले कहे गये अपने कुटुम्बियों को सन्तुष्ट करने में असमर्थ होने के कारण है न कि अपने अल्प भोग की नालच से' यह बात प्रतीत होती है । उत्तरार्द्ध के द्वारा उस प्रकार के दुर्विलास के विद्यमान रहने पर भी उस (उस व्यक्ति की) परोपकारविषयक प्रयत्नाभावता को उन्मीलित किया गया है ।

अपरत्रापि विधिविहितसमुचितसमयसम्भवं सलिलनिधिभजनं निजोदयन्यक्कृतनिखिलस्वपरपक्षं प्रजापतिप्रणीतसकलपदार्थप्रकाशन-
घनाभ्युपगमनिर्वहणाय विवस्वान् स्वयमेव नमाचरतीत्यन्यथा कदाचि-
दपि शशाङ्कतमस्तारादीनामभिव्यक्तिर्मनागपि न सम्भवतीति कविना नूतनत्वेन यदुल्लिखितं तदतीवप्रतीयमानमहत्त्वव्यक्तिपरत्वेन चमत्कार-
कारिनामापद्यते ।

दूसरे (उदाहरण) में भी विधि-विधान के अनुरूप (अपने) समया-
नुसार होने वाले (सूर्य के) सागर में डूबने को कवि ने जो इस नये ढंग से वर्णित किया है 'कि अपने उदय से सारे के सारे अपने व शत्रु के पक्ष को तिरस्कृत कर देने वाला सूर्य स्वयं ही विधिविहित समस्त पदार्थों के प्रकाशित करने के व्रतपालन का निर्वाह करने के लिए (समुद्र में डूबने का) व्याकरण करता है नहीं तो कभी भी चन्द्रमा, मन्थकार और नक्षत्रादिक की थोड़ी भी अभिव्यक्ति नहीं सम्भव हो सकती' वह (कवि का नवीन

वर्णन) प्रतीयमान महिमाशाली व्यक्ति का बोध करता हुआ अत्यन्त आह्लादकारी हो जाता है।

विचित्रमेव प्रचारान्तरेणोन्नीलयति—प्रतीयमानतेत्यादि । यत्र यस्मिन् प्रतीयमानता गम्यमानता काव्यार्थस्य मुख्यतया विवक्षितस्य वस्तुनः कस्यचिदनाख्येयस्य निबध्यते । कया युक्त्या—वाच्यवाचक-वृत्तिभ्यां शब्दार्थशक्तिभ्याम् । व्यतिरिक्तस्य तदतिरिक्तवृत्तेरन्यस्य व्यग्रभूतस्याभिव्यक्तिः क्रियते । 'वृत्ति'-शब्दोऽत्र शब्दार्थयोस्तत्प्रकाशन-सामर्थ्यमभिधत्ते । एष च 'प्रतीयमान'-व्यवहारो वाक्यवक्तव्याख्याना-धसरे सुवरा समुन्मील्यते । अनन्तरोक्तमुदाहरणद्वयं योजनीयम् । यथा वा—

विचित्र (मार्ग) को ही दूसरे ढंग से प्रस्तुत करते हैं—प्रतीयमानता-इत्यादि (४० वीं कारिका के द्वारा) । जहाँ अर्थात् जित (मार्ग) में काव्यार्थ अर्थात् प्रधान ढंग से कहने के लिए अभिप्रेत किसी अनिवार्य वस्तु की प्रतीयमानता अर्थात् व्यङ्ग्यरूपता (गम्यमानता) का (कवि द्वारा निबन्धन किया जाता है । किस ढङ्ग से—वाच्य और वाचक की वृत्तियों द्वारा अर्थात् शब्द और अर्थ को (प्रकाशक) शक्तियों के द्वारा । व्यतिरिक्त अर्थात् उक्त (शब्द और अर्थ की प्रकाशक-अभिधा शक्ति) से भिन्न (व्यजना) शक्ति वाले अन्य व्यङ्ग्यभूत (पदार्थ) को प्रकाशित किया जाता है । यहाँ (कारिका के—'वाच्यवाचकवृत्तिभ्याम्'—में प्रयुक्त) 'वृत्ति' शब्द, शब्द तथा अर्थ के उक्त (व्यङ्ग्यभूत अर्थ) के व्यक्त करने की सामर्थ्य का बोध कराता है । और यह व्यङ्ग्य (प्रतीयमान) अर्थ का व्यवहार वाक्यवक्तव्यता की व्याख्या करते समय भली भाँति सुस्पष्ट हो जायगा । इस उदाहरण रूप में अभी-अभी उदाहृत किये गये ("तापः स्वात्मनि"—॥६८॥ एष "विशति यदि नो कश्चिदकालः"—॥६९॥ दोनों पद्यों की योजना कर लेना चाहिए । (अर्थात् उन पद्यों में जो प्रतीयमान ढंग से महापुरुषपरक अर्थ हमारे सम्मुख आता है वह अभिधेय न होकर व्यञ्जना शक्ति द्वारा प्रतिपाद्य रूप में व्यङ्ग्य बनकर हमारे सामने उपस्थित होता है । अथवा जैसे (इतका अन्य उदाहरण)

यक्त्रेन्दोर्न हरन्ति घाप्पयसा धारा मनोहां द्वयं
निश्वासा न कर्द्वयन्ति मधुरां बिम्बापरस्य दृतिम् ।
तस्यस्त्यगिरहे विपक्षलवलीलावण्यसंघादिनी
रुद्धाया कापि कपोलयोरनुदिनं तन्वयाः परं पुष्पाति ॥ १०० ॥

किसी विरहिणी नायिका की दूती उसके नायक से उसकी विरह-व्यथा का निवेदन करती हुई कहती है कि) तुम्हारे विरह में न तो अश्रुजलो की धाराये (ही) उस (नायिका) के मुख के नीचे रमणीय सुषमा का अपहरण करती हैं (और) न (विरहज्वर) निश्वास (ही) उसके बिम्ब (फल) के सदृश (रक्तवर्ण) अधर की मनोहर छवि को दूषित करते हैं (हाँ एक बात जरूर है कि उस) कृश की के मण्डलेस्वेली को, पके हुए लवली (लता के पत्ते) के लावण्य के समान सुसम्पन्ने वाली कोई न छिपाई जा सकने वाली अपूर्व) कान्ति निश्चय प्रति पुष्ट होती जाती है ॥ १०० ॥

अत्र त्वद्विरहवैधुर्यसंवरणकदर्थनामनुभवस्यास्तरेयास्तथाविधे महति गुरुसङ्कटे वर्तमानाया - कि बहुना - बाष्पनिश्वासमोक्षायमरोऽपि न सम्भवति । केवलं परिणतलवलीलावण्यसंघादसुभगा कापि कपोलयोः कान्तिरशक्यसंवरणा प्रतिदिनं परं परिपोषमासादयतीति वाच्य-व्यतिरिक्तवृत्ति दूत्युक्ततात्पर्यं प्रतीयते । उक्तप्रकारकान्तिमन्वकथनं च कान्तकौतुकोत्कलिकाकारणतां प्रतिपद्यते ।

यहाँ पर वाच्य से अतिरिक्त वृत्ति वाला (व्यङ्ग्य रूप) दूती के कथन का 'यह तात्पर्यं प्रतीयमान' उक्त से सहृदयों के सम्मुख उपस्थित होता है कि तुम्हारे वियोग के कारण उत्पन्न अत्यन्त दुःख को आच्छादित करने में (असमर्थता रूप) कष्ट का अनुभव करती हुई उस प्रकार के घोर सङ्कट में विद्यमान उस (नायिका) की, अधिक (दुरवस्था का) क्या (वर्णन किया जाय, यही, क्या नम है कि उसे) आँसू गिराने एवं निश्वास छोड़ने का भी समय नहीं सम्भव होता (अर्थात् हमेशा उसे मय लगा रहता है कि कहीं यह भेद कोई जान न ले कि वह तुम्हारी, विरह-व्यथा से अत्यन्त पीडित है । अतः वह न रोती है और न आँसू ही भरती है । उन आँसू को भीतर ही दबा लेती है तथा आँसू के घूँट पी जाया करती है हाँ, एक बात जरूर है ।) पके हुए लवली (पत्र) के लावण्य के समान सुन्दर उसके कपोलो की छिपाई न जा सकने वाली कान्ति अत्यधिक परिपुष्ट होती जाती है । (अर्थात् उसका चेहरा पीला होता जाता है, और इसे वह छिपा सकने में सवैया असमर्थ है । अतः वही आपकी विरह-व्यथा को प्रकट करता है ।)

(इस प्रकार दूती द्वारा उस नायिका की) उक्त प्रकार की कान्ति से युक्त होने का कथन प्रियतम के कौतूहल और उत्कण्ठा के कारण रूप में प्रतिष्ठित होता है । (अर्थात् नायक को उसकी कपोल की पीत कान्ति के

दिन प्रतिदिन बढ़ने की बात सुनकर उस नायिका से मिलने की उत्कण्ठा जागृत होती है। इस प्रकार यही प्रधान रूप से कवि ने इसी प्रतीयमान अर्थ को उपनिबद्ध किया है।)

विचित्रमेव रूपान्तरेण प्रतिपादयति—स्वभाव इत्यादि। यत्र यस्मिन् भावानां स्वभावः स्वपरिस्पन्दः सरसाकूनो रसनिर्भराभिप्रायः पदार्थानां निषध्यते निवेश्यते। कीदृश—केनापि कमनीयेन वैचित्र्येणोपबृंहितः, लोकोत्तरेण हृदयहारिणा वैदग्ध्येनोत्तेजितः। 'भाव' शब्देनात्र सर्वपदार्थोऽभिधीयते, न रत्यादिरेव। उदाहरणम्—

विचित्र (भाव) को ही दूसरे ढंग से प्रतिपादित करते हैं—स्वभाव—इत्यादि (४१वीं कट्टरिका के द्वारा)। जहाँ अर्थात् जिस (भाव) में भाव अर्थात् पदार्थों का, सरसाकूत अर्थात् रस के अतिशय से युक्त अभिप्राय वाला स्वभाव अर्थात् अपनी ही सत्ता का निबन्धन अर्थात् वर्णन किया जाता है। कंसा—(स्वभाव)—किसी रमणीय वैचित्र्य से मुग्ध को प्राप्त कराया गया अर्थात् अलौकिक एवं मनोहर विदग्धता से उत्तम को प्राप्त। 'भाव' शब्द के द्वारा यहाँ सभी पदार्थों का ग्रहण होता है केवल रति यदि भावो ही का नहीं। (इसका) उदाहरण (जैसे)—

क्रीडासु बालकुसुमायुधसङ्गताया

यस्तत् स्मितं न खलु तत् स्मितमात्रमेव ।

आलोप्यते स्मितपटान्तरितं मृगादया-

स्तस्याः परिस्फुरदिवापरमेव किञ्चित् ॥ १०१ ॥

क्रीडाओं में (या काम-कैलि में) बाल कामदेव से संपुक्त (अर्थात् शैशवावस्था के बाद तुरत ही नये-नये काम के विकारों से युक्त) उस मृगनयनी की जो वह मुस्फुराहट है वह केवल मुस्फुराहट ही नहीं है, अपितु मुस्फुराहट रूपी वस्त्र से ढँकी हुई कोई अन्य ही वस्तु स्फुटित होती हुई तो दिखाई देती है ॥ १०१ ॥

अत्र न ललु तत् स्मितमात्रमेवेति प्रथमार्थेऽभिलाषमुभयं सरमाभिप्रायत्वमुक्तम्। अपरार्थे तु—हसितांशुकृतिरोहितमन्यदेव किमपि परिस्फुरदावलाक्यत इति कमनीयवैचित्र्यविच्छित्तिः।

यहाँ पर "वह केवल मुस्फुराहट ही नहीं है" इस पूर्वाहं में (उस तरंगी का सम्भोग की) इच्छा से रमणीय तरस अभिप्राय से युक्त होता प्रतिपादित किया गया है। तथा उत्तराहं में "मुस्फुराहटरूपी वस्त्र से ढँकी

हुई कोई अन्य ही (सम्मोग की इच्छारूप) वस्तु परिस्फुटित होती हुई दिखाई पड़ती है" इसके द्वारा किसी रमणीय वैचित्र्य की शोभा सम्पादित की गयी है ।

इदानीं विचित्रमेवापसंहरति—विचित्रो यत्रेत्यादि । एवंविधो विचित्रो मार्गो यत्र यस्मिन् वक्रोक्तिवैचित्र्यम् अलङ्कारविचित्रभावो जीवितायते जीवितवदाचरति । वैचित्र्यादेव विचित्रे 'विचित्र'-शब्दः प्रवर्तते । तस्मात्तदेव तस्य जीवितम् । किं तद्वैचित्र्यं नानेत्याह—परिस्फुरति यस्यान्तः सा काव्यतिशयाभिधा । यस्यान्तः स्वरूपानु-प्रवेशेन सा काव्यलौकिकातिशयोक्तिः परिस्फुरति भ्राजते । यथा—

अब (३४ वीं कारिका से ४१ वीं कारिका तक विचित्रमार्ग के अनेक प्रकारों की लक्षण एवम् उदाहरण द्वारा व्याख्या कर आचार्य कुन्तक उसी) विचित्र-मार्ग का उपसंहार करते हैं—

विचित्रो यत्र...इत्यादि (४२ वीं कारिका के द्वारा) । इस ढंग का विचित्रमार्ग होता है जहाँ अर्थात् जिस मार्ग में वक्रोक्ति का वैचित्र्य अर्थात् अलङ्कार की विचित्रता (चमत्कार) जीवितायते अर्थात् जीवन के समान आचरण करती है (तात्पर्य यह कि वक्रोक्ति का वैचित्र्य ही विचित्र-मार्ग का सर्वस्व है) वैचित्र्य के कारण ही विचित्र (मार्ग) के लिए 'विचित्र' शब्द प्रयुक्त होता है । इसीलिए वह वक्रोक्ति-वैचित्र्य ही उस (विचित्र-मार्ग) का जीवितभूत है । वह वैचित्र्य है कैसा—इसे बताते हैं—जिसके भीतर कोई अतिशयोक्ति परिस्फुटित होती है । जिसके भीतर अर्थात् उसके स्वरूप में प्रविष्ट होने के कारण कोई लोकोत्तर अतिशयपूर्ण कथन परिस्फुटित अर्थात् शोभायमान होता है । जैसे—

यत्सेनारजसामुदञ्चति चये द्वाभ्यां दवीयोऽन्तरान्
पाणिभ्यां युगपद्विलोचनपुटानष्टाश्चमो रक्षितुम् ।
एकैकं दलमुन्नामय्य गमयन् वासाम्बुजं कोशतां
घाता सवरणाकुलश्चिरमभूत् स्वाध्यायबद्धाननः ॥ १०२ ॥

जिसकी सेना के (प्रयाण से उत्पन्न) घूलिसमुदाय के ऊपर उठने पर (आकाश की ओर उठने पर, स्वाध्याय में लगे हुए ब्रह्मा जी उस घूलि से बचाने के लिए) दूर-दूर भ्रमवधान वाले अपने आठों अक्षिपुटों की दोनों ही हाथों से रक्षा करने में असमर्थ होकर एक-एक दल को उठाकर अपने निवास के कमल को बन्द करते हुए, बन्द करने में व्याकुल होकर चिरकाल तक स्वाध्याय न कर सके ॥ १०२ ॥

एव वैचित्र्य सम्भावनानुमानप्रवृत्तायाः प्रतीयमानत्वमुत्प्रेक्षायाः । तच्च धाराधिरोहणरमणोपयतयातिशयोक्तिपरिस्पन्दस्यन्दि सन्दृश्यते ।

इस प्रकार सम्भावना के अनुमान से प्रवृत्त होने वाली उत्प्रेक्षा की प्रतीयमानता (ही यहाँ पर) वैचित्र्य है । और वह (वैचित्र्य) चरम सीमा को पहुँची हुई सुन्दरता के कारण अतिशयोक्ति के विलसित प्रस्तुत करने वाला दिखाई पड़ता है ।

तदेव वैचित्र्यं व्याख्यायतस्यैव गुणान् व्याचष्टे—

वैदग्ध्यस्यन्दि माधुर्यं पदानामत्र बध्यते ।

याति यत्त्यक्तशैथिल्यं बन्धबन्धुरताङ्गताम् ॥ ४४ ॥

इस प्रकार वैचित्र्य की व्याख्या कर अब उसके ही गुणों की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं । (सर्वप्रथम माधुर्य गुण का लक्षण प्रस्तुत करते हैं)—

यहाँ उस विचित्र-मार्ग में पदों के वैदग्ध्य को प्रवाहित करने वाले माधुर्य गुण को उपनिबद्ध किया जाता है जो शिथिलता का त्याग कर वाक्य किन्वात की रमणीयता का माधन बन जाता है ॥ ४४ ॥

अत्रास्मिन् माधुर्यं वैदग्ध्यस्यन्दि वैचित्र्यममर्पकं पदानां बध्यते नाक्यैकदेशानां निवेश्यते । यत्त्यक्तशैथिल्यमुक्तिरकोमलभावं भवद्वन्द्व-
बन्धुरताङ्गतां याति मन्निवेशसीन्दर्योपकरणतां गच्छति । यथा—

‘किं तारुण्यतरोः’ इत्यत्र पूर्वार्धः ॥ १०३ ॥

यहाँ इस विचित्रमार्ग में वाक्य के अवयवभूत पदों के वैदग्ध्य को प्रवाहित करने वाले अर्थात् विचित्रता को प्रदान करने वाले माधुर्य (गुण) का सन्निवेश किया जाता है । जो शैथिल्य का त्याग कर अर्थात् कोमलता को परित्यक्त कर बन्ध के सौन्दर्य का अङ्ग अर्थात् संबन्धना की सुन्दरता का साधन बनता है जैसे—‘किं तारुण्यतरोः’... इत्यादि पूर्वोदाहृत । (उदाहरण सं० १२ के पूर्वार्ध में देखा जा सकता है) ॥ १०३ ॥

टिप्पणी—विचित्रमार्ग के माधुर्य गुण के उदाहरण रूप में कुन्तक ने जिन पङ्क्तियों को उद्धृत किया है वे निम्न हैं—

किं तारुण्यतरोरियं रसभरोद्भिन्ना नवा वल्लरी

लीलाप्रोच्छ्वितस्य किं सहस्रिका सावण्यवारान्निधे ।

इसका अर्थ उदाहरणसंख्या १२ पर देखें । यहाँ पर कवि ने—तारुण्यतरोः, रसभरोद्भिन्ना, नवा वल्लरी, सावण्यवारान्निधेः आदि सभी ऐसे पदों का प्रयोग

किया है जो एक लोकोत्तर वैचित्र्य के समर्थक हैं। यहाँ माधुर्य गुण होगा।

एव माधुर्यमभिधाय प्रसादमभिधत्ते—

असमस्तपदन्यासः प्रसिद्धः कविवर्त्मनि ।

किञ्चिदोजः स्पृशन् प्रायः प्रसादोऽप्यत्र दृश्यते ॥ ४५ ॥

इस प्रकार माधुर्य गुण को बताकर अब प्रसाद गुण का कथन प्रस्तुत करते हैं—

इस विचित्रमार्ग में विद्वानों (कवियों) के मार्ग में प्रसिद्ध, कुछ-कुछ ओज का स्पर्श करता हुआ, समासहीन पदों की रचना रूप, प्रसाद नामक गुण भी प्रायेण देखा जाता है ॥ ४५ ॥

असमन्तानां समासरहितानां पदानां न्यासो निबन्धः कवि-
वर्त्मनि विपश्चिन्मार्गे यः प्रसिद्धः प्रख्यातः सोऽप्यस्मिन् विचित्राख्ये
प्रसादाभिधानो गुणः किञ्चित् कियन्मात्रमोजः स्पृशन्नुत्तानतया
व्यवस्थितः प्रायो दृश्यते प्राचुर्येण लक्ष्यते । बन्धसीर्गदर्यनिबन्धनत्वात् ।
तथाविधस्यौजसः समासवती वृत्तिः 'ओजः'-शब्देन चिरन्तनैक्यते ।
तदयमत्र परमार्थः—पूर्वस्मिन् प्रसादलक्षणे सत्योजःसस्पर्शमात्रमिहा
विधीयते । यथा—

असमस्त अर्थात् समास में वर्जित पदों का न्यास अर्थात् निबन्ध
(सङ्घटन) जो कवियों के मार्ग में अर्थात् पण्डितों की पद्धति में प्रसिद्ध
अर्थात् प्रवृष्ट रूप से ख्यातिप्राप्त है वह भी प्रसाद नाम का गुण इस विचित्र
नामक (मार्ग) में कुछ, थोड़ा-मा ओज का स्पर्श करता हुआ अर्थात्
उत्तान ढङ्ग से (कुछ-कुछ समस्त पदों से युक्त रूप में) व्यवस्थित हुआ
प्रायः दिखाई पड़ता है अर्थात् प्रचुर रूप से लक्षित होता है । उस प्रकार के
ओज की समास से युक्त वृत्ति को, वाक्य-विन्यास (सङ्घटना) की रमणीयता
का कारण होने से चिरन्तन (आलङ्कारिकी) ने 'ओज' शब्द से
व्यवहृत किया है । इसका वास्तविक अर्थ यह है कि पहले (सुकुमार मार्ग
के गुणों का प्रतिपादन करते समय ३१ वीं कारिका में किए गए) प्रसाद के
लक्षण के विद्यमान रहने पर यहाँ (इस विचित्रमार्ग के प्रसाद गुण में)
केवल ओज के सस्पर्श का ही विधान किया जाता है । (शेष लक्षण सुकुमार-
मार्ग के प्रसाद गुण जैसा ही है । अर्थात् यहाँ भी प्रसाद गुण रस एवं
वक्रोक्ति विषयक अभिप्राय को अनायास ही प्रकट कर देने वाला एवं पढ़ते

हो तुरन्त अर्थ की प्रतीति कराने वाला होना चाहिए । हाँ, यहाँ उसमें एक यही विशेषता होगी कि वह कुछ-कुछ ओज का स्पर्श करता हुआ होगा) ॥ जैसे—

अपाङ्गागततारकाः स्तिमितपद्मपालीभृतः
स्फुरत्सुभगकान्तयः स्मितसमुद्रगतिद्योतिताः ।

विलासभरमन्थरास्तरलकल्पितैकभ्रवो

जयन्ति रमणेऽपिताः समदसुन्दरीदृष्टयः ॥ १०४ ॥

पति की ओर फँकी गई, नेत्रों के प्रान्त भाग में स्थित कनीतिका वाली निरवल पलकों को धारण करने वाली, स्फुरित होती हुई मनोहर छवि से युक्त, मुस्कुराहट आ जाने के कारण द्युतिमान्, विलास के भार से मन्द गति वाली तथा एक भौंह को खन्वल बना देने वाली, हँसित सुन्दरियों की आँखें, सर्वोत्कृष्ट रूप से विद्यमान हैं ॥ १०४ ॥

(यहाँ पर कवि ने शृङ्गार रस को बड़े ही रक्षणीय ढङ्ग से प्रस्तुत किया है । पदों का प्रयोग अर्थ को तुरन्त स्पष्ट कर देने वाला है ? तथा छोटे-छोटे समासों से युक्त होने के कारण सभी पद कुछ-कुछ ओज का स्पर्श कर रहे हैं । अतः यह विचित्र मार्ग के प्रसाद गुण का उदाहरण हुआ) ॥

प्रसादमेव प्रकारान्तरेण प्रकटयति—

गमकानि निबध्यन्ते वाक्ये वाक्यान्तराभ्यपि ।

पदानीवात्र कोऽप्येव प्रसादस्यापरः क्रमः ॥ ४६ ॥

(विचित्र मार्ग के उसी) प्रसाद गुण को दूसरे ढङ्ग से प्रस्तुत करते हैं— यहाँ (इस विचित्र-मार्ग में एक ही) वाक्य में (व्यङ्ग्यार्थ के) समर्पक अन्य (अवान्तर) वाक्यों का भी पदों के समान (परस्पर अन्वित ढङ्ग से) सन्निवेश किया जाता है । यह (विचित्र मार्ग के) प्रसाद (गुण) का कोई (अपूर्व ही वाक्य की शोभा को उत्पन्न करने वाला) दूसरा प्रकार है ॥ ४६ ॥

अत्रास्मिन् विचित्रे यद्वाक्यं पदसमुदायस्तस्मिन् गमकानि समर्प-
काण्यन्यानि वाक्यान्तराणि निबध्यन्ते निवेश्यन्ते । कथम्—पदानीव
पदवत्, परस्परान्वितानीत्यर्थः । एव कोऽप्यपूर्वः प्रसादस्यापरः क्रमः
बन्धच्छायाप्रकारः । यथा—

यहाँ अर्थात् इस विचित्र (मार्ग) में जो वाक्य अर्थ : पदों का समूह है
उसमें गमक अर्थात् (व्यङ्ग्यार्थ के) समर्पक अन्य दूसरे (अवान्तर) वाक्य

निबद्ध अर्थात् सन्निविष्ट किए जाते हैं । किस प्रकार से—पदों के समान अर्थात् पदों की तरह परस्पर अन्वित ढङ्ग से, (निबद्ध किए जाते हैं) । यह (विचित्र मार्ग के) प्रसाद (गुण) का कोई अपूर्व दूसरा ही श्रम अर्थात् वाक्यविन्यास की शोभा (को उत्पन्न करने) का प्रकार है । जैसे—

नामाप्यन्तरोः इति ॥ १०५ ॥

(पूर्वोदाहृत उदाहरण सख्या ९१ का) नामाप्यन्तरो इत्यादि पद ॥ १०५ ॥

टिप्पणी—यहाँ ग्रन्थकार ने जिस पद को प्रसाद गुण के उदाहरण रूप में उद्धृत किया है वह यह है—

नामाप्यन्तरोन्मीलितमभूत्तावदुन्मीलित

प्रस्थाने सप्रलतः स्वदन्नेनि विधेरन्यदुगृहीत करः ।

लोकस्थापनदुष्टदशनकृताद् दुर्वृत्तादुद्धूतो

युक्त काष्ठिक लूनवान् यदसि तामाभ्रालिमाकालिकीम् ॥ ९१ ॥

इसका अर्थ उदाहरण सख्या ९१ पर देखें । यहाँ कवि ने एक ही वाक्य रूप श्लोक में 'निमीलितमभूत्', 'तावदुन्मीलित', 'गृहीत कर', 'लोकः उद्धूत' इत्यादि अन्य अदान्तर वाक्यों का पदों की भाँति प्रयोग किया है । अतः यहाँ प्रसाद गुण स्वीकार किया जाएगा ।

प्रसादमभिधाय लावण्य लक्षयति—

अत्रालुप्तविसर्गान्तैः पदैः प्रोक्तैः परस्परम् ।

ह्रस्वैः संयोगपूर्वैश्च लावण्यमतिरिच्यते ॥ ४७ ॥

(इस प्रकार विचित्र मार्ग के माधुर्य गुण तथा) प्रसाद (गुण के दो प्रकार) बता कर अब (तीसरे गुण) लावण्य को लक्षित करते हैं—

यह! (इस विचित्र मार्ग में) परस्पर सन्निविष्ट, विसर्गों से युक्त अन्त वाले संयोग से पूर्व ह्रस्व पदों (के प्रयोग) से लावण्य (गुण) अतिशय युक्त हो जाता है ॥ ४७ ॥

अत्रास्मिन्नेवविधैः पदैर्लावण्यमतिरिच्यते परिपोषं प्राप्नोति । कीदृशैः—परस्परमन्योन्य प्रोक्तैः सश्लेष नीतैः । अन्यथा कीदृशैः—अलुप्तविसर्गान्तैः, अलुप्तविसर्गा. श्रृयमाणविसर्जनीया अन्ता येषां तानि तयोक्तानि तैः । ह्रस्वैश्च लघुभिः । संयोगेभ्यः पूर्वैः । अतिरिच्यते इति सम्बन्धः । तदिदमत्र तात्पर्यम्—पूर्वोक्तलक्षणं लावण्यं विद्यमानमनेनातिरिक्ततां नीयते । यथा—

यहाँ अर्थात् इस (विविध मार्ग) में इस प्रकार के पदों (के प्रयोग) से (विविध मार्ग का) सावध्य (गुण) अतिशय युक्त होता है अर्थात् मत्सीर्भाश्चि पुष्ट होता है । कैसे (पदों के प्रयोग से) परस्पर एक दूसरे से मिले हुए सन्निष्ट (पदों से) । और कैसे (पदों के प्रयोग से) न लुप्त हुए विसर्गों के अन्त वाले । नहीं लुप्त हुए विसर्गों वाले अर्थात् सुनाई पड़ते हुए विसर्जनीयों वाले अन्त हैं जिनके वे हुए तपोक्त (न लुप्त हुए विसर्गों के अन्त वाले) उन (पदों से) । ह्रस्व अर्थात् सधु (पदों) से । सधोय के पहले (ह्रस्व पदों से) । (लावण्य गुण) परिपुष्ट होता है । यह (वाक्य के साथ क्रिया का) सम्बन्ध है । तो इसका यहाँ अभिप्राय यह हुआ कि—पहले (सुकुमार मार्ग के गुणों का प्रतिपादन करते समय ३२ वीं कारिका में) कहे गए सक्षण वाला सावध्य (सुकुमार मार्ग का गुण विद्यमान होते हुए इस (प्रकार के प्रयोगों से इस गुण के युक्त होने के कारण इस) से मिश्र हो जाता है । जैसे—

आसोत्कम्पतरङ्गिणि स्तनतटे धौताञ्जनश्यामलाः

कीर्यन्ते कणशः कृशाङ्गि किममी घाष्पाभ्रमां बिन्दवः ।

किञ्चाकुञ्चितकण्ठरोधकुटिलाः कर्षामृतस्यन्दिनो

हुङ्गाराः कलपञ्चमप्रणयिनस्त्रुट्यन्ति निर्यान्ति च ॥ १०६ ॥

हे कृशाङ्गि, (श्रम के कारण) नेत्र सौंदर्य के घसने से उमर आने के कारण हिलते हुए वक्षस्त्रय पर (आँखों में लगे) अंजन को घोलने के कारण काली पड़ गई ये अश्रुजल की बूँदों को टूक टूक करके क्यों टुकटुक दे रही हो ? और क्यों भला ये कानों में सुधा टपकाने वाली मधुर पञ्चम (स्वर) की तरह प्यारी लगने वाली है है की आवाजें मुड़े हुए गले के भर आने के कारण टेढ़ी पड़कर टूट टूट जाती हैं और निकल पड़ती हैं ॥ १०६ ॥

टिप्पणी—यहाँ इस पद्य में 'धौताञ्जनश्यामलाः', 'कणशः', 'बिन्दवः', '—कुटिलाः' एवं 'हुङ्गाराः' ऐसे पदों का प्रयोग किया गया है, जिनके अन्त में विसर्गों का सौंप नहीं हुआ है । तथा कम्प, तरङ्गिणिस्तनतटे,—न श्यामलाः, कीर्यन्ते, बिन्दवः...कुञ्चित, कण्ठ, तस्यन्दिनो एवं पञ्चमप्रणयिनस्त्रुट्यन्ति, घट्यादि पदों में सधोय के पूर्व सधु वर्ण का प्रयोग हुआ है । जैसे 'कम्प' में 'क' का 'तरङ्गिणि' में 'र' का आदि आदि । तथा सभी पद परस्पर एक दूसरे से सन्निष्ट होकर विविध मार्ग के सावध्य गुण का परिपोष करते हैं ।

यथा वा—

पुनन्मन्दविपकतिन्दुकफलश्यामोदरापाण्डुर-

प्रान्तं हन्त पुलिन्दसुन्दरकरस्पर्शक्षमं लक्ष्यते ।
तत् पल्लीपतिपुत्रि कुञ्जरकुलं कुम्भामयाभ्यर्चना-
दीनं त्वामनुनायते कुचयुगं पत्रांशुकैर्मा पिघाः ॥ १०७ ॥

अथवा जैसे (इसी का दूसरा उदाहरण)—

हे पल्लीपति (छोटे से ग्राम के स्वामी) को पुत्रि ! अघपके तेनू फल के समान श्याम मध्यभागवाला तथा कुछ कुछ पीतवर्ण तट प्रदेश वाला (तुम्हारा) यह स्तनद्वन्द्व शबर के सुन्दर करों के स्पर्शयोग्य (मदन करने के लिये उपयुक्त) दिखाई पड़ता है । इसलिये (अपने) गण्डस्थल की रक्षा (अभय) की प्रार्थना से कातर (यह) हाथियों का समूह तुमसे याचना करता है कि अपने इस (स्तनयुगल) को पत्नी से मत ढको । (जिससे यह शबर तुम्हारे कुचों की ओर आकृष्ट होकर हम हाथियों के गण्डस्थल पर प्रहार करने से विमुख हो जायें) ॥ १०७ ॥

टिप्पणी—इस पद्य में यद्यपि ‘पिघा’ को छोड़कर अन्य किसी असुप्त-विसर्गान्ति पद का प्रयोग नहीं सुना है । फिर भी सभी पद आपस में अच्छी तरह से सरिलिप्त हैं । एवं ‘एतन्मन्दविपक्वतिन्दुकफलश्यामो, ...’ प्रान्त, हन्त, पुलिन्द सुन्दरकरस्पर्शक्षम लक्ष्यते । इत्यादि सभी पदों में सयोग के पूर्व ह्रस्व वर्णों के प्रयोग से श्लोक में एक अपूर्व ही चमत्कार आ गया है । जिससे लावण्य गुण पूर्ण परिपोष को प्राप्त हो रहा है ।

यथा वा—

‘हसताना निनदेयु’ इति ॥ १०८ ॥

अथवा जैसे (इसका तीसरा उदाहरण पूर्वोदाहृत उदाहरण संख्या ७३ का) हसताना निनदेयु... । इत्यादि पद ॥ १०८ ॥

(इसका अर्थ उदाहरण संख्या ७३ पर देखें तथा लक्षण को पूर्वोदाहृत दोनों पदों के आधार पर स्वयं घटित कर लें) ।

एवं लावण्यमभिधायाभिजात्यमभिधीयते—

यन्नातिकोमलच्छायं नातिकाठिन्यमुद्बद्धम् ।

आभिजात्यं मनोहारि तदत्र प्रौढिनिर्मितम् ॥ ४८ ॥

इस प्रकार (विविध मार्ग के तीसरे गुण) लावण्य को बताकर (अब चतुर्थ गुण) आभिजात्य को बताते हैं—

यहाँ (इस विविध-मार्ग में) जो न तो बहुत अधिक कोमल कान्ति (वात्ता होता है) और न अधिक कठिनता को ही धारण करता (है)

वह (कवि की) प्रौढि से विरचित आभिजात्य (नामक गुण) हृदय को आनन्दित करने वाला होता है ॥ ४८ ॥

अत्रास्मिन् तदाभिजात्यं यन्नातिकोमलच्छाय नात्यन्तमसृणकान्ति-
नातिफाठिन्यमुद्रहन्नातिकठोरतां धारयन् प्रौढिनिर्मितं सफलकवि-
कौशलसम्पादितं सन्मनोहारि हृदयरञ्जक भवतीत्यर्थः । यथा—

यहाँ अर्थात् इस (विविध मार्ग) में वह आभिजात्य (नाम का गुण होता है) जो न अधिक कोमल छाया वाला अर्थात् न तो अत्यधिक स्निग्ध कान्ति वाला (और) न अधिक कठिनता को वहन करता हुआ अर्थात् न ही अधिक कठोरता को धारण करता हुआ (होता है) वह प्रौढि से निमित्त अर्थात् कवि की समग्र कुशलता से सम्पादित हुआ मनोहारि अर्थात् हृदय को आनन्दित करनेवाला होता है, यह व्यंजित हुआ । जैसे—(कोई सखी नायिका से पूछती है कि—

अधिकरतलतलपं कल्पितस्यापलीला-
परिमलननिमीलत्पाण्डिमा गण्डपाली ।
सुतनु कथय कस्य व्यक्षयत्यञ्जसैव
स्मरनरपतिकेलीयौवराज्याभिपेकम् ॥ १०६ ॥

हे सुन्दरि ! (यह तो) बताओ कि—करतलरूपों पर्यङ्कु परशयन-सीलाप के कारण होने वाले (करतल तथा कपोल के) दृढ़ संयोग से तिरोहित होती हुई पाण्डुता से युक्त (अर्थात् रक्तवर्ण तुम्हारी यह) कपोलस्यन्ती सहसा ही कामदेवरूपी नरपति की जोड़ाओ के यौवराज्य पद पर किस (घन्य युवक) के अभिपेक को व्यक्त कर रही है ॥ १०६ ॥

टिप्पणी—इस पद्य में कवि ने न तो अत्यधिक कठोर और न अत्यन्त कोमल ही पदावली का प्रयोग किया है । साध ही कवि-प्रतिभा की प्रौढि इस श्लोक से भलीभाँति व्यक्त हो रही है । अतः यहाँ आभिजात्य गुण स्वीकार किया जायगा ।

एवं सुकुमारविदितानामेव गुणानां विचित्रे कश्चिदविशयः सम्पाद्यत इति बोद्धव्यम्

इस प्रकार सुकुमार (मार्ग) में कवित (माधुर्य, प्रसाद, लावण्य एवं आभिजात्य) गुण (ही) विचित्र मार्ग में किसी (अपूर्व) अतिशय से सम्पन्न कर दिये जाये हैं ।—ऐसा समझना चाहिए । (और जैसा कि) यह अन्तरश्लोक (भी) है कि—

आभिजात्यप्रभृतयः पूर्वमार्गोदिता गुणाः ।

अत्रातिशयमाशान्तिं जनिताहार्यसम्पदः ॥ ११० ॥

इत्यन्तरलोकः ।

पहले (सुकुमार) मार्ग में प्रतिपादित आभिजात्य आदि (अर्थात् माधुर्य, प्रासाद, लावण्य एवं आभिजात्य चारो ही) गुण, यहाँ (इस विचित्र मार्ग में कवि की व्युत्पत्त्यादिजन्य) आचार्य-सम्पत्ति की सृष्टि कर (किसी अलौकिक) अतिशय को प्राप्त होते हैं ॥ ११० ॥

एवं विचित्रमभिधाय मध्यममुपक्रमते—

वैचित्र्यं सौकुमार्यं च यत्र सङ्कीर्णतां गते ।

भ्राजेते सहजाहार्यशोभातिशयशालिनी ॥ ४९ ॥

इस प्रकार (पहले सुकुमार मार्ग का विवेचन कर तदनन्तर (विचित्र (मार्ग) को बताकर (अब) मध्यम (मार्ग के विवेचन) का आरम्भ करते हैं—

जहाँ (जिस मार्ग में) सहज (अर्थात् कवि प्रतिभाजन्य) तथा आहार्य (अर्थात् कवि की व्युत्पत्त्यादि जन्य) कान्ति के चत्कर्ष से शोभित होने वाली सुकुमारता एवं विचित्रता सङ्कीर्ण होकर (एक दूसरे से मिश्रित होकर) शोभित होती है ॥ ४९ ॥

माधुर्यादिगुणग्रामो वृत्तिमाश्रित्य मध्यमाम् ।

यत्र कामपि पुष्पाति बन्धच्छायातिरिक्तताम् ॥ ५० ॥

(तथा) जहाँ (जिस मार्ग में) माधुर्य (प्रासाद, लावण्य एवं आभिजात्य) आदि गुणों का समुदाय मध्यम (अर्थात् सुकुमार तथा विचित्र दोनों मार्गों की कान्ति से युक्त) वृत्ति का आश्रय कर सघटना की शोभा के आघिषत्य का पोषण करता है ॥ ५० ॥

मार्गोऽसौ मध्यमो नाम नानारुचिमनोहरः ।

स्पर्धया यत्र वर्तन्ते मार्गाद्विषयसम्पदः ॥ ५१ ॥

(तथा) जहाँ (जिस मार्ग में सुकुमार तथा विचित्र) दोनों मार्गों की सम्पत्ति (परस्पर) स्पर्धा से (समान रूप में) बिद्यमान रहती है, (ऐसा) यह विभिन्न रुचिओं वाले (सहृदय आदि) के लिए मनोहर मध्यम नाम का मार्ग है ॥ ५१ ॥

अत्रारोचकितः केचिच्छायावैचित्र्यरञ्जके ।

विदग्धनेपथ्यविधौ भुजङ्गा इव सादराः ॥ ५२ ॥

यहाँ शोभा के वैचित्र्य के कारण मनोहर (इस मध्यम मार्ग) में सम्यक् वेशभूषा के विधान में नागरिकों के समान कुछ रमणीय वस्तु के व्यसनी (अरोचकी कवि एवं सहृदय) आदरयुक्त होते हैं । (अर्थात् कवि लोग इसका आश्रयण कर काव्यरचना करते हैं और सहृदय इसका अध्ययन कर बसौकिक आनन्द प्राप्त करते हैं ॥ ५२ ॥

मार्गोऽसौ मध्यमो नाम मध्यमाभिधानोऽसौ पन्था' । कीदृश'— नानाविधा रुचयः प्रतिभासा येषां ते तथोक्तास्तेषां सुकुमारविचित्रमध्य-मव्यसनिना सर्वेषामेष मनोहरो हृदयहारी । यस्मिन् स्पर्धया मार्गद्वितय-सम्पदः सुकुमारविचित्रशोभा, साम्येन वर्तन्ते व्यवतिष्ठन्ते, न न्यूनाति-रिक्तत्वेन । यत्र वैचित्र्य विचित्रत्वं सौकुमार्यं सुकुमारत्वं सङ्कीर्णतां गते तस्मिन् मिश्रतां प्राप्ते सती भ्राजेते शोभेते । कीदृशे—सहजाहार्य-शोभातिशयशालिनी, शास्त्रव्युत्पत्तिसम्भवो यः शोभातिशयः कान्त्यु-त्कर्षस्तेन शालेते श्लाघेते ये ते तथोक्ते ।

यह मध्यम नाम का मार्ग अर्थात् 'मध्यम' इस शब्दा से प्रकट किया जाने वाला यह (काव्य का) पथ है । किस प्रकार का—नाना प्रकार की रुचियाँ अर्थात् प्रतीतियाँ हैं जिनके में हमें तथोक्त (नानाविध रुचि वाले) उनका अर्थात् सुकुमार, विचित्र, एवं मध्यम मार्ग के व्यसनी सभी का ही मनोहर अर्थात् हृदय को हरण करने वाला । (सब को आनन्दित करने वाला मध्यम नामक मार्ग है) । जिस (मार्ग) में (परस्पर) स्पर्धा से दोनों मार्गों की सम्पत्तियाँ अर्थात् सुकुमार एवं विचित्र (मार्गों) की छवियाँ समान रूप से वर्तमान रहती हैं, न्यूनाधिक्य रूप से नहीं विद्यमान रहती हैं । जहाँ वैचित्र्य अर्थात् विचित्रभाव सौकुमार्य अर्थात् सुकुमार भाव सङ्कीर्णता को प्राप्त होकर अर्थात् उस (मध्यम मार्ग) में मिश्रित होकर व्यापमान अर्थात् शोभायमान होते हैं । कैंसी (दोनों मार्गों की छवियाँ)—सहज एवं आहार्य शोभा के अतिशय से श्लाघनीय, अर्थात् कति (सहज) एवं न्युत्पात से उत्पन्न होने वाला (आहार्य) जो शोभा का अतिशय अर्थात् कान्ति का उत्कर्ष है उससे जो कानित अर्थात् प्रशंसित होती है वे दोनों ही उपोक्त (सहज एवं आहार्य शोभा के अतिशय से श्लाघनीय शोभाओं जिस धार्य में समतुल्य उत्पन्न करती हैं ।)

माधुर्येत्यादि । यत्र च माधुर्यादिगुणप्रामो माधुर्यप्रसूतिगुण-
समूहो मध्यमाधु-मध्यच्छायाच्छुरितां वृत्ति स्वस्पन्दगतिमाश्रित्य काम-
प्यपूर्वा बन्धच्छायातिरिक्तां सन्निवेशकान्त्याधिकतां पुष्पाति पुष्प-
तीत्यर्थः ।

(और कैसा होता है मध्यम मार्ग इसे प्रतिपादित करते हैं) माधुर्येत्यादि
(५० वी कारिका के द्वारा) । और जहाँ पर माधुर्यादि गुणों का समूह
अर्थात् माधुर्य (प्रसाद, सावण्य एव आभिजात्य) आदि (पूर्वोक्त)
गुणों का समुदाय मध्यम अर्थात् (सुकुमार एव विचित्र) दोनों (मार्गों)
की शोभा से संयुक्त वृत्ति अर्थात् स्वाभाविक गति का आश्रयण कर किसी
अपूर्व बन्धसौन्दर्य की अतिरिक्तता अर्थात् सङ्घटना सौन्दर्य के आश्रयण का
पोषण करता है, (उसे मध्यम मार्ग कहते हैं) ।

तत्र गुणानामुदाहरणानि । तत्र माधुर्यस्य यथा—

वेलानिलैर्मृदुभिराकुलितालकान्तां
गायन्ति यस्य चरितान्यपरान्तकान्ताः ।
लीलानताः समवलम्ब्य लतास्तरूपां
हिन्तालमालिपु तटेषु महार्णवस्य ॥ १११ ॥

वहाँ '(उस मध्यम मार्ग में माधुर्यादि) गुणों के उदाहरण (अब
प्रस्तुत किये जाते हैं) । उनमें (सर्वप्रथम) माधुर्य (गुण का उदाहरण)
जैसे—

हिन्ताल (वृक्षों) की कतारों से युक्त महासागर के तटों पर, वृक्षों की
लताओं का सहारा लेकर विलास के साथ झुकी हुई, तथा समुद्र तट की
मृदुल हवाओं (झोंकों) से अस्त-व्यस्त (बिखरे हुए) कैलाश वाली दूसरे
तट पर स्थित कामिनियाँ जिसके चरित्र को गाया करती हैं ॥ १११ ॥

टिप्पणी—आचार्य कुल्लुक ने सुकुमार मार्ग के माधुर्य का लक्षण
प्रचुर समास से रहित मनोहर पदों का विन्यास, तथा विचित्र मार्ग के
माधुर्य का लक्षण शैथिल्य-रहित, बन्ध-सौन्दर्य का उपकारक एवं वैचित्र्य को
उत्पन्न करने वाला किया है । इस उदाहरण में दोनों का सम्मिश्रण है ।
अर्थात् पदों में न तो प्रचुर समास ही है तथा न किसी प्रकार का शैथिल्य
है 'न्त' एवं 'ल' और 'क' आदि मनोहर वर्णों की अनेकों बार आवृत्ति होने
से एक अपूर्व ही मनोहरता एवं वैचित्र्य की सृष्टि हुई है जिससे बन्ध
का सौन्दर्य बढ़ गया है । अतः यह मध्यम मार्ग के माधुर्य गुण रूप में
सङ्गत हुआ है । इसके अनन्तर अब प्रसाद गुण को प्रस्तुत करते हैं—

प्रसादस्य यथा—

‘तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन’ इत्यादि ॥ ११२ ॥

प्रसाद (गुण) का (उदाहरण) जैसे—

(उदाहरण सख्या २३ पर पूर्व उदाहृत) ‘तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन’ इत्यादि (पद्य) ॥ ११२ ॥

टिप्पणी—मुकुमार मार्ग के प्रसाद गुण का लक्षण है—‘रस एवं वक्रोक्तिविषयक अभिप्राय को अनायास व्यञ्जित करना तथा शीघ्र अर्थ की प्रतीति करा देना’ तथा विचित्र मार्ग के प्रसाद की विशिष्टता है—‘कुछ-कुछ ओज का स्पर्श करता हुआ एवं समासहीन पदों के विव्यास से युक्त तथा एक ही वाक्य में अनेक अवान्तर वाक्यों का पदों की भाँति (व्यङ्ग्यार्थ) के व्यञ्जक रूप में प्रयोग से युक्त’ । यहाँ उदाहृत निम्न पद्य—

तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन दिवसो नीतः प्रदोषस्तथा

तदोषैव निशापि मन्मथकृतोत्साहेस्तदङ्गपर्यन्ते ।

ततः सम्प्रत्यपि मार्गदत्तनयनां द्रष्टुं प्रवृत्तस्य मे

बद्गोचरकण्ठमिदं मनः किमपवा प्रेमासमाप्नोत्सवम् ॥

—ये शृङ्गार रस एवं शीघ्रक रूप अलंकार अनायास ही व्यञ्जित हो जाता है । अर्थ की प्रतीति पड़ते ही हो जाती है । तथा अधिकतर समास वञ्जित पदों का प्रयोग है । हाँ, तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन, मन्मथकृतोत्साहे एवं मार्गदत्तनयनाम् आदि पदों में कुछ समासों का प्रयोग होने से कुछ-कुछ ओज का स्पर्श भी प्राप्य है । तथा ‘दिवसो नीतः’ ‘निशापि (नीता)’ ‘प्रदोषः (नीतः)’, ‘मनः (अस्ति)’ इत्यादि अनेक अवान्तर वाक्यों का भी इसके व्यञ्जक रूप में प्रयोग हुआ है । अतः यह मध्यम मार्ग के प्रसाद गुण से युक्त पद्य है ।

लावण्यस्य यथा—

सकान्ताङ्गुलिपर्वसूचितकरस्त्रापा कपोलस्थली

नेत्रे निर्भरमुष्णापकलुपे निश्चासतान्तोऽधरः ।

बद्धोद्ग्रेद्विसिन्धुनालकलता निर्वेदशून्य मनः

कष्टं दुर्नयवेदिभिः कुपविषेवेत्सा दृढं खेदने ॥ ११३ ॥

(इस प्रकार प्रसाद गुण को उदाहरण करने के अनन्तर मध्यम मार्ग के) लावण्य (गुण) का (उदाहरण) जैसे—

(जिसकी) गण्डस्थली, (कपोलों पर) सकनित अङ्गुलिओं की प्रविधियों से (कपोलों के) हाथ पर (रख कर किए गये) शयन को सूचित करने

वाली (है), जिसके) नेत्र अत्यधिक बहाये गए आंसुओं से कलुषित (हो गए हैं), (जिसका) अघर (अत्यन्त उष्ण) निश्वासों के कारण मुरझा गया है, (जिसकी) सयत केशों की लता खुल जाने के कारण व्यस्त (हो गई है) और (जिसका) चित्त निर्वेद (दुःख) के कारण शून्य (सा हो गया है, ऐसी वह मेरी प्यारी) बच्ची हाय (अपने अभिलषित वर वत्सराज उदयन के साथ विवाहित न की जाती हुई, इन) (केवल) दुर्नीति को जानने वाले कुत्सित मन्त्रियों के द्वारा बहुत ही ज्यादा सताई जा रही है ॥ ११३ ॥

टिप्पणी—सुकुमार मार्ग का लावण्य, 'शब्द और अर्थ के सौकुमार्य से मनोहर सङ्घटना को 'महिमा' को कहते हैं, जिससे पदों एवं वर्णों की शोभा अत्यधिक क्लेश से सम्पादित नहीं होती।' एवं विचित्र मार्ग का लावण्य परस्पर सश्लिष्ट पदों वाला होता है जिनके अन्त अधिकतर सविसर्ग होते हैं एवं सयोग के पूर्व का वर्ण लघु होता है। उक्त उदाहरण में दोनों लक्षण पटित होने हैं अतः यह मध्यम मार्ग के लावण्य गुण के उदाहरण रूप में उद्धृत हुआ है। अर्थात् यहाँ वर्णों एवं पदों का विन्यास शब्द और अर्थ की रमणीयता से युक्त है। उनका प्रयोग बहुत क्लेश के साथ नहीं किया गया है। साथ ही 'अघर', 'मन', एवं 'वेदिभिर्' पद सविसर्गान्त हैं। तथा 'सक्रान्त' 'पर्व', 'करस्वापा' 'कपोल स्थली' निर्भर-मूक्त 'बढ़ो' एवं 'कष्टम्' आदि पदों में सयोग के पूर्व आये हुए स, प, र आदि वर्ण ह्रस्व हैं।

आभिजात्यस्य मथा—

आलम्ब्य लम्बा. सरमाप्रवल्लीः पिबन्ति यस्य स्तनभारनम्रा. ।

स्रोतश्च्युतं शीकरकूणिताद्यो मन्दाकिनीनिर्भरमश्वमुख्यः ॥ ११४ ॥

(अब लावण्य गुण के अनन्तर मध्यम मार्ग के चतुर्थ गुण) आभिजात्य का (उदाहरण) जैसे—

(विशाल) कुचों के बोझ में झुकी हुई एवं (वायु से उड़ाये गए) जलकणों (के फुहारों के पड़ने) से अर्धनिमीषित नयनों वाली घोड़ी के सद्गुण मूखों वाली (कित्तरवधुयें जिसकी) लम्बी एवं हरे हरे अग्रभागों से युक्त लताओं का सहारा लेकर, स्रोतों से गिरते हुए गंगा के जलप्रवाह का पान करती है ॥ ११४ ॥

टिप्पणी—सुकुमार मार्ग का आभिजात्य, सुतने में मनोहर एवं स्वभावतः कोमलकान्तियुक्त होता है। एवं विचित्र मार्ग का आभिजात्य

कवि की प्रौढ़ि से निमित्त मनोहर एवं न अत्यन्त कोमल कान्ति वाला ही और न अधिक कठोरता की धारण करने वाला ही होता है। उक्त उदाहरण श्रवण सुभग तो है ही साथ ही साथ उसमें का पूर्वाह्न कोमल पदावली के प्रयुक्त होने से कोमल कान्तियुक्त है, उसमें कठोरता का अभाव है। एवं पराघं में कुछ कठोर वर्णों के आने से कठोरता आई तो है लेकिन अधिक नहीं। अतः यह श्लोक मध्यम मार्ग के आभिजात्य गुण के रूप में दृष्ट्युक्त किया गया है।

एवं मध्यम व्याख्याय तमेवोपसंहरति—अत्रेति । अत्रैतस्मिन् केचित् कतिपये सादरास्तदाश्रयेण काव्यानि कुर्वन्ति । यस्मात् अरोचकिनः कमनीयवस्तुव्यमनिनः । कीदृशे चास्मिन्—छायावैचित्र्य-रञ्जके कान्तिवैचित्र्यभावाद्वादे । कथम्—विदग्धनेपथ्यविधौ भुलङ्गा इव, अप्राभ्याकल्पकल्पने नागरा यथा । सोऽपि छायावैचित्र्य-रञ्जक एव ।

इस प्रकार (४६-५१ कारिकाओं द्वारा) मध्यम (मार्ग) का ध्यातमान कर (अब) उसी का उपसंहार करते हैं—'धन' इस (५२ वीं कारिका के द्वारा) । यहाँ अर्थात् इस (मध्यम मार्ग) में कुछ (इस मार्ग के प्रति) बादरयुक्त (कवि जन) इस (मार्ग) का आश्रयण कर काव्यनिर्माण करते हैं । क्योंकि (वे कवि जन) अरोचकी अर्थात् रमणीय वस्तु के व्यसनी (होते हैं) । किस ढंग में इस (मार्ग में)—शोभा की विचित्रता के कारण रञ्जक अर्थात् कान्ति के वैचित्र्य से आनन्द प्रदान करने वाले (इस मार्ग में रमणीय वस्तु के व्यसनी कविजन प्रवृत्त होते हैं) । किस प्रकार से—वेदग्यपूर्ण नेपथ्य के विधान में चतुरो की तरह अर्थात् अप्राभ्य (सभ्य) वेशभूषा की सजावट में चतुर नगरनिवासियों की तरह (रम्यवस्तुव्यसनी कवि इस मध्यम मार्ग में प्रवृत्त होते हैं) । तथा वह (सभ्य वेशभूषा की सजावट) भी तो (अपनी) शोभा की विचित्रता से आह्लादजनक होता है ।

अत्र गुणोदाहरणानि परिमितत्वात्प्रदर्शितानि, प्रतिपदं पुनश्छायावैचित्र्यं सहृदयैः स्वयमेवानुसर्तव्यम् । अनुसरणदिक्प्रदर्शनं पुनः क्रियते । यथा—मातृगुप्त-भायुराज-मञ्जीरप्रभृतीनां सौकुमार्यवैचित्र्यसमलितपरिस्पन्दस्यन्दीनि काव्यानि सम्भवन्ति । तत्र मध्यममार्गसमलितं स्वरूपं विचारणीयम् । एष सहजसौकुमार्य-सुभगानि कालिदाससर्वसेनादीनां काव्यानि दृश्यन्ते । अत्र सुकुमार-

मार्गस्वरूपं चर्चनीयम् । तथैव च विचित्रवक्रत्वविजृम्भितं हर्षचरितं प्राचुर्येण भट्टबाणस्य विभाव्यते, भवभूतिराजशेखरविरचितेषु बन्ध-सौन्दर्यसुभोगेषु मुक्तकेषु परिदृश्यते । तस्मात् सहृदयै सर्वत्र सर्व-मनुसर्तव्यम् । एव मार्गत्रितयलक्षणं दिङ्मात्रमेव प्रदर्शितम् । न पुनः साकल्येन सत्कविकौशलप्रकाराणां केनचिदपि स्वरूपमभिधातुं पार्यते । मार्गेषु गुणानां समुदायधर्मता । यथा न केवलं शब्दादिधर्मत्व तथा तल्लक्षणव्याख्यानावसर एव प्रतिपादितम् ।

यहाँ (इस मध्यममार्ग के प्रसंग में, उस मार्ग के गुणों के सीमित होने के कारण (माधुर्यादि) गुणों के उदाहरणों को (बानगी के लिए) प्रदर्शित कर दिया गया है, लेकिन पद पद में (रहने से छायावंचिष्य के अपरिमित होने से उसका बता सकना असम्भव होने के कारण, उस) छायावंचिष्य का सहृदयों को स्वयम् अनुसरण कर लेना चाहिए । हाँ, अनुसरण करने के लिए कुछ दिग्दर्शन हम कराये देते हैं । जैसे—मातृगुप्त, मायुराज तथा मञ्जीर आदि (कवियों) के काव्य सुकुमार भाव एवं विचित्र भाव से सम्मिश्रित रमणीयता से रसमय सत्पन्न होने वाले कहे जा सकते हैं । (अतः) वहाँ (मायुराजादि के काव्यों में) मध्यम मार्ग से सयुक्त स्वरूप का विचार करना चाहिए । (अर्थात् मध्यममार्ग की छाया का वंचिष्य वही योजना चाहिए) । इसी प्रकार कालिदास एवं सर्वसेन इत्यादि (महाकवियों) के काव्य स्वाभाविक सुकुमारता से सुन्दर दिखाई पड़ते हैं । (अतः) वहाँ (कालिदासादि के काव्यों में) सुकुमार मार्ग के स्वरूप की चर्चा करना चाहिए । उसी प्रकार (महाकवि) भट्ट बाण के 'हर्ष चरित' (नामक गद्यग्रन्थ) में विविध वक्रताओं का विलास दिखाई पड़ता है, एवं भवभूति तथा राजशेखर विरचित सङ्घट्टना के सौन्दर्य से मनोहर मुक्तको में (विविध वक्रताओं का विलास) पाया जाता है । (अतः सहृदयों को विचित्रमार्ग का स्वरूप इन कवियों की रचनाओं में देखना चाहिए) । इस लिए सहृदयों को सर्वत्र (सभी कवियों की रचनाओं में) सभी (मार्गों के स्वरूप) का अनुसरण करना चाहिए ।

इस प्रकार (अब तक २४ वीं कारिका से ५२ वीं कारिका पर्यन्त) तीन मार्गों का सङ्गण कर (हमने) दिङ्मात्र का प्रदर्शन किया है । क्योंकि श्रेष्ठ कवियों के (काव्य-निर्माण के) कोशल के (असङ्ख्य) प्रकारों का साकल्येन स्वरूप निरूपण करने में कोई भी समय नहीं हो सकता । (सुकुमारादि) मार्गों में (प्रसादादि) गुणों की समुदायधर्मता है ।

(अर्थात् गुण केवल शब्द आदि में रहते हैं। ऐसी बात नहीं, बल्कि वे शब्दों के समूह में रहते हैं और) जैसे उनकी केवल शब्दादिधर्मता नहीं होती है उसका प्रतिपादन उन (माधुर्यादि गुणों) के लक्षण करते समय किया जा चुका है ॥

एवं प्रत्येक प्रतिनियतगुणप्रामाण्यमणीय मार्गत्रितयं व्याख्याय साधारणगुणस्वरूपव्याख्यानाथमाह—

इस प्रकार प्रत्येक (मार्ग) में अलग उग से निश्चित (माधुर्य, प्रसाद, सावग्य एवं आभिजात्य रूप) गुणसमूह से सुन्दर (मुकुमार, विविन्न एवं मायम रूप) तीन मार्गों की व्याख्या कर (अब सभी में समान रूप से स्थित) साधारण गुणों के स्वरूप की व्याख्या करने के लिए कहते हैं—

आञ्जसेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते ।

प्रकारेण तदौचित्यमुचितारूपानजीवितम् ॥ ५३ ॥

पदार्थ का औचित्ययुक्त-कथन-रूप प्राण वाला उत्कर्ष, भलीभाँति स्पष्ट दृष्ट श्रे, जिस (गुण) के द्वारा परिपोष को प्राप्त कराया जाता है, वह औचित्य (नामक गुण होता) है ॥ ५३ ॥

तदौचित्यं नाम गुणः । कीदृक्—आञ्जसेन सुस्पष्टेन स्वभावस्य पदार्थस्य महत्त्वमुत्कर्षो येन पोष्यते परिपोष प्राप्यते । प्रकारेणेति प्रस्तुतत्वादभिधायैचित्र्यमत्र, 'प्रकार'-शब्देनोच्यते । कीदृशम्—उचितारूपानमुदाराभिधान जीवित परमार्थो यस्य तत्तथोक्तम् । एतदानुगुण्येनैव विभूषणविन्यासो विच्छित्तिमावहति । यथा—

वह 'औचित्य' नाम का गुण (होता) है । किस प्रकार का—आञ्जसेन अर्थात् भलीभाँति स्पष्ट (दृष्ट) से स्वभाव अर्थात् पदार्थ का महत्त्व पानी उत्कर्ष जिसके द्वारा पुष्ट होता है अर्थात् परिपोष को प्राप्त कराया जाता है । (कारिका में प्रयुक्त) प्रकारेण इस (पद के) प्रस्तुत होने के कारण उक्ति की विधिप्रता (ही) यहाँ 'प्रकार' शब्द से कही गई है । (अर्थात् आञ्जसेन प्रकारेण का अर्थ है—'अत्यन्त स्पष्ट उक्ति के वैचित्र्य द्वारा' ।) कैसा (पदार्थ का उत्कर्ष पुष्ट किया जाता है)—औचित्य युक्त आरूपान अर्थात् उदारता से युक्त कथन है जीवित अर्थात् परमार्थ (प्राण) जिसका वह हुआ तथोक्त (औचित्ययुक्त कथन रूप प्राण वाला—पदार्थ का महत्त्व) । इसी (औचित्य गुण) के अनुरूप ही अक्कारो का विन्यास गुणोन्मित होता है (अन्यथा नहीं) । जैसे—

करतलकलिताक्षमालयोः समुदितसाध्वससन्नहरतयोः ।

कृतरुचिरजटनिवेशयोरपर इवेश्वरयोः समागमः ॥ ११५ ॥

करतलो पर सुगोमित होती हुई अक्षमाला वाले उत्पन्न भय (या सात्त्विक भाव) के कारण जड़ हो गए हुए हाथों वाले तर्था' निर्मित की गई सुन्दर जटाओं की रचना वाले (उन दोनों का) मानो पार्वती तथा शङ्कर का दूसरा समागम सा हुआ ॥ ११५ ॥

यथा वा—

उपगिरि पुरुहुतस्यैष सेनानिवेश-

स्तटमपरमितोऽद्रेस्त्वद्वलान्यावसन्तु ।

ध्रुवमिह करिणस्ते दुर्धराः सन्निकर्षे

सुरगजमदलेखासौरभ न क्षमन्ते ॥ ११६ ॥

अथवा जैसे (इसी का दूसरा उदाहरण)—

पहाड़ के पास (इस ओर तो) यह इन्द्र का संग्रह सिद्धि है (अतः) पहाड़ के दूसरे तट पर तुम्हारी सेनायें निवास करें (क्योंकि) निश्चय ही तुम्हारे कठिनाई से बग में किए जा सकने वाले हाथी समीप में स्थित देवताओं के हाथियों के दान (जल) की रेखाओं की गन्ध को नहीं सह सकते ॥ ११६ ॥

यथा च—

हे नागराज बहुधास्य नितम्बभागं -

भोगेन गाढमभिवेष्टय मन्दराद्रेः ।

सोढाविषह्यवृषवाहनयोगलीला-

पर्यङ्कुबन्धनविघेस्तव कोऽतिभारः ॥ १२६ ॥

और जैसे (इसका तीसरा उदाहरण)—

हे नागेन्द्र, इस मन्दर पर्वत के मध्य भाग को अपनी कुण्डली से कई बार बस कर लपेट लो । क्योंकि शिवजी की योगलीला के लसहा पर्यङ्कुबन्ध की विधि को सहन करने वाले तुम्हारे लिए यह कौन बड़ा बोझ होगा ।

यहाँ पर पहले के (करतल—आदि ॥ ११५ ॥ एवं उपगिरि—आदि ॥ ११६ ॥) दोनों उदाहरणों में अलङ्कार के गुणों से ही वह (ओचित्य नामक) गुण परिपुष्ट हो रहा है । (अर्थात् करतल इत्यादि में जो उत्प्रेक्षा अलङ्कार कवि ने कल्पित किया है, उस अलङ्कार को पुष्ट करने के लिए कवि ने जिन 'ईश्वरयो' के तीन 'करतलकलिताक्षमालयो' आदि विशेषण दिये हैं जो कि दोनों का साम्य बताते हैं वे अत्यन्त ही ओचित्ययुक्त होने के

कारण अलङ्कार को पुष्ट करते हैं और उसी से औचित्य गुण का परिपोषण होता है। तथा दूसरे पद्य में कवि ने जो दूसरे राजा के हाथियों का सुरगजों की दानरेखाओं की पट्टितियों की गन्ध को न सहन कर सकने का वर्णन किया है, वह देवगजों की अलौकिक गन्ध का प्रतिपादन करने के कारण अत्यन्त ही औचित्यपूर्ण है अतः उस से औचित्य गुण परिपुष्ट हुआ है।) तथा दूसरे (‘हे नागराज....’ इत्यादि ॥ ११७ ॥) में स्वभाव के औचित्यपूर्ण कथन से (औचित्य गुण परिपुष्ट हुआ है)। (अर्थात् उसमें भेषनाम के औदार्य का सत्य वर्णन हुआ है। जिससे औचित्य परिपुष्ट हो रहा है।)

अत्र पूर्वत्रोदाररणयोर्भूषणगुणेनैव तद्गुणपरितोषः, इतरत्र च स्वभावीदार्याभिधानेन।

औचित्यस्यैव छायान्तरेण स्वरूपमुन्मीलयति—

यत्र वक्तुः प्रमातुर्वा वाच्यं शोभातिशायिना।

आच्छाद्यते स्वभावेन तदप्यौचित्यमुच्यते ॥ ५४ ॥

औचित्य गुण का ही दूसरी शोभा के साथ स्वरूप-निरूपण कर रहे हैं—

जहाँ पर कहने वाले अथवा सुनने वाले के रमणीयता के अतिशय से युक्त स्वभाव के द्वारा अभिषेय वस्तु आच्छाद्य हो जाती है, वह भी औचित्य (गुण) कहा जाता है ॥ ५४ ॥

यत्र यस्मिन् वक्तुरभिधातुः प्रमातुर्वा ओतुर्वा स्वभावेन स्वपरि-
स्पन्देन वाच्यनभिधेयं वस्तु शोभातिशायिना रामणीयकमनोहरेण
आच्छाद्यते सत्रियते तदप्यौचित्यमेवोच्यते। यथा—

जहाँ अर्थात् जिस (गुण) में वक्ता अर्थात् कथन करने वाले अथवा प्रमाता अर्थात् श्रवण करने वाले के शोभा के अतिशय से युक्त अर्थात् सौन्दर्य के कारण चित्ताकर्षक स्वभाव अर्थात् अपने धर्म के द्वारा वाच्य अर्थात् अभिषेय वस्तु आच्छादित कर दी जाती है अर्थात् छिपा दी जाती है (दबा दी जाती है) वह भी औचित्य (नामक गुण) ही कहा जाता है। जैसे—विश्वजित् यज्ञ में सर्वस्व दान दे देने के बाद रघु के पास भिक्षार्थ गए हुए मुनि कौत्स उनसे कहते हैं—

शरीरमात्रेण नरेन्द्र तिष्ठन्नाभासि तीर्यप्रतिपादितदिः।

आरण्यकोपात्तकलप्रसूतिः स्तम्भेन नीबार इवावशिष्टः ॥ ११८ ॥

हे गरपति ! (रघु ! दान योग्य) सत्पात्रों को (अपनी) सम्पत्ति प्रदान कर, केवल देह से ही स्थित (आप), अरण्य-निवासियों द्वारा गृहीत कल रूप

प्रसव वाले, (अर्थात् फल ही जिनका प्रसव है, उसे ही अरण्य-निवासी मुनियों आदि के द्वारा तोड़ लेने पर) केवल डण्डल रूप में ही शेष रहने वाले नीवार (घाग्य विशेष के वृक्ष) की भाँति सुशोभित हो रहे हैं ॥ ११८ ॥

अत्र श्लाघ्यतया तथाविधमहाराजपरिस्पन्दे वर्ण्यमाने मुनिना स्वानुभवसिद्धव्यवहारानुसारेणालङ्कारणयोजनमौचित्यपरिपोषमावहति । अत्र वक्तुः स्वभावेन च, वाच्यपरिस्पन्दः संवृतप्रायो लक्ष्यते । प्रमातुर्यथा ।

यहाँ प्रशंसनीय रूप में उस प्रकार के (सातिशय) महाराज (रघु) के स्वभाव को वर्णित किए जाते समय, मुनि (कौत्स) के द्वारा अपने अनुभव से ज्ञात व्यवहार के अनुसार (उपमा रूप) अलङ्कार की योजना अत्यन्त ही औचित्य का परिपोषण करती है । (अर्थात् मुनि ने जो राजा की उपमा नीवार के डण्डल से दी है वह स्वतः उनके अनुभव से ज्ञात है । क्योंकि मुनि होने के कारण वे उसके फल को तोड़ते ही थे । अतः फल तोड़ लेने के बाद जो उन्हें उसके डण्डल में एक अपूर्व शोभा के दर्शन होते थे उसी शोभा का साम्य राजा में सब कुछ दान कर देने के बाद देखने में उन्हें अनुभव हुआ अतः उन्होंने राजा की उपमा उस नीवार के डण्डल से दे दी, जो कि उपमा देने वाले के मुनि होने के कारण अत्यधिक औचित्ययुक्त प्रतीत होती है । इसी लिए) यहाँ पर वक्ता (कौत्स मुनि) के स्वभाव में (जो कि गम्य है । अभिषेय (राजा रघु) का स्वभाव आच्छादित सा प्रतीत होता है ।) इस प्रकार इस उदाहरण के द्वारा वक्ता के स्वभाव से वाच्य के आच्छादित होने को दिखाया गया है । अब) श्रोता के (स्वभाव से वाच्य वस्तु के आच्छादित होने का उदाहरण) जैसे—

निपीयमानस्तबका शिलीमुखैरशोकयष्टिश्चलबालपल्लवा ।

विडम्बयन्ती ददृशे बधूजनैरमन्ददष्ट्रीपकरावधूननम् ॥ ११९ ॥

नायिका-निवह के द्वारा अमरो से पान किए जाते हुए मधुवाले पुष्प-गुच्छों वाली और हिलते हुए नये किसलयों वाली अशोकलता जोर से काट लिए गये हुए अघर वाली (कामिनी) के हाथ हिलाने की अनुकृति करती हुई उत्प्रेक्षित की गई ॥ ११९ ॥

अत्र बधूजनैर्निजानुभववासनानुसारेण तथाविधशोभाभिरामतानुभूतिरौचित्यपरिपोषमावहति । यथा वा—

यहाँ पर नायिकाओं के द्वारा अपनी अनुभूति की वासना के अनुसार उसी तरह की विच्छिन्न की रमणीयता का अनुभव औचित्य की परिपुष्ट करता है ॥ अथवा जैसे—

वापीतडे कुडुंगा पिअमहि हाड गएहि दीसति ।

ण धरति करेण भणति ण त्ति बलिउं पुण ण देंति ॥ १२० ॥

[वापीतटे कुरङ्गाः प्रियमखि स्नातु गतैर्दृश्यन्ते ।

न धरन्ति करेण भणन्ति नेति बलितु पुनर्न ददति ॥]

ऐ प्यारी सहेली, बावडी के किनारे नहाने गये लोगों के द्वारा [ऐसे] मृग देखे जाते हैं जो न तो हाथ पकड़ते हैं, न बोलते हैं और न ही मुड़ कर घले आने देते हैं ॥ १२० ॥

अत्र कस्याश्चित्प्रभावभूतायाः सातिशयमौघ्यपरिस्पन्दसुन्दरेण स्वभावेन वाच्यमाच्छादितमौचित्यपरिपोषमावहति ।

इस रचना में किसी सुननेवाली सहेली के अत्यधिक मोलेपन की आदत के कारण मनोहारी स्वभाव के द्वारा छिपाया गया हुआ वाच्य अर्थ औचित्य को परिपुष्ट करता है ।

एवमौचित्यमभिधाय साभाग्यमभिधत्ते—

इत्युपादेयवर्गेऽस्मिन् यदर्थं प्रतिभा कवेः ।

सम्यक् संरभते तस्य गुणः सौभाग्यमुच्यते ॥ ५५ ॥

इस प्रकार औचित्य को बता कर (अब दूसरे सर्वसाधारण गुण) सौभाग्य का कथन करते हैं—

इस प्रकार (शब्द आदि के) इस उपादेय समूह में जिस (वस्तु) के लिये कवि की शक्ति-बड़ी सावधानी से व्यापार करती है उस (वस्तु-काव्य) का गुण सौभाग्य (नाम से) कहा जाता है ॥ ५५ ॥

इत्येवविधेऽस्मिन्नुपादेयवर्गे शब्दाद्युपेयसमूहे यदर्थं यन्निमित्तं कवेः सम्बन्धिनी प्रतिभा शक्ति सम्यक् सावधानतया संरभते व्यवस्यति तस्य वस्तुनः प्रस्तुतत्वात् काव्याभिधानस्य यो गुणः स सौभाग्यमित्युच्यते भण्यते ॥

इस प्रकार के इस उपादेय वर्ग में अर्थात् शब्द आदि के उपायो द्वारा प्राप्त होने योग्य समूह में यदर्थं अर्थात् जिसके निमित्त से कवि की यानी कवि सम्बन्धिनी प्रतिभा अर्थात् शक्ति सम्यक् अर्थात् सावधानी के साथ संरम्भ करती है, व्यापार करती है उस वस्तु का अर्थात् यहाँ प्रसङ्गप्राप्त होने के कारण काव्य नामक (वस्तु का) जो गुण है वह 'सौभाग्य' (गुण है), इस प्रकार कहा जाता है ।

तच्च न प्रतिभासंरम्भमात्रसाध्यम्, किन्तु तद्विहितसमस्त-सामग्रीसम्पाद्यमित्याह—

तथा वह सोभाग्य गुण केवल शक्ति कि व्यापार से सिद्ध होने वाला नहीं होता है, अतः उसके लिये बनाई गई (व्युत्पत्ति एवं अभ्यास आदि) समस्त सामग्रियों द्वारा सम्पादित किये जाते योग्य होती हैं इसे बताते हैं—

सर्वसम्पत्परिस्पन्दसम्पाद्यं सरसात्मनाम् ।

अलौकिकचमत्कारकारि काव्यैकजीवितम् ॥ ५६ ॥

(काव्य निर्माण के लिये अनीष्ट व्यक्ति, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास आदि) समस्त सम्पत्ति के परिस्फुरण से सम्पन्न किये जाने योग्य तथा सरस हृदय वाले (लोगों) के लिये लोकोत्तर आनन्द प्रदान करने वाला (सोभाग्य गुण) कारण का अद्वितीय प्राण है ॥ ५६ ॥

सर्वसम्पत्परिस्पन्दसम्पाद्यं सर्वरयोपादेयराशेर्यासम्पत्तिरनवद्यताकाष्टा तस्या परिस्पन्दः स्फुरितत्वं तेन सम्पाद्य निष्पादनीयम् । अन्यच्च कीदृशम्—सरसात्मनामात्रचेतसामलौकिकचमत्कारकारिलोकोत्तराह्लाद-विधायि । किं बहुना, तच्च काव्यैकजीवितं काव्यस्य पर परमार्थ इत्यर्थ । यथा—

समस्त सम्पत्ति के परिस्पन्द से सम्पाद्य अर्थात् (काव्य-निर्माण के लिये) उपादेय (शक्ति, व्युत्पत्ति आदि) समस्त समूह की जो सम्पत्ति अर्थात् रमणीयता का उत्कर्ष, उसका जो परिस्पन्द अर्थात् विलास (स्फुरितत्व) उसके द्वारा सम्पाद्य अर्थात् सिद्ध किये जाने योग्य । और किस प्रकार का—सरस आत्मावाले अर्थात् सार्द्रहृदय वालों के अलौकिक चमत्कार का जनक अर्थात् लोकोत्तर आह्लाद को प्रदान करने वाला । और अधिक कहने से क्या लाभ, वह (तो) काव्य का अद्वितीय प्राण अर्थात् श्रेष्ठ तत्त्व है । जैसे—

दोर्मूलावधिसूत्रितस्तनमुरः स्निह्यत्कटाक्षे दृशी ।

किञ्चित्ताण्डवपण्डिते स्मितसुधासिक्तोक्तिषु भ्रूलते ।

चेतः कन्दलितं स्मारव्यतिकरैर्लावण्यमङ्गैर्वृतं

तन्वङ्गचास्तरुणिन्नि सर्पति शनैरन्येव काचिल्लिपिः ॥१२१॥

(उस तन्वी का) वक्ष स्थल बाहुमूलपर्यन्त विस्तृत स्तनो से समुत्त हो गया है, (उसके) नेत्र वात्सरूपपूर्ण कटाक्षो से युक्त हो गए हैं तथा मुस्कुराहट रूपी अमृत से सने हुए भाषण के समय (उसकी) भौहों की पत्तियाँ कुछ तात्पर्य में विलक्षण सी हो जाती हैं, (उसका) हृदय काम की अवस्थाओं से अङ्कुरित सा हो गया है, एवं उनके अंगों ने (किसी अपूर्व ही) लावण्य का वरण किया है, इस प्रकार नवयोवन के आगमनकाल में धीरे-धीरे उस कृशांगी का कुछ (अपूर्व) ही विन्यास हो गया है ॥१२१॥

तन्व्याः प्रथमतस्तारुण्येऽवतीर्णे, आकारस्य चेतसश्चेष्टायाश्च वैचित्र्यमत्र वर्णितम् । तत्र सूत्रितस्तनमुरो लावण्यमङ्गैर्वृतमित्याकारस्य, स्मरव्यतिकरैः कन्दलितमिति चेतसः, स्निह्यत्कटाक्षे दृशाविति किञ्चित्ताण्डवपण्डिते स्मितसुधासिक्तोक्तिषु भ्रूलते इति चेष्टायाश्च । सूत्रित-सिक्त-ताण्डव-पण्डित-कन्दलितानामुपचारवक्रत्वं लक्ष्यते, स्निह्यदित्येतस्य कालविशेषावेदकः प्रत्ययवक्रभावः, अन्यैव काचिद्वर्णनीयेति संवृतिवक्रताविच्छित्तिः, अङ्गैर्वृतमिति कारकवक्रत्वम् । विचित्रमार्गविषयो लावण्यगुणातिरेकः । तदेवमेतस्मिन् प्रतिभासरम्भजनितसकलसामग्रीसमुन्मीलितं सरसहृदयाह्लादकारि किमपि सौभाग्यं समुद्भासते ।

यहाँ पर कृष्णाङ्गी के पहिले पहल यौवन के अवनीर्ण होने पर (उसकी) आकृति, हृदय एवं चेष्टाओं के वैचित्र्य का वर्णन किया गया है । उनमें 'विस्तृत स्तनो से युक्त वक्षःस्थल' तथा 'अङ्गो ने, लावण्य का वरण किया' इस (विशेषण द्वय) से आकार के, 'काम की अवस्थायें अङ्कुरित हो गई हैं'—इस (विशेषण) से हृदय के, 'वासत्यपूर्ण कटाक्षो से युक्त आँखें एवं मुस्कुराहट रूपी अमृत से सने हुए भाषण के समय सास्य में विचक्षण सी हो गई मोहो की पक्षियाँ' इन (दो विशेषणों से) चेष्टा के वैचित्र्य को कवि ने प्रतिपादित किया है । (इस श्लोक में प्रयुक्त) सूत्रित, सिक्त, ताण्डव, पण्डित एवं कन्दलित (शब्दों) की उपचार-वक्रता (स्पष्ट रूप से) दिखाई देती है । 'स्निह्यत्', इस (पद) की (वर्तमान रूप) काल विशेष का बोध कराने वाले (शतृ) प्रत्यय की वक्रता (लक्षित होती है) । 'अन्यैव काचित्' अर्थात् 'अनिर्वचनीया' इस (पद) के द्वारा 'संवृतिवक्रता' की शोभा (का प्रतिपादन किया गया है ।) 'अङ्गैर्वृतम्' में (अङ्गः के) इस (तृतीया विभक्ति में प्रयोग) से 'कारक बनना' (प्रतिपादित की गई है) विचित्र मार्ग के विषय रूप 'लावण्य' गुण का अतिशय (इस श्लोक से लक्षित होता है) इस प्रकार इस (पद्य) में (कवि की) प्रतिभा (शक्ति) के व्यापार से जनित समस्त (वक्रता की) सामग्री से स्फुरित हुआ सरस हृदय लोगो के आनन्द को उत्पन्न करने वाला कोई (अवर्णनीय) सौभाग्य (नामक गुण) भलीभाँति उद्भासित हो रहा है ।

अनन्तरोक्तस्य गुणद्वयस्य विषयं प्रदर्शयति—

एतत्त्रिष्वपि मार्गेषु गुणद्वितयमुज्ज्वलम् ।

पदवाक्यप्रबन्धानां व्यापकत्वेन वर्तते ॥ ५७ ॥

(सुकुमार विचित्र एव मध्यम मार्गों के चार चार, माधुर्य, प्रसाद, लावण्य एवं आभिजात्य गुणों का प्रतिपादन करने से) अन्तर (साधारण गुणों के रूप में) कहे गये दोनों (औचित्य एव सौभाग्य) गुणों का विषय प्रदर्शन करते हैं—

मैं अलङ्कारादि से अत्यन्त शोभित (उज्ज्वल) दोनों (सौभाग्य एव औचित्य नामक) गुण (सुकुमार, विचित्र एव मध्यम) तीनों ही मार्गों में पद, वाक्य एव प्रबन्धों (अर्थात् समस्त काव्य के अवयवों) में व्याप्त होकर स्थित रहते हैं ॥ ५७ ॥

एतद् गुणद्वितयमौचित्यसौभाग्याभिधानम् उज्ज्वलमतीवभ्राजिष्णु-
पदवाक्यप्रबन्धानां त्रयाणामपि व्यापकत्वेन वर्तते सकलावयव-
व्याप्त्यावतिष्ठते । क्वेत्याह—त्रिष्वत्र मार्गेषु सुकुमारविचित्रमध्य-
माख्येषु । तत्र पदस्य तावदौचित्यम्—बहुविधभेदभिन्नो यक्रभावः,
स्वभावस्याज्जसेन प्रकारेण परिपोषणमेव यक्रताया परं रहस्यम्,
उचिताभिधानजीवितत्वाद् । वाक्यस्याप्येकदेशेऽप्यौचित्यविरहात्त-
द्विदाह्लादकारित्वहानि । यथा रघुवशे—

यह औचित्य और सौभाग्य सञ्ज्ञक गुणद्वितय, उज्ज्वल, अर्थात् (अलङ्कारादि से युक्त होने के कारण) अत्यन्त ही सुशोभित, पद वाक्य एवं प्रबन्ध तीनों के ही व्यापक रूप से विद्यमान रहता है अर्थात् (काव्य के) समस्त अङ्गों में व्याप्त होकर स्थित रहता है । कहीं (व्याप्त रहता है) इसे बताते हैं—सुकुमार, विचित्र एव मध्यम सञ्ज्ञा वाले तीनों ही (काव्य के) मार्गों में । उस प्रसङ्ग में पद का औचित्य तो यह है—यक्रता नाना प्रकार के भेदों के कारण भिन्न भिन्न है, स्वभाव का त्वरितविधि से संस्फुरण और परिपाक ही यक्रता का वास्तविक रहस्य है क्योंकि उसका औचित्यपूर्ण प्रकाशन ही प्राण है । सम्पूर्ण वाक्य के एक अंश में भी औचित्य का अभाव होने पर सहृदयाह्लादकारिता की हानि होने नगती है—जैसे रघुवश (महाकाव्य) में

पुरं निपादाधिपतेऽनदेतदास्मिन्मया मौलिमणि विहाय ।

जटासु बद्धास्यरुदत्सुमन्त्र' कैकेयि कामा' फलितास्तवेति ॥ १२२ ॥

यह निपादों के स्वामी (गृहराज) का वह नगर है जिसमें मेरे मौलि-
मणियों का त्याग कर जटायें बद्धा लेने पर (सारयि) सुमन्त्र ने—‘हे
कैकेयि ! (अब) तुम्हारा अभिलाष फलित हो गया’ ऐसा कहकर
आसू बहाया था ॥ १२२ ॥

अत्र रघुपतेरनर्घमहापुरुषसम्पदुपेतत्वेन वर्ण्यमानस्य 'कैकेयि कामा फलितास्तव' इत्येवंविधतुच्छतरपदार्थसंस्मरणं तदभिधानं चात्यन्तमनौचित्यमावहति ।

प्रबन्धस्यापि क्वचित्प्रकरणैकदेशोऽप्यौचित्यविरहादेकदेशादाहृषित-
दग्धपदप्रायता प्रसज्यते । यथा—रघुवंशे एवं दिलीप-सिंहसंवादावसरे—

महापुरुषो की अमूल्य निधियो से युक्त रूप में वर्णित किये जाने वाले रघुराज (रामचन्द्र) का 'कैकेयि ! तुम्हारा अगिलाप फलित हो गया' इस रूप के तुच्छ पदार्थ का सम्पक् स्मरण, और (कित्त स्मरण ही नहीं अपितु) उसका वह भी जाना, अत्यधिक अनौचित्य को धारण करता है ।

कही कही प्रबन्ध भी प्रकरण के एक अंश में भी औचित्य के न विद्यमान रहते पर, एक भाग में जले हुए होने से दूषित (समस्त) जले हुए वस्त्र के समान (दूषित) हो जाता है । (अर्थात् जैसे किसी कपड़े का जलता तो एक ही अंश है लेकिन दूषित सारा का सारा कण्डा हो जाता है । लोग कहते हैं कि कपड़ा जल गया न कि कपड़े का एक भाग । उसी प्रकार यदि किसी प्रबन्ध काव्य के किसी प्रकरण के एक भी अंश में दोष भा जाता है । औचित्य नहीं रहता, तो सारा का सारा प्रबन्ध दूषित बहा जाने लगता है । इसका उदाहरण जैसे (कालिदास विरचित) रघुवंश (प्रबन्ध काव्य) में ही राजा दिलीप तथा सिंह के संवाद (रूप प्रवरण) के समर—

अथैकधेनोरपराधचण्डाद्

गुरोः कृशानुप्रतिद्विभेपि ।

शक्योऽस्य मन्युर्भवतापि जेतुं

गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोर्ध्ना ॥ १२३ ॥

(राजा दिलीप अपने गुह्य वशिष्ठ की आज्ञा से पुत्र प्राप्ति हेतु 'मन्दिनी' धेनु की सेवा में सत्पर होते हैं । एक दिन वे जले चराते चराते पर्वत की मुपमा देखने लगते हैं कि इनमें से ही उस गाय का करण कन्दन मुनाई देता है और दिलीप देखते हैं कि उस गाय के ऊपर एक सिंह आक्रमण किए है । दिलीप उस सिंह को मारने के लिये तुरन्त बाण निकालने के लिए जबो ही तरवार में हाथ डालते हैं, उनका हाथ फँस जाता है, वे विवश हो जाते हैं । विवश होकर सिंह से उस गाय को छोड़ देने के लिए नाना प्रकार से अनुरोध करते हैं पर सिंह जब किसी भी तरह उसे छोड़ने को तैयार नहीं होता तो उस गाय के बदले अपना शरीर उसे देने के लिये तैयार हो जाते हैं । इसी बात पर सिंह दिलीप से कहता है कि)—

(हे राजन् ! यदि आप) एक ही घेनुवाले, (अतएव उनके विनाश के) अपराध के कारण अत्यन्त ही क्रुद्ध (साक्षान्) अग्निस्वरूप गुरु (वशिष्ठ) से डरने हैं (कि गुरु जी क्रुद्ध हो जायेंगे) । अब उन्हें प्रमत्त रखने के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देना चाहने हैं, तो यह ठीक नहीं क्योंकि (एक गाय के बदले में) घटों के समान वनों (स्तनो) वाली करोड़ों गायें प्रदान कर उनका क्रोध आप (बड़ी सरलता से) दूर कर सकते हैं । (अर्थात् उन्हें यदि एक गाय के बदले करोड़ों गायें मिल जायेंगी तो उनका गुस्ता अपने आप रफूचककर हो जायगा) ॥ १२३ ॥

इति सिंहस्याभिधातुमुचितमेव, राजोपहासपरत्वेनाभिधीयमान-
त्वान् । राज्ञः पुनरस्य निजयशःपरिरक्षणपरत्वेन वृणवल्लघुवृत्तयः
प्राणाः प्रतिभासन्ते । तस्यैतत्पूर्वपक्षोत्तरत्वेन—

ऐसा सिंह का कथन तो राजा का मजाक उड़ाने के लिये कहे जाने के औचित्य युक्त ही है । और फिर (इस सिंह के कथन से) इस राजा दिलीप के तुच्छ वृत्ति वाले प्राण अपने यश की भलीभाँति रक्षा करने में तत्पर होने से वृण के समान (तुच्छ) प्रतीत होते हैं । (अतः यह सिंह का कथन औचित्य युक्त है) । इस प्रश्न के उत्तर रूप में (कहा गया) उम (राजा दिलीप) का यह (कथन)—

कथं च शक्यानुनयो महर्षिर्विश्राणनादन्यपयस्विनीनाम् ।

इमां तनूजां सुरभरवेहि रुद्रौजसा तु प्रहृतं त्वयास्याम् ॥ १२४ ॥

(कि इस नन्दिनी गाय के बदले में) दूसरी (करोड़ों) दुधारी (गायों) को प्रदान करने से (भी) महर्षि वशिष्ठ का क्रोध रहित (शक्यानुनय) कैसे होंगे । क्योंकि इस (नन्दिनी गाय) को तुम मुरभि (कामधेनु) की तनया समझो । (यह उससे कुछ भी कम नहीं है अर्थात् कामनाओं की पूर्ति यह भी करने वाली है । अतः अब गायें इसकी समानता में कैसे आ सकती हैं और (फिर) तुमने (भी) इस (गाय) पर (अपने प्रभाव में नहीं उल्टि) भगवान् शङ्कर के तेज से प्रहार किया है ॥ १२४ ॥

इत्यन्यासां गवां तत्प्रतिवस्तुप्रदानयोग्यता यदि कदाचित्सम्भवति
ततस्तस्य मुनेर्मम चोभयोरप्येतज्जीवितपरिक्षणतैरपेक्ष्यमुपपन्नमिति
तात्पर्यवसानादत्यन्तमनौचित्ययुक्तैयमुक्तिः ।

यथा च कुमारसम्भवे त्रैलोक्याक्रान्तिप्रवणपराक्रमस्य तारकाख्यस्य
रिपोर्जिगीषावसरे सुरपतिर्मन्मथेनाधीयते—

(इस राजा के कथन का) यदि कही अन्य गायों में उस (नन्दिनी) के साथ विनिमय की योग्यता सम्भव होती तो इस (नन्दिनी गाय) के जीवन

की रक्षा की अपेक्षा न मुनि ही को और न हमें ही, दोनों (मे से किसी) को भी न होती (अर्थात् यदि मैं यहाँ गुरु वशिष्ठ की आज्ञा रूप अपने इस गाय के रक्षा रूप, कर्तव्य का पालन कर रहा हूँ तो केवल विवश होकर ही बचोकि मैं इस गाय का बदला नहीं चुका सकता हूँ, अथवा कर्तव्य का पालन न करता) इस प्रकार के तात्पर्य में (इस श्लोक के) पर्यवसित होने से (राजा का) यह कथन अत्यन्त ही अनौचित्य से युक्त है ।

अथवा जैसे (प्रबन्ध काव्य के किसी एक प्रकरण के अनौचित्य का दूसरा उदाहरण (कुमार सम्भवमे—तीनों लोगों की आज्ञान्त करने में तत्पर तारक नामक (राक्षस रूप) शत्रु को जीतने की इच्छा (से ब्रह्मा के कथनानुसार कि यदि किसी प्रकार से शङ्कर का विवाह हो जाय तो उनके वीर्य से उत्पन्न उनका पुत्र ही उस राक्षस का वध करने में समर्थ होगा । अतः शङ्कर की समाधि भङ्ग करने के लिये इन्द्र के द्वारा कामदेव के बुलाये जाने) के समय कामदेव इन्द्र से इस प्रकार कहता है कि—

कामेकपत्रीं व्रतदुःखशीलां लोलं मनश्चारुतया प्रविष्टाम् ।

नितम्बिनीमिच्छसि मुक्तलज्जां कण्ठे स्वयं ग्राहनिपक्त्वाहुम् ॥ १२५ ॥

पतिव्रत धर्म के कारण बड़ी स्वभाव वाली (पतिव्रत के पालन में दृढ़ सङ्कल्प, लेकिन) सौन्दर्य के कारण (आपके) लालची चित्त में समाई हुई, किस (प्रशस्त नितम्ब वाली) सुन्दरी को (हमारे प्रभाव से) लग्ना-हीन बनाकर स्वयं आपके कण्ठ में डाले हुए बाहुपाश वाली (बनाना) चाहते हैं ॥ १२५ ॥

इत्ययिनयानुष्ठाननिष्ठं त्रिविष्टपाधिपत्यप्रतिष्ठितस्यापि तथाविधाभि-
प्रायानुवर्तनपरत्वेनाभिधीयमानमनौचित्यमायहति । एतच्चैतस्यैव
कवेः सहजसौकुमार्यमुद्रितभूक्तिपरिस्पन्दसौन्दर्यस्य पर्यालोच्यते,
न पुनरन्येपामाहार्यमात्रकाव्यकरणकौशलरत्नाधिनाम् । सौभाग्यमपि
पदवाक्यप्रकरणप्रबन्धानां प्रत्येकमनेकाकारकमनीयकारणकला-
कलितरामणीयकानां किमपि सहृदयहृदयसंवेशं काव्यैकजीवितम-
लौकिकचमत्कारकारि संवलितानेकरसास्वादसुन्दरं सकलावयव-
व्यापकत्वेन काव्यस्य गुणान्तरं परिस्फुरतीत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

(इस प्रकार कामदेव का) स्वर्ग के आधिपत्य पर प्रतिष्ठित भी (इन्द्र) का उस प्रकार के (परस्त्री के सतीत्य का अपहरण रूप) अभिप्राय के अनुरोध रूप में कहा जाता हुआ, उच्छृङ्खलता के आचरण से सम्बन्धित यह कथन अत्यन्त अनौचित्य से पूर्ण है । और यह भी स्वाभाविक सुकुमारता

से मुद्रित स्रुक्तियों के विलासां के सौन्दर्य वाले इसी (श्रेष्ठ) कवि (कान्हिदास) की सूक्ष्म आलोचना की जा रही है, न कि केवल (व्युत्पत्ति एवं व्युत्पत्ति के चलपर) बनावटी (अस्वाभाविक) काव्य-निर्माण की कुशलता से प्रशंसा के पात्र बनने वाले अन्य (ऐसे गेरे पचकल्याणी) कवियों की सूक्ष्म आलोचना की जा रही है (क्योंकि उनमें तो इनकी सूक्ष्मता से पर्यवेक्षण के बिना ही दोष मिल जायेंगे)।

नाना प्रकार के मनोहर कारण समुदाय से उत्पन्न सौन्दर्यवाले, पद, वाक्य, प्रकरण एवं प्रबन्धों में हर एक का (अलग-अलग केवल) सहृदयों के हृदयों के द्वारा अनुभव किया जाने वाला काव्य का केवल प्राणभूत, अलौकिक आनन्द को प्रदान करनेवाला (काव्य से कवि द्वारा) सन्निविष्ट अनेक (शृङ्गारादि) रसों (की चर्चणा) के आस्वाद से रमणीय कोई (अनिर्वचनीय) सीमाव्य (नाम का) दूसरा गुण भी काव्य के समस्त अङ्गों में व्यापक रूप से प्रकाशित होता है। (अतः सहृदय ही उसका अनुभव कर सकते हैं।) इसलिये अति प्रसङ्ग (अर्थात् इसके अधिक विवेचन से कोई लाभ नहीं है।

इदानीमेतदुपसंहृत्यान्यदवतारयति—

मार्गाणां त्रितयं तदेतदसकृत्प्राप्तव्यपर्युत्सुकैः
क्षुण्णं कैरपि यत्र कामपि भुवं प्राप्य प्रसिद्धिं र्गताः।
सर्वे स्वैरविहारहारि कवयो यास्यन्ति येनाधुना
तस्मिन् कोऽपि स साधु सुन्दरपदन्यासक्रमः कथ्यते ॥५८॥

इस प्रकार (अब तक प्रथम उन्मेष में मार्गों के, स्वरूप एवं उनके गुणों का विवेचन कर) अब इस (विवेचन) का उपसंहार करके (द्वितीय उन्मेष में विवेचित किये जाने वाले वर्णविन्यास क्रम आदि) दूसरे (प्रकरण) को अवतरित करते हैं—

प्रयोजन विशेष की प्राप्ति के लिए उत्कण्ठित कुछ महाकवियों के द्वारा मार्गों की यह त्रयी बार-बार ससेवित होती रही है। इनमें से कुछ भाग्य-शाली महाकवियों ने अद्भुत सफलता प्राप्त करके क्याति अर्जित की है। भविष्य में भी सभी कविगण स्वेच्छापूर्वक विहार के कारण रमणीय (मार्गत्रयी) पर चलेंगे। इसी हेतु अब इस मार्गत्रयी के विषय में सुन्दर पदों के सन्निवेश की अद्भुत परम्परा का सम्यग् विश्लेषण किया जायगा ॥५८॥

मार्गाणां सुकुमारादीनामेतत्त्रितयं कैरपि महाकविभिरेव, न सामान्यैः, प्राप्तव्यपर्युत्सुकैः प्राच्योत्कण्ठितैरस्तुतु बहुवारमभ्यासेन क्षुण्णं परिगमितम् । यत्र यस्मिन् मार्गत्रये कामपि भुवं प्राप्य प्रसिद्धिं गताः लोकोत्तरां भूमिमासाद्य प्रतीतिं प्राप्ताः । सर्वे कवयस्तस्मिन्मार्गत्रितये येन यास्यन्ति गमिष्यान्त स्वैरविहारहारि स्वेच्छाविहरण-रमणीयं स कोऽपि अलौकिकः साधु शोभनं कृत्वा सुन्दरपदन्यासक्रम-कथ्यते सुभगमुत्तिङ्गन्तसमर्पणपरिपाटीविन्यासो वर्ण्यते । मार्गस्वैरविहार-पद-प्रवृत्तयः शब्दाः श्लेषच्छायाविशिष्टत्वेन व्याख्येयाः ।

इति श्रीराजानककुन्त कविरचिते वक्रोक्तिजीविते
काव्यालंकारे प्रथम उन्मेषः ।

सुकुमारादि मार्गों की त्रयी किसी-किसी के द्वारा अर्थात् महाकवियों के ही द्वारा-सामान्य कवियों के द्वारा नहीं, जो कि उद्देश्य के प्रति उत्सुक थे यानि काव्यप्रयोजनों के प्रति उत्काण्ठावान् थे, बार-बार अर्थात् अनेकवार अभ्यास के द्वारा सेवित होती रही है अर्थात् ग्रहण की जाती रही है । जिस मार्गत्रयी में (उनमें से कुछ) सफलता की जैसी भूमिका को प्राप्त करके प्रसिद्ध हो चले अर्थात् सर्वश्रेष्ठ स्थान को प्राप्त करके सर्वप्रिय बन चले । अब सभी कवि उसी मार्गत्रयी में जिस कारण से लगे रहेंगे अर्थात् उन्ही मार्गों से चलते रहेंगे, स्वेच्छा विहार के कारण मनोहारी अर्थात् अपनी इच्छा से मार्गचयन और उसके ग्रहण-त्याग आदि का स्वातन्त्र्य-लाम करके एक विचित्र रमणीयता ले आते हुए उस अनिर्वचनीय अर्थात् सौगोत्तर सुन्दर पदों के विन्यास के क्रम को बताया जायगा अर्थात् मनोहारी सुबन्त और तिङन्त के प्रस्तुत करने की परिपाटी का विन्यास बहुत ही अच्छे ढङ्ग से वर्णित किया जायगा । मार्ग, स्वैरविहार, पद आदि शब्द यहाँ पर श्लेष की सुन्दरता के वैशिष्ट्य की दृष्टि से समझे जाने चाहिए ।

इस प्रकार श्री राजानक कुन्तक द्वारा विरचित काव्य के
अलङ्कारग्रन्थ वक्रोक्तिजीवित का
प्रथम उन्मेष समाप्त हुआ ।



द्वितीयोन्मेषः

सर्वत्रेव सामान्यलक्षणे विहिते विशेषलक्षण विधातव्यमिति काव्यस्य "शब्दार्थौ सहितौ" इत्यादि (१।७) सामान्यलक्षण विध १ तदवयवभूतयोः शब्दार्थयोः साहित्यस्य प्रथमोन्मेष एव विशेषलक्षण विहितम् । इदानीं प्रथमोद्दिष्टस्य वर्णविन्यासवक्रत्वस्य विशेषलक्षणमुपक्रमते—

समी स्थानो पर (शास्त्रो मे किसी भी वस्तु का) सामान्य लक्षण करके विशेष लक्षण करना चाहिए (ऐसा नियम है) इसलिए (प्रथम उन्मेष की ७ वीं कारिका मे) काव्य का 'शब्दार्थौ सहितौ इत्यादि' ऐसा सामान्य लक्षण करने के उपरान्त (विशेष लक्षण करते समय) उस (काव्य लक्षण) के अवयव रूप शब्द और अर्थ के साहित्य (सहभाव) का विशेष लक्षण प्रथम उन्मेष (कारिका स० १६ एव १७) मे ही किया जा चुका है । अब (इस द्वितीय उन्मेष मे, प्रथम उन्मेष की १६ वीं कारिका मे) पहले उद्दिष्ट किये गये (अर्थात् जिसका केवल नाममात्र से सङ्कीर्तन किया गया था उसी) 'वर्णं विन्यास के वक्रभाव' के विशेष लक्षण को प्रारम्भ करने जा रहे हैं—

एको द्वौ बहवो वर्णा बध्यमानाः पुनः पुनः ।

स्वल्पान्तरास्त्रिधा सोक्ता वर्णविन्यासवक्रता ॥ १ ॥

(जहाँ थोड़े थोड़े व्यवधान वाले, एक, दो अथवा बहुत से व्यञ्जन (वर्ण) अनेकशः संयोजित (किए जाते हैं) वह तीन प्रकार की 'वर्णविन्यास-वक्रता' मानी गई है ॥ १ ॥

वर्णशब्दोऽत्र व्यञ्जनपर्यायः, तथा प्रसिद्धत्वात् । तेन सा वर्ण-विन्यासवक्रता व्यञ्जनविन्यासनविच्छिन्तिः त्रिधा त्रिभिः प्रकारै-रुक्ता वर्णिता । के पुनस्ते त्रयः प्रकारा इत्युच्यते—एकं केवल एव, कदाचिद् द्वौ बहवो वा वर्णा पुन पुनर्बध्यमाना योज्यमानाः । कीदृशा—स्वल्पान्तराः । स्वल्प स्तोकमन्तर व्यवधानं येषां ते तथोक्ताः । त एव त्रयः प्रकारा इत्युच्यन्ते । अत्र चोक्त्या पुनः पुनरित्ययोग-व्यवच्छेदपरत्वेन नियमः, नान्ययोगव्यवच्छेदपरत्वेन । तस्मात्पुनः पुनर्बध्यमाना एव, न तु पुनः पुनरेव बध्यमाना इति ।

यहाँ (उक्तकारिका मे) 'वर्ण' शब्द 'व्यञ्जन' के पर्याय रूप मे प्रयुक्त हुआ है ऐसा (काव्यशास्त्र के ग्रन्थो मे) प्रसिद्ध होने से । अतः वह वर्ण-विन्यासवद्गता अर्थात् व्यञ्जनो के विशेष ढङ्ग के संयोजन की रमणीयता तीन भेदो द्वारा कही गई अर्थात् (अलङ्कारशास्त्र के ग्रन्थो मे या प्रयुक्त ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' मे तीन प्रकार की वर्णित की गई है । आखिर वे तीन भेद हैं कौन से ? यह बताते हैं—(कभी) एक अर्थात् केवल (अकेला व्यञ्जन) ही कभी दो अथवा (कभी) बहुत से व्यञ्जन अनेकश उपनिबद्ध किये जाते अथवा संयोजित किए जाते हैं । कैसे (व्यञ्जन)-स्वल्प अन्तर वाले । स्वल्प अर्थात् बहुत ही कम अन्तर अर्थात् बीच या फासना (व्यवधान) होता है जिनका ये हुए तथोक्त (अत्यल्प व्यवधान वाले वर्ण) । वे ही (अर्थात् कभी एक एक वर्णों का, कभी दो दो और कभी बहुत से वर्णों का बार बार विन्यास, वर्णविन्यास वद्गता के) तीन भेद हैं—ऐसा बहे जाते हैं । यहाँ (इस कारिका मे) दुहराने से (वीप्सा) 'पुन पुन' इस (शब्द) के द्वारा 'अयोगव्यवच्छेदपरक' नियम (का विधान किया गया) है न कि 'अन्ययोगव्यवच्छेदपरक' नियम का ।

टिपणी—विवेचको ने 'एव' शब्द के तीन रूप बताये हैं—

(१) अयोगव्यवच्छेदपरक (२) अन्ययोगव्यवच्छेदपरक और (३) अत्यन्तायोगव्यवच्छेदपरक—जैसा प्रतिपादित भी किया गया है कि—

अयोगमन्ययोगश्चात्यन्तायोगमेव च ।

व्यवच्छिन्नन्ति घर्मस्य एवकारस्तिष्ठा मतः ॥ इति ॥

ऊपर व्याख्या मे आचार्य मुक्तक ले, इन तीन रूपों में से दो का उल्लेख किया है । यद्यपि पुन. पुन. के स्वर 'एव' शब्द का प्रयोग नहीं है किन्तु वीप्सा (द्विरुक्ति) के द्वारा उन्होंने 'अयोगव्यवच्छेदपरक' नियम को सूचना दी है । अयोग अर्थात् असम्बन्ध का अवच्छेद करने वाला । जब एव का प्रयोग विशेषण के साथ होता है तो वह अयोग का व्यवच्छेदक होता है जैसे—'राम पुरुषोत्तम एव'—यहाँ पर 'राम' विशेष्य और 'पुरुषोत्तम' विशेषण है । एव का विशेषण के साथ प्रयोग यह सूचित करता है कि विशेष्य राम मे विशेषण पुरुषोत्तम का (अयोग) अर्थात् सम्बन्धाभाव नहीं है, अर्थात् 'राम पुरुषोत्तम ही है' इस प्रकार राम के पुरुषोत्तम होने का नियमन करता है । लेकिन जब एव का प्रयोग विशेष्य के साथ होता है तो वह 'अन्ययोग का व्यवच्छेदक' होता है । जैसा 'राम एव पुरुषोत्तम'—यहाँ पर एवकार अन्ययोग का व्यवच्छेदक है अर्थात् 'राम ही पुरुषोत्तम है' दूसरा कोई नहीं ।

जब एवकार का प्रयोग क्रिया के साथ होता है तो अत्यन्तायोग का व्यवच्छेदक होता है। जैसे 'नीलं कमलं भवत्येव' में अत्यन्तायोग का व्यवच्छेद है अर्थात् सभी कमल नीले होते हैं ऐसी बात नहीं और न कमल से भिन्न अन्य पदार्थ ही नीले न होते हो ऐसी भी बात नहीं है वल्कि कोई कोई कमल नीला होता है। इस अर्थ को एवकार प्रस्तुत करता है। यहाँ कुन्तक ने अयोग व्यवच्छेद बताया है अर्थात् व्यञ्जन बार बार उपनिबद्ध होकर ही वर्णविन्यास वक्रता को प्रस्तुत करते हैं।

यत्रैकव्यञ्जननिबद्धोदाहरणं यथा—

धम्मिल्लो विनिवेशिताल्पकुसुमः सौन्दर्यधुर्यं स्मितं
विन्यासो वचसां विदग्धमधुरः कण्ठे कलः पञ्चमः।
लीलामन्थरतारके च नयने यातं विलासालसं
कोऽप्येव हरिणीदृशः स्मरशरापातावदातः क्रमः ॥ १ ॥

वहाँ (उन तीन प्रकारों में से पहले प्रकार) एक व्यञ्जन के द्वारा निबद्ध (वर्ण विन्यास वक्रता) का उदाहरण जैसे—

विशेष रूप से गुये गये पुष्पो से युक्त जूड़ा, मुन्दरता के बोझ का वहन करने वाली मुस्कान, कौशलपूर्ण एवं मनोहर वाणी का विन्यास, कण्ठ में मधुर एवं धीमा पञ्चम (स्वर), विलास के कारण मुस्त पुतलियों से युक्त नयन, हावभाव के कारण धीमी चाल, (इत्यादि) इस प्रकार का उस मृगाक्षी का मदन के वाणी के प्रहार से सुन्दर कोई अपूर्व ही दृङ्ग हो गया है ॥ १ ॥

टिप्पणी—उक्त पद्य के प्रथम चरण में म्, ल्, व् और य् व्यञ्जनों का तथा दूसरे चरण में व्, स्, घ् एवं क् वर्णों का, तीसरे में ल्, र, न, य एवं स् वर्णों का तथा चतुर्थ चरण में र्, श्, एवं त् वर्णों का अलग-अलग अनेकधा विन्यास हुआ है। अतः यहाँ एक व्यञ्जन का पुनः पुन विन्यास—रूप वर्णविन्यास वक्रता का पहला भेद है।

एकस्य द्वयोर्बहूनां चोदाहरणं यथा—

भग्नैलावल्लरीकास्तरलितकदलीस्तम्बताम्बूलजम्बू-
जम्बीरास्तालतालीसरलतरलतालासिका यस्य जह्नुः।
वेल्लत्कल्लोलहेला विसकलनजडाः कूलकच्छेपु सिन्धोः
सेनासीमन्तिनीनामनवरतरताभ्यासतान्ति समीराः ॥ २ ॥

एक, दो एवं बहुत से वर्णों (के अनेक बार विन्यास रूप वर्णविन्यास वक्रता के तीनों ही भेदों) का (एक ही) उदाहरण जैसे—

इलायची की मजरियो को तोड़ देने वाली, बेलो के धोदो, पान जामुन तथा नीबुओको चञ्चल बना देने वाली ताड़, ताड़ी, एवं बहुत ही सरल सताओ को लास्य कराने वाली, टटती हुई लहरो के विलास के खण्डित करने के कारण ठही हवायें, समुद्र के किनारे के बछारों में जिसकी सेना की स्त्रियों की निरन्तर सम्भोगजन्य घकावट को दूर कर देती थी ।

टिप्पणी—उक्त पद्य में कुन्तक ने वर्णविन्यासवक्रता के तीनो भेदों का उदाहरण प्रस्तुत किया है । उनमें पहले भेद का स्वरूप जैसे— (अ) प्रथम चरण में 'ल्' अकेले वर्ण का अनेक बार प्रयोग । (ब) तृतीय चरण में 'ल्' ही अकेले वर्ण का बार बार प्रयोग । यथा (स) चतुर्थ चरण में केवल 'स' का ४ बार प्रयोग ।

दूसरे भेद का स्वरूप जैसे—(अ) द्वितीय चरण में 'ताल ताली' में त् एवं ल् की दो बार आवृत्ति, (ब) तृतीय चरण में वेहलत्वल्लोल में 'ल्ल' दो व्यञ्जनो की दो बार आवृत्ति तथा क्ल् की 'क्ल्लोल' 'विसकलन' एवं फूलकच्छेयु में तीन बार आवृत्ति तथा (स) चतुर्थ चरण में 'रतरताम्बास' में र् त् की दो बार आवृत्ति ।

तीसरे भेद का स्वरूप जैसे—(अ) प्रथम चरण के 'स्तम्भ ताम्बूल' में त् म् ब् की एक साथ दो बार आवृत्ति तथा 'जम्बू जम्बारा' में ज् म् ब् की एक साथ दो बार आवृत्ति एवं (ब) द्वितीय चरण के 'सरसतरसता' में र् ल् ल् की एक साथ दो बार आवृत्ति । -

इस प्रकार इस श्लोक में वर्णविन्यासवक्रता के तीनों भेदों के उदाहरण उपलब्ध हो जाते हैं ।

एतामेव वक्रतां विच्छिन्नत्यन्तरेण विविनक्ति—

वर्गान्तयोगिनः स्पर्शा द्विरुक्तास्त-ल-नादयः ।

शिष्टाश्च रादिसंयुक्ताः प्रस्तुतौचित्यशोभिनः ॥ २ ॥

(अथ) इसी (वर्णविन्यासवक्रता) की दूसरी विच्छिन्ति से प्रतिपादित करते हैं—वर्ण्यमान वस्तु के औचित्य से शोभित होने वाले (१) (अपने अपने) वर्ग में अन्त (अन्तिम वर्ण) से युक्त (क से म पर्यन्त के) स्पर्श (वर्ण), (२) दो बार कहे गये (द्विरुक्त) त, ल, एवं न आदि (वर्ण), एवं (३) र आदि (वर्ण) से संयुक्त शेष (सभी वर्ण पुनः पुनः आवृत्त होकर इस वर्णविन्यासवक्रता के, तीन अन्य भेद कर देते) हैं ॥ २ ॥

इयमपरा वर्णविन्यासवक्रता त्रिधा त्रिभिः प्रकारैरुक्तेति 'च'-
शब्देनाभिसम्बन्धः । के पुनरस्यास्त्रयः प्रकारा इत्याह—वर्गान्तयोगिनः
स्पर्शा । स्पर्शा कादयो मकारपर्यन्ता वर्गास्तदन्तैः ङकारादिभि-
र्योगः सयोगो येषां ते तथोक्ताः, पुनः पुनर्बध्यमानाः—प्रथमः प्रकारः ।
त-ल-नादयः तकार-लकार-नकार-प्रभृतयो द्विरुक्ता द्विरुच्चारिता
द्विगुणाः सन्तः, पुनः पुनर्बध्यमानाः—द्वितीय । सद्व्यतिरिक्ताः
शिष्टाश्च व्यञ्जनसञ्ज्ञा ये वर्णास्ते रेफप्रभृतिभिः सयुक्ताः पुनः
पुनर्बध्यमाना—तृतीयः । स्वल्पान्तराः परिमितव्यवहिता इति
सर्वेषामभिसम्बन्धः । ते च कीदृशाः—प्रस्तुतौचित्यशोभिनः ।
प्रस्तुतं वर्ण्यमानं वस्तु तस्य यदौचित्यमुचितभावस्तेन शोभन्ते ये ते
तथोक्ताः । न पुनर्वर्णसावर्ण्यव्यसनितामात्रेणोपनिबद्धाः प्रस्तुतौ-
चित्यम्लानकारिणः । प्रस्तुतौचित्यशोभित्वात् कुत्रचित्परस्परस-
प्रस्तावेतादृशानेत्राभ्यनुजानाति ।

यह दूसरी वर्णविन्यासवक्रता तीन भेदों से कही गई है—ऐसा सम्बन्ध
(इस कारिका में प्रयुक्त) 'च' शब्द से है । इस (दूसरी वर्णविन्यास-
वक्रता) के आखिर वे तीन भेद हैं कौन कौन से यह बताते हैं—वर्ग के
अन्त (अन्तिम वर्ण से) सयुक्त स्पर्श (वर्ण) । 'क' से लेकर 'म' पर्यन्त
के वर्ण (अर्थात् कवर्ण, चवर्ण, टवर्ण, तवर्ण एवं पवर्ण) उनके अन्त
ङकारादि (क्रम से ङ, ल, ण, न एवं म) से जिनका सयोग हो, वे हुए
तथोक्त (वर्गान्त से सयुक्त स्पर्श वर्ण), (वे जहाँ) बार बार (थोड़े अन्तर
से) उपनिबद्ध (किये जाते) हैं—(वह) पहला भेद (हुआ) । त, ल, न,
आदि अर्थात् तकार, लकार एवं नकार अदि (वर्ण) द्विरुक्त अर्थात् दो
बार उच्चारित होकर, दुगुने होकर, बार बार (जहाँ थोड़े अन्तर से) उपनिबद्ध
(होते) हैं, (वहाँ) दूसरा भेद (हुआ) । उनसे भिन्न शेष सभी व्यञ्जन
सञ्ज्ञा वाले जो वर्ण हैं वे रेफादि (रकारादि) से सयुक्त रूप में बार-बार
(थोड़े अन्तर से जहाँ) उपनिबद्ध होते हैं । (वह) तीसरा (भेद हुआ) ।
(इन) सभी (भेदों में प्रयुक्त व्यञ्जनों) का स्वल्प अन्तर वाले अर्थात् परिमित
व्यवधान वाले (होकर ही पुन पुनः प्रयुक्त होने) के साथ सम्बन्ध है ।
(अर्थात् सभी भेदों में बताये गये क्रम के अनुसार थोड़े ही थोड़े व्यवधान
से बार-बार आवृत्ति होनी चाहिए) । वे वर्ण कैसे होने चाहिए—प्रस्तुत के
औचित्य से शोभित होने वाले । प्रस्तुत का अर्थ है वर्ण्यमान वस्तु उसका
जो औचित्य अर्थात् उचितभाव है उसके द्वारा जो शोभित होते हैं वे हुए
तथोक्त (प्रस्तुत के औचित्य से शोभित होने वाले वर्ण) । (कहने का अभि-

प्रायः यही है कि (केवल वर्णों की अनुरूपता (लाने) के चश्मे से ही उप-निबद्ध किये गये, (वर्ण जो कि) प्रस्तुत (वस्तु के अनुरूप न होने से उसके) औचित्य को दूषित करने वाले (है उनका प्रयोग) नहीं अभीष्ट है । (अर्थात् रस से अनुकूल ही वर्णों का प्रयोग करना चाहिए न कि शृङ्गार आदि कोमल रसों के प्रसंग में भी 'टकारादि' कठोर वर्णों का विन्यास । हाँ) कही कहीं (रौद्रादि) पुरुष रसों का प्रकरण होने पर (कवि अथवा सहृदय) उसी प्रकार के कठोर वर्णों को पसन्द करता है । (वयो कि वहाँ पर वे कठोर वर्ण उस पुरुष रस के औचित्य के अनुरूप होने से अत्यन्त ही शोभित होते हैं) ।

अथ प्रथमप्रकारोदाहरणं यथा—

उन्निद्रकोकनदरेणुपिशङ्गिताङ्गा

गुञ्जन्ति मञ्जु मधुपाः कमलाकरेषु ।

एतच्छकास्ति च खेनेवचन्धुजीव-

पुष्पच्छदाभमुदणचलचुम्बि बिम्बम् ॥ ३ ॥

अब पहले (अपने वर्ण के अन्त से समुक्त स्पर्श वर्णों की पुनः पुनः आवृत्ति रूप) भेद का उदाहरण (देते हैं । जैसे—

विकसित लाल कमलों की पुष्पधूलि से पीत वर्ण हो गए अंगों वाले भ्रमर कमलों के उद्भवस्थानों (अर्थात् तालाबों) में मनोहर गुञ्जार कर रहे हैं । एवम् उदयगिरि का चुम्बन (स्पर्श) करने वाला तथा नवीन बन्धुजीव (जपाकुसुम) के पुष्प पटल के सदृश कान्ति वाला (लाल वर्ण का) यह सूर्य मण्डल प्रकाशित हो रहा है ॥ ३ ॥

टिप्पणी—उक्त श्लोक में पिशङ्गिताङ्गा, गुञ्जन्ति मञ्जु, चुम्बि एवं बिम्बम् में क्रमशः स्पर्शवर्ण ग, ग, ज, ज, यथा व एव व अपने वर्ण के अन्तिम वर्णों से समुक्त होकर दो दो बार आवृत्ति हुए हैं । अतः यह वर्णविन्यास-वक्राना के पहले भेद का उदाहरण हुआ । यहाँ आचार्य विश्वेश्वर जी ने उन्निद्र एव बन्धु शब्द को भी उद्धृत किया है शायद विवेचन करते समय वे पुनः पुनर्बोधानाः नियम को भूल गये थे । क्योंकि इन दो पदों में प्रयुक्त 'न' एवं 'व' की पुनरावृत्ति ही नहीं होती है ।

यथा च—

कदलीस्तम्बताम्रूलजम्बूतम्बीराः इति ॥ ४ ॥

और जैसे (इसी का दूसरा उदाहरण पूर्वोदाहृत २।२ पद 'मन्वीना-बल्लरीका' के प्रथम चरण का उत्तरार्ध)

कदलीस्तम्बताम्बूलजम्बूजम्बीरा ॥ ४ ॥

(यहाँ स्पर्श वर्ण 'ब' अपने वर्ण के अन्तिम वर्ण 'म' के साथ सयुक्त होकर ४ बार आवृत्त हुआ है ।)

यथा वा —

सरस्वतीहृदयारविन्दमकरन्दबिन्दुसन्दोहसुन्दराणाम् इति ॥ ५ ॥
द्वितीयप्रकारोदाहरणम् —

प्रथममरुणच्छायः ॥ ६ ॥

इत्यस्य द्वितीयचतुर्थो पादो ।

तृतीयप्रकारोदाहरणमस्यैव तृतीयः पादः ।

अथवा जैसे—आचार्य कुन्तक की अपनी ही प्रथम उन्मेष की १६ वीं वारिका की वृत्ति का निम्न अर्थ—)

सरस्वतीहृदयारविन्दमकरन्दबिन्दुसन्दोहसुन्दराणाम् ॥ ५ ॥

(यहाँ पर स्पर्श वर्ण 'द' अपने वर्ण के अन्तिम वर्ण 'न' के साथ सयुक्त होकर ५ बार आवृत्त हुआ है । अतः यह भी प्रथम भेद का उदाहरण है ।

(अब) दूसरे भेद (द्विरक्त त, ल, न आदि की पुनः पुनः आवृत्ति) का उदाहरण जैसे—

(पूर्वोदाहृत उदाहरण सध्या १।४१) प्रथममरुणच्छायः ॥ ६ ॥ इस (श्लोक) का द्वितीय तथा चतुर्थ चरण ।

टिप्पणी — उक्त पद्य का द्वितीय चरण है—

तदनु विरहोत्ताम्यतन्वीकपोलतलचुतिः ।

यहाँ पर 'विरहोत्ताम्यतन्वी' में तकार के द्वित्व का दो बार प्रयोग हुआ है । अतः यह दूसरे भेद का उदाहरण हुआ ।

तथा इस पद्य का चतुर्थ चरण है—

सरसविसिनीकन्दच्छेदच्छविमृगशञ्जन ।

यहाँ पर यद्यपि न तो त, ल एवं न में से ही किसी का द्वित्व हुआ है और न प्रयुक्त छ अथवा च् का ही द्वित्व हुआ है । अपितु यहाँ 'छेच' मूल में गुर् का आगम, अनुबन्धलोप एवं श्चुस्त्व होकर च् का च् हो गया है । फिर भी कुन्तक ने इसे यहाँ उदाहरण किया है । इसके दो विशेष कारण

हैं—(क) आदि शब्द से त, ल एवं न से भिन्न भी छ, घ आदि वर्णों का ग्रहण होता है। तथा (२) द्वित्व से यहाँ उसी वर्ण का द्वित्व ही नहीं अभिप्रेत है अर्थात् छ के साथ छ का ही द्वित्व हो ऐसा विधान नहीं। अपितु उस वर्ण का उच्चारण द्वित्व को भोंति होता चाहिए। जैसे जब हम 'कन्दच्छेद-च्छवि' का उच्चारण करते हैं तो हमारा उच्चारण ऐसा होता है मानो 'कन्दच्छेदच्छवि' का उच्चारण किया जा रहा है इस प्रकार सुनने में एक अपूर्व आनन्द को उपलब्धि होती है। इसलिये यह वर्गविभासवक्रता के दूसरे भेद के रूप में उद्धृत हुआ है।

(वर्गविभासवक्रता के) तृतीय भेद (र आदि से समुक्त शेष वर्णों की पुनः पुनः आवृत्ति) का उदाहरण इसी (प्रथमखण्डकार. ॥ ६ ॥ श्लोक) का तृतीय चरण है।

टिप्पणी—इतका तृतीय चरण निम्न है—

प्रसरति ततो ब्रह्मन्तोऽक्षन् क्षणशमुते ॥

यहाँ भी र आदि से ष आदि का भी ग्रहण होता है। इसी लिये यहाँ पर क् एव ष् के समुक्त रूप (क्ष) का तीस बार प्रयोग होने से इसे वर्गविभासवक्रता के तीसरे भेद के उदाहरण रूप में उद्धृत किया गया है।

जाकार्यं विशेषरत्नं त्रीं मे इव उदाहरण का बखाना करने में पुनः इसी उन्मेष के तीसरे उदाहरण को बखाना वाली भूत को है। उन्होंने 'प्र' और 'ध्व' में भी वक्रता दिखाने का अनेक प्रयास किया है जिसकी कि एक बार भी आवृत्ति नहीं हुई है।

यथा वा—

सौन्दर्यधुर्यं स्मितम् ॥ ७ ॥

यथा च—

'कल्लार'-शब्दसाहचर्येण 'ल्लार'-शब्दप्रयोगः ।

अथवा जैसे (इव तृतीय भेद का इतका उदाहरण पूर्वोक्त २११ श्लोक के प्रथम चरण का अन्तिम भाग—)

सौन्दर्यधुर्यं स्मितम् ॥ ७ ॥

(यहाँ ष का क् के साथ समुक्त रूप में दो बार प्रयोग हुआ है) अब तृतीय भेद के उदाहरण रूप में उद्धृत किया गया है। और जैसे 'कल्लार' शब्द के साथ 'ल्लार' शब्द का प्रयोग। अर्थात् यहाँ पर ल के साथ ह् का मिला दो बार आवृत्ति होने से तीसरे वर्गविभासवक्रता के भेद का उदाहरण बन जाता है ।

परस्पर-प्रस्तावे तथाविधसंयोगोदाहरणं यथा—
उत्ताम्यत्तालवश्च प्रतपति तरणावांशवीं तापतन्त्री-
मद्रिद्रोगीकुटीरे कुहरिणि हरिणारातयो यापयन्ति ॥८॥

रूप (कठोर भयानक) रस का प्रकरण होने पर उसी प्रकार के (परस्पर वर्णों के) संयोग का उदाहरण । जैसे—

सूर्य के खूब तपने पर (अर्थात् दोपहर के समय) सूखती हुई तालुओं वाले मृगों के शत्रु सिंह (सूर्य की) किरणों के सन्ताप से उत्पन्न नींद को कुहरों वाले पर्वत की बाटियों रूपी कुटीरों में बिताते हैं ॥ ८ ॥

टिप्पणी—यहाँ पर कवि को भयानक रस की सृष्टि करना अभिप्रेत था जो कि एक परस्पर रस है । इसीलिए कवि ने भयानक सिंह के भयानक निवास का वर्णन प्रस्तुत करते समय उसी के योग्य त, प, व, र, ह, एव ण आदि परस्पर वर्णों को पुनः पुनः आवृत्त किया है, जिसके पढ़ने से ही भय की प्रतीति होने लगती है । अतः ऐसे परस्पर वर्णों के प्रस्ताव में कवि अथवा सहृदय परस्पर वर्णों को ही पुनः पुनः आवृत्ति रूप वक्रता को पसन्द करते हैं ।

एतामेव वंचिद्व्यान्तरेण व्याचष्टे—

क्वचिद्व्यवधानेऽपि मनोहारिनिबन्धना ।

सा स्मराणामज्ञारूपात् परां पुष्पाति वक्रताम् ॥३॥

इसी (वर्गविन्यासवक्रता) को दूसरे बङ्ग की विचित्रता द्वारा प्रस्तुत करते हैं—

(यह वर्गविन्यासवक्रता) कहीं-कहीं (वाक्य के किसी भी अंश में) (व्यञ्जनो के) व्यवधान के अभाव में भी (एक ही सिलभिते से पुनः पुनः व्यञ्जनों को आवृत्ति से युक्त होने पर) चित्ताकर्षक सघटन से युक्त होती है । (तथा कहीं-कहीं पर) वह (वर्णविन्यासवक्रता) स्वरों के असमान होने में किसी अन्य अपूर्व वैविध्य को पुष्ट करती है ॥ ३ ॥

क्वचिदनियतप्रायवाक्यैकदेशे कास्मिंश्चिद्व्यवधानेऽपि व्यवधानाभावेऽप्येकस्य द्वयोः समुदितयोश्च बहूना वा पुनः पुनर्वध्यमानानामेषां मनोहारिनिबन्धना हृदयावर्जकविधासा भवति । काचिदेवं सम्पद्यत इत्यर्थः । यमकव्यवहारोऽत्र न प्रवर्तते, यस्य नियतस्यानतया व्यवस्थानात् । स्वरैरप्यवधानमत्र न विवक्षितम्, तस्यानुपपत्तेः ।

कहीं का अर्थ है, वाक्य (श्लोक) के प्रायः अनिश्चित किसी एक भाग में अव्यवधान प्रयोग (व्यञ्जनों के) अन्तर के अभाव में भी, एक (वर्ण),

सम्मिलित दो अथवा बहुत से बार बार उपनिबद्ध किए गये इन वर्णों की मनोहारि निबन्धन वाली अर्थात् चित्ताकर्षक विन्यास से युक्त (वक्रता) होती है। तत्पर्यं यह कि कोई (रचना) इस प्रकार (चित्ताकर्षक विन्यास से युक्त) हो जाती है। (व्यवधान से रहित वर्णों की पुनः पुनः आवृत्ति होने से) यहाँ यमक का व्यवहार नहीं प्रवृत्त हो सकता, उसकी निश्चित स्थानों (पर आवृत्ति) के रूप में अवस्था होने से (अर्थात् यमक में कहीं कहीं व्यञ्जनो की आवृत्ति होनी चाहिए इसका नियम होता है लेकिन यहाँ (वर्णविन्यास-यक्रता में) कोई नियम नहीं है (अतः इसे यमक नहीं कहा जा सकता। यहाँ पर स्वरों के व्यवधान का अभाव विवक्षित नहीं है इसके अनुपपन्न होने से (अपितु केवल व्यञ्जनों का व्यवधान अभिप्रेत है)।

तत्रैकस्याव्यवधानोदाहरणं यथा —

वामं कज्जलवद्विलोचनमुरो रोहद्विसारिस्तनम् ॥ ६ ॥

(यहाँ उन तीनों भेदों में से) व्यवधान के अभाव में एक (वर्ण की पुनः पुनः आवृत्ति) का उदाहरण जैसे—

(उदाहरण शब्दा १/४४ पर अदृष्ट पद्य का पहला चरण—)

वामं कज्जलवद्विलोचनमुरो रोहद्विसारिस्तनम् ॥ १ ॥ (यहाँ पर 'कज्जल' में जू की तथा 'दिलोचनमुरो रोहद्व' से र की अकेले वर्णों की बिना व्यवधान के एवही सिलसिले में आवृत्ति हुई है।

द्वयोप्यथा —

ताम्बूलीनद्धमुग्धश्रुतस्तलस्त्रस्तरे सानुगाभिः

पायं पायं कलाचीकृतकदलदलं नारिकेलीफलाम्भः ।

सेव्यन्तां द्योमयाश्रमजलजयिनः सैन्यसोमन्तिनीभिः-

दात्यूहव्यूहकेलीकलितकुहकुहारावकांता वनांताः ॥ १० ॥

(व्यवधान के अभाव में) दो (वर्णों की पुनः पुनः आवृत्ति का उदाहरण) जैसे—(वाल्हरामायण (१/६३) में रावण अपने सेनापतियों के लिए आदेश देता है कि वे)

द्योमगमन के कारण उत्पन्न स्वेद को हटा देने वाले और चान्दमम्ह की ब्रीडा में उत्पन्न होने वाली मीठी चह चह के स्वर के कारण रमणीय वनप्रदेशों का साथ साथ चलने वाली सैनिक कामिनियों के साथ बेलें के पत्तों के बने हुए दोनों वाले नारियल के फल के रस का पानकर करके पान

की लतरो से बने हुए सुन्दर मुपाडो के वृक्षों के नीचे के विस्तारों पर (बैठकर) सेवन करें ॥ १० ॥

टिप्पणी—यहाँ 'दात्यूह' का अर्थ हम कोयल भी कर सकते हैं । जैसा कि बालरामायण के टीकाकार ने किया है । यहाँ सैनिकों को विश्राम की बात कवि ने प्रस्तुत की है । कवि की बोली इतनी कर्णकटु होती है कि उसे सुन कर लोगों को क्रोध भले आ जाय, आनन्द कदापि नहीं मिल सकता । जबकि चातक की ओर कोयल की मधुर बाणी सुनने में मनुष्यों को अत्यधिक आनन्द लाभ होता है । परन्तु खेद है कि हमारे सहृदय शिरोमणि आचार्य विश्वेश्वर जी को कोयल की कवि काँव ही आनन्द प्रदान करती है, तभी तो उन्होंने 'अमरकोष' का प्रमाण उद्धृत करते हुए बालरामायण के टीकाकार द्वारा दिये गये 'कोविल' अर्थ का बड़े जोरो के साथ खण्डन किया है । शायद वे यह भूल गये थे कि अमरकोष के अनिरुक्त भी कोई कोश है । विश्वकोश का कथन है—

“दात्यूह कलकठे स्याद् दात्यूहचानकेऽपि च ।”

यहाँ पर 'पाय पाय', 'कदलदल', 'केलीकलित' एवं 'बुहुकुहाराव' में क्रमशः प्, य्, दल्, एवं क् ह् को बिना किसी वर्ण के व्यवधान के आवृत्ति हुई है । पर जैसा कि आचार्य विश्वेश्वर जी ने लिखा है कि '... दात्यूहयूह'... क्रान्ता वनान्ता आदि में दो दो अक्षरों का अव्यवधान से प्रयोग मानकर इसकी इस प्रकार की वर्णविन्यासवक्रता का उदाहरण बतलाया है, यह कथन कहाँ तक नहीं है, ठीक स्वयं विचार कर सकते हैं जब कि स्पष्ट ही गूह-यूह के बीच में व का व्यवधान है जो कि स्वर नहीं है न्ता और न्ता के बीच में तो 'वन्ता' दो अक्षरों का ही व्यवधान है । हाँ, यहाँ यह व्यवधानयुक्त वर्णविन्यासवक्रता स्वीकार की जा सकती है जैसा कि ग्रन्थकार ने आगे स्वयं अपि शब्द के ग्रहण द्वारा व्यक्त किया है ।

यथा वा —

अपि पिबत चकोरा. कृत्स्नमुन्नाम्य कण्ठान्
क्रमुकबलनचञ्चच्चञ्चवञ्चद्विकान्मः ।

विरहविधुरिताना जीवितत्राणहेतो-
र्भवति हरिणलक्ष्मा येन तेजोदरिद्रः ॥ ११ ॥

अथवा जैसे (इसी का दूसरा उदाहरण)

मुपाडियों को कुतरने के कारण हिलनी हुई चौचो वाले चकोरो ! विरह से विधुर लोगों के जीवन की रक्षाहेतु अपनी गर्दनो को ऊपर उठाकर तारा

का सारा चन्द्रिका का जल पी जाओ जिससे यह शशाङ्क (चन्द्रमा) तेज से होन हो जाये (और विरहिणों को परेशान न करें) ॥

यहाँ पर केवल अन्त में 'दरिद्र' में द र् और द र् की बिना व्यवधान के आवृत्ति हुई है ।

बहुनां यथा —

सरलतरलतालासिका इति ॥ १२ ॥

(व्यवधान के अभाव में) बहुत (से वर्णों की पुन पुन आवृत्ति का उदाहरण) जैसे—(पूर्वोदाहृत स० २।२ 'भग्नंला ' आदि पद्य का निम्न अर्थ) सरलतरलतालासिका ॥ यह पद ॥ १२ ॥

(यहाँ समुदित 'र ल त' तीन व्यञ्जनो की बिना व्यवधान के एक बार आवृत्ति हुई है)

‘अपि-शब्दात् षवचित् व्यवधानेऽपि । द्वयोर्ध्या -

स्वस्थाः सन्तु वसन्त ते रतिपतेरप्रेसरा वासराः ॥ १३ ॥

('वचिदव्यवधानेऽपि' इत्यादि (२।३) बारिषा में) 'अपि' (भी) शब्द के (प्रयोग के) कारण वही वही व्यवधान होने पर भी यह वर्ण-विन्यासवक्रता होती है ऐसा अर्थ लिया जा सकता है । और इसीलिए व्यवधान होने पर भी इस वक्रता के उदाहरण दिये जा रहे हैं । उनमें से व्यवधान युक्त एक वर्ण की पुन पुन आवृत्ति का उदाहरण—'वाम वज्रल-वदिलोचनमुरो रोहद्विस्तारिस्तनम्' को ही लिया जा सकता है । यहाँ 'वदिलोचन' में व की व्यवधान से युक्त आवृत्ति है । अथवा 'विस्तारिस्तनम्' में स् की व्यवधान पूर्ण आवृत्ति है । इसका उदाहरण श्रमवार ने नहीं दिया । अतः उसे हमने यहाँ उदाहृत किया । अब व्यवधान होने पर) दो (वर्णों की पुन पुन आवृत्ति) का (उदाहरण) जैसे—

हे मधुमास ! रतिरमण (मदन) के आगे आगे चलने वाले (पुरोगामी) तुम्हारे दिवस सुखी रहे ॥ १३ ॥

टिप्पणी—यहाँ समुदित द र् की 'ते रतिपतेरप्रे' में तपा स् र् की 'अप्रेसरा वानराः' में क्रम से 'निष' एव 'वा' के व्यवधान से आवृत्ति हुई है । यद्यपि 'सन्तु वसन्त' में केवल 'न् त्' की व्यवधान पूर्ण आवृत्ति मानकर उसे इसका उदाहरण कहा जा सकता है । पर अधिक समीचीन यही होगा कि यहाँ 'स्,न् एव त्' तीनों की समुदित रूप में पुन आवृत्ति मान कर बहुत से वर्णों की व्यवधानयुक्त पुनरावृत्ति का उदाहरण माना जाय ।

बहूनां व्यवधानेऽपि यथा—

चकितचातकमेचकितवियति वर्पात्यये ॥ १४ ॥

(वर्णों का) व्यवधान होने पर भी बहुत (से वर्णों की पुनरावृत्ति) का (उदाहरण) जैसे—

वर्पा श्रुतु के व्यतीत हो जाने पर परेशान पपीहो से श्यामवर्ण आकाश में (यहाँ 'चकितचातकमेचकित' में 'चकित चकित' दो बार ॥ १४ ॥ समुदित रूप से च् एव त् की 'चाकत मे' के व्यवधान से आवृत्ति हुई है ।

सा स्वराणामसारण्यात् सेधमनन्तरोवता स्वराणामकारादीनाम-
सारण्यादसादृश्यात् बवचित्कस्मिंश्चिदावर्तमानसमुदायैकदेशे परा-
मन्यां वक्रतां कामपि पुष्पाति पुष्यतीत्यर्थः । यथा—

राजीवजीवितेश्वरे ॥ १५ ॥

वह अभी अभी वही गई (वर्णविष्पासवक्रता) अकारादि स्वरों के असारण्य अर्थात् असमान होने से वही वही अर्थात् किसी आवृत्ति होने वाले (वर्णो-द्यञ्जनों के) समुदाय के एक भाग में किसी (अपूर्व) दूसरी वक्रता का पोषण करती है । जैसे—

राजीवजीवितेश्वरे ॥ १५ ॥

(यहाँ पर ज् एवं व् वर्ण समुदाय की आवृत्ति हुई है जिनमें कि व् का स्वर दोनों में भिन्न है अर्थात् पहले व् के साथ स्वर 'अ' तथा दूसरे के साथ 'इ' का प्रयोग हुआ है । जिससे एक अपूर्व चमत्कार की सृष्टि होती है ।

यथा वा—

घूसरसरिति इति ॥ १६ ॥

अथवा जैसे—

घूसरसरिति ॥ यह पद ॥ १६ ॥

(यहाँ 'स् र्' वर्णों का समुदाय आवृत्त हुआ है जिनमें पहले र् के साथ स्वर 'अ' तथा दूसरे के साथ 'इ' प्रयुक्त है ।

यथा च—

स्वस्याः सन्तु वसन्त इति ॥ १७ ॥

और जैसे—

स्वस्याः सन्तु वसन्त ॥ इति १७ ॥

(यहाँ 'स् न् त्' वर्ण समुदाय दो बार आवृत्त हुआ है किन्तु प्रथम त् के साथ स्वर 'उ' तथा दूसरे के साथ 'अ' प्रयुक्त हुआ है ।)

यथा वा—

तालताली इति ॥ १८ ॥

अथवा जैसे—

तालताली यह ॥ १८ ॥

(यहाँ पर 'त् ल्' वर्ण समुदाय की दो बार आवृत्ति हुई पर पहले ल के साथ स्वर 'अ' प्रयुक्त है जब कि दूसरे के साथ 'ई' प्रयुक्त है । इस प्रकार स्वरो के अभावादि के चार उदाहरण दिए ।)

सौज्यमुभयप्रकारोऽपि वर्णविन्यासवक्रताविशिष्टवाक्यविन्यासो यमकाभासः सन्निवेशविशेषो मुक्ताकपापमध्यप्रोन्मगिमयपदकबन्ध-
बन्धुर' सुतरा सहृदयहृदयहारिणो प्रनिरश्नते । तदिदमुच्यते—

यह यह (अग्रवधानयुक्त वर्णों की आवृत्ति रूप तथा व्यवधानयुक्त वर्णों की आवृत्ति रूप) दोनों भेदों से युक्त, 'वर्णविन्यासवक्रता से' विशिष्ट वाक्य सङ्घटना वाला, यमक के समान (पदों का) विशेष प्रकार का सन्निवेश (पदसङ्घटना विशेष) मोतियों के हार के मध्य में अनुस्यूत किए गए मणिनिर्मित पदकों की रचना के समान रमणीय (होकर) अत्यन्त ही सहृदयहृदयावर्जक हो जाता है । इसी बात को (प्रथम उन्मेष की ३५ वीं कारिका में) कहा जा चुका है कि—

अलङ्कारस्य कवयो यत्रालङ्कारगान्तरम् ।

असन्तुष्टा निबध्नन्ति हारादेर्नगिबन्धयत् ॥ १९ ॥ इति ।

जहाँ (निम्न मार्ग में) कविजन (प्रयुक्त एक अलङ्कार से) असन्तुष्ट होकर हारादि के मणिबन्ध के समान एक अलङ्कार के लिए दूसरे अलङ्कार का प्रयोग करते हैं (उसे विचित्र मार्ग कहते हैं) ॥ १९ ॥

एतामेव विविधप्रकारां वक्रतां विशिनष्टि, पदेऽविवक्ष्यप्रमाण-
विशेषणविशिष्टा विधातव्येति—

(अब) अनेक भेदों वाली इसी (वर्णविन्यासवक्रता) को विशेषतायें बताते हैं कि (यह वक्रता) कही जाने वाली इस प्रकार की विशेषताओं से सन्नविध रूप में प्रतिपादन की जानी चाहिए—

नातिनिर्वन्धविहिता नाप्यपेशलभूषिता ।

पूर्वावृत्तपरित्यागनूतनावर्तनोज्ज्वला ॥ ४ ॥

न तो अत्यन्त हठपूर्वक विरचित और न ही कठोर (वर्णों) से अलंकृत (वर्णविन्यास का वैचित्र्य होना चाहिए अपितु) पहले (बार-बार) आवृत्त किए गये (वर्णों) के परित्याग एवं नवीन वर्णों की आवृत्ति से सुशोभित होने वाली (वर्णविन्यास की वक्रता प्रतिपादित करनी चाहिए) ॥४॥

नातिनिर्वन्धविहिता—'निर्वन्ध' शब्दोऽत्र व्यसनितायां वर्तते । तेनातिनिर्वन्धेन पुनः पुनरावर्तनव्यसनिताया न विहिता, अप्रयत्न-विरचितेत्यर्थः । व्यसनिताया प्रयत्नविरचने हि प्रस्तुतौचित्यपरिहाणे-वाच्यवाचकयोः परस्परस्पर्धित्वसंक्षणसाहित्यविरहः पर्यवस्यति । यथा—

'अत्यधिक निर्वन्ध के साथ चिह्न नहीं'—यह निर्वन्ध शब्द 'व्यसनिता' (अर्थ) के प्रयुक्त हुआ है । इत्यर्थे अत्यधिक निर्वन्ध अर्थात् बार बार (वर्णों) की आवृत्ति कराने की व्यसनिता से न रची गई अर्थात् बिना (किमी) प्रयास से (स्वभावतः) विरचित होनी चाहिए । क्योंकि व्यसन हो जाने के कारण प्रयत्नपूर्वक रचना करने पर प्रकरण के जीवित की क्षति होने से वाच्य तथा वाचक (शब्द और अर्थ) में परस्पर स्पर्धा से युक्त रूप साहित्य (सहभाव) का निर्वन्ध हो जाता है । जैसे—

भग्न तरुणि इति ॥ २० ॥

नाप्यपेशलभूषिता न चाप्यपेशलैरसुकुमारैरक्षरैरलङ्किता । यथा शीर्णघ्राणाद्भि इति ॥ २१ ॥

(उदाहरण सध्या १।९ पर पूर्वोद्धृत) भग्न तरुणि ॥ २० ॥ यह [श्लोक] । [यहां पर कवि केवल अनुप्रास अथवा वर्णों की पुनः पुनः आवृत्ति कराने के व्यसन के कारण केवल वर्णों के मयज होने के ही सोन्दर्य को प्रस्तुत कर सका है । लेकिन अर्थ का वैचित्र्य तबिक भी नहीं । इसका अर्थ एवं व्याख्या वही देखें] ।

तथा (वर्णविन्यासवक्रता) अपेशल अर्थात् कठोर वर्णों (की पुनः पुनः आवृत्ति) से अलंकृत भी न होनी चाहिए । जैसे—

शीर्णघ्राणाद्भि ॥ २१ ॥ इत्यादि श्लोक ।

टिप्पणी—यह श्लोक मयूरशतक का ६ वां श्लोक है । पूरा इस प्रकार है—

शीर्णघ्राणाद्भिद्रपाणीन् द्रणिभिरपभनैर्घर्षेराध्वक्तमोषान्
दीर्घाघ्रातानभीषं पुनरपि घटयत्येव उल्काधयन् प ।
धर्मांमोन्तन्म्य वोन्तद्भिगुणधनधृणानिध्ननिविध्नवृत्ते-
दन्तार्था निद्वसह्वैविदघृत घृणयः शीघ्रमहोविधातम् ॥

यहाँ पर कवि सूर्य की किरणों से पाप नष्ट करने की बात कह रहा है।
तेजिन इसमें प, ण, घ, ध, धन, आदि ऐसे ध्रुतिबहु वर्णों की पुनः पुनः
आवृत्ति बराई है जिससे सुनने वाले के कान छलनी हो जाते हैं और किसी
भी प्रकार का आनन्द नहीं प्राप्त होता। अतः ऐसी भी 'वर्णविन्यासवक्रता'
बेकार होती है।

तदेवं कीदृशी तर्हि कर्तव्येत्याह—पूर्वावृत्तपरित्यागनूतनावर्तनो-
ज्ज्वला पूर्वमावृत्तानां पुनः पुनरविरचितानां परित्यागेन प्रहाणेन
नूतनानामभिनवानां वर्णानामावर्तनेन पुनः पुनः परिग्रहेण च तदेवमु-
भाभ्यां प्रकारान्म्यामुज्ज्वला भ्राजिष्णुः । यथा —

तो फिर [वह वर्णविन्यासवक्रता] कैसी करनी चाहिए इसे बनाने है—
पूर्वावृत्त के परित्याग तथा नवीन आवृत्ति से उज्ज्वल। पहले आवृत्त किए
गये अर्थात् बार-बार विरचित [वर्णों] के परित्याग अर्थात् [उनको पुनः
पुनः आवृत्ति छोड़कर]।

नये नये अभिनव वर्णों की आवृत्ति के द्वारा अर्थात् पुनः पुनः (नये
वर्णों के) ग्रहण के द्वारा, इस प्रकार दोनों ढङ्गों से उज्ज्वल अर्थात् सुशोभित
होने वाली (वर्णविन्यासवक्रता प्रतिपादित करनी चाहिए)। जैसे—

एतां पश्य पुरस्तटीमिह किल शोडाकिरातो हरः

कोदण्डेन किरोटिना सरभसं चूडान्तरे ताडितः ।

इत्याकर्ण्य कथाद्भुतं हिमनिधावद्वौ सुभद्रापते-

र्भन्दं मन्दमकारि येन निजयोर्दोदण्डयोर्मण्डनम् ॥२२॥

इस सामने की स्थली को तो देखो, यही पर अर्जुन ने घनुष के द्वारा
गीला से किरात बने हुए शङ्कर के सिर के बीच तेजी के साथ चोट पहुँचाई थी।
हिमालय पर इस प्रकार की सुभद्रा के प्रति अर्जुन की अद्भुत कथा सुनकर
जिन (महादेव) ने अपनी दोनों सुजाओ को धीरे धीरे मण्डलाकार करके
सहस्रपा (वे सर्वातिशायी हैं) ॥ २२ ॥

टिप्पणी — इस श्लोक में कवि ने पहले प की फिर क एव ड की आवृत्ति
कर उसे छोड़ तीसरे चरण से द, र, म, ण्ड आदि को नवीन रूप से आवृत्ति

कराई है। इस प्रकार यहां किसी भी वर्ण की पुनः पुनः आवृत्ति कराने की कवि की व्यसनिता नहीं प्रतीत होती है। तथा बराबर नये नये वर्णों की आवृत्ति होने से एक अपूर्व चमत्कार की सृष्टि होती जाती है।

यथा वा—

हंसानां निनदेषु इति ॥ २३ ॥

अथवा जैसे—

(उदाहरण सख्या १।७३ पर पूर्वोदाहृत) हंसाना निनदेषु इत्यादि ॥ २३ ॥ यह श्लोक ॥

(इस श्लोक को तथा इसके अर्थ को वही देखें। इसमें कवि ने पहले न की आवृत्ति कराकर 'क' एवं 'त' की, फिर 'ठ' एवं 'घ' की, उसके बाद 'म्' 'क्' एवं 'न' तथा 'प्र' की आवृत्ति कराई, जिसमें उत्तरोत्तर नवीनता विकसित होकर सहृदयहृदयहारिणी बन गई है।)

यथा च—

एतन्मन्दविषक्व इत्यादौ ॥ २४ ॥

और जैसे—

(उदाहरण सख्या १।१०७ पर पूर्वोद्धृत) एतन्मन्दविषक्व इत्यादि मे ॥ २४ ॥

(इसका अर्थ एवं पूरा श्लोक वही देखें, साथ ही उक्तोदाहरण की भांति लक्षण घटित कर लें।)

यथा वा—

णामह दसानणसरहसकरतलिग्रबलन्तसेलभग्रविहलं ।

वेवंतयोरयणहरहरकग्रकंठगहं गोरी ॥ २५ ॥

(नमत दशाननसरभसकरतुलितबलच्छैलभयविह्वलाम् ।

वेपमानस्थूलस्तनभरहरकृतकण्ठग्रहा गोरीम् ॥)

अथवा जैसे

रावण द्वारा वेग से बांहों में उठा लिए गए हिलते हुए कैलाश पर्वत के मध्य से व्याकुल और कांपते हुए भारी वक्ष स्थल के आतिशय के कारण शकर जी के द्वारा डाली गई गन्धवाही वाली की प्रणाम कीजिए ॥ २५ ॥

(यहां भी पहले ण, स, तथा ल की आवृत्ति कराकर फिर व, ह, र एवं ग आदि की आवृत्ति कराई गई है।)

एवमेता वर्णविन्यासवक्रतां व्याख्याय तामेवोपसंहरति—

वर्णच्छायांनुसारेण गुणमार्गानुवर्तिनी ।

वृत्तिवैचित्र्ययुक्तेति सैव प्रोक्ता चिरन्तनैः ॥ ५ ॥

इतः प्रकार इतः (वर्णविन्यासवक्रता) की व्याख्या करने के अनन्तर (अब) उनी का उपसंहार करते हैं—

(अक्षरों की (श्रव्यत्वादिगुणतत्त्वपति रूप) शोभा के अनुसार (माधुर्यादि) गुणों एव (सुकुमारदि) मार्गों का अनुवर्तन करने वाली उसी (वर्णविन्यासवक्रता) की चिरन्तनी (उद्भट आदि आचार्यों) ने (उपनागरिका आदि) वृत्तियों के विविधभावसे समन्वित बताया है ॥ ५ ॥

वर्णनामभराणां या छाया कान्तिः श्रव्यतादिगुणतत्त्वस्य हेतु-
भूतया यदनुसरणमनुसारः प्राप्यस्वरूपानुप्रवेशस्तेन । गुणान् मानुर्या-
दीन् मार्गाश्च सुकुमारप्रभूतीननुवर्तते या सा तथोक्ता । तत्र गुण-
नामांतरतन्मातृ प्रथममुपनयनम्, गुणद्वारेणैव मार्गानुसरणोपपत्तेः
तदयमप्रार्थः—यद्यप्येवा वर्णविन्यासवक्रता व्यञ्जनच्छायानुसारेणैव,
तथापि प्रतिनियतगुणविशिष्टानां मार्गानामनुवर्तनद्वारेण यया
स्वरूपानुप्रवेशं विदगति तया विनाशयेति । तत एव च तस्यास्तमि
बन्धनाः प्रवितताः प्रकाराः समुत्पन्नसन्ति । चिरन्तनैः पुनः सैव
स्वातन्त्र्येण वृत्तिवैचित्र्ययुक्तेति प्रोक्ता । वृत्तिनामुपनागरिकादीनां
यद् वैचित्र्यं विविधभावः स्वनिष्ठतन्माभेदभिन्नत्वं तेन युक्ता
समन्वितेति चिरन्तनैः पूर्वसूरिभिरभिहता । तदिदमत्र तात्पर्यम्—
यदस्याः सकलगुणस्वरूपानुसरणसमन्वयेन सुकुमारादिमार्गानुवर्तना-
यत्तद्वृत्तेः पारतन्त्र्यमपरिगणितप्रकारत्वं चैतदुभयमप्यवश्यंभावि
तस्मादपारतन्त्र्यं परिमितप्रकारत्वं चेति नाविद्यतुरस्त्रम् ।

वर्णों अर्थात् अक्षरों की जो छाया अर्थात् श्रव्यत्व आदि गुणों की
सम्पत्ति रूप कान्ति है, कारणभूत उस (कान्ति) के द्वारा जो अनुसरण
अर्थात् अनुगम है । प्राप्त करने योग्य स्वरूप में प्रवेश, उसके द्वारा गुणों
अर्थात् माधुर्यादि का तथा मार्गों अर्थात् सुकुमार आदि का जो अनुसरण
करती है वह हुई योक्ता (गुणों एव मार्गों के अनुसरण करने वाली) ।
इस कारिका में जो गुण शब्द का प्रयोग रहने तथा मार्गों का वाद में
किया गया है उसका कारण यही है कि (गुणों के अस्तित्व निष्ठ यात्रे होने
के कारण उनका पहले ग्रहण किया गया है । (तथा मार्गों का वाद में
वशोक्ति) गुणों के माध्यम से ही मार्गों का अनुवर्तन युक्तियुक्त होता है ।

अतः इसका अभिप्राय यह हुआ कि—प्रद्यपि यह वर्णविन्यासवक्रता व्यञ्जनो की ही कान्ति के अनुगमन से आती है फिर भी हर एक के निश्चित गुणविशेष वाले मार्गों के अनुवर्तन के द्वारा ही इस तरह प्रस्तुत की जानी चाहिए जिससे कि उसके वास्तविक रूप का सन्निवेश हो जाय । इसी कारण से उसके उसी आधार पर प्रख्यात भेद प्रकाशित किये जाते हैं । प्राचीन आचार्यों ने उसी को आनी इच्छा से वृत्तियों की विचित्रता से सवलित करके प्रस्तुत किया है । उपनागरिका आदि वृत्तियों का जो वैचित्र्य है अर्थात् अद्भुत स्वरूप वाली अपने में निहित नियतता के भेद के कारण विभिन्नता है उससे युक्त या सवलित मान कर ही उसे पुराने काव्य-शास्त्र के विद्वानों ने मान रखा है । तो यहाँ तात्पर्य यह है कि—सुकुमार आदि मार्गों का अनुवर्तन करने के अव्यधान वृत्ति वाली इस (वर्णविन्यासवक्रता) का सारे गुणों के स्वरूप के अनुसरण का समन्वय करने के कारण परतन्त्र होना और असह्य प्रकार की होना दोनों ही अवश्यम्भावी है, इस तरह परतन्त्रता का अभाव और असीमप्रकारता का अभाव मानना बहुत समीचीन नहीं प्रतीत होता ।

ननु च प्रथममेको द्वावित्यादिना प्रकारेण परिमितान् प्रकारान् स्वतन्त्रत्वं च स्वयमेव व्याख्याय किमेतदुच्यते चेन्नैव दोषः, यस्मात्लक्षणकारैर्यस्य कस्यचित्पदार्थस्य समुदायपरायत्तवृत्तेः परव्युत्पत्तये प्रथममपोद्धारबुद्ध्या स्वतन्त्रतया स्वरूपमुल्लिख्यते, ततः समुदायान्तर्भावो भविष्यतीत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

शङ्का उठाई जा सकती है कि पहले एक, दो इत्यादि प्रकार से सीमित भेदों को और स्वातन्त्र्य को स्वयं ही स्पष्ट करके फिर यह क्यों कहते हो (कि परतन्त्रता और असीम प्रकारता का अभाव मानना समीचीन नहीं) । वस्तुतः यह दोष नहीं है क्योंकि लक्षणकार किसी भी पदार्थ की हमारे को व्युत्पत्ति कराने के लिए उसके समुदाय-परतन्त्र होने पर भी पहले अपोद्धार की दृष्टि से स्वतन्त्र ढङ्ग से ही उसका स्वरूप लिखते हैं फिर तो उसका समुदाय में अन्तर्भाव हो जायगा ही, इसलिए ज्यादा विस्तार से कहने की अपेक्षा नहीं ।

येयं वर्णविन्यासवक्रता नाम चाचकालकृतिः स्थाननियमानावात सकलवाक्यस्य विषयत्वेन समानाता, सर्व प्रकारान्तरविशिष्टा नियत-स्थानतयोपनिबध्यमाना किमपि वैचित्र्यान्तरमाबध्नातीत्याह—

यह जो 'वर्णविन्यासवक्रता' नामक शब्दालङ्कार (यहाँ-यहाँ वर्णों की आवृत्ति होनी चाहिए ऐसे) स्थानों के निर्धारित न होने के कारण, सम्पूर्ण

वाक्य के (हो) विषय रूप में स्वीकार किया गया है, वही (वर्णविन्यास-
वक्रता अलङ्कार) निर्योक्त स्थानों से युक्त रूप में उपनिबद्ध होने पर, अन्य
(यमक रूप) भेद से युक्त होकर किसी (अपूर्व) दूसरे ही वैचित्र्य की
सृष्टि करता है, इसे बताने हैं—

समानवर्णनन्यार्थे प्रसादि ध्रुतिपेशलम् ।

औचित्ययुक्तमाद्यादिनियतस्थानशोभि यत् ॥ ६ ॥

भिन्न अर्थ बाने समान वर्णों में युक्त, (शीघ्र ही वाक्यार्थ के मनपंक्त)
प्रसाद (गुण से समन्वित सुनने में स्मणीय, औचित्यपूर्ण वं (वाक्य के)
आदि (मध्य एव अन्त) इत्यादि नियत स्थानों पर सुशोभित होने वाला
जो—॥ ६ ॥

यमकं नाम कोऽप्यस्याः प्रकारः परिदृश्यते ।

स तु शोभान्तराभावादिह नाति प्रतन्यते ॥ ७ ॥

यमक नाम का कोई (अपूर्व ही) इस (वर्णविन्यासवक्रता) का
(एक) भेद दिखाई पड़ता है । (उसमें स्थान नियम के अनिरिक्त, अभी
कही गई वर्णविन्यासवक्रता से भिन्न किसी) दूसरी शोभा का अभाव होने के
कारण, उनका वही अधिक विस्तार नहीं किया जाता है ॥ ७ ॥

कोऽप्यस्याः प्रकारः परिदृश्यते, अस्याः पूर्वोक्तायाः, कोऽप्यपूर्वः
प्रभेदो विभाव्यते । कोऽसावित्याह—यमकं नाम । यमकमिति
यस्य प्रतिष्ठिः । तच्च कोदृशम्—तानानवर्णम् । तानाना. स्वल्पाः
सदृशध्रुतयो वर्णा यस्मिन् तत्तरोक्तम् । एवमेकस्य द्वयोर्वहनां सदृश-
ध्रुतौना व्यवहितमध्यवहितं वा यदुपनिबध्यं तदेव यमकमि-युच्यते ।
तदेवमेकलपे संस्थानद्वये सत्यपि-अन्याथे भिन्नाभिरेवम् । अत्यच्च
कोदृशम्-प्रसादि प्रसादगुणयुक्तं सगिति वाक्यसमर्थकम्, अरुदर्थता-
बोधयमिति यावत् । ध्रुतिपेशलमित्येवमेव विशिष्यते-ध्रुति. श्रवणे-
न्द्रियं तत्र पेशलं रञ्जकम्, अकठोरशब्दविरचितम् । कोदृशम्—
श्रीदित्युपेतम् । औचित्यं वस्तुन स्वभाजोक्तवत्त्वेन युक्तं मनस्विनम् ।
यत्र यमकोपनिबध्यनन्यसन्निवेशा औचित्यमररिस्थानमित्यर्थः । तदेव
विशेषणान्तरेण विशिनष्टि—माद्यादिनियतस्थानशोभि यत् । आदि-
रादिपैवां ते तथोक्ताः प्रथममध्यान्तस्तानाद्येऽनियतानि स्थानानि
विशिष्टाः संनिवेशास्तं. शोभते भ्राजते यत्तथोक्तम् । अथाद्यादयः
संनिधिशब्दाः पदादिभिर्विशोणोपाः । स तु प्रकारः प्रोक्तवन्तः ।

संपदुपेतोऽपि भवन् इह नाहि प्रतन्यते ग्रन्थेऽस्मिन्नाति विस्तार्यते ।
कुतः—शोभान्तराभावात् । स्यान्नियमव्यतिरिक्तस्यान्यस्य शोभान्त-
रस्य छायाऽन्तरस्यासंभवादित्यर्थः । अस्य च वर्णविन्यासवैचित्र्य-
व्यतिरेकेणात्यधिकचिदपि जीवितान्तरं न परिदृश्यते । तेनानन्तरोक्ता-
संकृतिप्रकारतैव युवता । उदाहरणान्यत्र शिशुपालवधे चतुर्थे सर्गे
समर्पकाणि कानिचिदेव यमकानि, रघुवंशे वा वसन्तवर्णने ।

कोई इसका भेद दिखाई पड़ता है, इस पूर्वोक्त (वर्णविन्यासवक्रता)
का कोई अपूर्व भेद दृष्टिगोचर होता है । कौन है यह (भेद) इसे बताते
हैं—यमक नाम का । जिसकी (साहित्य में) यमक नाम से व्याप्ति है । और
वह है क्या—समान वर्णों से युक्त । समान स्वरूप वाले अर्थात् एक ही तरह
सुने जाने वाले वर्ण (अक्षर) हैं जिसमें वह हुआ तथोक्त (समान वर्णों-
वाला) । इस प्रकार समान रूप से सुनाई पड़ने वाले एक, दो अथवा बहुत
से (वर्णों) का जो व्यवधानयुक्त अथवा व्यवधानरहित विन्यास है वही
यमक कहा जाता है । इस प्रकार समान रूप वाली (वर्णों की) दो राशियों
(अथवा रचनाओं) के होने पर भी—अन्य अर्थों से युक्त अर्थात् भिन्न-भिन्न
अर्थों वाली (समान रूप वर्णों की राशियाँ जहाँ होती हैं) जोर किस प्रकार
का (वर्ण मनुष्य)—समादि अर्थात् औघ्र ही वाक्यार्थ या सम्पंक, प्रमाद
गुण में युक्त, बिना किसी क्लेश के समझ में आ जाने वाला । और इसी को
विशिष्ट करने हैं कि श्रुतिपेशल हो अर्थात् श्रवणेन्द्रिय (बानी) के न्यि-
रमणीय हो, सुकुमार पदों से विरचित हो (और) किस प्रकार का—
औचित्यपूर्ण । औचित्य अर्थात् पदार्थ के स्वरूप की जो महिमा उससे युक्त
अर्थ भलीभाँति सञ्ज्ञत हो । तात्पर्य यह कि जहाँ यमक के प्रयोग की वस-
तिता से भी औचित्य की क्षति न होती हो । उसी को हमारे विशेषण के द्वारा
विशिष्ट करते हैं—आदि इत्यादि नियत स्थानों से सुशोभित होने वाला ।
आदि है आदि में जिनके वे हुए तथोक्त (आद्यादि) अर्थात् प्रथम,
मध्यम और अन्त, वे ही निर्धारित स्थान अर्थात् विशिष्ट विन्यास उनके
द्वारा सुशोभित होता है जो ऐसा तथोक्त (आदि, मध्य एवं अन्त इत्यादि
निश्चित स्थानों से शोभित होने वाला) । यहाँ आदि इत्यादि शब्द
सम्बन्ध वाचक शब्द हैं । उनको पद आदि में विशिष्ट कर लेना चाहिए
(अर्थात् पदादि के आदि, मध्य अथवा अन्त में निश्चित स्थानों पर सुशोभित
होने वाला) लेकिन वह (यमक रूप) (वर्णविन्यासवक्रता का) भेद
उक्त प्रकार की सम्पत्ति में युक्त होने पर भी (अर्थात् सुनने में मनोहर प्रमाद
गुणयुक्त, औचित्यपूर्ण इत्यादि लक्षणों वाला होने हुए भी) यहाँ इस

वक्रोक्ति जीवित नामक) ग्रन्थ में अधिक विस्तार से (प्रतिपादित) नहीं किया जाता । किन्तु कारण से—दूसरी शोभा के अभाव के कारण म्यान के निर्धारण से निम्न (किसी) दूसरी शोभा अथवा सौन्दर्य के असम्भव होने से । साथ ही इसका वर्णविग्रह को ही विविधता को छोड़कर कोई दूसरा जीवित (भूत तत्त्व) नहीं दिखाई पड़ता । इसलिये (इस यमक अलङ्कार को) अभी बड़े श्रेष्ठ (वर्णविग्रहासवक्रता रूप) अलङ्कार या एक प्रकार ही स्वीकार करना सङ्गत है । इसके उदाहरण रूप में शिशुपालवध चतुर्थ सर्ग के कुछ ही वाक्यार्थ को शीघ्र बोधित करा देने वाले यमक ग्रहण किये जा सकते हैं अथवा रघुवश (महाकाव्य) के वसन्त वर्णन में (प्रसुक्त यमक) ।

टिप्पणी - ग्रन्थकार ने 'यमक' के उदाहरण के लिये रघुवश के वसन्त वर्णन को उद्धृत किया है । कालिदास ने वैसे तो नवम सर्ग के प्रारम्भ से लेकर ५४ वे श्लोक तक निरन्तर यमक का प्रयोग किया है । पर वसन्त श्रुति का वर्णन २९ वे श्लोक से लेकर ४७ वे श्लोक तक है अतः उसी में से उदाहरणार्थ एक श्लोक यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

नुनुमनेन न वेवलमार्तय नवम्भोरतरो स्मरदीपनम् ।

किरात्पद्मनवोऽपि विजानिता मरुविता इविताश्रयणापित ॥

रघुवश, १।२२=

तथा शिशुपालवध के चतुर्थ सर्ग के कुछ यमको को इन्होंने उदाहरण रूप में स्वीकार किया है । यद्यपि वहाँ प्रचुर मात्रा में यमको का प्रयोग हुआ है किन्तु कहीं-कहीं वह प्रतापगुणयुक्त एवं श्रुतिपेशाल नहीं है । अतः यहाँ एक ऐसा उदाहरण दिया जा रहा है जो उक्त समस्त विशेषताओं से युक्त-प्राय है । रविवर पर्वत का वर्णन करते हुए कृष्ण का सारथि दारक कृष्ण से कहता है—

बहति य परितः ननवस्थली महरिता लसमाननवाशुक ।

अचल एष भवानिदं राजते स हरितालनमानवाशुक ॥

शि. पा. व. ४।२९

एवं पदावयवानां वर्णानां विन्यासवक्रभावे विचारिते वर्णसमुदायात्मकस्य पदस्य च वक्रभावविचार प्राप्तावसरः । तत्र पदपूर्वार्धस्य तावद्वक्रताप्रकारं कियन्तः संभवन्तीति प्रथमते—

इस प्रकार पदों के अवयवभूत वर्णों के विन्यास की वक्रता का विचार कर लेने के अनन्तर वर्णों के समूह रूप पद की वक्रता का विचार करना लाज्यावसर हो जाता है । उसमें पहले पद के पूर्वार्ध की वक्रता के कितने भेद सम्भव हो सकते हैं इसका (विचार) आरम्भ करना है—

यत्र रुढेरसंभाव्यधर्माध्यारोपगर्भता ।

सद्वर्मातिशयारोपगर्भत्वं वा प्रतीयते ॥ ८ ॥

लोकोत्तरतिरस्कारश्लाघ्योत्कर्षाभिधित्तया ।

वाच्यस्य सोच्यते कापि रुढिवैचित्र्यवक्रता ॥ ९ ॥

जहाँ पर वाच्य-अर्थ के सर्वातिशायी तिरस्कार अथवा प्रशंसनीय उत्कर्ष की बताने की इच्छा से, रुढि के द्वारा सम्भव न हो सकने वाले अध्यारोप के अभिप्राय का भाव, अथवा पदार्थ के किसी विद्यमान धर्म के अतिशय को प्रतिपादित करने के अभिप्राय का भाव प्रतीत होता है वह कोई अलौकिक रुढि शब्द के वैचित्र्य का वक्रभाव (रुढिवैचित्र्यवक्रता) होता है ॥ ८-९ ॥

यत्र रुढेरसंभाव्यधर्माध्यारोपगर्भता प्रतीयते । शब्दस्य नियत-वृत्तिता नाम धर्मो रुढिरुच्यते, रोहणं रुढिरिति कृत्वा । सा च द्विप्रकारा संभवति—नियतसामान्यवृत्तिता नियतविशेषवृत्तिता । तेन रुढिशब्देनात्र रुढिप्रधान शब्दोऽभिधीयते, धर्मधामिणोरभेदो-पचारदर्शनात् । यत्र यस्मिन् विषये रुढिशब्दस्य असंभाव्य संभावयितुमशक्यो यो धर्मः कश्चित्परिस्पन्दस्तस्याध्यारोपः समर्पणं गर्भोऽभिप्रायो यस्य स तथोक्तस्तस्य भावस्तत्ता सा प्रतीयते प्रतिपद्यते । यत्रति संबन्धः । सद्वर्मातिशयारोपगर्भत्वं वा । संश्र्वाप्तौ धर्मश्च सद्वर्मं विद्यमानः पदार्थस्य परिस्पन्दस्तस्मिन् यस्य कस्यचिदपूर्वस्या-तिशयस्याद्भुतरूपस्य माहिम्न आरोपः समर्पणं गर्भोऽभिप्रायो यस्य स तथोक्तस्तस्य भावस्तत्त्वम् । तच्च वा यस्मिन् प्रतीयते । केन हेतुना-लोकोत्तरतिरस्कारश्लाघ्योत्कर्षाभिधित्तया । लोकोत्तर सर्वाति-शायी यस्तिरस्कारः खलोकरणं श्लाघ्यश्च स्पृहणीयो य उत्कर्षः सर्वातिशयत्वं तयोरभिधित्ता अभिधानुमिच्छा वक्तुकामता तया । कस्य वाच्यस्य । रुढिशब्दस्य वाच्यो योऽभिधेयोऽर्थस्तस्य । सोच्यते कथ्यते काप्यलौकिको रुढिवैचित्र्यवक्रता । रुढिशब्दस्यैवविधेन वैचि-त्र्येण विचित्रभावेन वक्रता वक्रभावः । तद्विदमत्र तात्पर्यम्—यत्सामान्य-मात्रसंस्पर्शितां शब्दानामनुमानधनियतविशेषालिङ्गनं यद्यपि स्वभावा-देव न किंचिदपि संभवति, तथाप्यनया युक्त्या कविविवक्षितनियत-विशेषनिष्ठतां नीयमानाः—कामपि चमत्कारकारिता प्रतिपद्यन्ते । यथा—

जहाँ रुढ़ि के द्वारा सम्भव न हो सकने वाले धर्म के अध्यारोप की गर्भता प्रतीत होती है (उसे रुढ़िवैचित्र्यवक्रता कहते हैं) । रोहण और रुढ़ि पर्याय हैं ऐसा मानकर शब्द का वह धर्म जिसमें कि उसका व्यापार (प्रयोगक्षेत्र) निश्चय होता है रुढ़ि कहा जाता है । वह निश्चयवृत्ति दो प्रकार की होती है—सामान्यवृत्ति का नियत होना याने नियतसामान्यवृत्तिता और विशेष वृत्ति का नियत होना अर्थात् नियतविशेषवृत्तिता । अतः रुढ़ि शब्द के द्वारा रुढ़िप्रधान शब्द का ग्रहण होता है क्योंकि धर्म और धर्मों के बीच लक्षणा से अभेद करने का व्यवहार प्रायः दिखाई देता है ।

जहाँ अर्थात् जिस विषय में रुढ़ि शब्द का असम्भाव्य अर्थात् (रुढ़ि शब्द के द्वारा) सम्भव न कराया जा सकने वाला जो धर्म अर्थात् कोई स्वभाव उसका अध्यारोप अर्थात् प्रतीति कराना है गर्भ अर्थात् अभिप्राय जिसका वह हुआ तथोक्त (असम्भाव्य धर्म के अध्यारोप का गर्भ) उसका भाव हुआ (असम्भाव्य धर्म के अध्यारोप की गर्भता अर्थात् रुढ़ि शब्द के द्वारा सम्भव न कराये जा सकने वाले पदार्थ के धर्म विशेष की प्रतीति कराने वाले अभिप्राय से युक्त) यह जहाँ प्रतीत अर्थात् प्रतिपादित होती है । अथवा (जहाँ) विद्यमान धर्म के अतिशय के आरोप को गर्भता प्रतीत होती है वहाँ भी रुढ़िवैचित्र्यवक्रता होती है ।

यन् से सम्बन्ध का ग्रहण किया जायगा । अथवा जहाँ पर वर्तमान धर्म के आतिशय के आरोप का कुक्षीकार प्रतीत होता है । जो सत् और धर्म दोनों हो उसे मद्‌धर्म कहते हैं अर्थात् उसमें विद्यमान पदार्थ का स्वभाव, उसमें जिस किसी अभूतपूर्व आतिशय का अर्थात् विस्मयकारी स्वरूप के महत्त्व का आरोप या समर्पण ही कुक्षीकृत या अभीष्ट होकर आता है उस तरह से कहे हुए उसके भाव को वह संज्ञा दी जायगी । अथवा वह जिसमें प्रतीत होता है (वहाँ रुढ़िवैचित्र्यवक्रता होती है) अब प्रश्न उठता है कि किस कारणवश—जो यहाँ पर असामान्य तिरस्कार और घाञ्छनीय उत्कर्ष का प्रतिपादन करने की इच्छा से (ऐसा किया जाता है) । लोकोत्तर अर्थात् सबसे अधिक जो तिरस्कार याने अपमानित करना है (उसे) और जो प्रशसनीय या घाञ्छनीय उत्कर्ष यानी व्यविरेक है उन दोनों को कहने की या व्यवन करने की इच्छा अर्थात् बताने की अभिलाषा के कारण (ऐसा किया जाता है) । यह अभिधित्ता किसकी होती है ?—वाच्य की । रुढ़िशब्द का वाच्य अर्थात् जो अभिधा के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ है (उसकी) । तो वह कोई लोकोत्तर (वस्तु) रुढ़िवैचित्र्यवक्रता के नाम से कही जाती है । रुढ़ि शब्द की इस

तरह की विविधता अर्थात् विचित्र होने के नाते आने वाली वक्रता याने वाक्यपन को यह सजा देते हैं। इस तरह इसका यह आशय है—जो केवल साधारण तत्त्व का ही परामर्श करने वाले शब्द हैं उनका अनुमान की तरह एक नियतवैशिष्ट्य का ग्रहण करना यद्यपि स्वभावतः तनिक भी सम्भव नहीं है फिर भी इस तर्क से उन शब्दों को कवि के द्वारा आकृत एक नियत वैशिष्ट्य में निहित कर दिये जाने पर (उनमें) एक लोकोत्तर चमत्कार उ-पन्न करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। जैसे—

ताता जाग्रति गुणा जाला दे सहिग्रएहि घेर्षन्ति ।

रदकिरणानुगृहीताइ हौति कमलाइ जमलाइ ॥ २६ ॥

(तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते ।

रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि ॥)

गुण तभी गुण होते हैं जब काव्य-नर्मज्ञ सहृदय उनको ग्रहण करते हैं अर्थात् सहृदय उनका आदर करते हैं (जैसे कि) सूर्य को किरणों से अनुगृहीत अर्थात् उनके कृपाभाजन कमल ही वस्तुतः कमल होते हैं ॥ २६ ॥

प्रतीयते इति क्रियापदवैचित्र्यस्यापमाभिम्रायो यदेवंविधे विषये शब्दानां वाचकत्वेन न व्यापारः, अपि तु वस्त्वन्तरवत्प्रतीतिकारित्व-मात्रेणेति युक्तिपूर्वकमप्येतदिह नाति प्रच्यते । यस्माद् ध्वनिकारेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽत्र सुतरा समर्थितस्तत् किं पीनद्वयेन ।

कारिका में प्रयुक्त 'प्रतीयते' इव क्रियापद की विविधता का आशय यह है कि इस प्रकार के विषय में शब्दों का वाचक रूप से (ही) व्यापार नहीं होता है अर्थात् उस अर्थ को प्रकट करने में शब्द की अभिव्यक्ति शक्ति असमर्थ होती है, अपितु दूसरी वस्तु की सी अर्थात् कविविवक्षितनियतविशेष की प्रतीति कराने के द्वारा ही उनका व्यापार प्रवृत्त होता है यहाँ पर इसके युक्तियुक्त होते हुए भी इसे हम विस्तार नहीं दे रहे हैं क्योंकि ध्वनिकार ने ऐसे स्थलों पर व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव का भली भाँति समर्थन कर रखा है तो उसको दुहराने से क्या लाभ ।

सा च रुढिवैचित्र्यवक्रता मुख्यतया द्विप्रकारा संभवति—यत्र रुढिवाच्योऽर्थः स्वयमेव आत्मन्युक्तवै निरुक्तवै वा समारोपयितुकामः कश्चिनोपनिबध्यते, तस्यान्यो वा कश्चिद्वक्तेति । यथा—

तथा वह 'रुढिवैचित्र्यवक्रता' प्रधान ढंग से दो तरह की सम्भव होती है—(१) जहाँ कवि, रुढि (प्रधान शब्द) के द्वारा वाच्य अर्थ को, स्वयं

ही अपने में उत्कृष्टता अथवा निवृष्टता का समारोप करने की इच्छा से युक्त रूप में, उपनिबद्ध करता है। (वह पहला प्रकार है) अथवा (२) (जहाँ किसी पदार्थ में उत्कृष्टता अथवा निवृष्टता का समारोप करने के लिए) किसी (उस पदार्थ से भिन्न) दूसरे वक्ता को उपनिबद्ध करता है। वह दूसरा प्रकार है)। जैसे—

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्वलाका घना

वाताः शीकरिणः पयोदमुह्युदामानन्दकेकाः कलाः ।

कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे

वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥ २७ ॥

(अपनी) मृगुण एव नीलवर्ण छवि से अन्तरिक्ष को व्याप्त कर देने वाले, एव अत्यंत शोभायमान वक्रपङ्क्तियों से युक्त ये बादल, (जल की) बूंदों से युक्त (ठडी-ठडी) ये हवायें, तथा बादलों के मित्र (इन) मगूरों की (ये) आनन्दजन्य अन्मत्त मधुर ध्वनियाँ, (विरहियों को नष्ट देने वाली ये सभी वस्तुयें) भले ही हों (उनसे मेरा कुछ नहीं बिगड़ने का क्योंकि) मैं तो अत्यधिक निष्ठुर हृदय वाला राम (हूँ न) मग कुछ सहन कर लूँगा। लेकिन हाय (अत्यंत सुकुमारी) जानकी (कैसे मेरे विरह में इन्हे सहन कर सकेगी) किस दशा में होगी ? हा देवि ! (मीते ! जहाँ भी हो) धैर्य धारण करो ॥ २७ ॥

अत्र 'राम'-शब्देन 'दृढं कठोरहृदयः' 'एव सहे' इति 'यदुभाभ्यां प्रतिपादयितुं न पायते, तदेवविधिविद्भिर्दोषोपनिविभावविभवसहन-सामर्थ्यकारणं दुःसहजनकमुतादिहृदयथाविसंठुलेऽपि समये निर-पन्नप्राणपरिरक्षावैचक्षण्यलक्षणं रंशपदनिबन्धनं किमप्यसंभाव्यम-साधारणं श्रौयं प्रतीयते। वैदेहीत्यनेन जलधरसमयमुन्दरपदार्थ-संदर्शनासहत्वसमर्पकं सहजसौकुमार्यमुत्तमं किमपि कातरत्वं तस्याः समर्थते। तदेव च पूर्वस्माद्विशेषाभिधायिन 'तु'-शब्दस्य जीवितम्।

इस उदाहरण में 'दृढ कठोरहृदय' और 'सर्वं सहे' इन दोनों पदों के द्वारा भी त्रिग (अर्थ) का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता था उस इस तरह के नाना प्रकार के उद्दीपन विभागों के वर्णन को सहन कर सने के सामर्थ्य के कारणभूत, जनवशुता की असह्यविरहव्यथा के कारण बिगड़े हुए दिनों में भी निरलंघ्य दृढ़ से प्राणरक्षा करने की चतुरता के स्वरूप वाले द्रव्य शब्द हेतुक असम्भव और अटोवसामान्य एव अनिवचनीय श्रौयं को राम शब्द प्रतीत करा देता है। 'वैदेही' इस पद के द्वारा उस सीता का

अर्पाक्षालीन स्मणीय प्राकृतिक उपादानों के देखने में अतमय होने का भाव व्यक्त करने वाला स्वामाविरु मुकुमारता में सरलता से प्राप्त होने वाला एक अनिर्वचनीय भीरुत्व प्रतिपादित होता है। और वही पहले कहे गए हुए (कविविवक्षितनियत) विशेष को प्रतिपादित करने वाले 'तु' शब्द का प्राण है।

विद्यमानधर्मातिशयवाच्याध्यारोपगर्भत्वं यथा —

ततः प्रहस्पाह पुनः पुरन्दरं व्यपेतभीर्भूमिपुरन्दरात्मजः ।
गृहाण शस्त्रं यदि सर्ग एव ते न खल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवान् ॥२८॥

(पदार्थ में) विद्यमान धर्म के (लोकोत्तर) उत्कर्ष का आरोप करने के अभिप्राय से युक्त होने का (उदाहरण) जैसे—

(रघुवश महाकाव्य में अपने पिता दिलीर द्वारा छोड़े गये अश्वमेध यज्ञ के घोड़े का अपहरण कर एव बिना युद्ध के किसी भी तरह उसे न वापस करने के लिए उद्यत इन्द्र के)

इम (प्रकार के प्रतिवचनों को सुनने) के अनन्तर वसुन्धरा के सुरपति (राजा दिलीर) के बेटे (रघु) ने भयहीन होकर पुन अट्टहास करते हुए इन्द्र से कहा कि (हे इन्द्र) यदि यह तुम्हारा स्वभाव (ही) है (कि सीधे सीधे कहने पर मोखी बघारते जाने हो) तो हथियार उठाओ, क्योंकि (हम) रघु पर बिना विजय प्राप्त किए (ही) आप कृतकृत्य नहीं (हो सकेंगे, अर्थात् बिना मुझे परास्त किए आप अश्व का अपहरण नहीं कर सकते) ॥२८॥

'रघु'-शब्देनात्र सर्वत्राप्रतिहतप्रभावस्यापि सुरपतेस्तथाविद्याध्य-
वसायव्याधातसामर्थ्यनिबन्धनः कोऽपि स्वपौरुषातिशयः प्रतीयते ।
प्रहस्येत्यनेनैतदेवोपबृंहितम् ।

यहाँ (इस दृष्टिकोण में) 'रघु' शब्द के द्वारा, समस्त लोको में अतिरिक्त प्रभाव वाले भी देवताओं के स्वामी (इन्द्र) के उम प्रकार (अश्व का अपहरण करने) के उन्माह को भङ्ग करने के सामर्थ्य के कारणभूत अपने (में विद्यमान) पराक्रम के किसी (लोकोत्तर) उत्कर्ष की प्रतीति होती है। 'प्रहस्य' (अर्थात् अट्टहास करके) इम पद के द्वारा इसी (पराक्रम के अलौकिक उत्कर्ष) को ही परिपुष्ट किया गया है।

टिप्पणी—इम प्रकार 'अश्व रक्षामञ्ज' में राम के अन्दर जिव क्रूरता की सम्भावना नहीं की जा सकती थी उसके आरोप के अभिप्राय को लेकर 'राम' शब्द प्रयुक्त हुआ था। आ वह हडिगन्द राम के द्वारा अतम्भाव

धर्म के अध्यारोप की गर्भता (रूप पहले भेद) का उदाहरण हुआ । साथ ही कवि ने स्वयं राम के द्वारा ही उसे कहलाया है ।

अन्यो वयता यत्र तत्रोदाहरणं यथा—

आज्ञा शक्रशिखामणिप्रणयिनो शास्त्राणि चक्षुर्नयं
भवितभूतपती पिनाकिनि पदं लङ्केति दिव्या पुरी ।
संभूतिर्द्विहिणान्वये च तदहो नेदुग्वरो सम्पते
स्याच्चेदेव न रावणः वव नुपुन सर्वत्र सर्वे गुणाः ॥ २६ ॥

जहाँ (कवि पदार्थ में उत्कर्ष अथवा अपकर्ष का आरोप कराने के लिए स्वयं रुडि शब्द द्वारा वाच्य पदार्थ को ही न उपनिबद्ध कर, उससे भिन्न दूसरे वक्ता (को उपनिबद्ध करता है) उसका उदाहरण जैसे—

(बालरामायण नाटक में रावण के विषय में राजा जनक से शतानन्द की निम्न उक्ति कि जिस रावण की) आशा देवराज इन्द्र के मुकुट की मणियों से प्रणय करने वाली है (अर्थात् इन्द्र द्वारा शिरोधार्य है), शास्त्र ही (जिसकी) अभिनव दृष्टि है, पिनाक (धनुष) को धारण करने वाले भूतनाथ (भगवान् शङ्कर) में (जिसकी) भक्ति है, दिव्य लङ्का नगरी (जिसकी) निवास-स्थली है, ब्रह्मा के बुल में (जिसका) जन्म हुआ है, अहो ! (ऐसे उत्कृष्ट गुणों से सम्पन्न) ऐसा दूसरा वर (सत्सार में) कहीं मिलता यदि यह (रावणतीति रावण—श्राणियों को पीड़ित करने वाला) 'रावण' न होता (पर ऐसा होता कैसे—क्योंकि) कहीं सभी में सब गुण सम्भव होते हैं ॥ २९ ॥

'रावण'-शब्देनात्र सकललोकप्रसिद्धदशाननदुर्विलासव्यतिरिक्तमभि-
जनविवेकसदाचारप्रभावंसंभोगसुखसमृद्धिलक्षणायाः समस्तवरगुण-
सामग्रीसंपदस्तिरस्कारकारणं किमप्यनुपादेयतानिमित्तभूतमौपहत्यं
प्रतीयते ।

यहाँ पर 'रावण' शब्द से सारे लोको में प्रसिद्ध दशमुख के कुप्रपञ्च के अतिरिक्त सज्जनों के विवेक, सदाचार, प्रभाव धीरे ऐहिक सुख की समृद्धि के स्वरूप वाली पति के सारे गुणों की सम्पन्नता रूपी सम्पत्ति के तिरस्कार की हेतुरूप हेयता के निमित्तभूत अपमान की प्रतीति होती है ।

अत्रैव विद्यमानगुणातिशयाध्यारोपगर्भत्वं यथा—

रामोऽसौ भुवनेषु विप्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम् ॥ ३० ॥

यही पर (पदार्थ में विद्यमान) गुण के आतिशय्य की आरोपगर्भता (का उदाहरण) जैसे—

ये राम हैं जो अपने पराक्रम-गुणों से लोको में परम प्रसिद्धि को प्राप्त हुए हैं ॥ ३० ॥

अत्र 'राम'-शब्देन सकलत्रिभुवनातिशायी रावणानुचरविस्मया-स्पदं शौर्यातिशय प्रतीयते ।

यहाँ पर 'राम' शब्द के द्वारा समस्त त्रिलोकी को अतिक्रमण कर जाने वाला, रावण के सेवक का विस्मयभूत पराक्रमानिश्चय प्रतीत होता है ।

एषा च रुद्धिर्वाचिष्यवक्रता प्रतीयमानधर्मबाहुल्याद् बहुप्रकारा भिद्यते । तच्च स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयम् । यथा—

तथा इस 'रुद्धिर्वाचिष्यवक्रता' के प्रतीयमान धर्मों के असत्य होने के कारण अनेक भेद सम्भव हैं । उनको (सहृदयों को) स्वयं ही विचार कर लेना चाहिए । जैसे—

गुर्यंमर्या श्रुतपारदृष्ट्वा रघोः सकाशादनवाप्य कामम् ।

गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे भा भूत्परीवादनवावतारः ॥ ३१ ॥

(रघुवंश महाकाव्य में—विश्वजित् यज्ञ में सर्वस्व दान कर देने के अनंतर, गुरुदक्षिणा के निमित्त द्रव्य याचना के लिए पधारें हुए, किंतु प्रथम स्वागत में ही मिट्टी के अर्घ्यपात्र को देख कर निराश हो किसी अन्य दाता के पास द्रव्यहेतु जाने के लिए उद्यत वरततु के शिष्य कौत्स से राजा रघु की यह उक्ति कि—)

'(ममत्र) शास्त्रों का पारङ्गत गुरुदक्षिणा (प्रदान करने) के निमित्त याचना करने वाला (स्नातक कौत्स दान देने में प्रसिद्ध राजा) रघु के समीप से मनोवाञ्छित (वस्तु को) न पाकर दूसरे दाता के पास चला गया' ऐसा यह (आज तक कभी न हुआ) मेरा नवीन अपयश आविर्भूत न होवे । अतः आप जब तक मैं उसका प्रबंध नहीं, दो-तीन दिन मेरी अग्नि शाला में ठहरें) ॥ ३१ ॥

'रघु'-शब्देनात्र त्रिभुवनातिशायोदार्यातिरेकः प्रतीयते । एतस्यां वक्रतायामयमेव परमार्थो यत् सामान्यमात्रनिष्ठतामपाकृत्य कवि-विवक्षितविशेषप्रतिपादनसामर्थ्यलक्षणः शोभातिशयः समुन्नास्यते । संज्ञाशब्दानां नियतार्थनिष्ठत्वात् सामान्यविशेषभावो न कश्चित् सम्भव-तीति न दवतव्यम् । यस्मात्तेषामप्यवस्थासहस्रसाधारणवृत्तेर्वाच्यस्य नियतदशादिशेद्वृत्तिनिष्ठता सरकविविधक्षिता संभवायेव, स्वरश्रुति-न्यायेन, लज्जानुकन्यायेन चेति ।

इस (रुडिर्वचिष्यवक्रता) में यही तो तत्त्व है कि इसमें (रुडि शब्द के द्वारा उमकी) केवल सामान्यगत निष्पत्तियुक्तता का परित्याग कर कवि के अभिप्रेत विशेष (पदार्थ) का बोध कराने की समता वाली रमणीयता का उत्कर्ष प्रतिपादित किया जाता है । सत्ता शब्दों के (किसी) निश्चित अर्थ की (ही) प्रतीति कराने वाले होने के कारण उनमें कोई भी सामान्य और विशेष भाव हो ही नहीं सकता ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि उनकी भी हजारों अवस्थाओं में समान रूप में पाई जाने वाली वृत्ति वाले वाच्य के एक अच्छे कवि द्वारा विवक्षित नियत अवस्थाविशेष में व्यापार की निष्ठता सम्भव होती ही है जैसे कि 'स्वरश्रुतिन्याय' में और 'लग्नाश्रुतिन्याय' में ।

एवं रुडिवक्रतां विवेक्ष्य क्रमप्राप्ततन्मन्वयां पर्यायवक्रतां विविनवित—

अभिधेयान्तरतमस्तस्यातिशयपोषकः ।

रम्यच्छायेन्तरस्पर्शात्तदलंकर्तुमीश्वरः ॥ १० ॥

स्वयं विशेषणेनापि स्वच्छायोत्कर्षपेशलः ।

असंभाव्यार्थपात्रत्वगर्भं यथाभिधीयते ॥ ११ ॥

अलङ्कारोपसंस्कारमनोहारिनिबन्धनः

पर्यायस्तेन वैचित्र्यं परा पर्यायवक्रता ॥ १२ ॥

(१) (जो पर्याय) अभिधेय का अत्यन्त अन्तरङ्ग है, (२) उसे (अभिधेय) के अतिशय को पुष्ट करनेवाला है, (३) स्वयं ही अथवा अपने विशेषण के द्वारा (जो) रमणीय दूसरी शोभा के स्पर्श से उस (अभिधेय) को अलङ्कृत करने में समर्थ है, (४) अपनी कांति के प्रवर्धन से रमणीय है, (५) तथा जो पर्याय सम्भावित न किए जा सकने वाले अर्थ का पात्र होने के अभिप्राय वाला कहा जाता है, एवं (६) अलङ्कारों के कारण उत्पन्न दूसरी शोभा में, अथवा अलङ्कारों की दूसरी शोभा को उत्पन्न करने से मनोहर रचना बाला पर्याय है, उसके कारण (जहाँ) विचित्रता होती है वह कोई प्रकृष्ट पर्याय की वक्रता होती है ॥ १०-१२ ॥

पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टः कान्येद्विशये पर्यायस्तेन हेतुना यद्वैचित्र्यं विचित्रभावो विच्छित्तिविशेषः सा परा प्रकृष्टा काविदेव पर्यायवक्रतेत्युच्यते । पर्यायप्रधानः शब्द पर्यायोऽभिधीयते । तस्य चैतदेव पर्यायप्राधान्यं यत् स कदाचिद्विवक्षिते वस्तुनि वाचकतया

प्रवर्तते, कदाचिद्वाचकान्तरमिति । तेन पूर्वोक्तनीत्या बहुप्रकारः पर्यायोऽभिहितः, तर्हि कियन्तस्तस्य प्रकाराः सन्तीत्याह—अभिधेयान्तरतमः । अभिधेयवाच्यं वस्तु तस्यान्तरतमः प्रत्यासन्नतमः । यस्मात् पर्यायशब्दत्वे सत्यप्यन्तरंगत्वात् स यथा विवक्षित वस्तु व्यनक्ति तथानान्यः कश्चिदिति । यथा—

पूर्वोक्त विशेषणों में विजिष्ट जो काव्य में पर्याय (होता है उसके कारण जो वैचित्र्य अर्थात् विशेष प्रकार की शोभा होती है वह कोई प्रकृष्ट पर्याय-वक्रता वही जाती है । दूसरे शब्द का स्थान ग्रहण करने की क्षमता जिसमें प्रधान रूप से पाई जाती है उसे पर्याय शब्द कहते हैं । उसकी पर्याय प्रधानता यही है कि वह कभी कहने के लिए अभिप्रेत वस्तु के विषय में वाचकरूप से प्रवृत्त होता है, कभी दूसरे वाचक के रूप में । इसलिये पूर्वोक्त न्याय से अनेक प्रकार का पर्याय बताया गया है ।

(१) (जो) अभिधेय का अत्यन्त अन्तरङ्ग होता है । अभिधेय अर्थात् प्रतिपाद्य वस्तु उसका अन्तरतम अर्थात् निकटतम होता है । क्योंकि पर्याय शब्द होने पर भी (अर्थात्, उस शब्द के स्थान पर उसका दूसरा पर्याय भी प्रयुक्त किया जा सकता है फिर भी) अत्यन्त अन्तरङ्ग होने के कारण कहने के लिये अभिप्रेत वस्तु को जैसे वह व्यक्त कर देता है वैसे कोई दूसरा (पर्याय) नहीं व्यक्त कर सकता है । जैसे—

नाभियोक्तुमनृतं त्वमिष्यसे कस्तपस्त्रिविशिखेषु चादरः ।

सन्ति भूभृति हि नः शराः परे ये पराक्रमवसूनि वज्रिणः ॥ ३२ ॥

(किरातार्जुनीय महाकाव्य में अर्जुन के पास अपने सेनापति शिव के वाण के लिए गया हुआ किरात अर्जुन से कहता है कि)—आपसे हम मिथ्या कथन करने की इच्छा नहीं कर सकते (अर्थात् हम आपके वाणों के लिये झूठ बोलें यह असम्भव है ।) क्योंकि (आप सरीसे शोच्य) मुनियों के वाणों में (हमारी) कंसी आस्था ? (वैसे तो) हमारे नरेश के पास (अनेक) ऐसे वाण हैं जो वज्रधारी (इन्द्र) के जीर्ण के विभव अर्थात् सर्वस्व है । (तात्पर्य यह कि वे वाण इन्द्र के वज्र का भी अतिव्रमण करने वाले हैं) ॥ ३२ ॥

अत्र मेहेन्द्रवाचकेष्वहंसेषु संभवत्सु पर्यायशब्देषु 'वज्रिणः' इति प्रयुक्तः पर्यायवशतां पुष्पाति । यस्मात् सततसंनिहित वज्रस्यापि सुरपतेषु पराक्रमवसूनि विक्रमेधनातीति सायकानां लोकोत्तरत्वं-

प्रतीतिः । 'तपस्वि'-शब्दोऽप्यतितरां रमणीयः । यस्मात् सुभटसाय-
कानामादरो बहुमानः कदाचिदुपपद्यते, तापसमार्गणेषु पुनर-
किञ्चित्करेषु कः संरम्भ इति ।

यहाँ महेंद्र के वाचक अनेक पर्याय शब्दों के होने पर भी (कवि द्वारा (प्रयुक्त 'वज्रिण' (अर्थात् वज्र धारण करने वाला) यह शब्द पर्याय-
वक्रता का पोषण करता है । क्योंकि (जो वाण) सदैव वज्र को धारण करनेवाले देवाधिप इन्द्र के भी शौर्य के विभव हैं इससे वाणों की अलौकिकता चोन्नत होती है । साथ ही 'तपस्वि' पद भी अत्यधिक रमणीय है, क्योंकि शूरो के वाणों के प्रति शायद कभी आदर अथवा अभिलाष उचित भी हो पर तपस्वियों के बेकार वाणों के प्रति कैसी अभिरुचि हो सकती है । (इस प्रकार यहाँ प्रयुक्त 'तपस्वि' पद भी अत्यधिक चमत्कारकारी है, क्योंकि यदि किरात यहाँ केवल अर्जुन के लिए किसी विशेष वाचक पद का प्रयोग करता तो वह चमत्कार न आ पाता जो सामान्य वाचक 'तपस्वि' पद से आ गया है ।)

यया वा—

कस्त्वं ज्ञास्यसि मां स्मर स्मरसि मां दिष्ट्या किमभ्यागत-
स्त्वामुन्मादयितुं कथं ननु बलात् किं ते बलं पश्य तत् ।
पश्यामीत्यभिधाय पावकमुच्चा यो लोचनेनैव तं
कान्ताकण्ठनियवत्तवाहुमदहुत्तस्मै नमः शूलिने ॥ ३३ ॥

अथवा जीते (इसी पर्यायवक्रता का दूसरा उदाहरण)—(जिस समय देवराज इन्द्र के अनुरोध से कामदेव भगवान् शङ्कर की समाधि भङ्ग करने के लिए उनके पास जाता है, उसी अवसर पर काम और शङ्कर की परस्पर नाट्यपूर्ण वार्ता का वर्णन कवि प्रस्तुत करता है कि—) (शङ्कर—) तू कौन है रे ? (काम०) अभी (अपने आप) मुझे जान जाओगे (उतावले मत बनो) । (शङ्कर) अरे (घूर्त) काम ! तू मेरा स्मरण करता है ? (या नहीं जो मुझे अभी पता लगवाने आया है) । (काम०) हाँ, हाँ, बड़े प्रेम में (मुझे आप की याद आ रही है) । (शङ्कर) तो फिर यहाँ किस लिए आया है ? (काम०)-मुझे उन्मत्त बनाने के लिये । (शङ्कर)-सो कैसे । (काम०) अरे बलपूर्वक (और कैसे) । (शङ्कर)—(वाह) कौन-सा है तेरा वह बल (जिमसे भरोसे उछल रहा है) । (काम०)—(हहह मेरा बल जानना चाहते हो तो) देखो । शङ्कर—(आ दिया अब तेरा बल ही मैं देखता हूँ ऐसा कहकर जिन्होंने आग उगलने वाले (अपने ललाट के) नेत्र से ही अपनी प्रियतमा

के गले में बाँह डाले हुए उम (कामदेव) को जला दिया । उन त्रिशूल को धारण करने वाले (भगवान् शङ्कर) को प्रणाम है ॥ ३३ ॥

अत्र परमेश्वरे पर्यायसहस्रेष्वपि संभवत्सु 'शूलिने' इति यत्प्रयुक्तं तत्रायमभिप्रायो यत्तस्मै भगवते नमस्कारव्यतिरेकेण किमन्यदभिधीयते । यत्तत्तथाविधोत्सेकपरित्यक्तविनयवृत्तेः स्मरस्य कुपितेनापि तदभिमतावलोक्यतिरेकेण तेन सततसनिहितशूलेनापि कोपसमुचित-मायुधग्रहणं नाचरितम् । तोचनपातमात्रेणैव कोपकार्यकरणाद्भगवतः प्रभावातिशयः परिपोषितः । अत एव तस्मै नामोऽस्तिवति युवित-युक्ततां प्रतिपद्यते ।

यहाँ भगवान् शङ्कर के वाचक हजारों पर्यायों के सम्भव होने पर भी कवि ने जो 'शूलिनः', (त्रिशूलधारी) पर्याय पद को प्रयुक्त किया है उसका अर्थ यह है कि उन ऐश्वर्यशाली शङ्कर के लिए नमस्कार के अलावा और कहा ही क्या जा सकता है क्योंकि उस प्रकार की घृष्टता से विनम्रता का परित्याग कर देने वाले कामदेव पर क्रुद्ध हो जाने पर भी एव निरन्तर त्रिशूल को धारण किए रहने पर भी उन्होंने उस (कामदेव) के अभिमत दर्शन से भिन्न अपने क्रोध के अनुरूप हथियार नहीं उठाया । (अर्थात् यदि वे चाहते तो अपने त्रिशूल से ताम को तमाम कर देते लेकिन फिर भी उन्होंने उसकी ओर केवल देखा ही था जैसा कि आपने स्वयं कहा था कि यदि मेरा बल देखना है तो देखो (पश्य) । इसीलिए कुन्तक ने तदभिमत् शब्द को प्रयुक्त किया है—जिसको कि व्याख्या करना ही आचार्य विश्वेश्वर जी मूल गए ।) साथ ही केवल देखने भर से ही (काम को भस्म कर देने से) क्रोध का बायें सम्पन्न हो जाने के कारण भगवान् शङ्कर के प्रताप का उत्कर्ष और भी अधिक पुष्ट हो गया है । अतः उनको नमस्कार है, यह कथन अत्यन्त ही समीचीन प्रतीत होता है । (इस प्रकार इस उदाहरण में 'शूलिन' शब्द के प्रयोग से पर्यायवक्रता परिपुष्ट हुई है) ।

अयमपरः पदपूर्वादि वक्रता हेतुः पर्यायः—यस्तस्यातिशयोपेक्षकः । तस्याभिधेयस्यार्थस्यातिशयमुत्कर्षं पुष्पाति यः स तथोक्तः । यस्मात् सहजसौकुमार्यमुभयोऽपि पदार्थस्तेन परिपोषितातिशयः सुतरां सहृदय-हृदयहारितां प्रतिपद्यते । यथा—

(२) पदपूर्वादि वक्रता का कारण यह दूसरा पर्याय (प्रकार) है—जो उसके अतिशय को पुष्ट करने वाला है । उस अभिधेय अर्थ के अतिशय अर्थात् उत्कर्ष का जो पोषण करता है वह (अभिधेय के उत्कर्ष को पुष्ट करने वाला

पर्याय कहा जाता है) । क्योंकि अपनी सहज वोनलता से रमणीय भी पदार्थ उम (पर्याय) के द्वारा परिपुष्ट किए गये उत्कर्ष से युक्त होकर सहृदयो का अत्यन्त मनोहायी बन जाता है । जैमे—

संबन्धो रघुभूभुजां मनसिजध्यापारदोक्षागुरु-
गौराङ्गीवदनोपमापरिचितस्तारावधूवस्तनः ।

सद्योनाजितदाक्षिणात्यतरुणोदन्तावदातद्युति-

श्चन्द्र- सुन्दरि दुश्यतामयमितश्चण्डोश्चूगामणिः ॥ ३४ ॥

‘बालरामायण के दशम अङ्क में पुष्पक विमान द्वारा लङ्का से अयोध्या को आते समय राम सीता से चन्द्रमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—हे सुन्दरि सीते । इधर रघुवशी नृत्यो के सबधी, मदन व्यापार सबधी मन्त्रों के उपदेष्टा, गौर वर्ण अङ्गों वाली रमणियों के मुखों के सादृश्य के लिए विख्यात, ताराङ्गनामों के शिष्यतम तथा तत्काल मंजि गये दक्षिण प्रदेश की युवतियों के दांतों के समान सफेद छवि वाले, अम्बिकेश के शरीरल इस चन्द्रमा को देखो ॥ ३४ ॥

टिप्पणी—यह बालरामायण के दशम अङ्क का ४९ वां श्लोक है । किन्तु वहाँ इसका प्रथम चरण चतुर्थ चरण के रूप में आया है एवं पद्य का प्रारम्भ ‘गौराङ्गी ’ इत्यादि द्वितीय चरण से होता है ।

अत्र पर्यायाः सहजसौन्दर्यसंपदुपेतस्यापि चन्द्रमसः सहृदयहृदया-
ह्लादकारणं कमप्यतिशयमुत्पादयन्तः पदपूर्वार्थैश्चक्रां पुष्पन्ति । तथा
च रामेण रावणं निहत्य पुष्पकेन गृह्यमा सीतायाः सविस्त्रम्भं स्वैर-
कयास्वेतदभिधीयते यच्चन्द्रः सुन्दरि दुश्यतामिति, रामणीयकमनो-
हारिणि सकललोकलोचनोत्सवश्चन्द्रमा विचार्यतामिति । यस्मात्तथा-
विधानामेव तादृशः समुचितो विचारणोचरः । संबन्धी रघुभूभुजा-
मित्यनेन चास्माकं नापूर्वो बन्धुरमित्यवलोकनेन संनान्प्रतामिति
प्रकारान्तरेणापि तद्विषयो बहुमानः प्रतीयते । शिष्टाश्च तदतिशया-
शनप्रवणत्वमेवात्मनः प्रययन्ति । तत एव च प्रस्तुतमयं प्रति प्रयेकं
वृत्तत्वेनोत्कर्षप्रकटनात्पर्यायाणां बहूनामप्यपीनरुच्यम् । तूतोये पादे
विशेषणवक्रता विद्यते, न पर्यायवक्रत्वम् ।

यहाँ पर पर्याय (शब्द) स्वभाव व रमणीयता की मन्त्रति से सम्पन्न भी चन्द्रमा के, सहृदयो के हृदयों के आनन्द के हेतुभूत निनी (पूर्व) अनिगम की मृष्टि करने हुए पदपूर्वार्थ वक्रता का उल्लेख करते हैं । जैसे कि लङ्कावति रावण का बध कर (अयोध्या के लिये) पुष्पक विमान से प्रस्थान

किए हुए राम (मार्ग में) सीता की स्वच्छन्द वार्ता के प्रसङ्ग में यह कहते हैं कि—हे सुन्दरि ! चन्द्रमा को देखो । अर्थात् सौन्दर्य के कारण मनोहारिणि सीते ! समस्त लोक के नेत्रों की आनन्दित करने वाले चन्द्रमा का विचार करो । क्यों उसी प्रकार के लोगो का वह भलीभाँति विचार का विषय बन सकता है । (तात्पर्य यह कि सोने का पारखी जौहरी ही हो सकता है । किसी की विद्वत्ता का विचार कोई विद्वान ही कर सकता है । अतः तुम्हीं इस सुन्दर चन्द्रमा का विचार कर सकती हो क्योंकि तुम स्वयं सुन्दर हो । यही 'सुन्दरि' पर्याय की वक्रता है ।) 'रघुवशी राजाओ का यह सम्बन्धी है' इससे यह कोई हमारा नवीन स्वजन नहीं (अपितु प्राचीन ही है) अतः इसकी ओर देखकर इसके प्रति सम्मान प्रकट करो, ऐसा हमारे डङ्ग से भी चन्द्रमा के विषय में सम्मान का बोध होता है । (भाव यह कि यह केवल सुन्दर है अतः इसे सम्मान प्रदान करो यही बात नहीं है, अपितु यह हमारा प्राचीन बन्धु भी है इस लिये दर्शन से इसे सम्मानित करो) तथा शेष (मनमिजव्यापार-दीक्षागुरु इत्यादि) शब्द उन् (चन्द्रमा) के उत्कर्ष की धारण करने की अपनी तात्परता को ही प्रकट करते हैं । (अर्थात् चन्द्रमा के उत्कर्ष को व्यक्त करते हैं) और इसी लिए प्रयुक्त अयं (चन्द्रमा) के प्रति अलग-अलग (उमके) अतिशय की प्रतीति कराने से बहुत से पर्याय भी पुनरुक्त से नहीं प्रतीत होते । (उक्त 'सम्बन्धी रघुभुजाम्-' इत्यादि पद के) तृतीय चरण (सद्यो-माजितदाक्षिणात्यतरुणौदन्ताविदातश्रुति') में 'विशेषणवक्रता' है, 'पर्याय-वक्रता' नहीं ।

टिप्पणी—आचार्य ने तृतीय चरण में 'विशेषणवक्रता' बताई है । शेष में पर्यायवक्रता । विशेषणवक्रता का स्वरूप—जैसा कि इसी उन्मेष की १५ वीं वाकिका में बताया जायगा—इस प्रकार है—'जहाँ विशेषण के महात्म्य से क्रिया का रूप अथवा कारक रूप वस्तु की रमणीयता उद्घातित है वहाँ 'विशेषणवक्रता' होती है ।' इस प्रकार उक्त पद्य का तृतीय चरण चन्द्रमा के पर्याय के रूप में नहीं प्रयुक्त हुआ है वह केवल विशेषण रूप में ही प्रयुक्त है क्योंकि—'तत्काल मञ्जन किए गये दाक्षिण प्रदेश की युतियों के शान्तों की तरह मफेदी कान्ति वाला' केवल चन्द्रमा को मफेदी ने विशिष्ट बताया है अतः उमका पर्याय नहीं है और इसके प्रयोग से जो चमत्कार आया वह विशेषण की ही वक्रता होगी । अब कि 'चण्डीजिचूडामणि', 'तारावधूवल्लभ' इत्यादि पद चन्द्रमा के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त हैं । अतः उनमें जो सौन्दर्य प्रतीति हुई वह 'पर्यायवक्रता' होगी ।

अयमपर पर्यायप्रकारः पदपूर्वाध्ववक्रतानिबन्धन.—यस्तदलं-
कर्तुमीश्वर । तदभिधेयलक्षणं वस्तु विभूययितुं यः प्रभवतीत्यर्थः ।
कस्मात्—रम्यच्छायान्तरस्पर्शात् । रम्यं रमणीयं यच्छायान्तरं
विच्छित्यन्तरं श्लिष्टत्वादि तस्य स्पर्शात्, शोभान्तरप्रतीतिरित्यर्थः ।
कथम्—स्वयं विशेषणेनापि । स्वयमात्मनैव, स्वविशेषणभूतेन
पदान्तरेण वा । तत्र स्वयं यथा—

(३) पदपूर्वाध्ववक्रता के हेतुभूत पर्याय का यह अन्य भेद है कि—
जो (पर्याय) उसे अलङ्कृत करने में सामर्थ्यवान् है अर्थात् उस अभिधेय
रूप वस्तु को मण्डित करने में समर्थ होता है । जिससे (मण्डित करने में)—
रमणीय दूसरी शोभा के स्पर्श से । रम्य अर्थात् मनोरम जो दूसरी छाया
अर्थात् श्लिष्टता आदि अन्य कान्ति उसके स्पर्श से । तात्पर्य यह कि दूसरी
शोभा की प्रतीति से (मण्डित करने में समर्थ होता है) । कैसे (समर्थ
होता है) स्वयं तथा विशेषण से भी । स्वयं अर्थात् अपने आप अथवा
अपने विशेषण रूप अन्य पदार्थ के द्वारा (अभिधेय को विभूयित करने में)
समर्थ होता है । उनमें स्वयं जैसे (अभिधेय को विभूयित करता है उसका
उदाहरण)—

इत्थं जडे जगति को नु बृहत्प्रमाण-

कर्ण करो ननु भवेद् ध्वनितस्य पात्रम् ।

इत्यागतं झटिति योऽलिनमुन्ममाय

मातङ्ग एव किमत परमुच्यतेऽसौ ॥ ३५ ॥

इस तरह के जड़ ससार में (हमारे) जड़ों का पात्र कौन हो सकता
है सम्भवत बहुत बड़े आकार वाले कानों वाला हाथी ही हो सकता है इसी
से आये हुए भ्रमर को जिसने पुरन्त ही मतल डाला अतः वह मातङ्ग
(चाण्डाल) ही है, इससे अधिक और उसे क्या कहा जा सकता है ॥ ३५ ॥

अथ 'मातङ्ग'-शब्दः प्रस्तुते वारणमात्रे प्रवर्तते । श्लिष्टया वृत्त्या
चण्डाललक्षणस्याप्रस्तुतस्य वस्तुनः प्रतीतिमुत्पादयन् रूपककालंकार-
च्छायासंस्पर्शाद् गोर्वाहीक इत्यनेन न्यायेन सादृश्यनिबन्धनरूपोपचारस्य
संभवात् प्रस्तुतस्य वस्तुनस्तत्त्वमध्यारोपयन् पर्यायवक्रतां पुष्पाति ।
यस्मादेवविधेयवियये प्रस्तुतस्याप्रस्तुतेन संबन्धोपनिबन्धो रूपकालंकार-
द्वारेण कदाचिदुपमामुखेन वा । यथा 'स एवायं' 'स इवायं' मिति वा ।

यहाँ पर 'मातङ्ग' शब्द (अभिधावृत्ति से प्रकरण द्वारा अभिधा के
केवल हाथी रूप अर्थ में ही नियन्त्रित हो जाने से) प्रस्तुत (वर्णमान)

केवल हाथी का बोध कराता है। परन्तु शेष बची हुई (लक्षणा) वृत्ति के द्वारा 'चाण्डाल' रूप अग्रस्तुत वस्तु का बोध कराता हुआ रूपकालङ्कार की शोभा के स्पर्श से 'शांवाहीक' में प्रयुक्त न्याय से सादृश्य के कारण उपचार के सम्भव होने से प्रस्तुत (वारण रूप) वस्तु में उस (चाण्डाल रूप अग्रस्तुत वस्तु के) भाव का आरोप करता हुआ 'पर्यायवक्रता' का पोषण करता है। क्योंकि इस प्रकार (सादृश्यमूला लक्षणा) के विषय में प्रस्तुत के अग्रस्तुत के साथ सम्बन्ध की कभी रूपकालङ्कार के द्वारा अथवा कभी उपमालङ्कार के द्वारा व्यक्त किया जाता है। जैसे (उममे (स) और इसमें (अधम्) सादृश्य का बोध या तो) 'वह ही यह है' इस प्रकार (रूपक के द्वारा) अथवा 'यह उसके समान है' इस प्रकार (उपमा के द्वारा) कराया जा सकता है।)

टिप्पणी—इस स्थल की व्याख्या करते समय कवि ने कुछ ऐसे प्रयोग किए हैं जो अधिक व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं। उनमें हम एक एक की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

१ 'मातङ्ग' शब्द केवल प्रस्तुत 'हाथी' अर्थ का बोध कराता है। इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि 'मातङ्ग' शब्द का अर्थ 'हाथी' एवं 'चाण्डाल' दोनों है। दोनों ही सङ्केतित अर्थ हैं। सङ्केतित अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति-अभिधा वृत्ति कहलाती है। जैसा कि साहित्यदर्पणकार के शब्दों में—'तत्र सङ्केतितार्थस्य बोधनादग्निमाभिधा' ॥ २।४ ॥ यही सर्वप्रथम प्रवृत्त होती है। किन्तु जहाँ एक शब्द में अनेक अर्थों का संकेत रहता है वहाँ किसी विशेष अर्थ का बोध कराने में अभिधा का निम्न हेतुओं से नियन्त्रण हो जाता है। वे हेतु हैं—

“सयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।

अर्थं प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्वान्यस्य सन्निधिः ॥

सामर्थ्यमौचित्यं देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।

शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥” इति ॥

यहाँ हमें अभिधा का प्रकरण से किसी अर्थ में कैसे नियन्त्रण होना है इस पर विचार करना है। जैसे कोई भूत अपने स्वामी से कहता है कि “सर्वं जानाति देव ।” यहाँ प्रकरण के कारण देव शब्द का 'आप' अर्थ में नियन्त्रण हो जाता है। अर्थात् अभिधा केवल 'आप' अर्थ का ही बोध करा कर क्षीण हो जाती है। उसी प्रकार यहाँ प्रकरण प्रमर एवं हाथी का ही प्रस्तुत है इसलिये अभिधा का मातङ्ग शब्द के द्वारा हाथी अर्थ देने में

नियन्त्रण हो जाता है। वह दूसरा चाण्डाल रूप अर्थ नहीं दे सकती। इसी लिए कहा गया है कि 'मातङ्ग' शब्द यहाँ केवल प्रस्तुत हाथों का ही बोध कराता है।

२. शिष्ट वृत्ति के द्वारा चाण्डाल रूप अप्रस्तुत वस्तु की प्रतीति कराता हुआ।

यहाँ आचार्य विश्वेश्वर जी ने डॉ० डे के पाठ को अशुद्ध बतते हुए 'शिष्ट्या' के स्थान पर 'श्लिष्ट्या' पाठ को समीचीन बताया है। वस्तुतः वह भ्राति है। क्योंकि (१) 'श्लिष्ट्या' नाम की कोई वृत्ति नहीं होती। (२) 'गौर्वाहीक' में श्लिष्टता का लेश भी नहीं है। क्योंकि गौर्वाहीक श्लिष्टता का उदाहरण नहीं अपितु सादृश्यमूला लक्षणा का उदाहरण है। यहाँ ग्रन्थकार ने जो 'गौर्वाहीक' न्याय को प्रस्तुत किया है उससे स्पष्ट है कि वह लक्षणा वृत्ति को स्वीकार करते हैं। लक्षणा का क्षेत्र अभिधा के बाद आता है। इस प्रकार उक्त उदाहरण में 'मातङ्ग' का 'हाथी' रूप अर्थ देकर अभिधा तो कृतार्थ हो जाती है। वह दूसरा अर्थ दे नहीं सकती।

अतः शेष बचती है लक्षणा वृत्ति। इसी के लिये ग्रन्थकार ने 'शिष्ट्या वृत्त्या' कहा है। लक्षणा का लक्षण 'राव्यप्रज्ञान' में दिया गया है—'मुख्यार्थ-बाधे तद्योगे गृहितोऽप्य प्रयोजनात्। अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणा रोपिता क्रिया ॥' २।९ ॥ अर्थात् मुख्यार्थ का बाध होने पर, उस (मुख्यार्थ) के साथ सम्बन्ध होने पर यदि अथवा प्रयोजन के कारण जिसके द्वारा अन्य अर्थ लक्षित होता है वह आरोपित व्यापार लक्षणा कहा जाता है ॥

वह मुख्यार्थ वा अनिर्घेयार्थ के साथ सम्बन्ध ४ प्रकार का होता है जैसा कहा गया है—

अभिधेयेन सामीप्यात् सारूप्यात् समवायत ।

वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता ॥

ग्रन्थकार ने यहाँ गौर्वाहीक के न्याय को प्रस्तुत किया है। गौर्वाहीक का निदान्त मम्मट के शब्दों में इस प्रकार है—

१ अत्र हि स्वार्थमहचारिणो गुणा जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यमाणा अपि गोशब्दस्य परार्थभिधाने प्रवृत्तिनिमित्तस्यमुपयन्ति इति चेचित् ।

२. स्वार्थमहचारिणुणाभिदेन परार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते न परार्थोभिधीयन्ते इत्यन्ये ।

३ साधारणगुणाधत्वेन परार्थ एव लक्ष्यते इत्यपरे ।

तीसरा निदान्त ही मम्मट को मान्य है ।

एष एव च शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य पदध्वनेर्विषयः,
बहुषु चैवंविधेषु सत्सु वाक्यध्वनेर्वा । यथा —

कुसुमसमययुगमुपसंहरन्तुफुल्लमल्लिकाधवलादृहासो व्यजृम्भत
ग्रीष्माभिधानो महाकालः ॥ ३६ ॥

यही (पर्यायवक्रता का तीसरा भेद ध्वनिवादियों के अनुसार उक्त उदाहरण की भांति एक पर्याय पद के प्रयुक्त होने पर) शब्दशक्तिमूल अनुरणन रूप व्यङ्ग्य के पदध्वनि का विषय होता है । अथवा इसी प्रकार के अनेक (पर्यायों) के (प्रयुक्त) होने पर वाक्यध्वनि का विषय होता है । जैसे (वाक्यध्वनि का उदाहरण)—

वसन्त युग का उपसंहार करते हुए खिली हुई बेला के उज्ज्वल अदृहास वाला ग्रीष्म नामक दीर्घकाल आ गया । (व्य.यार्थ—कुसुमसमय तुल्य युग को समास करना हुआ खिले हुए बेला के फूल की तरह सफेद अदृहास वाले यमराज ने जैमाई ली) ॥ ३६ ॥

यथा—

दृष्टोऽस्मिन् महाप्रलये धरणीधारणायघना र्वं शेषः इति ॥ ३७ ॥

और जैसे (सिंहनाद के कथनानुसार हर्षचरित के प्रक्रमन्त पक्ष में) उत्सवों के इस सर्वत्र विनाश के सघटित हो जाने पर साम्राज्य के सम्हालने के लिए अब तुम्ही अवशिष्ट हो । (व्यंग्यार्थ पक्ष में) इस महाप्रलय के हो जाने पर (अर्थात् दशों दिक्पालों और दिग्गजों के समास हो जाने पर) इस वसुधारा के धारण के लिए शेषनाग ही रह जाते हैं । (यह दूसरा अर्थ ध्वनिवादियों के अनुसार उपमाध्वनि को प्रस्तुत करता है) ॥ ३७ ॥

अत्र युगादयः शब्दा प्रस्तुताभिधानपरत्वेन प्रयुज्यमानाः सन्तोऽप्यप्रस्तुतवस्तुप्रतीतिकारितया कामपि काव्यच्छायां समुन्मीलयन्तः प्रतीयमानास्तद्धारव्यपदेशभाजनं भवन्ति ॥

यहाँ पर युग आदि शब्द को प्रकाशित करने में लगे होने के कारण प्रयोग में लाए जाते हुए भी आश्रान्त वस्तु का बोध कराने वाले के रूप में एक अनिर्वचनीय काव्य शोभा को उन्मीलित करते हुए प्रतीयमान अलङ्कार की सजा के पात्र बनते हैं ।

विशेषणेत यथा—

सुरिगधमृगधधवलोरुदृशं विदग्ध-
मातोक्थ यन्मधुरमद्य विलासदिग्धम् ।

भस्मीचकार मदनं ननु काष्ठमेव
तन्नूनमोश इति वेत्ति पुरन्धिलोकः ॥ ३८ ॥

विशेषण के द्वारा जैसे—

कामिनी समुदाय ने स्नेहमयी सुन्दर श्वेत और विंगल आँखों वाले तथा सरम मदिरा के कारण उत्पन्न शृङ्गार हावों से परिपूर्ण विदग्ध नामक को देखकर 'शिवजी ने निश्चित रूप से मदन नामक काष्ठ को ही जला दिया था' ऐसा निश्चय किया ॥ ३८ ॥

अत्र काष्ठमात्रे विशेषणपदं वर्ण्यमानपदार्थपेक्षया मन्मयस्य नीरसता प्रतिपादयद् रम्यच्छायास्तस्पर्शश्लेषच्छायामनोजविन्यासपरमस्मिन् वस्तुन्यप्रस्तुते मदनाभिधानपादपलक्षणे प्रतीतिमुत्पादयद् रूपकालङ्कारच्छायासस्पर्शत् कामपि पर्यायवक्रतानुन्मीलयति ।

यहाँ पर 'काष्ठम्' यह विशेष पद वर्णन के विषयभूत पदार्थ के प्रति अपेक्षा होने के नाते मन्मय की नीरसता को प्रकटित करते हुए और रमणीय दूसरी कान्ति का स्पर्श करने वाले श्लेष की शोभा के कारण सुन्दर विन्यास से उत्कर्ष को पाने का होकर इन अप्रभुता मदन नामक वृक्ष की वस्तु के विषय में दोष को उत्पन्न कराते हुए काष्ठ नामक जलजल की शोभा के स्पर्श के कारण एक अद्भुत पर्यायवक्रता को प्रस्तुत करता है ।

अथमपरः पर्यायप्रकारः पदपूर्वाविवक्षतायाः कारणमयः स्वच्छाद्योत्कर्षपेशलः । स्वस्यात्मनश्छाया कान्तिर्या मुकुमारता तदुत्कर्षेण तदतिशयेन यः पेशतो हृदयहारी । तदिदमत्र तात्पर्यम् — यद्यपि वर्ण्यमानस्य वस्तुनः प्रकारान्तरोक्तासक्तत्वेन व्यवस्थितिस्तथापि परिस्पन्दसौन्दर्यसंपदेन सहृदयहृदयस्फुरितां प्रतिपद्यते । यथा—

(४) 'पदपूर्वाविवक्षता' का हेतु यह अन्य पर्याय का भेद है कि—जो अपनी कान्ति के उत्कर्ष से मनोहर होता है । स्वच्छाया अर्थात् अपनी जो कान्ति अबको मुकुमारता है उसके उत्कर्ष अर्थात् आधिक्य से पैगल अर्थात् मनोरम (पर्याय) । तो इसका भाव यह है कि—यद्यपि वर्णन की जानी हुई वस्तु की स्थिति दूसरे प्रकार को उत्प्रेरित करने वाली के रूप में होती है फिर भी उसकी स्वभाविक सौन्दर्य-व्यवस्था ही सहृदयों के हृदय को आकृष्ट कर लेने वाली हो उठती है । जैसे—

इत्थमुत्कथयति ताण्डवलीलापण्डिताब्धिलहरीगुरुपादैः ।

उत्थितं विषमकाण्डकुटुम्बस्यांशुभिः स्मरवतीविरहो माम् ॥ ३६ ॥

स्मरवती (प्रियतमा) का विरह नृपग्रीव निपुण सागर की लहरियों की प्रशस्त आचार्य वचनान के मित्र चन्द्र की किरणों के कारण इस तरह उठ पड़े हुए मुझको आकुल किए दे रहा है ॥ ३६ ॥

अत्रेन्दुपर्यायो 'विषमकाण्डकुटुम्ब'-शब्दः कविनोपनिबद्धः । यस्मान्मृगाङ्गोदयद्वेषिणा विरहविधुरहृदयेन केनचिदेतदुच्यते । यदयमप्रसिद्धोऽप्यस्मरिभानसमन्वयतया प्रसिद्धतमतामुपनीतस्तेन प्रथमतरोल्लिखितत्वेन च चेतनचमत्कारितामन्वगाहते । एष च स्वच्छायोत्कर्षपेशलः सहजसौकुमार्यमुभगतत्वेन नूतनोत्प्रेषविलक्षणत्वेन च कविभिः पर्यायान्तरपरिहारपूर्वकमप्यव्ययते । यथा—

यहाँ कवि ने चन्द्रमा के (वाचक) पर्याय के रूप में 'विषमकाण्डकुटुम्ब'-शब्द को उपनिबद्ध किया है । (तात्पर्य यह कि 'विषमकाण्डकुटुम्ब' शब्द चन्द्रमा का पर्यायवाची नहीं है किन्तु जिस प्रकार से विषम काण्डो अर्थात् ५ बाणों वाला कामदेव विरहियों को कष्ट पहुँचाता है उसी प्रकार चन्द्रमा भी उनके लिए कष्टदायक होता है इसी लिए चन्द्रमा को कामदेव का कुटुम्बी, उसका स्वजन बताया गया है) क्योंकि (प्रियतमा के) विरह से विरुद्ध हृदय चन्द्रोदय से बँर रखने वाला कोई (विरही) कह रहा है । क्योंकि यह (शब्द चन्द्रमा के पर्याय रूप में) प्रचलित न होते हुए भी अत्यन्त सम्बन्ध के कारण अत्यन्त प्रशस्त का प्राप्त कराया गया है अतः सर्वप्रथम (चन्द्र के पर्याय रूप में) उल्लिखित अथवा प्रयुक्त होने के कारण प्राणियों को आनन्दित करना है । तथा जलनी ही गोभी के आविष्कार से मत्तोर इस (पर्याय) का जलनी स्वाभाविक मुकुमारता से रमणीय होने के कारण एवं अभिनव उल्लेख में विशेषण होने के कारण कविजन हमारे पर्यायों का परिचय कर प्रयोग करते हैं । जैसे—

कृष्णकुटिलकेशीति वक्षतव्ये यमुनाकलोलवक्रालकेति । यया वा गौराङ्गीवदनापमापरिचित इत्यत्र वनिताद्विवाचकसहस्रसङ्ख्यावेति गौराङ्गीत्यभिधानमतीवरमणीयम् ।

'काले एव टेडे बालो वाली' कहने के लिए 'कालिन्दी कल्लोल यमुना की तरङ्गों के समान कुञ्चित चूर्णकुन्तलो वाली' कहा जाय । अथवा जैसे—

(पहले उदाहरण सध्या २।३४ पर उद्धृत 'सम्बन्धी रघुसुमुना'-इत्यादि 'पद के द्वितीय चरण) 'गौराङ्गीवदनोपमापरिचित' में (स्त्री के वाचक)

बनिता आदि हजारे पर्यायो के होने पर भी (कवि द्वारा प्रयुक्त) 'गौराङ्गी' यह कथन शायद न होने के कारण अत्यन्त ही मनोहर है ।

अयमपरः पर्यायप्रकारः पदपूर्वार्थवश्रुताभिधायी--असंभारयार्थ-पात्रत्वगर्भं दश्चाभिधीयते । वर्धमानस्यासंभारयः संभावयितुमशक्यो योऽर्थः कश्चित्परिस्पन्दस्तत्र पात्रत्वं भाजनत्वं गर्भोऽभिप्रायो यत्राभिधाने तत्तथाविधिं कृत्वा यश्चाभिधीयते भण्यते । यथा—

(५) 'पदपूर्वाद्वदङ्गता' का प्रतिपादक यह अन्य (पाचवौ) पर्याय का भेद है कि—जो (पर्याय) असम्भाव्य अर्थ के पात्र होने के अभिप्राय वाला कहा जाता है । वर्णित की जाने वाली वस्तु का असम्भाव्यमान अर्थात् जिसकी सम्भावना नहीं की जा सकती है ऐसा जो अर्थ अर्थात् कोई विशेष धर्म होता है उसका पात्र अर्थात् भाजन होने का गर्भ अर्थात् अभिप्राय जिस कथन में निहित होता है वह उस प्रकार का जो पर्याय कहा जाता है । जैसे—

असं महीपाल तव श्रमेण प्रयुषतमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात् ।
न पादपोमूलनशवित रंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥ ४० ॥

(रघुवश महाकाव्य में राजा दिलीप का गुरु जी गाय के रक्षार्थ तरबश से बाण निकालते समय उसी में हाथ फँस जाने पर सिंह राजा से कहता है कि) हे पृथ्वीपते ! जब (इस गाय को मेरे चङ्गुल से दबाने के लिए) आपका (दुष्ट पर बाण चलाने का) प्रयास व्यर्थ है, (क्योंकि) इधर (मेरे ऊपर) फँसा गया (आप का) शस्त्र निष्फल हो जायगा । जैसे (विशाल) वृक्ष को उखाड़ फेंकने में समर्थ भी रवा का बेग पहाड़ पर मूर्च्छित हो जाता है (पहाड़ को नहीं उखाड़ पाता) ॥ ४० ॥

अत्र महीपालेति राज्ञः सफलपृथ्वीपरिरक्षणमपौरुषस्यापि तथा-
दिधप्रयत्नपरिपालनीयगुरुरूपजीवमात्रपरित्राणासामर्थ्यं स्वप्ने-
ऽप्यसंभावनीयं यत्तत्पात्रत्वगर्भमामन्त्रणमुपनिबद्धम् ।

यहाँ पर 'महीपाल' ऐसा सम्बोधन पद समस्त वसुन्धरा की भलीभाँति रक्षा करने में समर्थ पराक्रम वाले राजा की जो स्वप्न में भी सम्भावित न किए जा सकनेवाली उस प्रकार के प्रयत्नों से सम्यक् पालन किये जाने योग्य गुरु की गाय रूप केवल एक ही प्राणी की भी रक्षा करने में असमर्थता है, उसकी पात्रता के अभिप्राय से मुक्त रूप में प्रयुक्त हुआ है । (अर्थात् राजा को सम्पूर्ण पृथ्वी का रक्षक बतला कर उनका उपहास किया)

जा रहा है कि आप हैं तो महीनाल लेकिन एक गाय की भी रक्षा नहीं कर सकते । इसी राजा के अतानर्घ्य को ही सूचित करने के लिए इस पद को प्रयुक्त किया गया है ।)

ययाचा—

भूनातुकम्पा तत्र चेदियं गोरेका भवेन् स्वस्तिमती त्वदन्ते ।

जीवन् पुनः शश्वदुपप्लवेभ्यः प्रजा प्रजानाय पितेव पासि ॥ ४१ ॥

अथवा जैसे (इसका दूसरा उदाहरण)—

(उभी दिवों एवं तिह संवाद मे से यह पद्य भी उद्धृत है । जब राजा अपने प्राणों का उत्सर्ग कर उन गाय की रक्षा करने को तैयार हो जाते हैं तो तिह राजा से कहता है कि—)

यह (इस गाय की रक्षा के हेतु तुम्हारा अपने प्राणों का उत्सर्ग करना) यदि तुम्हारी जीस पर कृपा है, (तो भी तुम्हारे प्राणों का उत्सर्ग ठीक नहीं क्योंकि) तुम्हारा विनाश हो जाने पर, यह अकेली ही गाय कल्याणमयी हो सकेगी । जब कि हे प्रजापति ! आप जीवित रहने हुए हमें पिता के समान (समान) प्रजाओं को उपद्रवों (अथवा विरक्तियों) से बचाओगे । (अतः केवल एक ही गाय के लिए तुम्हारा प्राणपरित्याग ठीक नहीं) ॥ ४१ ॥

अथ यदि प्राणिकरुणाकारणं निजप्राणपरित्यागमाचरसि यदप्ययुक्तम् । यस्मात्त्वदन्ते स्वस्तिमती भवेदियमेकैव गोरिति त्रितयमप्यनादरास्पदम् । जीवन् पुनः शश्वत्सर्पवोपप्लवेभ्योऽनर्थेभ्यः प्रजाः सकलभूतधात्रीवल्यवर्तिनीः प्रजानाय पासि रक्षसि । पितेवेत्यनादरातिशयः प्रयते ।

यहाँ यदि तुम जीसों पर अनुकम्पा होने के कारण अपने प्राणों का विनश्वर कर रहे हो तो वह भी ठीक नहीं । क्योंकि १-तुम्हारा विनाश हो जाने पर, २-यह अकेली ही, ३-(वह भी) गाय कल्याणमयी होगी । इस प्रकार ये तीसो ही बातें निरस्कारयोग्य हैं जबकि आप १-जीवित रहते हुए, २-ममस्त भूमण्डल पर निवास करनेवाली (समान) प्रजाओं की हे प्रजानाय ! पिता के समान हमें अनेक उपद्रवों अथवा अनर्थों से, ३-रक्षा कर सकोगे । इसके द्वारा ऊपर कहे गए निरस्कार का और भी अधिक प्रतिपादित करता है ।

तदेवं यद्यपि सुस्पष्टसमन्वयोऽहं वाक्यार्थस्तथापि तात्पर्यान्तरमत्र प्रतीयते । यस्मात् सर्वस्य कस्यचित्प्रजानां तत्वे सति सर्वं तत्परि-
रक्षणस्याकरणस्याकरणमसभाव्यम् । तत्पात्रत्वगर्भमेव तदभिहितम् ।
यस्मात् प्रत्यक्षप्राणिमात्रभक्ष्यमाणगुरुहोमधेनुप्राणपरिरक्षणापेक्षानिर-
पेक्षस्य सतो जीवतस्तत्त्वानेन न्यायेन कदाचिदपि प्रजापरिरक्षणं
मनागपि न संभाव्यत इति प्रमाणोपपन्नम् ।

तदिदमुक्तम्—

प्रमाणवत्त्वादायातः प्रवाहः केन वायते ॥ ४२ ॥ इति ।

तो इस प्रकार यद्यपि इस वाक्य (श्लोक) का अर्थ भली-भाँति समन्वित हो जाता है फिर भी यहाँ दूसरे अभिप्राय की प्रतीति होती है । क्योंकि सभी किसी के प्रजापति होने पर हमेशा ही उस प्रजा के परित्राण के म करने की सम्भावना नहीं की जा सकती (अर्थात् कोई भी राजा अपनी प्रजा का परित्राण तो करेगा ही क्योंकि प्रजापालन ही तो इसका धर्म है । इस प्रकार गाय की रक्षा करना राजा दलौप का धर्म है । उसकी रक्षा उन्हें अवश्य करनी चाहिए । यही 'प्रजानाय' पद के द्वारा राजा का उपहास किया जा रहा है कि वनते प्रजानाय हो पर एक गाय की रक्षा नहीं कर सकते) इसी की पात्रता के अभिप्राय से युक्त रूप में उन्हें प्रजानाय कहा गया है । क्योंकि प्रत्यक्ष ही केवल एक जीव (सिंह) के द्वारा (जिसके पास कोई अस्त्र अथवा सेना नहीं है उसके द्वारा) भक्षण की जानेवाली गुरु की यज्ञ की गाय के प्राणों का परित्राण करने से विमुख तुम्हारे जीवित रहने पर भी इसी प्रकार कभी प्रजा की थोड़ी भी रक्षा असम्भव है यह बात स्वयं (अर्थात्पिभिः) प्रमाण से सिद्ध हो जाती है । जैसा कहा भी गया है कि—प्रमाणों से युक्त होने के कारण उपस्थित प्रवृत्ति को यौत रोक सकता है ॥ ४२ ॥

अत्राभिधानप्रतीतिगोचरीकृतानां पदार्थानां परस्परप्रतियोगित्व-
मुदाहरणप्रत्युदाहरणन्यायेनानुसंधेयम् ।

इस विषय में उक्तिबोध में दृष्टिगत होने वाले पदार्थों की एक दूसरे के साथ प्रतियोगिता उदाहरणों और प्रत्युदाहरणों के द्वारा (अन्वय व्यतिरेक से) जान लेनी चाहिए ।

अयमपरः पर्यायप्रकारः पदपूर्वाविवृक्तां विदधाति—अलं-
कारोपसंस्कारमनोहारिनिबन्धनः । अत्र 'अलंकारोपसंस्कार'-शब्दे
तृतीयासमासः पष्ठोत्तमासश्च करणीय । तेनार्थद्वयमभिहितं भवति ।

अलंकारेण रूपकादिनोपसंस्कारः शोभान्तराधानं यत्नेन मनोहारि
हृदयरञ्जकं निबन्धनमुपनिबन्धो यस्य स तथोक्तः। अलंकार-
स्योत्प्रेक्षादेरुपसंस्कारः शोभान्तराधानं चेति विगृह्य। तत्र तृतीया-
समास पक्षोदाहरणं यथा—

(६) यह अन्य (छठवां) पर्याय का भेद 'पदपूर्वाद्धिवक्रता' को प्रस्तुत
करता है—(जो) अलङ्कारोपसंस्कार से रमणीय रचना वाला होता है। यहाँ
'अलङ्कारोपसंस्कार' शब्द में तृतीयसमास तथा षष्ठीसमास (रूप तत्पुरुष)
करना चाहिए। इसलिये इस शब्द से दो अर्थ प्रतिपादित होते हैं (तृतीया
समास करने पर) अलङ्कार अर्थात् रूपकादि के कारण जो उपसंस्कार अर्थात्
दूसरी शोभा की मृष्टि उनके द्वारा मनोहर हृदय को आनन्दित करने वाले
निबन्धन अर्थात् रचना वाला (यह अर्थ होगा। तथा षष्ठी समास करने
पर) उपेक्षा आदि अलङ्कारों का जो उपसंस्कार अर्थात् दूसरी शोभा की
उत्पत्ति उससे (रमणीय रचना वाला पर्याय—यह अर्थ होगा)। उनमें तृतीया
समास वाले पक्ष का उदाहरण जैसे—

यो लीलातालवृन्तो रहसि निरूपधिपञ्च केलीप्रदीपः
कोपक्रोडासु योऽस्त्रं दशनकृतरुजा योऽधरस्यैकसेकः।
आकल्पे दर्पणं यः श्रमशयनविधौ यश्च गम्डोपधानं
देव्याः स ध्यापदं वो हरतु हरजटाकन्दलीपुष्पमिन्दुः ॥४३॥

जो देवी पार्वती का विलासव्यजन है, एकान्त का निष्पट केलि-
दीप है, प्रणयवोप के लिए जो अस्त्ररूप है, जो दाँतों के द्वारा उत्पन्न कर
दी गई हुई पीड़ा वाले अधर के लिए एकमात्र सेंक का काम देता है,
पत्ररचना के समय जो दर्पण का काम देता है और बक कर मोने के विषय में
जो कपोतों के नीचे का तर्किया है वह भगवान् शिव की जटारूपी कन्दली से
निबल्ला हुआ फूल चन्द्रमा तुम लोगों की विपत्ति को दूर करे ॥ ४३ ॥

अत्र तालवृन्तादिकार्यसामान्यादभेदोपचारनिबन्धनो रूपका-
लंकारविन्यासः सर्वेषामेव पर्यायिणाम् शोभातिशयकारित्वेनोपनिबद्धः।

यहाँ पर तालवृन्त आदि वाक्यों में समान रूप से पाये जाने वाले
एकाधिकरण्य के कारण तादात्म्यमूलक लक्षणा पर आधारित रूपक अलङ्कार
का विन्यास सभी पर्यायों की शोभा की सर्वातिशायी रूप से प्रस्तुत करनेवाले
के रूप में किया गया है।

पण्ठीसमासपक्षोदाहरणं यथा—

देवि त्वन्मुखपङ्कजेन शशिनः शोभातिरस्कारिणा

वश्याब्जानि विनिर्जितानि सहसा गच्छन्ति विच्छायताम् ॥ ४४ ॥

पण्ठी-समास वाले पक्ष का उदाहरण जैसे—(रत्नावली नाटिका में नायक वत्सराज उदयन देवी वासवदत्ता की चाटुकारिता में लगा हुआ कहना है कि)—हे देवि ! देखो, शशधर की सुरमा की अवहेलना करने वाले तुम्हारे वदनारविन्द से पराजित अथवा तिरस्कृत ये कमल अरुस्मात् शोभाहीन होते जा रहे हैं ॥ ४४ ॥

अत्र स्वरससंप्रवृत्तसायंसमयसमुचिता सरोरुहाणां विच्छायता-
प्रतिपत्तिर्नायकेन नागरकतया वल्लभोपलालनाप्रवृत्तेन तन्निर्दशनापक्रम
रमणीयत्वमुखेन निजितानीवेति प्रतीयमानोत्प्रेक्षालंकारकारित्वेन
प्रतिपाद्यते । एतदेव च युक्तियुक्तम् । यस्मात्सर्वस्य कस्यचित्पङ्कजस्य
शशाङ्कशोभातिरस्कारितां प्रतिपद्यते । त्वन्मुखपङ्कजेन पुनः शशिनः
शोभातिरस्कारिणा न्यायतो निजितानि सन्ति विच्छायतां गच्छन्ती-
वेति प्रतीयमानस्योत्प्रेक्षालक्षणस्यालंकारस्य शोभातिशयः समु-
त्प्लस्यते ।

यहाँ अपनी सन्ध्यावेला के अनुरूप स्वाभाविक ढङ्ग में मन्पन्न होने वाली कमलों की शोभाहीनता की सबित्त को, प्रियतमा की चाटुकारिता में प्रवृत्त नायक ने बड़े ही चातुर्यपूर्ण ढङ्ग से उन कमलों के साथ सादृश्य बताने के उपक्रम में रमणीयता के प्रतिपादन द्वारा 'मानो पराजित से हो गए हैं' इस प्रकार से गम्भ्य उत्प्रेक्षा अलङ्कार के विधायक रूप में प्रतिपादित किया है । तथा यही समीचीन भी है । क्योंकि सभी कितनी कमल की कान्ति चन्द्रमा की कान्ति से अनादृत हो जाती है फिर भला चन्द्रमा की (भी) कान्ति की अवहेलना करने वाले तुम्हारे मुखारविन्द से पराजित होकर जो शोभाहीन से होते जा रहे हैं यह तो न्यायानुक्त ही है । इस प्रकार गम्भ्य उत्प्रेक्षारूप अलङ्कार का सौन्दर्यातिशय व्यक्त किया जा रहा है ।

एवं पर्यायवक्रतां विचार्य क्रमसमुचितावसरामुपचारवक्रतां विचारयति—

यत्र दूरान्तरेऽन्यस्मात्सामान्यमुपचर्यते ।

सौतेनापि भवत् कांचिद्वक्तुमुद्रिक्तवृत्तिताम् ॥ १३ ॥

इस प्रकार पर्यायवक्रता का विवेचन कर क्रमानुसार अवनतप्राप्त उच्चा वक्रता का विवेचन प्रस्तुत करते हैं—

जहाँ किसी अतिशयपूर्ण व्यापार (धर्म) के भाव को प्रतिपादित करने के लिए अत्यधिक व्यवधानवाली वर्ण्यमान वस्तु में दूसरे पदार्थ से किञ्चिन्मात्र रूप में भी विद्यमान साधारण धर्म का आरोप किया जाता है वहाँ उपचारवक्रता होती है ॥ १३ ॥

यन्मूला सरसोल्लेखा रूपकादिरलंकृतिः ।

उपचारप्रधानासौ वक्रता काचिदुच्यते ॥ १४ ॥

(एव) जिसके मूल में होने के कारण रूपकादि अलङ्कार चमत्कारयुक्त हो जाते हैं वह उपचार की प्रधानतावाली कोई अपूर्व (उपचार) वक्रता कही जाती है ॥ १४ ॥

असौ काचिदपूर्वा वक्रतोच्यते वक्रभावोऽभिधीयते । कीदृशी—
उपचारप्रधाना । उपचरणमुपचारः स एव प्रधानं यस्याः सा तथोक्ता ।
किंस्वरूपा च—यत्र यस्यामन्यस्मात्पदार्थान्तरात् प्रस्तुतत्वाद्वर्ण्यमाने
वस्तुनि सामान्यमुपचर्यते साधारणो धर्मः कश्चिद्वक्तुमभिप्रेतः
समारोप्यते । कस्मिन् वर्ण्यमाने वस्तुनि—दूरान्तरे । दूरमनल्पमन्तरं
व्यवधानं यस्य तत्तथोक्तं तस्मिन् ।

यह कोई अपूर्व वक्रता अर्थात् वांकपन कहा जाता है । कौंसी (वक्रता)
उपचार के प्रधानत्व वाली । उपचरण को उपचार कहते हैं (उपचरण से
जातपर्यं है साथ-साथ गमन अर्थात् गौण रूप होना—य्योकि जिसके
साथ गमन किया जाता है वह तो हुआ प्रधान एवं उसके साथ-
साथ चलने वाला हुआ गौण । उमी प्रकार शब्द का मकेतित अर्थ तो हुआ
मुख्य अर्थ पर उसके साथ-साथ प्रतीत होने वाला अर्थ हुआ गौण । इसी
गौणता को अथवा अमुख्यता को उपचार कहते हैं) वही रहता है प्रधान
रूप से जिसमें उसे उपचारवक्रता कहते हैं । और क्या स्वरूप है (इस
उपचारवक्रता का) ?—जहाँ अर्थात् जिस वक्रता में (वर्ण्यमान से भिन्न)
दूसरे पदार्थ से, प्रस्तुत होने के कारण वर्ण्यमान वस्तु में सामान्य उपचरित
होता है अर्थात् उस वस्तु में विवक्षित (दूसरे पदार्थ के) किसी साधारण
धर्म का सम्यक् आरोप किया जाता है (उसे उपचारवक्रता कहते हैं) ।
किस वर्ण्यमान वस्तु में (आरोप किया जाता है) दूरान्तरवाली (वस्तु में) ।
दूर माने अत्यधिक अन्तर अर्थात् व्यवधान होता है जिसमें (उस वर्ण्यमान
वस्तु में आरोप किया जाता है) ।

ननु च व्यवधानममूर्तत्वाद्वर्ण्यमानस्य वस्तुनो देशविहितं तावन्न संभवति । कालविहितमपि नास्त्येव, तस्य क्रियाविषयत्वात् । क्रिया-स्वरूपं कारकस्वरूपं चेत्युभयात्मकं यद्यपि वर्ण्यमानं वस्तु, तथापि देशकालव्यवधानेनात्र न भवितव्यम् ।। यस्मात्पदार्थानामनुमानवत् सामान्यमात्रमेव शब्दद्विषयीकर्तुं पायंते, न विशेषः । तत्कथं दूरान्तर-त्वमुपपद्यते ?

(इस पर पूर्वपक्षी प्रश्न करता है कि आपने जो वर्ण्यमान वस्तु में अनल्प व्यवधान बताया है, वह) व्यवधान वर्ण्यमान वस्तु के अमूर्त होने के कारण देशविहित तो सम्भव ही नहीं हो सकता (क्योंकि देशविहित व्यवधान केवल मूर्त पदार्थों में ही सम्भव होता है ।) तथा (उस वस्तु में) कालवृत्त (व्यवधान) भी सम्भव नहीं क्योंकि वह क्रियाविषयक होता है (वर्ण्यमान वस्तु में कोई क्रिया होती ही नहीं । इस प्रकार यह कथन कि वस्तु में व्यवधान होता है ठीक नहीं । इसी प्रश्न को और भी दृढ़ करने के लिए पूर्वपक्षी और भी कहता है कि यदि आप यह कहे कि कल्पितत्वा के समय उसके मस्तिष्क में वर्ण्यमान वस्तु क्रिया एवं कारक दोनों से युक्त स्वरूप उपस्थित रहता है । अतः कालवृत्त एवं देशवृत्त दोनों व्यवधान सम्भव है तो ठीक नहीं । (क्योंकि) यद्यपि वर्ण्यमान वस्तु (कविकल्पना में) कारकस्वरूप एवं क्रियास्वरूप दोनों प्रकार की होती है फिर भी यहाँ देशविहित अथवा काल-विहित (व्यवधान) सम्भव ही हो सकते, क्योंकि (व्यवधान तो विशेष में होता है, सामान्य में नहीं और कविकल्पना में) पदार्थों का अनुमान की भाँति केवल सामान्य ही शब्दों का विषय बनता है, न कि विशेष, अतः (वस्तु में) अत्यधिक व्यवधान का होना कसै सम्भव हो सक्ता है ?

सत्यमेतत्, किन्तु 'दूरान्तर'-शब्दो मुख्यतया देशकालविषये विप्रकर्षे प्रत्यासत्तिविरहे वर्तमानोऽप्युपचारात् स्वभावविप्रकर्षे वर्तते । सोऽयं स्वभावविप्रकर्षो विरुद्धधर्माध्यासलक्षणः पदार्थानाम् । यथा मूर्तिमत्त्वममूर्तत्वापेक्षया, द्रवत्वं च घनत्वापेक्षया, चेतनत्वम-चेतनत्वापेक्षयेति ।

(इस पूर्वपक्ष का निदान्त पक्ष उत्तर देता है कि) ठीक है (आपकी) यह बात (कि वस्तु में व्यवधान सम्भव नहीं) फिर भी 'दूरान्तर' शब्द मुख्य रूप से देश-कालविषयक विप्रकर्ष अर्थात् दूरी अर्थ का प्रतिपादक होने पर भी उपचार अर्थात् (गौण रूप) से स्वभाव के विप्रकर्ष का भी प्रतिपादक होता है । तथा वही यह पदार्थों के स्वभाव का अप्रकर्ष विपरीत धर्मों का

आरोपस्वरूप होता है। जैसे—मूर्तिमत्ता अमूर्तता की अपेक्षा, द्रवस्पर्शता घनत्व की अपेक्षा, चेतनता अचेतनता की अपेक्षा (विरुद्ध धर्मों का होने के कारण दूरव्यवधान वाली होती है)।

कीदृक् तत्सामान्यम्—लेशेनापि भवत् । मनाङ्मात्रेणापि सत् ।
किमर्थम्—काचिदपूर्वामुद्रिक्तवृत्तितां ववतुं सातिशयपरिस्पन्दताम-
भिधातुम् । यथा—

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतः ॥ ४५ ॥

(इस प्रकार 'दूरान्तर' पद की सम्यक् उपपत्ति का विवेचन कर अब पुनः चारिका की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं कि जो सामान्य उपचरित होता है) वह सामान्य कैसा होता है—लेश से भी विद्यमान अर्थात् थोड़ा-सा भी विद्यमान (सामान्य उपचरित होता है)। किस लिये (यह सामान्य उपचरित किया जाता है)—किसी अपूर्व उद्रिक्तवृत्तिता अर्थात् अतिशय पूर्ण व्यापार अथवा धर्म के भाव का प्रतिपादन करने के लिए। जैसे—

(उदाहरण सङ्ख्या २।२७ पर पूर्वोदाहृत पद्य का निम्न अंश कि)
(अपनी) स्निग्धः ॥ ४५ ॥

अत्र यथा बुद्धिपूर्वकारिणः कैचिच्चेतनवर्णच्छायातिशयोत्पाद-
नेच्छया केनचिद्विद्यमानलेपनशक्तिना मूर्तेन नीलादिना रञ्जनद्रव्य-
विशेषेण किचिदेव लेपनीयं मूर्तिमद्वस्तु वस्त्रप्रायं लिम्पन्ति, तद्वदेव
तत्कारित्वसामान्यं मनाङ्मात्रेणापि विद्यमानं कामप्युद्रिक्तवृत्तिताम-
भिधातुमुपचारात् स्निग्धश्यामलया कान्त्या लिप्तं वियद् द्यौरित्युप-
निबद्धम् । 'स्निग्ध'-शब्दोऽप्युपचारवक्र एव । यथा मूर्तं वस्तु दर्शन-
स्पर्शनसंवेद्यस्नेहनगुणयोगात् स्निग्धमित्युच्यते, तथैव कान्तिरमूर्ता-
प्युपचारात् स्निग्धेत्युक्ता । यथा वा—

यहां पर जिस तरह बुद्धिपूर्वक कार्य करने वाले कुछ लोग वर्णों की चेतन कान्ति के अतिशय को उत्पन्न करने की इच्छा से किसी लेपन शक्ति से युक्त नील आदि वास्तविक रंगों के माध्यम स्वरूप वस्तु विशेष के द्वारा किसी रंगों के योग्य मूर्तिमती या ठोस वस्तु जैसे कि बरख को रंगते हैं उसी तरह उसे कर सबने का साधन केवल थोड़ा-सा भी स्थित रह कर किसी अति-
शायी व्यापार के भाव को लक्षणा के द्वारा प्रस्तुत करने के लिए 'चित्रनी सावली कान्ति से रंगा हुआ आकाश अर्थात् स्वर्ग' इस ढंग से प्रस्तुत किया गया है। 'स्निग्ध' शब्द भी लक्षणा की वक्रता से ही सबलित है। जैसे कि ठोस

चोज देखने-झूने और अनुभव करने योग्य स्निग्धत्व के गुण के समावेश के कारण चिकनी कही जाती है उसी तरह अमूर्त कान्ति को भी उपचार के बल पर चिकनी कहा गया है। अथवा जैसे—

गच्छन्तीनां रमणवर्त्तति योषितां तत्र नवतं
रुद्धातोके नरपतिपथे सूचिभेद्यस्तमोभिः ।
सौदामिन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वी
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मास्म भूषिष्यतवास्ताः ॥ ४६ ॥

(मेघदूत में विरही यश अपनी प्रियतमा के पास सन्देश ले जाने वाले मेघ से मार्ग निर्देश करता हुआ उज्जयिनी के विषय में कहता है कि हे मेघ ! तुम) वहाँ (उज्जयिनी में) राजि में घोर (सूचिभेद्य) अन्धकार के द्वारा सड़को पर प्रकाश के रुद्ध हो जाने पर (अपने) प्रियतम के निवास स्थान को जाती हुई अबलाओं को स्वर्ण-कसीटी के समान स्निग्ध (चमकीली) विजली के द्वारा भूमि दिखाना (अर्थात् मार्ग प्रदर्शन करना) रोक्किन जलवृष्टि एवं गर्जन के द्वारा दुर्मुख मत हो जाना (अन्यथा वे) विह्वल हो जायेंगी ॥ ४६ ॥

अत्रामूर्तानामपि तमसामतिबाहुल्याद् घनत्वान्मूर्तंसनुचित
सूचिभेद्यत्वमुपचरितम् । यथा वा—

गगनं च मत्तमेहं धारालुलिग्रज्जुगाइ अ वणाइ ।
गिरहंकारमिअंका हरंति नीलाग्रो पि पिताग्रो ॥ ४७ ॥

(गगनं च मत्तमेहं धारालुलिनार्जुनानि च वनानि ।
निरहंकारमृगाङ्का हरन्ति नीला अपि निशा. ॥)

यहाँ पर अमूर्त भी अन्धकारों की बहलता से उनके घने होने के कारण मूर्त के लिए उचित सूचिभेद्य उपचरित हुआ है। अर्थात् सूई के द्वारा भेदन किसी मूर्त पदार्थ का ही सम्भव है। किन्तु जैसे कि मूर्त पदार्थ घना होता है उसी प्रकार अन्धकार के बाहुल्य के कारण अन्धकार भी घना प्रतीत होने लगता है। इसीलिए केवल इसी सघनता मात्र के सामर्थ्य के कारण यहाँ सूची-भेद्य शब्द का प्रयोग उपचार से किया गया है। इसलिए यहाँ उपचार-वक्रता होगी। अथवा जैसे (इसी का अन्य उदाहरण)—

अहंकाररूपी चन्द्रमा से शून्य काली रातें भी मतवाले मेघों वाले आकाश को और (वर्षा की) धाराओं से शुष्क अर्जुनों वाले वनों को हटा देती हैं ॥ ४७ ॥

अत्र मन्तव्यं निरहंकाररत्वं च चेतनधर्मसामान्यमुपचरितम् ।
सौख्यमुपचारवक्रताप्रकारः सत्कविप्रवाहे सहस्रशः संभवतीति
सहृदयैः स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयः । अत एव च प्रत्यासन्नान्तरेऽस्मिन्नुपचारे
न वक्रताव्यवहारः, यथा गौर्वाहीक इति ।

यहाँ प्राणियों का सामान्य धर्मभूत मतवालापन एव अहङ्कारहीनता
उपचरित हुई है । अर्थात् अहंकार से रहित होना, एव मदमत्त होना तो
चेतन प्राणियों का ही धर्म है वह अचेतन में तो सम्भव नहीं हो सकता किन्तु
यहाँ मत्तता एव निरहङ्कारता का प्रयोग क्रमशः बादलो एव चन्द्रमा के लिए
हुआ है जो कि उनमें सम्भव नहीं है । लेकिन जिस प्रकार से मतवाला मनुष्य
झर झर भटका करता है उसी प्रकार आकाश भी झर झर आकाश में
भ्रमण करते हैं इसीलिए केवल झर झर भ्रमण करने के ही साम्य को लेकर
बादलों के लिए मत्त शब्द का अमुख्य रूप से उपचारन प्रयोग हुआ है, उसी
प्रकार जैसे चेतन प्राणी का रूप अथवा सम्पत्ति आदि से हीन हो जाने पर
अहंकार समाप्त हो जाता है और वह निरहंकार हो जाता है उसी प्रकार
चन्द्रमा भी बादलों के छाये रहने के कारण अपने प्रकाश अथवा अपनी
चन्द्रिका से रहित रहता अतः इसी रूपरहित्य के साम्य के कारण ही चन्द्रमा
के लिए निरहंकार शब्द का प्रयोग गौण रूप से उपचारत उनकी प्रकाश-
हीनता को द्योतित करने के लिए किया गया है । अतः यहाँ उपचार-
वक्रता हुई ।

इसी उदाहरण को आनन्दवर्द्धनाचार्य ने 'अत्यन्त तिरस्कृत वाक्य
ध्वनि' के वाक्यगत उदाहरण रूप में उद्धृत किया है । उसकी अभिनवगुप्त-
पादाचार्य ने इस प्रकार किया है—

इस प्रकार यह उपचार-वक्रता का भेद श्रेष्ठकवियों की प्रवृत्ति के अन्तर्गत
(अर्थात् उनके काव्यों में) हजारों तरह का सम्भव हो सकता है अतः
सहृदयों को स्वयं ही उसका विचार कर लेना चाहिए । (क्योंकि उसे चार-
छ उदाहरणों द्वारा नहीं बताया जा सकता) ।

इदमपरमुपचारवक्रतायाः स्वरूपम्—यन्मूला सरसोल्लेखा रूप-
कादिरत्नकृतिः । या मूलं यस्याः सा तथोक्ता । रूपकमादिर्यस्याः सा
तथोक्ता । का सा—अलंकरणरत्नकृतिरूपकप्रभृतिरलंकारविच्छिन्ति-
रित्यर्थः । कोदृशी—सरसोल्लेखा । सरसः सास्वादः सचमत्कृति-
रुल्लेखः समुन्मेषो यस्याः सा तथोक्ता । समानाधिकरणयोरत्र हेतु-
हेतुमद्भावः, यथा—

उपचार-वक्रता का यह दूसरा स्वरूप है—जिसके मूल में होने के कारण रूपकादि अलङ्कार सरम उल्लेख वाले हो जाते हैं। जो जिसका मूल होता है उसे यन्मूलक कहते हैं। रूपक जिसके आदि में होता है उसे रूपकादि कहते हैं। वह (रूपकादि) क्या है—अलङ्कृति अर्थात् आभूषण। तात्पर्य यह है कि जिसके मूल में होने के कारण रूपक आदि अलङ्कारों की शोभा। कैसे (हो जाती है) सरम उल्लेख से युक्त। सरम का अर्थ है आम्बादपूर्ण अर्थात् चमत्कारमम्पन्न होता है उल्लेख अर्थात् भोजी भाँति प्रकाश जिसका उसे सरम उल्लेख से युक्त कहा जाता है। ममान अधिकरण वाले अलङ्कृति और 'सरमोन्लेखा' में हेतुहेतुमद्भाव सम्बन्ध है, जैसे—

प्रतिगुरवो राजभाषा न भक्ष्या इति ॥ ४८ ॥

यन्मूला सती रूपकादिरलङ्कृतिः सरसोऽल्लेखा । तेन रूपकादेर-
लङ्करणकलापस्य सकलस्यैवोपचारवक्रता जीवितमित्यर्थः ।

बहुत बड़े-बड़े काने उड़द के दाने नहीं खाना चाहिए ॥ ४८ ॥

जिसके मूल में रहने के कारण ही रूपकादि अलङ्कार चमत्कार पूर्ण वर्णन में युक्त हो जाते हैं (उसे भी उपचारवक्रता कहते हैं)। इसलिए उसका आगम यह निकला कि उपचारवक्रता रूपकादि समस्त अलङ्कार-समुदाय का जीवितभूत है।

ननु च पूर्वस्मादुपचारवक्रताप्रकारादेतस्य को भेदः ? पूर्वस्मिन् स्वभावविप्रकर्शत् सामान्येन मनाङ्मात्रमेव साम्यं समाधित्य साति-
शयत्वं प्रतिपादयितुं तद्वर्तमानाद्यारोप-प्रवर्तते, एतस्मिन् पुनरदूर-
विप्रकृष्टनाड्ययममुद्बुधप्रयासतिसन्वितत्वादभेदोपचारनिरन्धन-
तन्वमेवाध्यारोप्यते । यथा—

पहले बड़े गये उपचारवक्रता के प्रकार से इस उपचारवक्रता-प्रकार का क्या भेद है।

पहले (वक्रताप्रकार) में स्वभाव का अत्यन्त विप्रकर्ष होने से माघा-
रणतया लेगमाय ही माहुर्य का आधार ग्रहण कर (उत्त पदार्थ की) अत्य-
धिक उत्तपंयुक्तता का बोध कराने के लिए केवल (अन्य पदार्थ के) धर्म
को ही आरोपित किया जाता है, जबकि इन (द्वितीय वक्रता-प्रकार) में
बहुत ही छोटे व्यवधान काने पदार्थ के सादर्य से उत्तम अत्यन्त मनीयता
के योग्य होने से अभेदोपचार के कारणभूत उस पदार्थ को ही आरोपित
किया जाता है। (अर्थात् पहले भेद में केवल पदार्थ के धर्म का आरोप होता
है जबकि दूसरे प्रकार में पदार्थ का ही आरोप किया जाता है) जैसे—

सत्स्वेव कालश्रवणोत्पलेषु सेनावनालीविषपत्तलेषु ।

गाम्भीर्यपारतालफणीश्वरेषु खड्गेषु को वा भवतां मुरारिः ॥४६॥

अत्र कालश्रवणोत्पलादिसादृश्यजनितप्रत्यासत्तिविहितमभेदो-
पचारनिबन्धनं तत्त्वमध्यारोपितम् ।

‘आदि’-ग्रहणादप्रस्तुप्रशंसाप्रकारस्य कस्यचिदन्यापदेशलक्षण-
स्योपचारवक्तृत्वं जीवितत्वेन लक्ष्यते ।

मृत्यु रूप श्रवणो के (सजाने हेतु) कमलरूप, या सैन्यरूप वन-
बीधिका के विष किसलयभूत, वा गम्भीरतारूपी पानाज के (धारण करने
वाने) अहिपतिरूप आपके खड्गो के स्थित रहने पर मुरारि अर्थात् विष्णु
क्या चीज है ॥ ४९ ॥

(‘यन्मूला मरमोत्लेखा रूपकादिरलङ्घति ’ में रूपक के साथ) आदि के
ग्रहण करने से किसी अन्योक्तिरूप अप्रस्तुतप्रशंसा अङ्कुर के प्रकारविशेष
की भी प्राणभूता उपचारवज्रता ही परिलक्षित होती है ।

तथा च किमपि पदार्थान्तर प्राधान्येन प्रतीयमानतया चेतसि
निधाय तयाविधलक्षणसान्ध्यसमन्वयं समाधि य पदार्थान्तरमभिधीय-
मानतां प्रापयन्त प्रायश कवयो श्रूयन्ते । यथा—

और जैसा कि पविजन अधिकतर मुख्यतया किसी दूसरे पदार्थ को गम्य
रूप में अगने हृदय में निहित कर उसी प्रकार के स्वरूप के सादृश्यरूप
सम्बन्ध को आधार बनाकर दूसरे पदार्थ का प्रतिपादन करने हुए दिखाई
पड़ते हैं । जैसे—

अनर्घः कोऽप्यस्नस्तव हरिण हेवाकमहिमा

स्फुरत्येकस्थैव त्रिभुवनचमत्कारजनक ।

यदिन्दोर्मूर्तिस्ते दिवि बिहरणारण्यवसुधा

सुधासारस्यन्दो किरणनिकरः शश्वकवजः ॥ ५० ॥

(हरिण को प्रतिपाद्य बनाता हुआ कोई कहना है कि) हे मृग ! तुम्हारे
अगले की हों, तीनों लोकों में चमत्कार को उत्पन्न करने वाली (तुम्हारे
द्वारा) प्रेरित कोई अमूल्य (अतुलनीय) खड्ग की महत्ता स्फुरित होती है
जिससे (भयभीत होकर) चन्द्रमा का बनेबर तुम्हारे बिहार करने के लिए
अरण्यभूमि बना हुआ है एवं अमृततत्त्व को प्रवाहित करने वाला (चन्द्रमा
की) रश्मियों का समुदाय (तुम्हारे भक्षण के लिए) वानतृणों का ग्राम
बना हुआ है । ५० ॥

अत्र लोकोत्तरत्वं लक्षणमुभयानुयायि सामान्यं समाधित्य प्राधान्येन विवक्षितस्य वस्तुनः प्रतीयमानवृत्तेरभेदोपचारनिबन्धनं तत्त्वमध्यारोपितम् । यथा चैतयोर्द्वयोरप्यतन्कारयोस्तुल्येऽप्युपचार-वशताजीवितत्वे वाच्यत्वमेकत्र प्रतीयमानत्वमपरस्मिन् स्वरूपभेदस्य निबन्धनम् । एतच्चोभयोरपि स्वलक्षणव्याख्यानादसरे समुन्मील्यते ।

यहां (हरिण तथा अलौकिक प्रभाववाले व्यक्ति) दोनों में अनुगत अलौकिकत्वरूप सामान्य (धर्म) का आधार ग्रहण कर मुख्यरूप से प्रतिपादित करने के लिए अभीष्ट गम्यवृत्तिवाले पदार्थ के अभेदोपचार के कारणभूत उस (हरिणरूप) पदार्थ का ही आरोप कर दिया गया है । और इसी लिए इन दोनों अलङ्कारों में उपचारवक्रता के मनाने रूप से प्राप्त रूप होने पर भी एक जगह (रूपबालङ्कार में) वाच्यरूपना एव दूसरी जगह (अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार में) प्रतीयमानता दोनों अलङ्कारों के स्वरूप भेद का कारण है । यह (बात) दोनों के ही अपने-अपने लक्षणों की व्याख्या करने समय भलीभांति स्पष्ट किया जायगा ।

एवमुपचारवशतां दिवेच्य समनंतरप्राप्तावकाशां दिशेषणवशतां विवक्षित—

विशेषणस्य माहात्म्यात् क्रियायाः कारकस्य वा ।

यत्रोल्लसति लावण्यं सा विशेषणवक्रता ॥ १५ ॥

इस प्रकार उपचारवक्रता का विवेचन कर तदनन्तर स्थानप्राप्त दिशेषणवशता का विवेक प्रारम्भ करने हैं—

यहां विशेषण के माहात्म्य से द्रिष्टा अथवा कारक (रूप वस्तु) की समनीयता प्रकाशित होती है उसे 'विशेषणवक्रता' कहते हैं । (क्योंकि वहां लोकोत्तर विशेषण के कारण ही सौन्दर्य व्यक्त होता है) ॥ १५ ॥

सा विशेषणवक्रता दिशेषणवशत्वविच्छित्तिरभिधीयते । कीदृशी यत्र यस्यां लावण्यमुल्लसति रामणीयकमुद्भिद्यते । कस्य—क्रियायाः कारकस्य वा । क्रियालक्षणस्य वस्तुनः कारकलक्षणस्य वा । वस्मात्—विशेषणस्य माहात्म्यात् । एतयोः प्रत्येकं यद्विशेषणं भेदकं (तस्य माहात्म्यात्) पदार्थातिरस्य सातिशयत्वात् । किं तत्सातिशयवम्—भावस्यभावसौकुमार्यसमुत्पातकत्वमसंकारच्छाया-तिशयपरिपोषकत्वं च । यथा—

उसे विशेषणवक्रता अर्थात् विशेषण के वैचित्र्य में उत्पन्न शोभा कहा जाता है। कैसी (है वह विशेषणवक्रता) ? जहाँ अर्थात् जिस (वक्रता) में लावण्य उत्पन्न होता है अर्थात् रमणीयता व्यक्त होती है। किसकी (रमणीयता व्यक्त है) क्रिया अथवा कारक की। तात्पर्य यह कि क्रियारूप वस्तु की या कारकरूप वस्तु की (रमणीयता व्यक्त होती है)। किसके कारण-विशेषण के माहात्म्य के कारण। अर्थात् इन (क्रिया एवं कारक रूप) दोनों (वस्तुओं) के जो विशेषण अर्थात् (एक दूसरे के अपने सजातीय से) भेदक होते हैं (उनके माहात्म्य के कारण) दूसरे पदार्थ के उत्कर्ष युक्त हो जाने से (रमणीयता आती है) वव अतिशययुक्तता क्या है ? (१) वस्तु की सहज सुकुमारता को भलीभाँति व्यक्त करना तथा (२) अलङ्कारों की शोभा के उत्कर्ष को परिपुष्ट करना (ही अनिशययुक्तता है), जैसे—(वस्तु की सहज सुकुमारता को व्यक्त करने वाले कारकविशेषण का उदाहरण)—

अमजलसेकजनिततबलिखितनखपददाहमूर्च्छिता

वत्तभरभसलुलितललितालकवलयचयाधनिह्नुता ।

स्मररसविविधविहितसुरतत्रमपरिमलनत्रपालसा

जयति निशात्यथे युवतिदृक् तनुमधुमदविशदपाटला ॥५१॥

रात्रि के समाप्त हो जाने पर तुरन्त के आरोपित नखत्रणों में स्वेद के लगने से उत्पन्न छरछराहट के कारण मूर्च्छित, प्रियतमों के द्वारा सावेश में बिखेर दी गई हुई मुन्दर बालों की घुघराती लटों से आधी ढकी हुई, काना-मिलाप के कारण सम्पादित अनेकानेक सम्भोग-परम्पराओं के सिलसिले से किए गये मदन के कारण उत्पन्न लज्जावश अलसायी और उतरी हुई शराव की घुमारी के कारण साफ गुलाबी सुन्दरियों की नजर सबसे बड़-चढ़कर मालूम पड़ती है ॥ ५१ ॥

यथा वा —

करान्तरालीनकपोलभित्तिर्वाप्नोच्छलत्कूणितपत्रलेखा ।

ओत्रान्तरे पिण्डितचित्तवृत्तिः शृणोति गीतध्वनिमत्र तन्वो ॥ ५२ ॥

अथवा जैसे—

हथेलियों के बीच छुनायी गयी हुई कपोलफलकवाली और आँगुओं के उमड़ने के कारण फैल गई हुई (कपोल की) पक्षरचनावाली और कर्णरन्ध्र में ही अपनी चित्तवृत्ति को समेटकर लगा देनेवाली यह विरहिणी बाला गीत के शब्दों को सुन रही है ॥ ५२ ॥

यथा वा—

शुचिशीतलचन्द्रिकाप्लुताश्रिरनिःशब्दमनोहरा दिशः ।

प्रशमस्य मनोभवस्य वा हृदि तस्याप्पय हेतुतां ययुः ॥ ५३ ॥

या जैसे—

घबल शीतल चाँदनी से आप्लावित और काफी देर से गुनगुन और मनोहारी दिशाएँ उसके भी हृदय में या तो वैराग्य या कामभावना को जगाने का कारण बनी ॥ ५३ ॥

क्रियाविशेषणवक्रत्वं यथा—

सस्मार चारणपतिविनिमोलिताक्षः

स्वेच्छाविहारवनवासमहोत्सवानाम् ॥ ५४ ॥

[इस प्रकार कारकविशेषण वक्रता के तीन उदाहरण प्रस्तुत कर कुन्तक क्रियाविशेषणवक्रता का उदाहरण प्रस्तुत करने हैं—]

क्रियाविशेषणवक्रता (का उदाहरण) जैसे—

करिराज जंगल में रहने के समय के स्वेच्छापूर्वक किए गए विहार के महोत्सवों को आँख मूंद कर याद करने लगा ॥ ५४ ॥

अत्र सर्वत्रैव स्वभावसौन्दर्यसमुल्लासकत्वं विशेषणानाम् । अलं-
कारच्छापतिपरिपोषकत्वं विशेषणस्य यथा—

शशिनः शोभातिरस्कारिणा ॥ ५५ ॥

एतदेव विशेषणवक्रत्वं नाम प्रस्तुतीचित्यानुसारि सकतसत्काव्य-
जीवितत्वेन लक्ष्यते, यस्मादनेनैव रसः परां परिषादपदबोमञ्जतायेति ।
यथा—

करान्तरालीन इति ॥ ५६ ॥

यहाँ सभी उदाहरणों में विशेषण सहज रमणीयता को व्यक्त करते हैं ।
विशेषण की अलङ्कारों की शोभा के उत्कर्ष की परिपुष्टि जैसे—

(उदाहरण संख्या २।४४ पर पूर्वोद्धृत—शशिनः शोभातिरस्का-
रिणा ॥ ५५ ॥

यह विशेषण वर्ण्यमान पदार्थ के औचित्य के अनुरूप होने पर यही
विशेषणवक्रता समस्त थोड़ा काव्यों की प्राणभूता प्रतीत होती है, क्योंकि इसी
के कारण रस अपनी परिपुष्टि की चरम स्थिति को पहुँचाया जाना है । जैसे—
उदाहरण संख्या २।५२ पर उदाहृत करान्तरालीन ॥ इत्यादि
श्लोक ॥ ५६ ॥

स्वमहिम्ना विधीयन्ते येन लोकोत्तरश्रियः ।

रसस्वभावालंकारास्तद्विवेयं विशेषणम् ॥ ५७ ॥

(इति) अन्तरालोकः ॥

जो अपने माहात्म्य से रस, (वस्तु) स्वभाव और अलङ्कार को अलौकिक सौन्दर्य से युक्त बना दे, (काव्य में महाकविषो द्वारा) वैसे ही विशेषण का प्रयोग करना चाहिए ॥ ५७ ॥

यह अन्तरालोक है ।

एवं विशेषणवक्रतां विचार्य क्रमसमर्पितावतरां संवृतिवक्रतां विचारयति—

यत्र संव्रियते वस्तु वैचित्र्यस्य विवक्षया ।

सर्वनामादिभिः कश्चित् सौक्ता संवृतिवक्रता ॥ १६ ॥

इस प्रकार विशेषणवक्रता का विवेचन प्रस्तुत कर अब क्रमानुगुल अवसर-प्राप्त 'संवृतिवक्रता' का विवेचन प्रस्तुत करते हैं—

जहाँ विचित्रता का प्रतिपादन करने की इच्छा से किन्हीं (अपूर्वता के प्रतिपादक) सर्वनाम आदि के द्वारा पदार्थ को छिपाया जाता है उसे संवृति-वक्रता कहते हैं (क्योंकि उसमें वस्तु के स्वरूप की संवृति अर्थात् छिपाने की प्रधानता से ही चमत्कार आता है, अतः उसे संवृति वक्रता कहत हैं ।) ॥ १७ ॥

सौक्ता संवृतिवक्रता—या किलैवंविधा सा संवृतिवक्रतेत्युक्ता कथिता । संवृत्या वक्रता संवृतिप्रधाना वेति समासः । यत्र यस्यां वस्तु पदार्थलक्षणं संव्रियते समाच्छाद्यते । केन हेतुना—वैचित्र्यस्य विवक्षया विचित्रभावस्याभिधानेच्छया । यया पदार्थो विचित्रभावं समासादयतीत्यर्थः । केन संव्रियते—सर्वनामादिभिः कश्चित् । सर्वस्य नाम सर्वनाम तदादियेषां से तथोक्तास्तः कश्चिदपूर्वैर्वाचकै-रित्यर्थः ।

उसे संवृतिवक्रता प्रधान कहा जाता है । जो इस प्रकार की होती है उसे संवृतिवक्रता कहा जाता है । संवरण के कारण जो वक्रता होती है अथवा संवरण ज़िम्मे प्रधान होना है (उसे संवृति वक्रता कहते हैं) इस प्रकार दोनों तरह का समास यहाँ हो सकता है । जहाँ अर्थात् ज़िम्मे वक्रता में वस्तु अर्थात् पदार्थ के स्वरूप को संवृत किया जाता है अर्थात् छिपाया जाता है । किम हेतु से (वस्तु का संवरण किया जाता है) ?—वैचित्र्य की

विवक्षा अर्थात् विविधता के प्रतिपादन करने की इच्छा से (वस्तु का संवरण किया जाता है) जिसके कारण पदार्थ में विविधता आ जाती है । जिसके द्वारा (वस्तु का) संवरण किया जाता है ? किन्हीं सर्वनामादिको के द्वारा । सर्व का नाम सर्वनाम होता है वह जिनके भादि में होता है वे सर्वनामादि बहे जाते हैं उन्हीं सर्वनामादि किन्हीं अपूर्व शब्दों के द्वारा (वस्तु का संवरण किया जाता है) ।

अथ बह्व्यः प्रकाराः संभवन्ति । (१) अथ किमपि सात्तिशयं वस्तु वस्तु शक्यमपि साक्षादभिधानादिप्रस्तापरिच्छिन्नतया परिमित-प्राप्यं ना प्रतिभासतामिति सामान्यवाचिता सर्वनाम्नाच्छाद्य तत्कार्याभिधापिना तदतिशयाभिधानपरेण वाक्यान्तरेण प्रतीति-गोचरतां नीयते । यथा—

इसके बहुत से भेद हो सकते हैं । (१) (उनमें से पहला भेद वही होता है) जहाँ किसी वही जा सकने वाली भी उत्कर्षयुक्त वस्तु को, सामान्य वचन के कारण इयत्ता से आच्छन्न होकर सीमित हो न हो जाय इसलिए सामान्य का वचन करने वाले सर्वनाम के द्वारा आच्छादित कर उसके व्यापार का वचन करने वाले उसके उत्कर्ष का प्रतिपादन करने में तत्पर दूसरे वाक्य के द्वारा ज्ञान का विषय बनाया जाता है । जैसे—

तत्पितृयथ परिग्रहत्विप्तौ स ध्यधत्त करणोपमणोयः ।

पुष्पचापशिखरस्यकपोलो ममयः किमापं येन निदध्यौ ॥५८॥

(अपने) पिता के (दूसरी) पत्नी के इच्छुव होने पर उस (देवव्रत) ने उस वर्तमान का पालन किया जिससे कि पुष्पनिमित्त धनुष की नोक पर गाल रहे हुए कामदेव कुछ अपूर्व ही अदृष्टा वाले बना दिए गए ॥ ५८ ॥

अथ सदाचारप्रवणतया गुरुभक्तिभावितान्तकरणो लोकोत्त-रौदार्यगुणयोगाद्विविधविषयोपभोगवितृष्णमना निजैन्द्रियनिग्रहमसं-भावनोपमपि शाततन्त्रो विहितवानित्यभिधातुं शक्यमपि सामान्या-भिधापिना सर्वनाम्नाच्छाद्योत्तरार्धेन कार्यान्तराभिधापिना वाक्य-न्तरेण प्रतीतिगोचरतामानोयमानं कामपि चमत्कारकारितामावहति ।

यहाँ पर 'सिद्धाचार में तत्पर होने के कारण पिता के प्रति थडा से अभिभूत चित्त वाले एव अलौकिक सरलता रूप गुण से युक्त होने के कारण नाना प्रकार के ऐन्द्रिय उपभोगों के विरक्त-हृदय भीष्म ने सम्भावित न किए जा सकने वाले अपनी इन्द्रियों का निरोध (अर्थात् उन्हें विषयों से पराङ्मुख)।

‘कर लिया’ इस कही जा सकने वाली भी वस्तु को सामान्य का कथन करने वाले (तद्) सर्वनाम के द्वारा आच्छादित कर उत्तरार्द्ध के (कामदेव की दशा रूप) अन्य कार्य का प्रतिपादन करने वाले दूसरे वाक्य के द्वारा, ज्ञान का विषय बनाया जाता किसी अलौकिक चमत्कार की मृष्टि करता है।

(२) अयमपरः प्रकारो यत्र स्वपरिस्पन्दकाष्ठाधिरूढेः सातिशय वस्तु वचसामगोचर इति प्रययितुं सर्वनाम्ना समाच्छाद्य तत्कार्याभिधायिना तदतिशयवाचिना वाक्यान्तरेण समुन्मील्यते । यथा—

(२) यह (सवृत्ति वक्रता का) दूसरा भेद है जहाँ अपने स्वभाव के चरमोत्कर्ष को प्राप्त होने से उत्कर्षयुक्त वस्तु को अनिर्वचनीय है, ऐसा प्रतिपादित करने के लिए (उमका) सर्वनाम के द्वारा सवरण कर उस कार्य का निरूपण करने वाले उसके उत्कर्ष के प्रतिपादक दूसरे वाक्य के द्वारा व्यक्त कराया जाता है । जैसे—

याते द्वारवतीं तदा मयुरिपौ तद्दत्तकम्पानतं
कालिन्दीजलकैलिवञ्जुनलतामालम्ब्य सोत्कण्ठया ।

तद् गीतं गुह्याष्यगद्गदनतारस्वरं राधया
येनान्तर्जन्चारिभिर्जनचरैरप्युत्कमुत्कूजितम् ॥ ५६ ॥

भगवान् कृष्ण के उस समय द्वारका चले जाने पर उनके द्वारा हिजा कर झुका दी गई हुई यमुना की जलधारा में जलवेतन की लता का महारा मेकर विरह से उत्कण्ठित होकर राधा ने अत्यधिक उमड आये हुए आंगुशो के कारण भर आये हुऐ गले से तारस्वर से इस तरह गाया कि जिसके कारण शानी में विचरण करनेवाले जलजन्तु भी बहुत ही वेवैन होकर चौध उठे ॥ ५६ ॥

अत्र सर्वनाम्ना संवृतं वस्तु तत्कार्याभिधायिना वाक्यान्तरेण समुन्मील्य सहृदयहृदयहारिता प्रापितम् । यथा वा—

यहाँ (तद्) सर्वनाम के द्वारा आच्छादित वस्तु, उम कार्य का निरूपण करने वाले दूसरे वाक्य के द्वारा व्यक्त कराई जाने से सहृदयों के हृदयों को आनन्दित करने वाली हो गई है । अथवा जैसे—

तह रुणं कगह विसाहीग्राए रोहगगरगिराए ।

जह कस्त वि जम्मसए वि कोइ मा वल्लहो होउ ॥ ६० ॥

(तथा रुदित कृष्ण विभाषया रोधगद्गगिरा ।

यथा कस्यापि जन्मशतेऽपि कोऽपि मा वल्लभो भवतु ॥)

हे कृष्ण (गला) रंघा होने के कारण गद्गद वाणी वाली विशाखा ने उस प्रकार से बिलाप किया, जिनमे (ऐसा लगना था) कि सैंकड़ो जन्मो मे भी कोई किसी का प्रियतम न होवे ॥ ६० ॥

अत्र पूर्वार्धे संवृतं वस्तु रोदनलक्षणं तदतिशयाभिधायिना वाक्यान्तरेण कामपि तद्विदाह्लादकारितां नीतम् ।

यहाँ पर पूर्वोद्ध में (तथा सर्वनाम के द्वारा) छिपाई गई रोदन रूप वस्तु उसके अतिशय का प्रतिपादन करने वाले दूसरे वाक्य के द्वारा किसी अनिर्वचनीय सहृदयाह्लादकारिता को प्राप्त करा दी गई है ।

(३) इदमपरमत्र प्रकारान्तरं यत्र सातिशयसुकुमारं वस्तु कार्यातिशयाभिधानं विना संवृतिमाश्रमणीयतया कामपि काष्ठास-
घिरोप्यते । यथा—

(३) यह (संवृतिवक्रता) का (तीसरा) अन्य भेद है जहाँ अल्पधिक कोमल पदार्थ को (उसके) कार्य के उत्कर्ष का प्रतिपादन किए बिना ही केवल गोपनीयताजन्य सौन्दर्य से ही किसी अपूर्व पर्यवसान को प्राप्त कराया जाता है । जैसे—

दर्पणे च परिभोगदर्शिनी पृष्ठतः प्रणयिनो निपेतुषः ।

वीक्ष्य बिम्बमनुबिम्बमारमनः कानि कानि न चकार लज्जया ॥ ६१ ॥

आइने मे सम्भोग (जग्य नखदन्तसतादि) को देखने वाली (पार्वति) ने अपने पीछे स्थित प्रेमी (भगवान् शङ्कर) की परछाही को अपना परछाही के पीछे देख कर लज्जा से क्या क्या नहीं कर डाला ॥ ६० ॥

(४) अयमपरः प्रकारो यत्र स्वानुभवसंवेदनीयं वस्तु वचसाः
ववतुमविषय इति स्थापयितुं संव्रियते । यथा—

तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति ॥ ६२ ॥

इति पूर्वमेव ध्यास्यातम् ।

(४) (इसी संवृतिवक्रता का) यह दूसरा भेद है जहाँ केवल अपने द्वारा अनुभवगम्य बात की वाणी के द्वारा अनिर्वचनीयता प्रतिपादित करने के लिए (उस बात को सर्वनामादि के द्वारा) आच्छादित किया जाता है । जैसे—

(उदाहरण सद्यः १।५१ पर पूर्वोदाहृत 'निद्रानिमोक्तदृशो'—इत्यादि श्लोक के द्वारा नायक का अपनी प्रियतमा के अक्षरो का स्मरण कर यह

कथन कि) — (प्रियतमा के) वे अक्षर (आज भी) हृदय में कुछ (अपूर्व) ध्वनि कर कर रहे हैं ॥ ६२ ॥

इसकी व्याख्या पहले ही (१।५१) श्लोक की व्याख्या रूप में की जा चुकी है ।

(५) इदमपि प्रकारान्तरं संभवति यत्र परानुभवसंवेद्यस्य वस्तुनो बबतुरगोचरतां प्रतिपादयितुं संबृतिः क्रियते । यथा—

मन्मथः किमपि येन निदध्यौ ॥ ६३ ॥

(५) (इस संबृतिवक्रता का) यह एक अन्य भी भेद सम्भव हो सकता है जहाँ दूसरे के द्वारा अनुभवगम्य बात की वक्ता के द्वारा अगोचरता का प्रतिपादन करने के लिये (उस बात का सर्वनामादि के द्वारा) संवरण किया जाता है । जैसे—

जिससे कि कामदेव कुछ (अनिवंचनीय बात का) ध्यान करने लगा ॥ ६३ ॥

अत्र त्रिभुवनप्रयितप्रतापमहिमा तथाविधशक्तिव्याघातविपण्णचेताः कामः किमपि स्वानुभवसमुचितमचिन्तयदिति ।

यहाँ तीनों लोको में विख्यात पराक्रम की प्रभुता वाले कामदेव ने उस प्रकार (भीष्म के द्वारा आजीवन ब्रह्मचर्यव्रतपालन की प्रतिज्ञा को सुनकर अपनी) शक्ति की रुकावट से व्याकुलहृदय होकर कुछ अपने अनुभव के अनुरूप सोचने लगा । (इस प्रकार दूसरे कामदेव के अनुभवगम्य पदार्थ को वक्ता ने अपनी वाणी द्वारा व्यक्त करने में असमर्थ होकर उसका 'किमपि' सर्वनाम के द्वारा संवरण कर दिया है) ।

(६) इदमपरं प्रकारान्तरमत्र विद्यते—यत्र स्वभावेन कविविवक्षया वा केनचिदौपहत्येन युक्तं वस्तु महापातकमिव कीर्तनीयतां नाहंतीति समर्पयितुं संव्रियते । यथा—

(६) (संबृतिवक्रता का) यह अन्य भेद है—जहाँ स्वभाव के कारण अथवा कवि के कथनाभिलाष के कारण किसी दोष से युक्त वस्तु महापातक के समान कथन करने योग्य नहीं है यह प्रतिपादित करने के लिए (उस वस्तु को सर्वनामादि के द्वारा) आच्छादित किया जाता है । जैसे—

दुर्वचं तदय मास्म भूभगस्त्वय्यसौ यदकरिष्यदोजसा ।

नैनमाशु यदि वाहिनीपतिः प्रत्यपस्यत शिसेन पत्रिणा ॥ ६४ ॥

(किराताजुंजीय महाकाव्य में किरातवेषधारी भगवान् शङ्कर का एक अनुचर सैनिक अर्जुन से कहता है कि)—यह (हमारे) सेनापति ने (अपने) घने तोर से इस (बरम्ह) को शीघ्र ही न मार डालते तो यह जङ्गली पशु (अपने भयङ्कर) बल से जो कुछ करता वह कहने योग्य नहीं और (ईश्वर करें कि आपके लिये (कभी) न होवे ॥ ६४ ॥

यथा वा—

निवार्यतामालि किमप्ययं वटुः पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः ।
न केवलं यो महतोऽपभाक्षते धृगोति तस्मादपि यः स पापभाक् ॥ ६५ ॥

अपवा जैते—

(कुमारसम्भव में कपटवटुवेषधारी भगवान् शङ्कर द्वारा पार्वती की परोक्षा लेने के लिए शङ्कर की निन्दा करते समय पार्वती को अपनी मर्खी से यह कथन कि)—हे सखि ! इस वाचाट को रोको (क्योंकि) स्फुरित होते हुए होओ वाला यह फिर से कुछ कहने की इच्छा कर रहा है (क्योंकि) जो महापुरुषों की निन्दा करता है केवल वह ही नहीं (अरितु) जो उससे (उस निन्दा को) सुनता है वह पार का भाजन बनता है ॥ ६५ ॥

अत्रार्जुनमारणं भगवदपभाषणं च न कीर्तनीयतामर्हतीति
संवरणेन रमणीयता नीतम् । कविविवक्षयोपहतं यथा —

सोऽयं दम्भधूनव्रतः प्रियतमे कतुं किमप्युद्यतः ॥ ६६ ॥

इति प्रथममेव व्याख्यातम् ।

यहां (पहले श्लोक में) अर्जुन का वध एवं (हमरे श्लोक में) भगवान् शङ्कर की निन्दा कहने के योग्य नहीं है अतः संवरण के द्वारा उसे सुन्दर बना दिया गया है । कवि के कक्षाभिलाष से उपहन । जैसे—

(वासवधत्तराज नाटक में चत्तराज उदयन पद्मावती के साथ विवाह करते समय अपनी महारानी प्रियतमा वासवदत्ता की याद करके कहते हैं कि—हे प्रियतमे ! आज धूर्तता के कारण (एकपत्नी) व्रत को धारण करने वाला वह यह (उदयन) कुछ (अनुचित कार्य) करने के लिए तत्पर हो गया है ॥ ६६ ॥

इसकी व्याख्या (१।५० के व्याख्यात्मक में) पहले ही की जा चुकी है ।

एवं संबृतिवक्त्रां विचार्यं प्रत्ययवक्रतायाः कोऽपि प्रकारः पद-
अध्यान्तभूतत्वादिवैव समुचितव्रतस्तस्मात्तद्विवारमाचरति —

इस प्रकार सवृत्तिवक्रता का विवेचन प्रस्तुत कर पदों के मध्य से अन्तर्भूत होने के कारण अवसरप्राप्त 'प्रत्ययवक्रता' के किसी भेद का विवेचन प्रस्तुत करते हैं—

प्रस्तुतौचित्यविच्छिन्ति स्वमहिम्ना विकासयन् ।

प्रत्ययः पदमध्येऽन्यामुल्लासयति वक्रताम् ॥ १७ ॥

पद के मध्य में स्थित प्रत्यय अपने उत्कर्ष से प्रस्तुत वस्तु के औचित्य की शोभा को विकसित करता हुआ अन्य (अपूर्व) वक्रता को प्रकाशित करता है ॥ १७ ॥

कश्चित् प्रत्यय कृदादिः पदमध्यवृत्तिरन्यामपूर्वा वक्रतामल्लासयति वक्रभावमुद्बोधयति । किं कुर्वन्—प्रस्तुतस्य वर्ण्यमानस्य वस्तुनो यदौचित्यमुचितभावस्तस्य विच्छिन्तिमुपशोभां विकासयन् समुल्लासयन् । केन—स्वमहिम्ना निजोत्कर्षेण । यथा—

वेल्लदबलाका घनाः ॥ ६७ ॥

यथा वा=

स्निह्यत्कटाक्षेदृशो इति ॥ ६८ ॥

पदों के मध्य में स्थित कोई कृदादि प्रत्यय अन्य अपूर्व वक्रता को उत्कृष्ट-मित करता है अर्थात् वैचित्र्य को प्रकट करता है । क्या करता हुआ—प्रस्तुत अर्थात् वर्णन की जाती हुई वस्तु का जो औचित्य अर्थात् उपयुक्तता अथवा योग्यता है उसकी विच्छिन्ति अर्थात् सौन्दर्य को विकसित करता हुआ अर्थात् व्यक्त करता हुआ । किस के द्वारा—अपनी महिमा अपनी प्रधानता के द्वारा (शोभा का विकास करता हुआ) जैसे—

वेल्लदबलाका घना । शोभित होती हुई वक्रपङ्क्तियों से युक्त वादल ॥ ६७ ॥

अथवा जैसे—

स्निह्यत्कटाक्षे इति ॥ स्नेह करते हुए कटाक्षों वाले नेत्र ॥ ६८ ॥

अथ वर्तमानकालाभिधायी शतृप्रत्ययः कामप्यतीतानगत-विभ्रमविरहिता तात्कालिकपरिस्पन्दसुन्दरों प्रस्तुतौचित्यविच्छिन्त समुल्लासयन् सहृदयहृदयहारिणों प्रत्ययवक्रतामावहति ।

यहाँ (दोनों ही उदाहरणों में) वर्तमान काल का प्रतिपादन करने वाला शतृ प्रत्यय, भूत और भविष्य की शोभा से हीन उसी समय की सहृद-

रमणीयतायुक्त वर्ण्यमान वस्तु की उपयुक्तता के सौन्दर्य को प्रकाशित करता हुआ रसिकजनो के हृदयों को आनन्द प्रदान करने वाली प्रत्ययवक्रता को धारण करता है ।

इदानीमेतस्याः प्रकारान्तरं पर्यालोचयति—

आगमादिपरिस्पन्दसुन्दरः शब्दवक्रताम् ।

परः कामपि पुष्पाति बन्धच्छायाविधायिनीम् ॥ १८ ॥

अब इस (प्रत्ययवक्रता) के अन्य भेदों को विवेचित करने है—

आगमादि के विलास से रमणीय दूसरा (प्रत्ययवक्रता का) भेद विन्यास के सौन्दर्य को उत्पन्न करने वाली शब्द वक्रता का पोषण करता है ॥ १८ ॥

परो द्वितीयः प्रत्ययप्रकारः कामप्यपूर्वां शब्दवक्रतामाबध्नाति वाचकवक्रभावं विदधाति । कीदृक् आगमादिपरिस्पन्दसुन्दरः । आगमो मुमादिरादिर्यस्य स तथोक्तः, तस्यागमादेः परिस्पन्दः स्वविलसितं तेन सुन्दरः सुकुमारः । कीदृशीं शब्दवक्रताम्—बन्धच्छाया-विधायिनीं संनिवेशकान्तिकारिणीमित्यर्थः । यथा —

पर अर्थात् दूसरा प्रत्यय (वक्रता) का भेद किसी अपूर्व शब्दवक्रता को उत्पन्न करता है अर्थात् वाचक वक्रता की सृष्टि करता है । कैसा (प्रत्यय-प्रकार) ? आगमादि के परिस्फुरण से रमणीय । आगम अर्थात् मुम् इत्यादि है आदि में जिसके उसे आगमादि कहते हैं । उस आगमादि का परिस्पन्द अर्थात् अपना वैभव कमसे सुन्दर अर्थात् कोमल (प्रत्यय प्रकार शब्दवक्रता को पुष्ट करता है) । कैसी शब्दवक्रता को—बन्ध की शोभा को उत्पन्न करने वाली अर्थात् विन्यास के सौन्दर्य की सृष्टि करने वाली (शब्दवक्रता को पुष्ट करता है) । जैसे —

जगने सख्यास्तव मयि मन. संभृतस्नेहमस्मा-

दिरयंभूतां प्रथमविरहे तामहं तर्कयामि ।

वाचालं मां न खलु सुभगंमन्यभावः करोति

प्रत्यक्षं ते निखिलमचिराद् भ्रातरुषत्तं मया यत् ॥ ६६ ॥

(मेघदूत में विरही यक्ष अपनी प्रेयसी की निज विरह-दशा का वर्णन कर, मेघ को अत्यधिक विश्वास दिलाने के लिये उससे कहता है कि हे मेघ !)

मुझे मालूम है कि तुम्हारी सहेली (अर्थात् मेरी कान्ता) का हृदय मेरे विषय में प्रेम पूर्ण है, अब एव (अपने) प्रथम वियोग के अवसर पर उसे

इस प्रकार की अवस्थाओं से युक्त सोचता हूँ (जैसा कि अभी मैंने तुमसे बताया है, क्योंकि तुम यह निश्चित समझ लो कि) मुझे अपना सौन्दर्याभिमान (ऐसी दशा की कल्पना करने के लिये) बाचाट नहीं बना रहा है, (अपितु उसका मेरे प्रति ऐसा अगाध स्नेह है जिससे कि ऐसी दशा उमकी हो गई होगी । और अधिक क्या कहूँ) भइया, मैंने जो कुछ भी कहा है वह शीघ्र ही तुम अपनी आँखों से देखोगे ॥ ६९ ॥

यथा च—

दाहोऽम्भः प्रसृतिपचः इति ॥ ७० ॥

यथा वा—

पायं पायं कलाचीकृतकदलदलम् इति ॥ ७१ ॥

और जैसे—

दाहोऽम्भः प्रसृतिपचः ॥ ७० ॥ यह १।४८ पर पूर्वोदाहित पद्य का अंश व्यवसा जैसा—पायं पाय कलाचीकृतकदलदलम् ॥ ७१ ॥ यह २।१० पर उद्धृत श्लोक का अंश ।

अत्र सुभगंमन्यभावप्रभृतिशब्देषु मुमादिपरिस्पन्दसुन्दराः संनिवेशच्छायाविधायिनी वाचकवक्रतां प्रत्ययाः पुष्पन्ति ।

यहाँ 'सुभगंमन्यभाव' इत्यादि पदों में मुमादि के विलास के कारण रमणीय प्रत्यय विन्यास की शोभा को उत्पन्न करने वाली शब्दवक्रता को पुष्ट करते हैं ।

एवं प्रसंगसमुचितां पदमध्यवर्तिप्रत्ययवक्रतां विचार्य समनन्तर-संभवितो वृत्तिवक्रतां विचारयति —

इस प्रकार प्रसङ्ग के अनुरूप पदों की मध्यवर्तिनी प्रत्ययवक्रता का विवेचन कर तदनन्तर अवसरप्राप्त वृत्तिवक्रता को प्रस्तुत करते हैं—

अव्ययीभावमुख्यानां वृत्तीनां रमणीयता
यत्रोल्लसति सा भेया वृत्तिर्वचिष्यवक्रता ॥ १६ ॥

यहाँ पर अव्ययीभाव (समास) प्रधान वृत्तियों की सुन्दरता परस्फुरित होती है उसे वृत्ति की विचित्रता से उत्पन्न (वृत्तिर्वचिष्यवक्रता) जानना चाहिए ॥ १९ ॥

सा वृत्तिर्वचिष्यवक्रता ज्ञेया बोद्धव्या । वृत्तीनां वचिष्यं विचित्र-भावः सजातीयापेक्षया सौकुमार्योत्कर्षस्तेन वक्रता वक्रभावविच्छित्तिः ।

कोदृशी -रमणीयता यत्रोत्ससति । रामणीयकं यस्यामुद्दिद्यते ।
 कस्य—वृत्तीनाम् । कासाम्—अव्ययीभावमुह्यानाम् । अव्ययी-
 भावः समासः मुख्यः प्रधानभूतो यासां तास्तथोक्तास्तासां समास-
 तद्धितसुब्धातुवृत्तीनां वैयाकरणप्रसिद्धानाम् । तदयमत्रार्थः—यत्र
 स्वपरिस्पन्दसौन्दर्यमेतासां समुचितभित्तिभागोपनिबन्धादभिव्यक्ति-
 मासादयति । यथा—

उत्ते वृत्तिर्वचिश्यवक्रता जानना अथवा समझना चाहिए । वृत्तियो का
 वैचित्र्य अर्थात् विचित्रता, समानार्थिनयो की अपेक्षा सुकुमारता का आधिक्य,
 उनके कारण वक्रता अर्थात् जो वाक्यन की शोभा होती है (उसे वृत्ति-
 वैचित्र्यवक्रता कहते हैं) । कैसे (वक्रता)—जिसमे रमणीयता उत्ससित
 होती है, अर्थात् जिसमे सौन्दर्य झलकता रहता है । किसका (सौन्दर्य)—
 वृत्तियो का । किन वृत्तियो का—अव्ययीभावप्रधान (वृत्तियो) का । अर्थात्
 अव्ययीभाव समास जिसमे मुख्य अर्थात् प्रधानभूत है उन वैयाकरणो मे
 प्रख्यात अव्ययीभाव प्रधान—समास-तद्धित एव सुब्धातु वृत्तियो का (सौन्दर्य
 जहाँ प्रस्फुटित रहता है) । इसका आशय यह हुआ कि जहाँ इन (समास-
 तद्धित आदि वृत्तियो) की अपनी सहज रमणीयता एक उचित भूमिका पर
 उपन्यस्त किए जाने के कारण स्फुटित होती है (वहाँ वृत्तिवैचित्र्यवक्रता
 होती है ।) जैसे—

अभिव्यक्ति तावद् बहिरलभमानः कथमपि
 स्फुरधन्तः स्वात्मन्यधिकतरसंनूच्छितभरः ।
 मनोज्ञामुद्धतां परपरिमलस्पन्दमुभगा-
 महा घट्टे शोभामधिमधु लतानां नवरसः ॥ ७२ ॥

आश्चर्य है कि मधुमास मे किसी भी प्रकार प्रकाशित होने मे
 असमर्थ, अत्यधिक सम्मोह के भार से युक्त अपने अन्दर ही स्फुरित होता
 हुआ लताओ का नवरस, प्रकट सुगन्धि के स्फुरित होने से रमणीय, हृदया-
 यजक एवं अत्यधिक सम्पन्न थी को धारण करना है ॥ ७२ ॥

अत्र 'अधिमधु'-शब्देविभवत्ययंविहितः समासः सनयाभिधाग्रपि
 विषयसप्तमोप्रतीतिमुत्पादयन् 'नवरस'-शब्दस्य श्लेषच्छायास्फुरण-
 वैचित्र्यमुन्मीलयति । एतद्वृत्तिविरहिते विन्यासान्तरे वस्तुप्रतीतो
 सत्यामपि न तादृक्तद्विदाह्लादकारित्वम् । उद्धृतपरिमल-स्पन्द-मुभग-
 शब्दानामुपचारवक्रत्वं परिस्फुरद्विभाव्यते । यथा च—

यहाँ 'अधिमधु' शब्द में ('मधौ इति अधिमधु' इस प्रकार का 'अव्ययं विभक्ति' इत्यादि पा० २।१।६ से) विभक्ति अर्थ में किया गया (अव्ययीभाव) समास समय का प्रतिपादक होते हुए भी विषय सप्तमी का बोध कराता हुआ 'नवरम' शब्द की श्लेष की शोभा के अधिगत होने से उत्पन्न विचित्रता को उन्मीलित करता है। इस (अव्ययीभाव समास रूप) वृत्ति के बिना भी दूसरे ढङ्ग से विरचित होने पर विषय का ज्ञान हो जाने पर भी उस प्रकार काव्यमर्मज्ञों के लिये आनन्द नहीं उत्पन्न हो सकेगा। उद्बृत, परिमल, स्पन्द एवं सुभग शब्दों की 'उपचारवक्रता' तो साफ-साफ झलकती दिखाई देती है। और जैसे (इसी का दूसरा उदाहरण)—

आ स्वर्लोकादुरगनगरं नूतनालोकलक्ष्मी-
मातन्वद्भिः किमिध सिततां चेष्टितौस्ते न नीतम् ।
अप्येतासां दधितविहिता विद्विद्यत्सुन्दरीणां
यैरानीता नखपदमया मण्डना पाण्डिमानम् ॥ ७३ ॥

देवलोक से नागचोक पर्यन्त अपूर्व प्रकाश की कान्ति को बिखेरने वाले आपके कार्यों ने किसे नहीं सफेद बना दिया (अर्थात् सभी को सफेद बना दिया, और यहाँ तक कि आपके) दुश्मनों की इन पत्नियों के अपने पतियों द्वारा विलिखित नखचिह्नों वाले आभूषण को भी सफेद (पाण्डुवर्ण) का बना दिया है ॥ ७३ ॥

अत्र पाण्डुत्व-पाण्डुता-पाण्डुभाव-शब्देभ्यः पाण्डिम-शब्दस्य
किमपि वृत्तिवैचित्र्यवक्रत्यं विद्यते । यथा च—

यहाँ पाण्डुत्व, पाण्डुता अथवा पाण्डुभाव शब्दों की अपेक्षा पाण्डिम शब्द की कोई अपूर्व ही वृत्तिवैचित्र्य वक्रता नजर आती है। तथा जैसे (इसी का तीसरा उदाहरण)—

कान्तत्वोयति सिंहलोमुखरचां चूर्णाभिषेकोल्लस-
त्लावण्यामृतवाहिनिर्झरजुषामाचान्तिभिश्चन्द्रमाः ।
येनापानमहोत्सवत्यतिकरेष्वेकातपत्रायते
देवस्य त्रिदशाधिपावधि जगज्जिष्णोर्मनोजन्मनः ॥ ७४ ॥

चूर्णाभिषेक के कारण विलसित होते हुए सौन्दर्यामृत का वहन करने वाले निर्झरो का सेवन करनेवाली सिंहलियों के मुख की कान्ति का आचमन कर-करके चन्द्रमा (ऐसी) मनोहारिता को प्राप्त कर लेता है जिसके कारण देवराज इन्द्र तक के लोक को जीतने की इच्छा वाले कामदेव की पानगोष्ठियों

के उत्सव के प्रसंगों में वह (चन्द्रमा) अद्वितीय राजच्छत्र की तरह आवरण करने लगता है ॥ ७४ ॥

अत्र सुव्यातुवृत्ते, समासवृत्तेश्च किमपि वक्रनावैचित्र्यं परिस्फुरति ।

यहाँ सुव्यातुवृत्ति तथा समासवृत्ति की वक्रता की कोई (अताप्रारण) विचित्रता परिलक्षित होती है ।

एवं वृत्तिवक्रतां विचार्य पदपूर्वार्थमाविनोमुचितावसरां भाव-
वक्रतां विचारयति ।

इस प्रकार वृत्तिवक्रता का विवेचन कर पदों के पूर्वार्थ में स्थित होने वाली एव अवसरप्राप्त 'भाववक्रता' का विवेचन करते हैं—

साध्यतामप्यनादृत्य सिद्धत्वेनाभिधीयते ।

यत्र भावो भवत्येषा भाववैचित्र्यवक्रता ॥ २० ॥

यहाँ पर भाव अर्थात् क्रिया रूप घातु के अर्थ को (अपनी) साध्यता की भी अवहेलना करके सिद्ध रूप में प्रतिपादित किया जाता है वहाँ यह 'भाववैचित्र्यवक्रता' होती है ॥ २० ॥

कृपा वर्णितस्वरूपा भाववैचित्र्यवक्रता भवत्यस्ति । भावो घात्वर्थरूपस्तस्य वैचित्र्यं विचित्रभावः प्रकारान्तराभिधानव्यतिरेकि रामणीयकं तेन वक्रता वक्रत्वविच्छित्तिः । कीदृशी—यत्र यस्यां भावः सिद्धत्वेन परिनिष्पन्नत्वेनाभिधीयते भण्यते । किं कृत्वा—साध्यतामप्यनादृत्य निष्पाद्यमानतां प्रसिद्धामप्यवधीर्यं । तदिदमत्र तात्पर्यम्—यत् साध्यत्वेनापरिनिष्पत्तेः प्रस्तुतस्मार्थस्य दुर्धनः परिपोषः, तस्मात् सिद्धत्वेनाभिधानं परिनिष्पन्नत्वात्पर्याप्तं प्रकृतार्थपरिपोषमावहति । यथा—

यह जिसके स्वरूप का वर्णन किया गया है भाववैचित्र्यवक्रता होती है । भाव का अर्थ है घात्वर्थ का रूप अर्थात् क्रिया, उसका वैचित्र्य अर्थात् विचित्रता दूसरे ढङ्ग से प्रतिपादित होने के कारण अतिशययुक्त मुन्दरता, उसके कारण जो वक्रता अर्थात् वाक्यन की शोभा होती है (उसे भाववैचित्र्यवक्रता कहते हैं) । (यह भाववैचित्र्यवक्रता होती) बीसी है—जहाँ अर्थात् जिस (वक्रता) में घात्वर्थ रूप क्रिया को सिद्ध रूप में पूरी तरह से निष्पन्न रूप से कहा जाता है । क्या करके—साध्यता का भी अनादर

करके अर्थात् विख्यात निष्पन्नता की अवज्ञा करके । तो यहाँ इसका आशय यह है—क्योंकि साध्य रूप से भलीभाँति सिद्ध न होने के कारण वर्तमान विषय कम पुष्ट हो पाता है अतः सिद्ध रूप से कथन पूर्णतया सम्पन्न होने के कारण प्रस्तुत पदार्थ का भलीभाँति पोषण करता है । जैसे—

श्लासायासमलोमसाधररुचेर्दोःकन्दलीतानवात
केयूरापितमङ्गद्वै परिणतं पाण्डिम्नि गण्डत्विश ।
अस्याः किञ्च विलोचनोत्पलयुगेनात्यन्तमश्रुनुना
तारं तादृगपाङ्गयोररुणितं येनोत्प्रतापः स्मरः ॥ ७५ ॥

(गरम) सासो के चलने के आयास के कारण धूमिल पड़ गए हुए अघर के कान्तिवाली इसकी भुजाओं के कन्दली की कृशता के कारण ककणो के द्वारा वाजुबन्द की तरह का आवरण किया गया है और कपोल की कान्ति के द्वारा सफेदी में परिणत किया गया है, और तो और, उसके नेत्र कमलो के युगल के द्वारा अत्यधिक जाँसू बहाने के कारण कोरो पर इतनी तेज अर्णिमा उत्पन्न करा दी गई कि जिसके कारण काम अत्यधिक तापवाला हो उठा ॥ ७५ ॥

येन भावस्य सिद्धत्वेनाभिधानमतीव चमत्कारकारि ।

यहाँ पर भाव का सिद्ध रूप से प्रतिपादन अत्यन्त ही वैचित्र्य को उत्पन्न करने वाला है ।

एवं भाववक्रतां विचार्य प्रातिपदिकान्तर्वर्तिनीं लिङ्गवक्रतां विचारयति—

इस प्रकार भाववक्रता का विवेचन कर प्रातिपदिक के अन्दर स्थित लिङ्गवक्रता का विवेचन करते हैं —

भिन्नयोर्लिङ्गयोर्यस्यां सामानाधिकरण्यताः ।

कापि शोभाभ्युदेत्येषा लिङ्गवैचित्र्यवक्रता ॥ २१ ॥

जिसमें अलग-अलग लिङ्गों के सामानाधिकरण्य से किसी अपूर्व सौन्दर्य की मृष्टि होती है, इसे लिङ्गवैचित्र्यवक्रता कहते हैं ॥ २१ ॥

एषा कथितस्वरूपा लिङ्गवैचित्र्यवक्रतास्यादिविचित्रभाव-
वक्रताविच्छिन्ति । भवतीति सम्बन्धः, क्रियान्तराभावात् । कीदृशो-
यस्यां यत्र विभिन्नयोर्विभक्तस्वरूपयोर्लिङ्गयोः सामानाधिकरण्य-
स्तुल्याभ्युदेत्यादेकद्रव्यवृत्तित्वात् काव्यपूर्वा शोभाभ्युदेति कान्तिस्त-
सति । यथा —

यह, जिसका स्वरूप (उक्त २१ वीं कारिका में) बताया गया है, लिङ्ग-
वैचित्र्यवक्रता अर्थात् स्त्री (नपुंसक) आदि (लिङ्गो) की विचित्रता के
वैरूपन से उत्पन्न शोभा होती है । (इस वाक्य को) दूसरी क्रिया के अभाव
में भवति (होती है) क्रिया के साथ सम्बन्ध है (अर्थात् भवति क्रिया का
अव्याहार होगा) । कौंसी है (यह वक्रता) जिसमें अर्थात् जहाँ पर विभिन्न,
अलग-अलग स्वरूप वाले लिङ्गों के मानानाधिकारण अर्थात् समान आश्रय
होने से एक द्रव्य वृत्ति हो जाने के कारण कोई अपूर्व शोभा उदित होती है
अर्थात् रमणीयता आ जाती है । जैसे—

यस्यारोपणकर्णणापि बह्वो वीरवतं त्याजिता
कार्यं पुङ्खितबाणमीश्वरधनुस्तद्दोभिरेभिर्मया ।
स्त्रीरत्न तदगर्भसंभवमितो लभ्यं च लीलायिता
तेनैवा मम फुल्लपङ्कजवनं जाता दृशां विदति ॥ ७६ ॥

जिसके प्रत्यक्षापुक्त करने की क्रिया से भी बहुतों से शूरता का व्रत
छुड़ा दिया गया उसी शिवधनुष की मुत्ते इन भुजाओं के द्वारा बाणपुक्त
करना है और इसके द्वारा उस अयोनिजा नारीरत्न को प्राप्त करना है,
इसीलिये तो मेरी केलि सी करती हुई ये बीसों आँखें धिसे हुए कमलों का
समूह बन चली हैं ॥ ७६ ॥

यथा वा—

नभस्वता लासितकल्पवल्लीप्रबालबालध्यजनैर्न यस्य ।
उरस्त्यतेऽकीर्यत दक्षिणेन सर्वास्त्रिदं सौरभमङ्गरागः ॥ ७७ ॥

अथवा जैसे—

नचाई गई कमलता के नवाङ्कुर रूप नये पक्षी वाले मलयानिल ने
उसके हृदयस्वल पर सर्वत्र सुगन्धित अङ्गराग को छिद्रक दिया ॥ ७७ ॥

यथा च—

आयोज्य मालामृतुभिः प्रयत्नसंपादितामंसताटोऽस्य चक्रे ।
करारविन्दं सकरन्दबिन्दुस्यन्दि धिया बिभ्रमकर्णपूरः ॥ ७८ ॥

तथा जैसे—

मृतुओं के द्वारा परिश्रमपूर्वक तैयार की गई माला को इसके कन्धों
पर डाल कर मधुबिन्दुओं को दरसाने वाले अपने करकमल को शोभावश
(इसका) लीला कर्णपूर बना दिया ॥ ७८ ॥

इयमपरा च लिङ्गवैचित्र्यवक्ता—

सति लिङ्गान्तरे यत्र स्त्रीलिङ्गं च प्रयुज्यते ।

शोभानिष्पत्तये यस्मान्नामैव स्त्रीति पेशलम् ॥ २२ ॥

यह दूसरी लिङ्ग के वैचित्र्य की वक्ता होती है—जहाँ पर अन्य लिङ्गों के विद्यमान रहने पर भी सौन्दर्य की सृष्टि के लिए स्त्रीलिङ्ग का (ही) प्रयोग किया जाता है (वहाँ लिङ्गवैचित्र्यवक्ता होती है) क्योंकि स्त्री-जैसा कथन ही सुकुमार होता ॥ २२ ॥

यत्र यस्यां लिङ्गान्तरे सत्यन्यस्मिन् संभवत्यपि लिङ्गे स्त्रीलिङ्गं प्रयुज्यते निबध्यते । अनेकलिङ्गात्वेऽपि पदार्थस्य स्त्रीलिङ्गविषयः प्रयोगः क्रियते । किमर्थम्—शोभानिष्पत्तये । कस्मात् कारणात्—यस्मान्नामैव स्त्रीति पेशलम् । स्त्रीत्यभिधानमेव हृदयहारि । विच्छिद्यन्तरेण रसादियोजनयोन्यत्वात् । उदाहरणं, यथा—

जहाँ जिम (वक्ता) दूसरे लिङ्ग के विद्यमान होने पर अर्थात् अन्य लिङ्ग के सम्भव हो सकने पर भी स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग किया जाता है, (स्त्रीलिङ्ग को ही) उपनिबद्ध किया जाता है । अर्थात् पदार्थ के अनेक लिङ्ग वाला होने पर भी स्त्रीलिङ्गविषयक प्रयोग किया जाता है । किस लिए—शोभा की निष्पत्ति के लिये (अर्थात् सौन्दर्य की सृष्टि के लिए) किस कारण से (स्त्रीलिङ्ग का ही प्रयोग किया जाता है)—क्योंकि स्त्री यह नाम ही सुकुमार होता है । अर्थात् दूसरे प्रकार की शोभा का जनक होने के कारण रसादि की समोजना के अनुरूप होने से स्त्री यह कथन ही मनोहर होता है । (इसका) उदाहरण जैसे—

यथेयं ग्रीष्मोष्मव्यतिकरवती पाण्डुरभिदा

मुखोद्भिन्नम्लानानिलतरलवल्लीकिसलय ।

तटी तारं ताम्रत्यतिशशिपशाः कोऽपि जलद-

स्तथा मन्दे भावी भुवनवलयाकान्तिभुग्ना ॥ ७६ ॥

जैसे कि यह ग्रीष्म काल की गर्मी के सम्पर्क वाली, अत्यधिक पाण्डु (श्वेत पीत) वर्ण की, मुख से निकले हुए मज्जित पवन से चञ्चल लताओं के नव पल्लवों से युक्त तटी अत्यधिक सन्तप्त हो रही है इससे मालूम पड़ता है कि चन्द्रमा की (भी शीतलता रूप) कीर्ति का जतिक्रमण करने वाला सारे भुवनमण्डल की आक्रान्त करने के कारण मनोहर कोई जलधर उपस्थित होने वाला है ॥ ७९ ॥

अत्र त्रिलिङ्गत्वे सत्यपि 'तटं'शब्दस्य, सौकुमार्यात् स्त्रीलिङ्गमेव प्रयुक्तम् । तेन विच्छिद्यन्तरेण भावी नायकव्यवहारः कश्चिदासूचित इत्यतीश रमणीयत्वाद्भक्ततामावहति ॥

यहाँ पर तट शब्द के (स्त्री, वपुमक एव पुल्लिङ्ग) तीनों ही लिङ्गों में सम्भव होने पर भी सुकुमारता के कारण स्त्रीलिङ्ग को ही प्रयुक्त किया गया है । अतः दूसरे दङ्ग से उपस्थित होने वाला नायक का व्यवहार प्रतिपादित किया गया है । अतः यह अत्यधिक मनोहर होने के कारण वक्रता का धारण करता है ।

इदमपरमेतस्याः प्रकारान्तरं लक्षयति—

विशिष्टं योज्यते लिङ्गमन्यस्मिन् संभवत्यपि ।

यत्र विच्छिद्यते सान्या वाच्यौचित्यानुसारतः ॥ २३ ॥

अब इसके अन्य भेद का लक्षण करते हैं—

जहाँ पर (वर्ण्यमान) पदार्थ के औचित्य के अनुरूप अन्य (लिङ्ग) के सम्भव होने पर भी सौन्दर्य उपस्थित करने के लिए विशेष लिङ्ग को प्रयुक्त किया जाता है वह दूसरे प्रकार को (लिङ्गविच्छिद्यवक्रता) होती है ॥ २३ ॥

सा चोक्तस्वरूपान्यापरा विद्यते । यत्र यस्यां विशिष्टं योज्यते त्रिलिङ्गत्रयाणामेकतमं किमपि कविविज्ञप्ता निबध्यते । कथम्—अन्यस्मिन् संभवत्यपि, लिङ्गान्तरे विद्यमानेऽपि । किमर्थम्—विच्छिद्यते बोधार्थः । कस्मात् कारणात्—वाच्यौचित्यानुसारतः । वाच्यस्य वर्ण्यमानस्य वस्तुनो यदौचित्यमुक्तिभावस्यानुसरणमनुसार-स्तस्मात् । पदार्थौचित्यमनुसृत्येत्यर्थः । यथा—

वह, जिसका स्वरूप (२३ वीं कारिका में) कहा गया है अन्य अर्थात् दूसरी (लिङ्गविच्छिद्यवक्रता) है । जहाँ, जिस (वक्रता) में विशेष (लिङ्ग) की योजना की जाती है अर्थात् तीनों लिङ्गों में से किसी एक लिङ्ग (विशेष) का प्रयोग (कवि के अभिप्रेत कथन के कारण) किया जाना है । कैसे (लिङ्गविशेष का प्रयोग किया जाता है ?) अन्य लिङ्ग के सम्भव होने पर भी अर्थात् (जिसका प्रयोग किया गया है उससे भिन्न) दूसरे लिङ्गों के विद्यमान रहने पर भी (लिङ्गविशेष प्रयुक्त होता है) । किमर्थ ?—विच्छिद्यति अर्थात् सौन्दर्य (लाने) के लिए । किस कारण से—पदार्थ के औचित्य के अनुसार । वाच्य अर्थात् वर्णन किए जाने वाले पदार्थ का जो

ओचित्य अर्थात् उपयुक्तता अथवा योग्यता है उसके अनुसरण अर्थात् अनुगमन के कारण । तात्पर्य यह कि पदार्थ की उपयुक्तता के अनुरूप (जहाँ लिङ्गविशेष का प्रयोग किया जाता है) । जैसे—

त्वं रक्षसा भीरु यतोऽपनीता तं मार्गेनेताः कृपया लता मे ।

अदशयन् ददतुमशक्नुवन्त्यः शालाभिरावर्जितपल्लवाभिः ॥८०॥

(रघुवश में पुष्पकविमान से अयोध्या के लिए लौटते हुए राम सीता से कहते हैं कि—), हे भयशीले ! दैत्य रावण तुम्हे जिस मार्ग से (अपहृत कर) ले गया था, उस मार्ग को (वागिन्द्रिय के अभाव के कारण) ढोलने में अशक्त इन लताओं ने झुके हुए (हस्तस्पर्शनीय) पल्लवों वाली डालों के द्वारा कृपापूर्वक (मांगो हाथ के इशारे से) दिखाया था ॥ ८० ॥

अत्र सीताया सह रामः पुष्पकेनावतरंस्तस्याः स्वयमेव तद्विरह-
चंचुर्यमावेदयति—यत्त्वं रावणेन तथाविधत्वरारपरतन्त्रचेतसा मार्गे
यस्मिन्नपनीता तत्र तदुपमर्दवशात्तथाविधसंस्थानयुक्तत्वं लतानामु-
न्मुखत्वं मम त्वन्मार्गानुमानस्य निमित्ततामापन्नमिति वस्तु विच्छि-
त्यन्तरेण रामेण योज्यते । यथा—हे भीरु स्वाभाविकसौकुमार्यकात-
रान्तकरणे, रावणेन तथाविधकूरकर्मकारिणा यस्मिन्मार्गे त्वमपनीता
तमेमाः साक्षात्परिदृश्यमानमूर्तयो लताः किल मामदर्शयन्निति ।
तन्मार्गप्रदर्शनं परमार्थतस्तासां निश्चेतनतया न न संभाव्यम् इति प्रती-
यमानवृत्तिरूपशैलंकार कवेरभिप्रेतः । यथा—तव भीरुत्वं रावणस्य
शौर्यं भमापि त्वत्परिज्ञानप्रपन्नपरतां पर्यालोच्य स्त्रीस्वभावादाद्रे-
हृदयत्वेन समुचितस्वविषयपक्षपातमाहात्म्यादेताः कृपयैव मम
मार्गप्रदर्शनमकुर्वन्निति । केन करणभूतेन—शालाभिरावर्जितपल्ल-
वाभिः यस्माद्वागिन्द्रियवर्जितत्वाद्ददतुमशक्नुवन्त्यः । यत्किल ये
केचिदजल्पन्तो मार्गप्रदर्शनं प्रकुर्वन्ति ते तदुन्मुखीभूतहृदयपल्लवैर्वाहु-
भिरित्येतदसौव युक्तियुक्तम् । तथा चान्नैव व्यापान्तरमपि विद्यते—

यहाँ सीता के साथ पुष्पक विमान से उतरते हुए राम सुद ही सीता के विशेष की दिक्कलता का वर्णन करते हैं—उस प्रकार (भय के कारण शीघ्र अपहरण करने की (शीघ्रता से पराधीन चित्त वाला रावण जिस मार्ग से तुम्हारा अपहरण कर ले गया था उस मार्ग में उसके प्रतिरोध (उपमर्द) के कारण उस प्रकार की अवस्था से युक्त होना अर्थात् लताओं का उसी ओर झुका होना मेरे लिये तुम्हारे गमन-मार्ग का अनुमान करने का कारण बना

था, इसी बात को राम दूसरे ढंग से प्रस्तुत करते हैं। जैसे—हे भयशोते ! अर्थात् सहज मुकुमारता के कारण अधीर हृदय वाली सोते ! उस प्रकार के भयावह (वृषभ) कार्य को करने वाला रावण जिस रास्ते से तुम्हें अपहरण कर ले गया था उसे साक्षात् दिखाई देने वाले दिग्गह वाली इन लताओं ने मुझे दिखाया था। उन लताओं का रास्ता बताना वस्तुतः उनके जड़ होने के कारण सम्भव नहीं है अतः यहाँ पर प्रतीयमान उत्प्रेक्षा रूप अलङ्कार कवि को अभीष्ट है। जैसे कि तुम्हारी भयशोक्ता, रावण की वृषभता तथा मेरी भी तुम्हारी रक्षा करने के प्रयास की तत्परता का विचार कर नारीस्वभाव होने के कारण वृषालु हृदय होने के नाने एवं अपने विषय के (अर्थात् स्त्री स्वरूप के) अनुरूप पक्षपात की महत्ता के कारण इन्होंने वृषापूर्वक ही मुझे रास्ता बताया था। विन साधन के द्वारा (इन्होंने रास्ता बनाया था)—कुके हुए पल्लवों से युक्त डालों के द्वारा अर्थात् इशारे से बताया था। क्योंकि वागिन्द्रिय के अभाव के कारण बोलने में अशक्त थीं। जैसा कि देखा भी जाता है कि जो कुछ रोग न बोलते हुए रास्ता बताते हैं वे उसी ओर अपने कर पल्लवों से युक्त भुजाओं को घुमाकर के ही (रास्ता बताते हैं) इसलिये (लताओं का उस प्रकार भाग बताना) युक्तिमञ्जत है। और जैसे कि यही इसका उदाहरण रूप दूसरा श्लोक भी है कि—

मृगयश्च दर्भाङ्कुरनिर्धन्यपेक्षास्तवागतिज्ञं समबोधयन्माम् ।
व्यापारयगयो दिशीद क्षिणस्यामुत्पक्षमराजीनि विलोचनानि ॥८१॥

तुम्हारी गति से वनभिज्ञ (अर्थात् तुम जिस मार्ग से गई यह न जानने वाले) मुझे (अपने भय) वृष के अबुरों से निस्पृह होकर (अर्थात् वृषाङ्कुरी का घाना वन्द कर) दक्षिण दिशा की ओर उठी हुई पालकों से सुशोभित होने वाले अपने नेत्रों की प्रवृत्त करती हुई मृगियों ने (तुम्हारे गमन-मार्ग को आँख के इशारों से) भली-भाँति बताया था ॥ ८१ ॥

हरिण्यश्च मा समबोधयन् । कीदृशम्—तयागतिज्ञम्, लताप्रद-
शितमार्गमजानन्तम् । ततस्ताः सम्यगबोधयन्निति, यतस्तास्तदपेक्षया
किञ्चिद्विप्रबुद्धा इति । ताश्च कीदृशम्—तयाविध्वंसस्तसंदर्शनवशाद्
दुःखितरत्नेन परित्यक्ततृणशाखाः । किं कुर्वाणाः—तस्यां दिशि नयनानि
समर्पयन्त्यः । कीदृशानि—ऊर्ध्वोक्तपक्षमपङ्कजतीनि । तदेवं तयाविध-
स्यानयुक्तत्वेन दक्षिणां दिशमन्तरिक्षेण नीतेति संज्ञेया निवेदयन्त्यः ।
अत्र वृषमृगादिषु लिङ्गान्तरेषु संभवत्त्वपि स्त्रीलिङ्गमेव पदार्थोचित्या

नुसारेण चेतनचमत्कारकारितया कवेरभिप्रेतम् । तस्मात् कामपि चक्रतामावहति ।

तथा हरिणियो ने मुझे भली-भाँति बताया था । कैसे मुझे (बताया था) तुम्हारे गमन (भाग) को न जानने वाले (मुझे) अर्थात् लताओं द्वारा दिखाए गए रास्ते को न समझने वाले मुझे (रास्ता बताया था) । इसीलिए उन्होंने भली-भाँति रास्ता दिखाया था क्योंकि वे उन लता आदि की अपेक्षा कुछ अधिक समझदार थीं । वे (हरिणियाँ) कैसी थीं—(तुम्हारे अपहरण रूप) उस प्रकार के दुःख के देखने से पीड़ित होने के कारण तृण भक्षण का परित्याग कर चुकी थीं । क्या करती हुई ?—उसी दिशा की ओर अपनी आँखें घुमाए हुए (जिवर तुम गई थी) । कैसी आँखें—जिनकी पलकों की कड़ारे ऊपर की ओर उठी हुई थी । तो इन प्रकार उस प्रकार की अवस्था में युक्त होने के कारण आकाश-मण्ड से दक्षिण दिशा की ओर (तुम) ले जाई गई ऐसा (अपनी आँखों के) झगरे से सूचित करती हुई (मृगियो ने तुम्हारा जाने का रास्ता बताया) ।

यहाँ पर (लता के स्थान पर) वृक्ष आदि (तथा मृगियो के स्थान पर) मृग आदि दूसरे दिग्गो के विद्यमान होने पर वर्ण्यमान वस्तु के लोबेय के अनुरूप सहस्रों का अद्भुतवस्तु होने से स्तीरित (लता एवं हरिणियाँ) ही अभिष्ट था । उसी के कारण (यह वर्णन) किसी अपूर्व वक्रता को धारण करना है ।

एवं प्रातिपदिकनञगस्य सुबन्तव्यतिथिः पदपूर्वादिषु यथामन्त्रं चक्रमात्रं विवर्त्येदानीन्तुनयोरपि सुनिन्दन्तयोर्वावुस्वरूपः पूर्वभागे यः संभवति यस्य वक्रता विचारयति । तस्य च क्रियावैचित्र्यनिबन्धनमेव वक्रत्वं विद्यते । तस्मात् क्रियावैचित्र्यस्यैव कीदृशाः क्रियन्तश्च प्रकाराः संभवन्तीति तत्स्वरूपनिर्हणार्थमाह—

इम प्रकार सुबन्त से सम्भव होने वाले प्रातिपदिक रूप, पदपूर्वादि की वक्रता का यथामन्त्रव विवेचन प्रस्तुत कर अब सुबन्त तथा निन्दन्त दोनों का ही घातु रूप जो पूर्वभाष सम्भव होता है उसकी वक्रता का विवेचन करने हैं । उसकी वक्रता का कारण क्रिया की विचित्रता ही होता है । इस लिये क्रिया की विचित्रता के ही किस प्रकार के और कितने भेद सम्भव हो सकते हैं उनका स्वरूप बताने के लिए (ग्रन्थकार) कहता है कि—

कर्तृरत्यन्तरङ्गत्वं कर्तृन्तरपिचिगता ।

सर्विशेषणवैचित्र्यमुपचारमनोज्ञता - ॥ २४ ॥

कर्मादिसंप्रतिः पञ्च प्रस्तुतौचित्यचारवः ।

क्रियावैचित्र्यवक्रत्वप्रकारास्त इमे स्मृताः ॥ २५ ॥

१. कर्ता का अत्यन्त अन्तरङ्ग होना, २ दूसरे कर्ता के कारण होने वाली विचित्रता, ३ अपने विशेषण के कारण विचित्रता, ४. उपचार से होने वाली रमणीयता एवं ५. कर्म आदि का संवरण से पांच वर्ण्यमान वस्तु के औचित्य के कारण रमणीय क्रियावैचित्र्य की वक्रता के वेद कहे गए हैं ॥ २४-२५ ॥

क्रियावैचित्र्यवक्रत्वप्रकारा घात्वर्थविचित्रभाववक्रताप्रभेदास्त इमे स्मृता वर्ण्यमानस्वरूपाः कीर्तिताः । कियन्तः—पञ्च पञ्चसंख्या-विशिष्टाः कीदृशाः—प्रस्तुतौचित्यचारवः । प्रस्तुतं वर्ण्यमानं वस्तु तस्य यदौचित्यमुचितभावस्तेन चारवो रमणीयाः । तत्र प्रथमस्तावत् प्रकारो ष.—कर्तृत्यन्तरङ्गत्वं नाम । कर्तुः स्वतन्त्रतया मुख्यभूतस्य कारकस्य क्रियां प्रति निर्वर्तयितुं यदत्यन्तरङ्गत्वम् अत्यन्तमान्तरतम्यम् । यथा—

जिनका स्वरूप अभी बताया जायगा, ये क्रिया के वैचित्र्य की वक्रता के प्रकार अर्थात् घात्वर्थ की विचित्रता के वाक्यन के भेद स्मरण किये गए हैं अर्थात् बताये गये हैं । वित्तने (भेद बताये गये हैं)—पांच अर्थात् गणना में ५ भेद (बताये गए हैं) कैसे हैं (वे वेद ?)—प्रस्तुत के औचित्य के कारण सुन्दर । प्रस्तुत का अर्थ है वर्णन किया जाने वाला पदार्थ, उमका जो औचित्य अर्थात् उपयुक्तता है उसके कारण सुन्दर । अर्थात् चित्ताकर्षक (है) तो उनमें से जो कर्ता की अत्यन्त अन्तरङ्गता है । (१) कर्ता अर्थात् स्वतन्त्र होने के कारण प्रधान भूत कारक की क्रिया के प्रति-निर्वाह करने में जो अत्यधिक अन्तरङ्गता अर्थात् अन्तरतमता है, वह (क्रियावैचित्र्यवक्रता का) पहला भेद है । (उसका उदाहरण) जैसा—

चूडारत्ननिष्पण्णदुर्वहजगद्भारोद्गमत्कम्परो

घत्तामुद्धरतामसो भगवतः शेषस्य मूर्धा परम् ।

स्वरं तंस्पृशतीपदप्यवनति यस्मिन् सुठन्त्यक्रमं

शून्ये नूनमियन्ति नाम भुवनान्युद्गमकम्पोत्तरम् ॥ ८२ ॥

भगवान् शेषनाभ का यह चूडामणि पर स्थित कठिनाई से बहन करने योग्य जगती के भार के कारण झुकती हुई बन्धरा वाला फण मजबूती से खड़ा रहे, जिससे क स्वेच्छापूर्वक घोडा-सा भी झुकने का स्पर्श करने पर

भी (अर्थात् बुझने का नाम लेने पर भी) ये इतने भुवन आकाश में अत्यधिक कम्प के साथ बेसिलमिला लुडकने लग जाते हैं ॥ ८२ ॥

अत्रोद्घुरताधारणलक्षणक्रियाकर्तुः फणीश्वरमस्तकस्य प्रस्तुतो-
चित्यमाहात्म्यादन्तर्भावं यथा भजते तथा नान्या काचिदिति क्रिया-
वंचित्र्यवक्रतामावहति । यथा वा—

यहां पर खड़ा रखने के स्वरूप वाला व्यापार कर्ता रूप ज्ञेयनाग के फण
का, वर्ण्यमान के औचित्य की महिमा से जिस प्रकार अन्तरङ्ग बन जाता है
वैसे अन्य कोई व्यापार नहीं इसलिए यहां क्रियावंचित्र्यवक्रता है । अथवा जैसे—

किं शोभिताहमनयेति पिनाकपाणेः ।

पृष्ठस्य पातु परिचुम्बनमुत्तरं वः ॥ ८३ ॥

उदाहरण संख्या १।८१ पर उद्धृत 'क्रीडारसेन—' इत्यादि पद का यह
उत्तरार्थ । (कि पावंती के द्वारा अपने शिर पर चन्द्रलेखा लगाकर) 'क्या
मैं इसके श्वारा अच्छी लग रही हूँ' इस प्रकार पूछे गये चन्द्रमौलि (भगवान्
शङ्कर) का उत्तर रूप परिचुम्बन आप लोगों की रक्षा करे ॥ ८३ ॥

अत्र चुम्बनव्यतिरेकेण भगवता तयाविधलोकोत्तरं गौरीशोभाति-
शयाभिधानं न केनचित् क्रियान्तरेण कर्तुं पर्यंत इति क्रियावंचित्र्य-
निबन्धनं वक्रभावमावहति । यथा च—

यहां पर पावंती के उस प्रकार की अलौकिक सुन्दरता के उत्कर्ष का
चुम्बन से भिन्न किसी दूसरी क्रिया के द्वारा प्रतिपादन करना सम्भव नहीं था
इसीलिये यह (वाक्य) उस वक्रता का धारण करता है जिसका कारण
(चुम्बन रूप) क्रिया की विविधता है (यही क्रिया अत्यन्त अन्तरङ्गता
को प्राप्त हो गई है ।) तथा जैसे—(दूसरा उदाहरण)

रहस्यं तद्विभ्रणमग्न पद्मइपरिचुम्बितं जगद् ॥ ८४ ॥

(श्रुत्य तृतीयनयनं पावंतीपरिचुम्बितं जयति ।)

पावंती के द्वारा चुम्बन किया गया भगवान् शङ्कर का तृतीय नेत्र
सर्वोत्कृष्ट रूप में विद्यमान है ॥ ८४ ॥

यथा वा—

सिद्धितिस्रचाग्राग्नौ जगद् मग्नरद्वग्नौ ॥ ८५ ॥

(त्रिपिलितचापो जयति मकरध्वज ।)

अथवा जैसे—

घनुष को ढोला किए हुए कामदेव सर्वोत्कर्ष सम्पन्न है ॥ ८५ ॥

एतयोर्वैचित्र्यं पूर्वमेव व्याख्यातम् ।

इन दोनों उदाहरणों की विविधता का विश्लेषण पहले ही (उदा० सं० १।५८ एवं १।६८ की व्याख्या करते समय) कर चुके हैं ।

अयमपरः क्रियावैचित्र्यवक्रतायाः प्रकारः—कर्मन्तरविचित्रता । अन्यः कर्ता कर्मन्तरं तस्माद्विविधता वैचित्र्यम् । प्रस्तुतत्वात् सजा-
तोपत्याच्च कर्तुरेष । एतदेव च तस्य वैचित्र्यं यत् क्रियामेव कर्मन्तरा-
पेक्षया विचित्रस्वरूपां संवादयति । यथा—

(२) यह 'दूसरे कर्ता के कारण होनेवाली विविधता' क्रियावैचित्र्य-
वक्रता का दूसरा भेद है । कर्मन्तर का अर्थ है दूसरा कर्ता उससे जो
विविधता अर्थात् विलक्षणता होती है । (यह विलक्षणता) वर्तमान एवं
समानधर्मी होने के कारण कर्ता की ही होती है । उस (कर्ता) की यही
विलक्षणता है कि वह दूसरे कर्ता की अपेक्षा विचित्र स्वरूप वाली क्रिया की
ही निष्पत्ति करता है । जैसे—

नैकत्र शक्तिविरतिः क्वचिदस्ति सर्वे

भावाः स्वभावपरिनिष्ठिततारतम्याः ।

आकल्पमोर्वदहनेन निपीयमान-

मम्भोधिमेकचतुकेन पपायगस्त्यः ॥ ८६ ॥

कही एक ही स्थान पर सामर्थ्य की निष्पत्ति नहीं होती है । सभी वस्तुएँ
अपने स्वाभाविक न्यूनाधिक्य से युक्त होती हैं । कल्प के प्रारम्भ से ही
बडवाग्नि के द्वारा अच्छी तरह से सिये जाते हुए सागर को अगस्त्य (श्वषि)
ने एक चुल्लू से ही पी डाला था ॥ ८६ ॥

अर्थकचतुकेनाम्भोधिपानं सतताध्यवसायाम्यासकाष्ठाधिरुद्धि-
प्रौढत्वाद्वाडवान्नेः किमपि क्रियावैचित्र्यमुद्दहत् कामपि वक्रतामुन्मो-
लयति ।

यहाँ पर निरन्तर प्रयास के अम्यास' की चरमावधि को पहुँचे होने से
प्रौढ हुए बडवानल की अपेक्षा एक ही चुल्लू से सागर का पान कर जाना
किसी अपूर्व क्रिया की विलक्षणता को धारण करता हुआ किसी सोकोत्तर
वाक्यन को व्यक्त करता है ।

यथा वा—

प्रपन्नातिच्छिदो नखाः ॥ ८७ ॥

यथा वा -

स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शरान्नि. ॥ ८८ ॥

अथवा जैसे—

शरण में आये हुए लोगों की विपत्ति का छेदन करनेवाले नाखून (आप लोगों की रक्षा करें) ॥ ८७ ॥

अथवा जैसे—

वह शङ्कर भगवान के दाणों की आग आप सबके पापों को भस्म कर दें ॥ ८८ ॥

एतयोर्वैचित्र्यं पूर्वमेव प्रदर्शितम् ।

इन दोनों उदाहरणों का वैचित्र्य पहले ही (उदा० स० १।५९ एवं १।६० की व्याख्या करते समय) दिखाया जा चुका है ।

अयमपरः क्रियावैचित्र्यवक्रतायाः प्रभेदः—स्वविशेषणवैचित्र्यम् ।
मुख्यतया प्रस्तुतत्वात् क्रियायाः स्वयमात्मनो यद् विशेषणं भेदकं तेन
वैचित्र्यं विचित्रभावः । यथा -

(३) यह 'अपने विशेषण के कारण विचित्रता' क्रियावैचित्र्यवक्रता का अन्य तीसरा भेद है । प्रधान रूप से वर्णित होने के कारण क्रिया का जो अपना ही निजी विशेषण अर्थात् (दूसरी मजातीय क्रियाओं से उसे) भिन्न करने वाला है, उसके कारण जो वैचित्र्य अर्थात् विलक्षणता होनी है, (वह क्रियावैचित्र्यवक्रता का तृतीय भेद है) जैसे—

इत्युद्गते शशिनि पेशलकान्तिदूतो-
संलापसंवलितलोचनमानसाभिः ।

अग्राहि मण्डनविधिर्वितरीतभूषा-
विन्यासहासितसखीजनमङ्गनाभिः ॥ ८९ ॥

इस प्रकार चन्द्रादय के अनन्तर मुकुमार कान्तिवाली दूनियों के सुन्दर-
वचनों में सलग्न नेत्रों एवं चित्तवाली स्त्रियों ने, विपरीत अलङ्कार रचना
के कारण सचियों को हंसनेवाली अलङ्करण पद्धति को ग्रहण किया ॥ ८९ ॥

अत्र मण्डनविधिग्रहणलक्षणायाः क्रियाया विपरीतभूषाविन्यास-
हासितसखीजनमिति विशेषणेन किमपि सौकुमार्यमुन्मीलितम् ।
यस्मात्तथाविधादरोपरचितं प्रसाधनं यस्य ध्यञ्जकत्वेनोपात्तं
मुख्यतया वर्ण्यमानवृत्तेर्वस्तुमानुरागत्य सोऽप्यनेन सुतरां समुत्तेजितः ।

यहाँ पर अलङ्कार पद्धति ग्रहण रूप की क्रिया की, 'विपरीत अलङ्कार रचना के कारण सखियों को हँसानेवाली' (अलङ्कार पद्धति) इस विशेषण के द्वारा किसी लोकोत्तर सुकुमारता को व्यक्त किया गया है। क्योंकि प्रधान रूप से वर्णन किए जाते हुए जिस प्रियतम के अनुराग के व्यञ्जक रूप से उम प्रकार आदरपूर्वक विरचित वेश ग्रहण किया गया है वह (प्रियतम का अनुराग) भी इस (विशेषण) के द्वारा अच्छी तरह चमक गया है।

प्रया वा—

मध्यासवतश्चकितहरिणीहारिनेत्रत्रिभागः ॥ ६० ॥

अथवा जैसे—

(उस प्रियतम ने) मेरे ऊपर विस्मित अथवा भयभीत भृगी के (कटाक्षों के सदृश) रमणीय कटाक्ष को फेंका ॥ ९० ॥

अस्य वैचित्र्यं पूर्वमेवोदितम् । एतच्च क्रियाविशेषणं द्वयोरपि क्रियाकारकयोर्वक्तृत्वमुल्लासयति । यस्माद्विचित्रक्रियाकारित्वमेव कारकवैचित्र्यम् ।

इसकी विचित्रता पहले ही (उदा० १।४९ की व्याख्या करते समय) बताई जा चुकी है। यह क्रिया विशेषणक्रिया तथा कारक दोनों की ही वक्रता को प्रकट करता है, क्योंकि विचित्र क्रिया का करना ही कारक की विचित्रता होती है।

इदमपरं क्रियावैचित्र्यवक्रतायाः प्रकारान्तरम्—उपचारमनोज्ञता ।
उपचारः सादृश्यादिसमन्वयं समाश्रित्य यस्मान्तराध्यारोपस्तेन मनोज्ञता वक्तृत्वम् । यथा—

(४) । यह 'उपचार के कारण रमणीयता' क्रिया वैचित्र्यवक्रता का अन्य (चतुर्थ) भेद है। उपचार का अर्थ है सादृश्य आदि सम्बन्धों का ध्यान कर किसी दूसरे धर्म का आरोप, उसके कारण जो मनोज्ञता अर्थात् आकर्षण होता है (वही क्रियावैचित्र्यवक्रता का चतुर्थ प्रभेद है) । जैसे—

तरन्तीवाङ्गानि स्वलदमलमावण्यजलधौ
प्रयिम्नः प्रागल्भ्यं स्तनजघनमुन्मुद्रयति च ।

दृशोर्लोलारम्भाः स्फुटमपघदन्ते सरलता-

महोसारङ्गाक्ष्यास्तरुणिमनि गाढः परिचयः ॥ ६१ ॥

— ओहो ! इस हरिणाक्षी का युवावस्था से अत्यधिक प्रणय हो गया है (क्योंकि इसके) अवयव मानो चञ्चल एवं निर्मल सौन्दर्य के समुद्र में डूब रहे हैं (इसकी) स्तन एवं जङ्घायें मानो स्थूलता के अभिमान को व्यक्त कर रहे हैं तथा (इसके) नेत्रों के विलास का उद्यम भी साफ-साफ सरलता की निन्दा कर रहा है ॥ ९१ ॥

अत्र स्खलदमललावण्यजलधौ समुल्लसद्दिमलसौन्दर्यसंभारसिन्धौ परिस्फुरन्त्यपि स्पन्दतया प्लवमानत्वेन लक्ष्यमाणानि पारप्राप्ति-
मायादयितुं व्यवस्थातीवेति चेतनपदार्थसंभाविसादृश्योपचारात्तारुण्य-
तरलतरुणीगात्राणां तरणमुत्प्रेक्षितम् । उत्प्रेक्षायाश्चोपचार एव
भूयसा जीवितत्वेन परिस्फुरतीत्युत्प्रेक्षावसर एव विचारयिष्यते ।
प्रथिम्नः प्रागल्भ्यं स्तनजघनमुन्मुद्रयति च [इति]—अत्र स्तनजघनं
कतं प्रथिम्नः प्रागल्भ्यं महत्त्वस्य प्रौढिमुन्मुद्रयत्युन्मीलयति । यथा
कश्चिच्चेतनः किमपि रक्षणीयं वस्तु मुद्रयित्वा कर्मापि समयमवस्थाप्य
समुचितोपयोगावसरे स्वयमुन्मुद्रयत्युद्घाटयति, तदेवं तत्कारित्व-
साध्यात् स्तनजघनस्योन्मुद्रणमुपचरितम् । तदिदमुक्तं भवति—यत् यदेव
शैशवदशायां शक्यात्मना निभालितस्वरूपमनवस्थितमासीत्, यस्य
प्रथिम्नः प्रागल्भ्यस्य प्रथमतरतारुण्यावतारावसरसमुचितं प्रथनप्रसरं
सम्पद्यति । दृशोर्लोलारम्भाः स्फुटमपवदन्ते सरलताम् [इति]—अत्र
शैशवप्रतिष्ठितां स्पष्टतां प्रकटमेवापसार्य दृशोर्विलासोत्लासाः कमपि
नवयौवनसमुचितं विभ्रममधिरोपयन्ति । यथा केचिच्चेतनाः कुत्रचि-
द्विषये कर्मापि व्यवहारं समासादितप्रसरमपसार्य किमपि स्वाभि-
प्रायाभिमतं परिस्पन्दान्तरं प्रतिष्ठापयन्तीति तत्कारित्वसादृश्याल्ली-
लावतीलोचनविलासोत्लासानां सरलत्वापवदनमुपचरितम् । तदेवं-
विद्येनोपचारेण तास्तिष्ठोर्जपि क्रियाः कामपि वक्रतामधिरोपिताः ।
वाक्येऽस्मिन्नपरेऽपि वक्रताप्रकाराः प्रतिपदं संभवन्तीत्यवसरान्तरे
विचार्यन्ते ।

यहां स्खलित होने हुए निर्मल लावण्य के सागर में अर्थात् प्रकाममान
एवं स्वच्छ सौन्दर्य समूह के सागर में फटफडाते हुए भी चञ्चल होने के
कारण बहते हुए से दिखाई पड़ते हुए पार पहुँचने के लिए मानो व्यवसाय
सा कर रहे हैं । इस प्रकार के चेतन पदार्थ में सम्भव हो सवने वाले सादृश्य
के कारण उपचार (अथवा गुणवृत्ति) से युवावस्था के कारण चञ्चल
रूढ़ती के ढङ्गों का संरचना उत्प्रेक्षित किया गया है । तथा उत्प्रेक्षा में उपचार

ही ज्यादातर प्राण स्तर में स्फुरित होता है इसका विवेचन उत्प्रेक्षा का निरूपण करते समय ही करेंगे ।

इसके 'स्वन एव जघाए' स्वरूपा के अभिमान को व्यक्त कर रही है । यहाँ कर्ता रूप स्वन एवं जघाएँ पृथुता की प्रगल्भता अर्थात् गुरुता की निपुणता को उन्मुदित कर रहे अर्थात् व्यक्त कर रहे हैं । जिस प्रकार से कि कोई चेतन (प्राणी) किसी रसा करने योग्य वस्तु को छिनाकर कुछ समय के लिए रखकर उसके प्रयोग के योग्य समय पर अपने आप उसे उन्मुदित कर देता है अर्थात् प्रकट कर देता है । तो इसी प्रकार उसी प्रकार का कार्य करने की समानता के कारण स्वन एव जघाओं का (पृथुता के) प्रकट करने का उपचार से प्रयोग किया गया है । तो कहने का तात्पर्य यह है कि जो ही (पृथुता की प्रगल्भता) बाल्यावस्था में आच्छन्न स्वरूप वाली होने से शक्तिरूप में स्थित थी इसी पृथुता की प्रगल्भता के पहले पहले जवानी आने के समय के अनुरूप व्यक्त होने को प्रतिपादित किया गया है ।

'नेत्रों के विलासी का उद्यम साफ-साफ सरलता को निन्दा कर रहा है'—यहाँ बाल्यकाल में समाहत सरलता को स्पष्ट ही स्वीकार कर के आँखों के विलासों के उद्भव किसी (अनिर्वचनीय) नवपोषन के अनुरूप चेष्टा को (अथवा शोभा को) आरोपित कर रहे हैं । जैसे कुछ प्राणी किसी विषय में (मान्यता) प्रशन्नताप्राप्त व्यवहार का परिहारा कर अपना इच्छा-मुकूल दूसरे व्यवहार को प्रतिष्ठित करते हैं । उसी प्रकार का कार्य करने के सादर्य के कारण विलासवती के नेत्रों के विलासों के उद्यमों को सरलता को निन्दा करने का उपचार से प्रयोग किया गया है । तो इस प्रकार के उपचार से ये तीनों ही (तरन्ति, उन्मुदयन्ति तथा अपवदन्ते) क्रियाएँ किसी (लोकोत्तर) दीकपन को प्राप्त करा दिये गये हैं । इस श्लोक में दूसरे भी यकता के भेद पद-पद में सम्भव हो सकते हैं इसका विवेचन अन्य अवसरों पर किया जायगा ।

इदमपरं क्रियावेच्छिपवकृतायाः प्रकारान्तरम्—कर्मोदिसंज्ञतिः । कर्मप्रभृतीनां कारकाणां संज्ञतिः संवरणम्, प्रस्तुतीचिन्त्यानुसारेण तातिनायप्रतीतये समाच्छाद्याभिधा । सा च क्रियावेच्छिप्रकारितत्वात् प्रकारत्वेनाभिधीयते ।

(५) यह 'कर्म आदि का संवरण' क्रियावेच्छिपवकृता का अन्य (पौर्वर्ती) भेद है । कर्म इत्यादि कारकों को संज्ञति अर्थात् छिनाने का अर्थ है वर्तमान पदार्थ को उपपुच्छता के अनुसार उचित अतिशय का

बोध कराने के लिए (कर्मादि को) छिपा करके कहना तथा यह कथन क्रिया के अचिन्त्य को उत्पन्न करने के कारण उसके भेद रूप से कहा जाता है ।

कारणं कार्योपचाराद् यथा—

नेत्रास्तरे मधुरमर्पयतीव किञ्चित्
कर्णान्तिके कथयतीव विमप्यपूर्वम् ।

अतः समुल्लिखति किञ्चिद्विवायताक्ष्या
रागालसे मनसि रम्यपदार्थलक्ष्मीः ॥ ६२ ॥

कारण से कार्य का उपचार होने से (कर्मादि का मवरण) जैसे—

इस विशाल नयनो वाली (नायिका) की रमणीय दम्बुशोभा आँखों के अन्दर कुछ भीठा-भीठा भर सा देती है और कानों के पास कुछ अभ्रु-पूर्व भीठी बातें बोल सी जाती हैं, और प्रेम से अलसाये मन भीतर ही कुछ मधुर (भाव) उत्कीर्ण सा कर देती है ॥ ९२ ॥

अत्र तदनुभवंकगोचरत्वादनारयेयत्वेन किमपि सातिशयं प्रतिपदं कर्म संपादयन्त्यः श्रियाः स्वात्मनि कमपि वक्रभावमुद्भावयन्ति । उपचारमनोज्ञाताप्यत्र विद्यते । यस्मादपेक्षकथनोत्तेलनान्मुपचारनिबन्धनान्येव चेतनपदार्थधर्मात्वात् । यथा च—

यहाँ केवल उसी के अनुभवगम्य होने के कारण अनिवर्चनीय होने से, प्रत्येक पद में किमी अत्यधिक उत्कृष्टपूर्ण कर्म की पुष्टि करती हुई क्रियायें अपने भीतर किसी लोकोत्तर द्रव्यता को प्रकट करती हैं । साथ ही यों उपचार के कारण होने वाली रमणीयता भी विद्यमान है, क्योंकि प्रदान करना, कहना, उल्लेख करना क्रियायें चेतन पदार्थ का धर्म होने के नाते (सादृश्य के कारण) उपचार से ही प्रयुक्त हुई हैं । तथा जैसे (दूसरा उदाहरण)—

नृत्तारम्भाद्विरतरभसस्तिष्ठ तावन्मुहूर्तं

यावन्मौली इत्यमचलतां भूपणं ते नयामि ।

इत्याख्याय प्रणयमधुरं कांतया योज्यमाने

घ्नाच्चन्द्रे जयति सुखिनः कोऽपि शर्वस्य गर्व ॥ ६३ ॥

वेग से विरत हो जाने वाले तुम थोड़ी देर तक नर्तन के उपक्रम से तब तक ठहर जाओ जब तक कि मैं तुम्हारे निर पर के डीले आभूषण को स्थिरता प्रदान कर दूँ, (अपनी) प्रियतमा (पार्वती) के द्वारा स्नेह की

मिठास से भरी यह बात कहने पर चूडाचन्द्र के लगाने जाते समय हर्षविभार शिव का अनिवर्चनीय गर्व सर्वातिशायी है ॥ ९३ ॥

अत्र 'कोऽपि' इत्यनेन सर्वनामपदेन तदनुभवंकगोचरत्वादव्यप-
देश्यत्वेन सातिशयः शर्वस्य गर्वं इति कृतृसंज्ञाति । जयति सर्वोत्कर्षेण
वर्तते इति क्रियावैचित्र्यनिबन्धनम् ।

यहाँ 'कोई' (कोऽपि) इस सर्वनाम पद के द्वारा केवल शङ्कर के अनुभव द्वारा ही जाने जा सकने वाले होने के कारण अनिवर्चनीयता के द्वारा शंकर के किसी आतिशय पूर्ण घमण्ड (का कथन कर) कर्त्ता को छिपाया गया है जो 'जयति' अर्थात् सर्वोत्कृष्ट रूप में विद्यमान है इस क्रिया की विचित्रता का कारण है ।

इत्थयं पदपूर्वाधिवक्रभावो व्यवस्थितः ।

दिङ्मात्रमेवैतस्य शिष्टं लक्ष्ये निरूप्यते ॥ ९४ ॥

इति संप्रहसलोकः ।

इस प्रकार यह पदपूर्वाद्धि की वक्रता की व्यवस्था की गई है । (यथा उक्तविवेचन रूप में) इस प्रकार इसका केवल एक हिस्सा (बताया गया है) दोष (वक्रतायें) लक्ष्य (काव्यादि) में दिखाई पड़ते हैं ॥ ९४ ॥

यह संप्रहसलोक है । *

तदेव सुप्तिङन्तयोर्द्वयोरपि पदपूर्वाधस्य प्रातिपदिकस्य घातोश्च
यथायुक्ति वक्रता विचार्येदानीं तयोरेव यथास्वमपरार्थस्य प्रत्यय-
संज्ञणस्य वक्रतां विचारयति । तत्र क्रियावैचित्र्यवक्रतायाः सम-
नन्तरसंभविनः क्रमसमन्वितत्वात् कालस्य वक्रतां पर्यालोच्यते,
क्रियापरिच्छेदकत्वात्तस्य ।

तो इस प्रकार सुवन्त तथा तिङन्त दोनों पदों के पूर्वाद्धि प्रातिपदिक एवं घातु की यथोचित वक्रता का विवेचनकर अब उन्हीं दोनों के यथोचित प्रत्यय रूप उत्तरार्द्ध की वक्रता का विवेचन प्रस्तुत करते हैं । उनमें क्रिया-वैचित्र्य वक्रता के तुरन्त बाद में सम्भव होने वाले अतएव क्रमानुवृत्त तथा साथ ही, उनके क्रिया की अवधि होने के कारण, काल की वक्रता का विवेचन करते हैं ।

औचित्यान्तरतम्येन समयो रमणीयताम् ।

याति यत्र भवत्येषा कालवैचित्र्यवक्रता ॥ २६ ॥

जहाँ पर औचित्य का अत्यन्त अन्तरङ्ग होने के कारण समय रमणीयता को प्राप्त कर लेता है (वैसी) यह 'कालवैचित्र्य वक्रता' होती है ॥ २६ ॥

एषा प्रकान्तस्वरूपा भवत्यस्ति कालवैचित्र्यवक्रता । कालो व्याकरणादिप्रसिद्धो वर्तमानादितत्प्रभृतिप्रत्ययवाच्यो यः पदार्थानामुदयतिरोधानविधायी तस्य वैचित्र्यं विचित्रभावस्तथाविधत्वेनोपनिबन्धस्तेन वक्रता वक्रत्वविच्छित्तिः । कौदशो-यत्र यस्यां समयः कालास्यो रमणीयतां याति रमणीयतां गच्छति । केन हेतुना— औचित्यान्तरतम्येन । प्रस्तुतत्वात्प्रस्तावाधिकृतस्य वस्तुनो यदौचित्यमुचितभावस्तस्यान्तरतम्येनान्तरङ्गत्वेन । तदतिशयोक्तादकत्वेनेत्यर्थः ।

यथा—

यह जिसका स्वरूप (अभी) बताया जा रहा है, यह कालवैचित्र्य वक्रता होती है । काल का अर्थ है व्याकरणशास्त्र के ज्ञाताओं में प्रसिद्ध लट् आदि प्रत्ययों के द्वारा कहे जाने वाले पदार्थों के उदित होने एवं तिरोहित होने की व्यवस्था करने वाला वर्तमानादि काल उसका वैचित्र्य अर्थात् विचित्रता, उस ढंग से उसका वर्णन उसके कारण जो वक्रता अर्थात् वाक्यपन की सुन्दरता होता है (उसे कालवैचित्र्य वक्रता कहते हैं) । वैसी है (वह कालवक्रता) जहाँ अर्थात् जिस (वक्रता) में कहा जाने वाला समय रमणीयता को प्राप्त होता है अर्थात् मनोहर हो जाता है । किस कारण से (मनोहर हो जाता है) औचित्य का अन्तरतम होने से । प्रसंगप्राप्त होने के कारण प्रकरण की अधिकारिक वस्तु का जो औचित्य अर्थात् उपयुक्तता है उसके आन्तरतम्य के द्वारा अर्थात् उसका अत्यन्त ही अन्तरंग होने के कारण अर्थात् उस वस्तु में उत्कर्ष लाने के कारण (रमणीय हो जाता है) । जैसे—

समविसमजिद्विसेसा समंततो मन्दमन्दसंचारा ।

अद्विरो होहिति पहा मनोरहाणं पि दुर्लभा ॥ ६५ ॥

(समविसमनिर्विशेषा समन्ततो मन्दमन्दसञ्चारा ।

अविराद्भविष्यन्तिपन्थानो मनोरथानामपि दुर्लभ्या ॥)

चारों ओर से बराबरी एवं ऊँचे नीचे की विशेषताओं से हीन, धीरे-धीरे (बचा बचाकर) चलने लायक, ये रास्ते शीघ्र ही अमिलापनों के लिए भी दुर्लभ हो जायेंगे ॥ ९५ ॥

अत्र वल्लभाविरहबंधुर्यकातरान्त करणेन भाविनः समयस्य संभावनानुमानमाहात्म्यमुत्प्रेक्ष्य उद्दीपनविभावत्वविभवविलसितं तत्परिस्पन्दसौन्दर्यसन्दर्शनासहिष्णुना किमपि भयविसंभ्रुतत्वमनभूय शङ्काकुलत्वेन केनचिदेतदभिधीयते-यदचिराद् भविष्यन्ति पत्न्या नो मनोरथानामप्यलङ्घनीया इति भविष्यकालाभिधायी प्रत्ययः कामप्यपराधवक्रतां विकासयति । यथा वा—

यहाँ पर भविष्य में होने वाले समय की सम्भावना की कल्पना की महिमा की उत्प्रेक्षा करके उद्दीपन विभाव वैभव-विलास को एव उसके स्वरूप की सुन्दरता को देखना न सहन कर सकने वाले, एव भय के कारण किसी अप्रवृत्तिस्पता का अनुभव कर सका से व्याकुल हो गये एव प्रियतमा के विधाय के दुःख से भयभीत हृदय कोई इस प्रकार कहता है— कि शीघ्र ही रास्ते मनोरथों के लिए भी दुर्लभ हो जायेंगे—इन प्रकार यहाँ भविष्य काल का प्रतिपादन करने वाला (चट्) प्रत्यय किसी अपूर्व) उत्तरार्द्ध की वक्रता को व्यक्त करता है । अथवा जैसे—

यार्द्धकिचिदपूर्वमाद्रमनतामावेदयन्तो नवाः
सौभाग्यातिशयस्य कामपि दशां मनुं व्यस्यन्त्यमो ।
भावस्तावदनन्यजस्य विधुरः कोऽप्युद्यमो जृम्भते
पर्यप्ते मधुविभ्रमे तु किमयं कर्तति कम्पामहे ॥ ६६ ॥

जयति आर्द्रहृदय लोगो को कोई अपूर्व (आनन्द) प्रदान करते हुए ये अभिनव पदार्थ रमणीयता के उत्कर्ष किसी अतिवंचनीय अवस्था को प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हैं तभी कामदेव का कोई विरल कर देने वाला उद्योग दिखाई पड़ने लगा है तो भला वृत्तन्त वैभव के पूर्ण हो जाने पर यह क्या करेगा ? इन लिए हम काँप रहे हैं ॥ ६६ ॥

अत्र व्यवस्यन्ति जृम्भते कर्ता कम्पामहे चेति प्रत्ययाः प्रत्येकं प्रति नियतालाभिधायिनः कामपि पदपरार्थवक्रतां प्रस्थापयन्ति । तथा च—
प्रथमतः रावतीर्णमभुतमयसो कुमार्यसमुल्लसितसुन्दरपदार्थसार्यसमुन्मेष-
समुद्दीपितसहजविभवविलसितत्वेन मकरकेतोर्मनाङ्मात्रमाधवसाना-
ध्यसमुल्लसितातुलशिवतेः सरसहृदयविदुरताविधायी कोऽपि संरम्भः
समुज्जृम्भते । तस्मादनेनानुमानेन परं परिपोषमधिरोहति कुसुमा-
करविभवविभ्रमे मानिनीमानदत्तनदुर्लसिततनुदितसहजसौकुमार्य-
संपत्संजनितसमुचितजिगीषावसरः किमसौ विधास्यतीति विकल्पयन्त-

स्तत्तु सुमशरनिर्करनिपातकातरान्तकरणा किमपि कम्पामहे चकित-
चेतसः संप्रधामहे इति प्रियतमाविरहविधुरचेतसः सरसहृदयस्य कस्य-
चिदेतदभिधानम् ।

यहाँ व्यवस्थान्ति (मे लट्), जम्भते (मे लट्, कर्ता (मे लुट्) एवं
कम्पामहे (मे लट्)—ये प्रत्येक निश्चित काल का प्रतिपादन करने वाले
प्रत्यय पद के उत्तरार्ध की किसी अपूर्व वक्रता को व्यक्त करते हैं । जैसे
कि पहले पहल अवतीर्ण हुए वसन्तकाल की सुकुमारता से अत्यधिक शोभा-
यमान पदार्थ समुदाय के प्रसार से भलीभाँति उदास किये गये ऐश्वर्य से
सुशोभित होने के कारण थोड़े से ही वसन्त के समाग से उत्पन्न अनुपम
पराक्रम वाले कामदेव का सहृदय हृदयो को वष्ट प्रदान करने वाला कोई
वत्साह् वत्साह् हो गया है । इसलिए इस अनुमान के द्वारा (कि यदि अभी
ही ऐसा हाल है तो आगे चलकर) वसन्तऋतु के वैभव विलास के पूर्णतया
परिपुष्ट हो जाने पर म निनिमो के मान को खण्डित कर देने के कारण ढीठ
तथा उत्पन्न स्वाभाविक सुकुमारता की सम्पत्ति वाला और उत्पन्न हो गए
समुचित विजय की इच्छा के अवसर वाला यह (कामदेव) क्या करेगा ? इस
प्रकार सोचते हुए उम (कामदेव) के पुष्पवाणो के गिरने से भयभीत हृदय-
वाले (हम) कुछ काँप रहे हैं अर्थात् घबड़ा रहे हैं ऐसी कोई प्रियतमा के
वियोग से दुखी हृदय वाले किसी सहृदय की यह उक्ति है ।

एवं कालवक्रतां विचार्य क्रमसमुचितावसरां कारकवक्रतां
विचारयति—

इस प्रकार कालवक्रता का विवेचन कर क्रमानुवूल अवसरप्राप्त कारक-
वक्रता का विवेचन करते हैं—

यत्र कारकसामान्यं प्राधान्येन निबध्यते ।

तत्त्वाधारोपणान्मुख्यगुणभावाभिधानतः ॥ २७ ॥

परिपोषयितुं काश्चिद्भङ्गीभणितिरम्यताम् ।

कारकाणां विपर्यासः सूक्ता कारकवक्रता ॥ २८ ॥

यहाँ प्रधान की गौणता का प्रतिपादन करने से एव (गौण में) मुख्यता
का आरोप करने से किसी (अपूर्व) भणित के द्वारा वचन की रमणीयता
को परिपुष्ट करने के लिए कारक सामान्य का प्रधान रूप से प्रयोग किया
जाता है, (इस प्रकार के) वारको के परिवर्तन से युक्त उसे कारक वक्रता कहा
गया है ॥ २७-२८ ॥

सोयता कारकवक्रता सा कारकवक्रवविच्छित्तिरमिहिता ।
 कीदृशी—यस्यां कारकाणां विपर्यासः साधनानां विपरिवर्तनम्, गौण-
 मुख्ययोरितरेतरत्वापत्तिः । कथम्—यत् कारकसामान्यं मुख्यपेशना
 करणादि तत् प्राधान्येन मुख्यभावेन प्रयुज्यते । कथा युक्ता—तत्त्वा-
 ध्यारोपणात् । तदिति मुख्यपरामर्शः, तस्य भावस्तत्त्वं तदध्यारोपणात्
 मुख्यभावसमर्पणात् । तदेवं मुख्यस्य का व्यवस्थेत्याह—मुख्यगुण-
 भावाभिधानतः । मुख्यस्य यो गुणभावस्तदभिव्यानादमुख्यत्वेनोप-
 निबन्धादित्यर्थः । किमर्थम्—परिपोषयितुं कांचि भङ्गोभगितिरभ्य-
 ताम् । कांचिदपूर्वा विच्छित्युक्तिरमणीयतामुन्नासयितुम् । तदेव-
 मचेतनस्यापि चेतनसंभविस्वातन्त्र्यसमर्पणादमुख्यस्य करणादेर्वा
 कर्तृत्वाध्यारोपणाद्यत्र कारकविपर्यासश्चमत्कारकारी संनद्यते । यथा—

उसे कारक वक्रता कहा गया है अर्थात् (कर्ता आदि) कारकों के
 वाक्यन से होने वाली शोभा कहा गया है । कैसी है (वह कारक वक्रता)
 जिसमें कारको की विलोमता अर्थात् साधनों का विशेष परिवर्तन रहता है
 अर्थात् अग्रधान एवं प्रधान की एक दूसरे से बराबरी आ जाती है । कैसे—
 जो कारक सामान्य होता है अर्थात् प्रधान की अपेक्षा (गौण) कारण आदि है
 वह प्रधान रूप से अर्थात् मुख्यरूप से प्रयुक्त होता है । किस ढंग से (प्राधा-
 न्येन प्रयुक्त होता है) प्रधानता का अध्यारोप करने से । (तत्त्वाध्यारोप
 में) तत् शब्द से मुख्य का ग्रहण होता है । तत् का भाव तत्ता हुआ उसके
 अध्यारोप से अर्थात् प्रधानता का प्रतिपादन करने से (गौण का प्राधान्येन
 प्रयोग होता है) । तो इस प्रकार प्रधान कारक की क्या व्यवस्था होती है
 इसे बताते हैं—मुख्य की गौणता के कथन से । अर्थात् प्रधान की जो गौणता
 है उसका कथन करने में गौणरूप में प्रधान का प्रयोग करने से यह अभि-
 प्राय हुआ । (ऐसा परिवर्तन) किनलिए (किया जाता है)—किसी भङ्गो-
 भगिति की रम्यता को पुष्ट करने के लिए । अर्थात् विच्छित्ति द्वारा कथन की
 किसी अपूर्व रमणीयता की सृष्टि करने के लिए । तो इस प्रकार चेतन में
 सम्भव होने वाली स्वतन्त्रता को अचेतन में भी प्रतिपादित करने से अथवा
 गौण करणादि में कर्तृता का आरोप करने से जहाँ कारको का परिवर्तन
 चमत्कार को उत्पन्न करने वाला होता है (वहाँ कारक वक्रता होती
 है) जैसे—

याच्छां दैन्यपरिग्रहप्रणयिनीं नैश्वाकव शिशिताः
 सेवासंवसितः कदा रघुकुले मीलो निबद्धोऽञ्जलिः ।

सर्वं तद्विहितं तथाप्युदधिना नैवोपरोधः कृतः

पाणिः संप्रति मे हठात् किमपरं स्पृष्टुं धनुर्धावति ॥ ९७ ॥

दैन्य को स्वीकार करने के विषय में समुत्तुक मयुकरी वृत्ति की शिक्षा दशवाकुवगिरी ने कभी भी ग्रहण नहीं की। रघुकुल में भला कब सेवा भाव से सबलि (किसी के मामले) मस्तक पर रख कर हाथ जोड़ने की बात मुनी गई। परन्तु वह सब किया गया फिर भी सागर ने वाँच नहीं बँधने दिया। और क्या अब तो मेरा हाथ बरबस धनुष का स्पर्श करने के लिए दीडा जा रहा है ॥ ९७ ॥

अत्र पाणिनि धनुर्ग्रहीतुमिच्छामीति वक्ष्यन्त्ये पाणिः करणभूतस्य कर्तृत्वाध्यारोपः कामपि कारकवक्त्रतां प्रतिपद्यते ।

यथा वा—

स्तनद्वन्द्वम् इत्यादौ ॥ ९८ ॥

वहाँ हाथ में धनुष ग्रहण करना चाहता हूँ यह कहने के बजाय करण-भूत पर कर्तृत्व के आरोप वाला पाणि किसी अपूर्व कारकवक्त्रता को प्रस्तुत करता है ।

यथा वा—

निष्पर्यायनिवेशपेशलरसैरन्योन्यनिर्भर्त्सिभि-

हंस्ताग्रैर्युगपन्निपत्य दशभिर्बामैर्नृतं कार्मुकम् ।

सव्याना पुनरप्रयीयसि विद्यावस्मिन् गुणोरोपणे

मत्सेवाविदुषामहंप्रथमिक काप्यम्बरे वर्तते ॥ ९९ ॥

अथवा जैसे—

(रावण के) अपरिवर्तनीय ढंग से ग्रहण करने के विषय में पेशल अभि-निवेश वाले और एक दूसरे की भर्त्सना करने वाले दमों बायें हाथों के अगले भागों के द्वारा एक साथ आगे बढ़कर धनुष पकडा गया और अपनी सेवा को भलोभाँति जानने वाले दाहिने हम्जाग्रों की इस धनुष के ऊपर प्रत्यक्षा चढ़ाने की प्रक्रिया की निद्रि के अभाव में सारे आकाश में एक अनिवंचनीय अहमहमिका फैली हुई है ॥ ९९ ॥

अत्र पूर्ववदेव कर्तृत्वाध्यारोपनिबन्धनं कारकवक्त्रत्वम् ।

यथा वा—

बद्धस्पर्द्धा इति ॥ १०० ॥

यहाँ पर भी पहले की ही तरह कर्तृत्व के आरोप वाली कारकवक्त्रता है। अथवा जैसे—‘बद्धस्पर्द्धा’ इत्यादि पहले उदा० सं० १।६६ पर उद्धृत श्लोक।

एवं कारकवशतां विचार्य प्रमत्तमन्वितां संख्यावशतां विचारयति,
तत्परिच्छेदकत्वात् संख्यायाः—

कुर्वन्ति काव्यवैचित्र्यविवक्षापरतन्त्रिताः ।

यत्र संख्याविपर्यासं तां संख्यावक्रतां विदुः ॥ २६ ॥

इस प्रकार कारकवशता का विवेचन कर, मध्या के उसकी इयत्ता बताने वाली होने के कारण ब्रह्मानुसूल 'संख्यावक्रता' का विवेचन करते हैं—

जहाँ पर (कविजन) काव्य में विचित्रता के प्रतिपादन करने की इच्छा से पराधीन होकर वचनों का परिवर्तन कर लेते हैं उसे सङ्ख्यावक्रता (अथवा वचनवक्रता) कहते हैं ॥ २९ ॥

यत्र यस्यां फलयः काव्यवैचित्र्यविवक्षापरतन्त्रिताः स्वकर्मविचित्र-
भावामिधित्सापरवशाः संख्याविपर्यासं वचनविपरिवर्तनं कुर्वन्ति
विदधते तां संख्यावक्रतां विदुः तद्वचनवक्रत्वं जानन्ति तद्विदः ।
तदयमन्वयः—यदेकवचने द्विवचने प्रयोक्तव्ये वैचित्र्यार्थं वचनान्तरं
यत्र प्रयुज्यते, भिन्नवचनयोर्वा यत्र सामानाधिकरण्यं विधीयते । यथा—

जहाँ अर्थात् जिस (वक्रता) में कविजन काव्य के वैचित्र्य को विवक्षा से परतत्र होकर अर्थात् अपने व्यापार की विचित्रता का प्रतिपादन करने की इच्छा से पराधीन (अथवा बाध्य) होकर सङ्ख्याओं में विपर्यास अर्थात् वचनों की परिवर्तन कर देते हैं उसको 'संख्यावक्रता' कहते हैं अर्थात् काव्य-मर्मज्ञ उसे वचनों की वक्रता समझते हैं । सो यहाँ इसका आशय यह है कि एकवचन अथवा द्विवचन का प्रयोग करने के अवसर पर जहाँ विचित्रता लाने के लिए अन्य वचन का प्रयोग होता है, अथवा जहाँ भिन्न-भिन्न वचनों का समान अधिकरण से युक्त रूप में प्रयोग किया जाता है (वहाँ सङ्ख्यावक्रता होती है) जैसे—

कपोले पत्राली करतलनिरोधेन मृदिता

निपीतो निश्वासरयममृतहृद्योऽधररसः ।

मुहुः कण्ठं लग्नस्तरलयति वाष्पः स्तनतटौ

प्रियो मन्युर्जातिस्तव निरनुरोधे न तु वयम् ॥ १०१ ॥

हे पराद्मुखि ! (तुम्हारे) गण्डस्थल पर बनी हुई (वस्तूरी-चन्दन की) पत्र-रचना को हृद्येली के आच्छादन ने मसल डाला है, तथा अमृत के समान मनोहर (तुम्हारे) इस अक्षर रस को निःश्वासों ने पुरी तरह से पी डाला

है, एव बार-बार गले तक बहता हुआ आंसू तुम्हारे स्नानतट को कँपा रहा है (इससे जाहिर है कि) क्रोध (ही) तुम्हारा प्रिय बन गया है, न कि मैं ॥१०१॥

अत्र 'न त्वहम्' इति वक्तव्ये, 'न तु वयम्' इत्यनन्तरङ्गत्वप्रति-
पादनार्थं तादस्थ्यप्रतीतये बहुवचनं प्रयुक्तम् । यथा वा—

वयं तत्त्वान्वेषान्मबुकर हतास्त्वं खलु कृतो ॥ १०२ ॥

अत्रापि पूर्ववदेव तादस्थ्यप्रतीतिः । यथा वा—

कुल्लेन्दोवरकाननानि नयने पाणी सरोजाकराः ॥१०३॥

यहाँ 'न कि मैं' (तुम्हारा प्रिय हूँ) ऐसा कहने के बजाय 'न कि हम' (तुम्हारे प्रिय हूँ) ऐसा कहने में अपने अन्तरङ्ग न होने का प्रतिपादन करने के लिए, माय ही अपनी तटस्थता का बोध कराने के लिए बहुवचन का प्रयोग किया गया है । अथवा जैसे—

(शाकुन्तल में शाकुन्तला के ऊपर मड़रते हुए भ्रमर को देखकर दुष्यन्त का यह कथन कि) हे भ्रमर ! हम तो अतलित का पता लगाने में ही मारे गए (लेकिन) तुम कृतकृत्य हो गए ॥ १०२ ॥

यहाँ पर भी पहले (उदाहरण) की ही तरह (वयं) के द्वारा तादस्थ्य की प्रतीति कराई गई है ।

अथवा जैसे—(उस नायिका की)

आँखें विकसित नीलकमल के वन तथा हाथ कमलों की खात हैं ॥१०३॥

अत्र द्विवचनबहुवचनयोः सामानाधिकरण्यलक्षण. संज्ञाविपर्ययः
सहृदयहृदयहारितामावहति । यथा वा—

शास्त्राणि चक्षुर्नयम् इति ॥ २०४ ॥

अत्र पूर्ववदेवैकवचनबहुवचनयोः सामानाधिकरण्यं द्वैविध्यविधायि।

यहाँ द्विवचन एव बहुवचन का सामानाधिकरण्यरूप वचनो का परिवर्तन

सहृदयो के लिये मनोहर हो गया है । अथवा जैसे—

शास्त्र (रावण की) अभिनव दृष्टि है । यह ॥ १०४ ॥

यहाँ पहले (उदाहरण) की ही तरह एकवचन और बहुवचन का सामाना-
धिकरण्य विचित्रता की मृष्टि करना है ।

एवं संज्ञावक्रतां विचार्य तद्विषयत्वात् पुत्राणां क्रमसमपितावसरां
पुरुषवक्रतां विचारयति—

प्रत्यक्तापरभावश्च विपर्यासेन योज्यते ।

यत्र विच्छिद्ये सैषा ज्ञेया पुरुषवक्रता ॥ ३० ॥

इस प्रकार सदस्मादवक्रता का विवेचन कर पुरुषों के उसका विषय होने के कारण क्रमशः अवसर प्राप्त पुरुषवक्रता का विवेचन करते हैं—

जहाँ वैचित्र्य की सृष्टि करने के लिए अपने स्वरूप को और दूसरे के स्वरूप को परिवर्तन के साथ निरुद्ध किया जाता है उसे 'पुरुषवक्रता' समझना चाहिए ॥ ३० ॥

सत्र यस्यां प्रत्यक्षता निजात्मभावः परभावश्च अन्यत्वमुभयमप्येतद्विपर्यासेन योज्यते विपरिवर्तनेन निबध्यते । किमर्थम्—विच्छिद्ये वैचित्र्याय । सैषा वर्णितस्वरूपा ज्ञेया शातव्या पुरुषवक्रता पुरुषवक्रत्वविच्छिन्तिः । तदयमन्वयः यद्व्यस्मिन्नुत्तमे मध्यमे वा पुरुषे प्रयोक्तव्ये वैचित्र्यायाय, कदाचित् प्रथमः प्रयुज्यते । तस्माच्च पुरुषैकयोगक्षेमत्वादस्मदादेः प्रातिपदिकमात्रस्य च विपर्यासः पर्यवस्यति ।

जहाँ अर्थात् जिस (वक्रता) में प्रत्यक्ता अर्थात् अपना स्वरूप तथा परभाव अर्थात् अन्य का स्वरूप ये दोनों ही परिवर्तन के साथ समोजित किये जाते हैं अर्थात् प्रयुक्त किए जाते हैं । जिस लिए—विच्छिन्ति अर्थात् विचित्रता लाने के लिए । ऐसा जिसका वर्णन किया गया है उसे पुरुषवक्रता अर्थात् पुरुषों के वाचपन में उत्पन्न शोभा जानना अथवा समझना चाहिए । तो यहाँ इसका आशय यह है कि जहाँ अन्य, उत्तम, अथवा मध्यम पुरुष का प्रयोग करने के अवसर पर, विचित्रता लाने के लिए अन्य पुरुष अर्थात् प्रथम पुरुष का प्रयोग किया जाता है । और इस लिए किसी पुरुष के ले जाने और सुरक्षित रखने के कारण अस्मदादि और केवल प्रातिपदिक का विरोध समाप्त हो जाता है ।

यथा—

कौशाम्बी परिभूय नः कृपणकंविद्वैपिभिः स्वीकृतां
जानाम्येव तथा प्रमादपरतां पत्युन्यद्वेपिणः ।

स्त्रीणां च प्रियविप्रयोगविधुरं चेतः सदैवात्र मे

व्यस्तुं नोत्सहते मनः परमतो जानातु देवी स्वयम् ॥१०५॥

शात ही हैं जैसे—

राजनीति से विद्वेष रखने वाले महाराज की वंसी हापरवाही (जिसके कारण) मामूली से शत्रुओं के द्वारा हम लोगों को पराजित करके कौशाम्बी

ग्रहण कर ली गई । श्रियो का हृदय प्रियतम के वियोग से विह्वल होता ही है
अतः इस विषय में मेरा मन सदा से ही कुछ कह सकने में असमर्थ रहा है ।
इसके आगे स्वयं देवी जानें (कि उन्हें क्या करना चाहिए) । ॥ १०५ ॥

अत्र 'जानातु देवी स्वयम्' इति युष्मदि मध्यमपुरुषे प्रयोक्तव्ये प्रातिपदिकमात्रप्रयोगेण वक्तुस्तदशक्त्यनुष्ठानतां, मन्यमानस्योदासीन्य-प्रतीतिः । तस्याश्च प्रभुत्वात् स्वातन्त्र्येण हिताहितविचारपूर्वकं स्वयमेव कर्तव्यार्थप्रतिपत्तिः कमपि वाक्यवक्रभावमावहति । यस्मादेतदेवास्म्य वाक्यस्य जीतित्वेन परिस्फुरति ।

यहाँ 'युष्मद्' शब्द के मध्यम पुरुष के प्रयोग करने के स्थान पर 'देवी स्वयं जानें' इस केवल प्रातिपदिक के प्रयोग के द्वारा उसके द्वारा न किए जा सकने योग्य कार्य को जानने वाले वक्ता के औदासीन्य की प्रतीति होती है। तथा उसके प्रभु होने के कारण स्वतन्त्रतापूर्वक हित एवं अहित को ध्यान में रखकर वर्तव्य के लिये विचार करना किसी (लोकोत्तर) वाक्यवक्रता को धारण करता है। क्योंकि यही इस वाक्य के प्राण रूप से स्फुरित होता है।

एवं पुरुषवक्त्रां विचार्य पुरुषाश्रयत्वादात्मनेपदपरस्मैपदयोरेचिता-
वस्तरां वक्त्रां विचारयति । धातूनां लक्षणानुसारेण नियतपदाश्रयः प्रयोग-
पूर्वाचार्याणाम् 'उपग्रह'-शब्दाभिधेयतया प्रसिद्धः तस्मात्तदभिधानेनैव
व्यवहरति—

पदयोरुभयोरेकमौचित्याद् विनियुज्यते ।

शोभायै यत्र जल्पन्ति-तामुपग्रहवक्ताम् ॥ ३१ ॥

इस प्रकार पुरुषवक्रता का विवेचन कर पुरुषों के आश्रय होने के कारण, उपयुक्त अवसर प्राप्त, आत्मनेपद एवं परम्मेपद की वक्रता का विवेचन करते हैं। आचार्यों में, घातुओं का लक्षण के अनुसार निश्चित पद के आश्रय वाला प्रयोग 'उपग्रह' शब्द के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। इसलिये उसी नाम से ही (ग्रन्थकार कुन्तक भी) व्यवहार करते हैं—

जहाँ पर भोचित्य के कारण सौन्दर्य की सृष्टि के लिए (आत्मनेपद) एवं परस्मैपद) दोनों पदों में से एक का विशेष रूप से प्रयोग किया जाता है, उसे (कविजन) उपग्रह वक्रना कहते हैं ॥ ३१ ॥

तामुवतस्वरूपामुपग्रहव्यतामुपग्रहवन्नद्विविधिति जल्पन्ति कवयः
कथयन्ति । कीदृशी—यत्र यस्यां पदयोरुभयोर्मध्यादेकमात्मनेपदं

परस्मैपदं वा विनियुज्यते त्रिनिवृत्ते निरमेन । कश्चात्कारणात्—
श्रीचित्यात् । वर्ण्यमानस्य वस्तुनो यदौचित्यमचितभावस्तस्मात्, तं
समाधित्येत्यर्थः । किमर्थम्—शोभायै विच्छित्तये ।

यथा—

प्रतिपादिन किए गये स्वरूप वाली उस (वक्रा) को कविजन उपब्रह्मण्ड
सर्वात् उद्बुद्ध के कारण उत्पन्न वाकान की गोमा कहने हैं । कौनो (वक्रा
को)—यही अर्थात् त्रिव (वक्रा) में दो गो पदों के मध्य से आत्मनेपद
अथवा परस्मैपद एक का विनियोग अर्थात् नियमपूर्वक विशेषरूप से प्रयोग
किया जाता है । किन कारण से—श्रीचित् के कारण । वर्णन की जाने वाली
वस्तु का जो औचित्य अर्थात् उद्बुक्ता होती है उसके कारण अर्थात् उसके
साधन ग्रहण कर । किन निम्ने—शोभा अर्थात् रमणीयता के लिये । जैसे—

तस्यापरेष्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षोः

कर्णान्तमेव विभिदे निविडोऽपि मुष्टि ।

प्रासातिमात्रचक्षुस्तं स्मरयत्सु नेत्रैः

प्रौढप्रियानयनविभ्रमवेष्टितानि ॥ १०६ ॥

भय के कारण अत्यधिक चञ्चल नयनों से (साम्य के कारण) प्रगल्भ
प्रिया के नेत्र विलामो के व्यापार का स्मरण कराने वाले दूसरे हरिणों पर भी
बाण चलाने की इच्छा वाले उस (राजा दशरथ) की अत्यन्त दृढ़ मुट्ठी भी
अवण पर्यन्त पहुँचकर शिथिल हो गई ॥ १०६ ॥

अत्र रातः सुललितविलासवतीलोचनविलासेषु स्मरणगोचर-
भवतरत्सु तत्परायस्तच्चित्तवृत्तेराद्भिगुरुप्रयत्नपरिस्पन्दविनिवर्तमाना
मुष्टिर्विभिदे भिद्यते स्म । स्वपमेवेति कर्कशं निवृत्त्यनमात्मनेपदमतीव
चमत्कारिणी कामपि बाधयवक्ररामाव हति ।

यहाँ विलामवती (प्रियतमा) के सुन्दर हाव भावों से मुक्त नेत्र व्यापारों
की याद आ जाने से उसके वशीभूत चित्तवृत्ति वाले राजा (दशरथ) की
शारीरिक प्रयत्न के व्यापार से होन मुट्ठी अपने आप ही ' भिन्न अर्थात् शिथिल
हो गई । इस कर्म कर्ता का कारण आत्मनेपद अत्यन्त ही चमत्कार को उत्पन्न
करने वाली किसी (अपूर्व) बाधयवक्रा को धारण करता है ।

एवमुपग्रहवक्रतां विचार्य तदनुसंभविनी प्रत्ययान्तरवक्रतां
विचारयति—

विहितः प्रत्ययादन्यः प्रत्ययः कमनीयताम् ।

यत्र कामपि पुष्पाति सान्या प्रत्ययवक्रता ॥ ३२ ॥

इस प्रकार उपग्रहवक्रता का विवेचन कर उसके बाद सम्भव होने वाली दूसरे प्रत्ययो की वक्रता का विवेचन करते हैं—

जहाँ (तिङ्गादि) प्रत्यय से किया गया प्रत्यय किसी अपूर्व रमणीयता को पुष्ट करता है वह दूसरी प्रत्ययवक्रता होती है ॥ ३२ ॥

सान्या प्रत्ययवक्रता सा सामान्नातृपादन्यापरा काचित् प्रत्यय-
वक्रत्वविच्छिन्तिः । अस्तीति संबन्धः । यत्र यस्यां प्रत्ययः कामप्यपूर्वा
कमनीयतां रम्यतां पुष्पाति पुष्पति । कीदृशः—प्रत्ययात् तिङादेर्विहितः
पदत्वेन विनिर्मितोऽन्यः कश्चिदिति ।

वह दूसरी प्रत्ययवक्रता होती है अर्थात् जिसका स्वरूप पहले बताया गया है उससे भिन्न कोई (नवीन) प्रत्ययो के एकपन का सौन्दर्य होता है । (इस कारिका का 'अस्ति' क्रिया के साथ सम्बन्ध है ।) जहाँ अर्थात् जिस (वक्रता) में प्रत्यय किसी अपूर्व कमनीयता अर्थात् सुन्दरता को पुष्ट करता है । कैसा (प्रत्यय)—तिङादि प्रत्ययो से किया गया पद रूप से बनाया गया कोई दूसरा प्रत्यय (जहाँ रमणीयता का पोषण करना है वह प्रत्यय-
वक्रता होती है) । जैसे—

लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्ममुभगं तत्त्वं गिरा कृष्यते

निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं वाचं यो वावपतिः ।

वन्दे द्वावपि तावहं कविवरौ वन्देतरां तं पुन-

यौ विज्ञातपरिश्रमोऽयमनयोर्भारावतारश्रमः ॥ १०७ ॥

जो अपनी वीणा के द्वारा वस्तुओं में गुप्त रूप से निहित सूक्ष्म सुन्दर तत्त्व को आकृष्ट कर लेता है और जो वावस्पति अपनी वागी के ही द्वारा यह रमणीयता तत्त्व प्रस्तुत कर देने में समर्थ होता है उन दोनों कविवरों को मैं प्रणाम करता हूँ और फिर उस (महापुरुष) को और भी अधिक प्रणाम करता हूँ जो परिश्रम को भलीभाँति समझ कर इन दोनों का बोझ उतार ले सवने में सक्षम हो सकता है ॥ १०७ ॥

'वन्देतराम्' इत्यत्र कापि प्रत्ययवक्रता कवेश्वेतसि परित्युक्तिः ।
अत एव 'पुनः'-शब्द पूर्वस्माद्विशेषाभिधायित्वेन प्रयुक्तः ।

‘वन्देतराम्’ यहाँ पर कोई अपूर्व प्रत्ययवक्रता कवि के हृदय में स्फुरित होती है। इसीलिए ‘पुन’ शब्द का प्रयोग पहले की अपेक्षा विशेष का प्रतिपादन करने के लिये दिया गया है।

एव नामाख्यातस्वरूपयोः पदयोः प्रत्येकं प्रकृत्याद्यवयवविभाग-
द्वारेण यथासंभवं वक्रत्वं विचार्येदानीमुपसर्गनिपातयोरव्युत्पन्नत्वाद-
संभवद्विभविभक्षितत्वाच्च निरस्ताद्यवयवत्वे सत्यविभक्तयोः साकल्येन
वश्रता विचारयति—

इस प्रकार नाम एव आख्यात रूप पदों में से प्रत्येक के प्रकृति आदि
अङ्गों को विभक्त करके (अलग अलग) यथासम्भव वक्रता का विवेचन कर
अथ उपसर्ग तथा निपातो के रूढ़ होने से तथा विभक्तियों के सम्भव न होने
से अङ्गों से हीन होने पर समग्र रूप से वक्रता का विवेचन करते हैं—

रसादिद्योतनं यस्यामुपसर्गनिपातयोः ।

वाक्यैकजीवितत्वेन सा परा पदवक्रता ॥ ३३ ॥

जिस (वक्रता) में उपसर्ग एवं निपातो की (शृङ्गारादि) रसों की
प्रकाशकता (व्यंजकता) वाक्य के एकमात्र प्राण रूप में होती है, वह दूसरी
पदवक्रता होती है ॥ ३३ ॥

सापरा पदवक्रता—सा समर्पितस्वरूपापरा पूर्वोक्तव्यतिरिक्ता
पदवक्रत्वविच्छिन्तिः । अस्तीति संबन्धः । कीदृशी—यस्यां वश्रताया
मुपसर्गनिपातयोर्येयाकरणप्रसिद्धाभिधानयो रसादिद्योतनं शृंगारप्रभृति-
प्रकाशनम् । कथम्—वाक्यैकजीवितत्वेन । वाक्यस्य श्लोकादेरेक-
जीवितं वाक्यैकजीवितं तस्य भावस्तत्त्वं तेन । तदिदमुक्तं भवति—
यद्वाक्यस्यैकस्फुरितभावेन परिस्फुरति यो रसादिस्तत्प्रकाशनेनेत्यर्थः ।
यथा—

वह दूसरी पदवक्रता होती है अर्थात् पहले बताई गई पदवक्रता से भिन्न,
जिसका स्वरूप बताया जा रहा है वह पदों के आकषण की शोभा होती है ।
(इस कारिका का) अन्ति इस क्रिया से सम्बन्ध है । कमी (वक्रता)—जिस
वक्रता में वैयाकरणों में प्रसिद्ध सञ्ज्ञा वाले उपसर्ग एवं निपातो का रसादि
का द्योतन अर्थात् शृङ्गारादि (रसों) का प्रकाशन (होता है) । कंसे (होता
है)—वाक्य के एक मात्र प्राण रूप से, वाक्य अर्थात् श्लोकादि उसका जो
अनेक जीवन है वह कहा जायगा वाक्य का एक मात्र जीवन । उसके भाव

से । तो इसका आशय यह है कि--वाक्य के एकमात्र प्राण रूप में जो रसादि स्फुरित होता है उसके प्रकाशन के द्वारा (जो जीवित भूत होता है) । जैसे—

वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥ २०८ ॥

लेकिन हाय (अत्यन्त मुकुमारी) जानकी किस दशा में होगी ? हा देवि ! धैर्य धारण करो ॥ ५०८ ॥

अत्र रघुपतेस्तत्कालउवलितोद्दीपनविभावसंपरसमुल्लासितः संभ्रमो निश्चितजनितजानकीविपत्तिसंभावनास्तत्परित्राणकरणोत्साहकारणतां प्रतिपद्यमानस्तदेकाग्रतोल्लिखितसाक्षात्कारस्तदाकारतया विस्मृत-विप्रकर्षः प्रत्यग्ररसपरिस्पन्दमुन्दरो निपातपरपराप्रतिपद्यमानवृत्तिर्वाक्यैकजीवितत्वेन प्रतिभासमानः कामपि वाक्यवक्रतां समुन्मूलयति । तु-शब्दस्य च वक्रभावः पूर्वमेव व्याख्यातः । यथा वा —

यहाँ वर्षाकाल में प्रकाशित उद्दीपन विभावों की सामग्री से उत्पन्न निश्चित रूप से उत्पन्न जानकारी की विपत्ति की सम्भावना वाला राम का सवेग सीता के प्राणों की रक्षा करने के उत्साह का कारण बनता हुआ वैदेही के प्रति एकाग्रता के कारण उनके साक्षात्कार को विचित्र कर देने वाला तदाकारता के कारण दुरवस्था को भुला देने वाला नवीन रस के सस्फुरण के कारण सुन्दरता निपातपरम्पराओं के कारण प्राप्तमत्ताक होकर वाक्य के एकमात्र प्राण रूप से प्रतीत होता हुआ किसी अनिवर्चनीय वाक्यवक्रता को प्रस्तुत करता है । तथा 'तु' शब्द की वक्रता की व्याख्या पहले ही (उदा० स० २।२७ की व्याख्या करते समय) की जा चुकी है । अथवा जैसे —

अ यमेकपदे तया वियोग प्रियया चोपनत. सुदुःसहो मे ।

नववारिधरोदपादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः ॥१०६॥

(विक्रमोर्वशीय में उर्वशी के विरह से पीड़ित होकर पुच्छरवा दुःख प्रकट करता है कि जिनके भाग्य खराब हो जाने हैं उनके एक दुःख में दूसरा दुःख लगा ही रहता है क्योंकि)

(एक ओर) एकाएक मुझे उस प्रियतमा का अत्यन्त असह्य वियोग प्राप्त हुआ तथा (दूसरी ओर) नये-नये बादलों के आकाश में छा जाने से उष्णतारहित होने के कारण रमण करने योग्य दिन आ गए ॥ १०९ ॥

अत्र द्वयोः परस्परं सुदुःसहोद्दीपनसामर्थ्यसमेतयोः प्रियाविरह-धर्माकालयोस्तुल्यकालत्वप्रतिपादनपरं 'च'-शब्दद्वितयं समसमयसमुल्ल-

सितवह्निदाहदक्षदक्षिणवातव्यजनसमानतां समर्पयत् कामपि वायव्य-
वक्त्रां समुद्दीपयति । 'तु' - 'दुः'-शब्दान्वां च प्रियाविरहस्याशय
प्रतीकारता प्रतीयते । यथा च—

यहाँ पर परस्पर अत्यन्त असह्यता को उद्दीप्त करने की सामर्थ्य से मनुक्त
प्रियतमा के वियोग एवं वर्षा ऋतु, दोनों की समानकालिकता का प्रतिपादन
करने में तत्पर दो बार प्रयुक्त 'च' शब्द, एक ही समय में उत्पन्न अग्नि,
एवं जलाने में चतुर दक्षिणवन रुख पक्षे की समानता का समर्पण करता
हुआ किसी (अपूर्व) श्लोक के वक्रभाव को प्रकाशित करता है । 'तु' एवं
'दुः' शब्दों के द्वारा प्रेम्सी के वियोग का निराकरण असम्भव है । इस बात
की प्रतीति होती है । तथा जैसे—

मुहुरङ्गुलिसंबृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविश्ववानिरामम् ।

मुखमंसविवर्ति पद्मतास्याः कथमप्युत्तमितं न चुम्बितं तु ॥१०१॥

'अभिज्ञान शाकुन्तल' में राजा दुष्यन्त कहता है कि—

सुन्दर बरौनिमो वाली आँखों से युक्त, बार-बार जंगुलियों से ढंके अक्षर
वाले, एवं ('नहीं ऐसा नहीं' इस प्रकार) निषेध के अक्षरों के अस्पष्ट उच्चारण
के कारण रमणीय (उस प्रियतमा शकुन्तला के) कंधे की ओर मुझे हुए मुख
को किसी प्रकार उठाया तो पर चूमा नहीं ॥ ११९ ॥

अत्र नायकस्य प्रयमाभिलाषविवशवृत्तेरनुभवस्मृतिसमनुत्तिस्त्रि-
तत्कालसमुचिततद्वदनेन्दुसौन्दर्यस्य पूर्वपरिचुम्बनस्त्वलितसमुद्दीपित-
पश्चात्तापवशावेशद्योतनपरः 'तु'-शब्द कामपि वायव्यवक्त्रतामुत्तेजयति ।

यहाँ पर पहली कामना के कारण बेकाबू हो उठी हुई चित्त वृत्ति वाले
नायक की पूर्वानुभव की स्मृति से विवश कर दिए गए हुए उस समय के
लिए समीचीन उस (शकुन्तला) के मुखचन्द्र के सौन्दर्य का चुम्बन न ले
पाने के कारण प्रवृत्त हो उठे हुए पश्चात्तापवश उत्पन्न पहले के आवेश को
प्रकाशित करने में लगा हुआ 'तु' शब्द एक लोलोत्तर वायव्यवक्त्रता को उद्दीप्त
कर देता है ।

एतदुत्तरत्र प्रत्ययवक्रत्वमेवंविधप्रत्ययान्तरवक्रभावान्तर्भूतत्वात्
पुण्यत्वेन नोक्तमिति स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयम् । यथा—

इत उक्तर्गादिकों के आगे लगने वाले प्रत्ययों की वक्रता इस प्रकार
की दूसरी प्रत्यय वक्रताओं में अन्तर्भूत होने के कारण अलग से नहीं बताई
गई, उनकी (सहृदयों को) स्वयं उत्प्रेक्षा कर लेनी चाहिए । जैसे—

येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते

बह्वेणेव स्फुरितरुचिना गोपधेयस्य विष्णो ॥ १११ ॥

जिसके कारण चमकती हुई कान्ति वाले मयूरपिच्छ से युक्त कृष्णावतार धारण करने वाले विष्णु के (शरीर की) अनिशायिनी कान्ति को तुम्हारा श्यामल शरीर प्राप्त करेगा ॥ १११ ॥

अत्र 'अतितराम्' इत्यसीव चमत्कारकारि । एवमन्येषामपि सजातीयलक्षणद्वारेण लक्षणनिपत्तिः स्वयमनुसर्तव्या । तदेवमियमनेकारा वक्रत्वच्छित्तिश्रुतिविधपदविषया वाक्यकदेशजीवितत्वेनापि परिस्फुरन्ती सकलवाक्यवैचित्र्यनिबन्धनतामुपधाति ।

यहाँ 'अतितराम्' यह पद अत्यन्त ही चमत्कार को उत्पन्न करता है । इस प्रकार समानधर्मीय लक्षणों के आधार पर अपने आप लक्षणों की सिद्धि का अनुसरण कर लेना चाहिए (अर्थात् लक्षणों को घटित कर लेना चाहिए) । छो इस प्रकार यह चार प्रकार के पदों की विषयभूत अनेक प्रकार की वक्रताओं की शोभा वाक्य के एक भाग (पदों) में ही प्राण रूप से स्फुरित होती हुई भी समस्त वाक्य की विचित्रता का कारण बनती है ।

वक्रतायाः प्रकाराणामेकोऽपि कविकर्मणः ।

तद्विदाह्लादकारित्वहेतुतां प्रतिपद्यते ॥ ११२ ॥

इत्यन्तरलोकः ।

वक्रता के प्रभेदों में से एक भी प्रभेद कवि व्यापार (काव्य) के काव्य-मर्मज्ञों की आनन्दित करने का कारण बन जाता है ॥ ११२ ॥

यह अन्तरलोक है ।

यद्येवमेकस्यापि वक्रताप्रकारस्य यदेवंविधो महिमा तदेते बहवः संप्रतिताः सन्तः किं संपादयन्तीत्याह—

यदि वक्रता के एक भी भेद का ऐसा माहात्म्य है (कि वह वाक्यतत्त्वज्ञों को आह्लादित करने लगता है) तो ये बहुत से भेद (एक साथ ही उपस्थित होकर) क्या करते हैं—यह बताते हैं—

परस्परस्य शोभायैः बहवः पतिताः क्वचित् ।

प्रकारा जनयन्त्येतां चित्रच्छायामनोहराम् ॥ ३४ ॥

कहीं-कहीं परस्पर सौन्दर्य की सृष्टि के लिये (एक साथ) बहुत से

(वक्रताओ के) प्रभेद एकत्र होकर इसे विविध कान्तियो से रमणीय बना देते हैं ॥ ३४ ॥

यच्चिदेकस्मिन् पदमात्रवाक्ये वा वक्रताप्रकारा वक्रवप्रभेदा बहवः प्रभूताः कविप्रतिभामाहात्म्यसमुल्लसिताः । किमरम्-परस्परस्य शोभायै, अन्योन्यस्य विच्छिन्नतये । एतामेव चित्रच्छायामतोहरामनेकाकारकान्तिरमणीयां वक्रतां जनयन्त्युत्पादयन्ति । यथा—

तरन्तीव इति ॥ ११६ ॥

कही-कही का अर्थ है केवल एक पद में अथवा एक वाक्य में बहुत से वक्रताप्रकार, वाक्यन के प्रभेद कवि को शक्ति महत्ता (प्रभाव) से उत्पन्न होकर । किस लिए—परस्पर की शोभा के लिये एक दूसरे की रमणीयता के लिए (उत्पन्न होकर) इसी वक्रता को विविध छाया से भरोहर अर्थात् अनेक प्रकार की कमनीयता से रमणीय बना देते हैं । जैसे—

(उदाहरण सख्या २०९१ पर पूर्वोद्धृत) तरन्तीवाङ्गानि' इत्यादि पद ॥ ११३ ॥

अत्र क्रियापदानां त्रयाणामपि प्रत्येकं त्रिप्रकारं वैविध्यं परिस्फुरति—
क्रियावैचित्र्यं कारकवैचित्र्यं कालवैचित्र्यं च । प्रथिम-स्तन-जयत-
तरुणिन्नां त्रयाणामपि वृत्तिवैचित्र्यम् । लावण्यमलधि-प्रागन्त्य-
सरलता-परिचय-शब्दानामुपचारवैचित्र्यम् । तदेवमेते बहवो वक्रता-
प्रकारा एकस्मिन् पदे वाक्ये वा संपतितान्निप्रच्छायामतोहरामेनामेव
चेतनचमत्कारकारिणो वाक्यवक्रतामावहन्ति ।

यहाँ तीनों ही क्रियापदों में से हर एक की तीन प्रकार की विविधता प्रकाशित होती है—(१) क्रिया की विविधता, (२) कारक की विविधता तथा (३) काल की विविधता । 'प्रथिम' 'स्तनजयत' एवं 'तरुणिना' तीन शब्दों में वृत्तिवैचित्र्य की वक्रता है । 'लावण्य', 'जलधि', 'प्रागन्त्य' 'सरलता' एवं 'परिचय' शब्दों में उपचारवक्रता है । तो इन प्रकार ये बहुत से वक्रताओ के प्रभेद एक ही पद अथवा वाक्य में साथ ही एकत्र होकर चित्र की शोभा के सहग चित्ताकर्षक, सहृदयों को आनन्द प्रदान करने वाली इसी वाक्यवक्रता की धारण करते हैं ।

एवं नामाख्यातोपसर्गनिपातलक्षणस्य चतुर्विधस्यापि पदस्य यथासंभवं वक्रताप्रकारान् विचार्येदानीं प्रकरणमुपसंहृत्यान्यदव-
तारयति —

इस प्रकार नाम, आह्वान, उपसर्ग एवं निपात रूप चार प्रकार के पद की वक्रता का यथासम्भव विवेचन कर अब इस प्रकरण का उपसंहार करते हैं दुमरे प्रकरण को अवतरित करते हैं

वाग्वल्ल्याः पदपल्लवास्पदतया या वक्रतोद्भासिनी
विच्छित्तिः सरसत्वसंपदुचिता काप्युज्ज्वला जृम्भते ।
तामालोच्य विदग्धपट्पदगणैर्वाक्यप्रसूनाश्रयि
स्फारामोदमनोहरं मधु नवीत्कण्ठाकुलं पीयताम् ॥३५॥

वाणीरूपी लता की पदरूपी किसलयों के आश्रय से सरसत्व (शृङ्गारादि की व्यञ्जकता, एवं तात्कालिक रस की प्रचुरता) की सम्पत्ति में सम्पन्न वक्रता (उक्तिवैचित्र्य, एवं बालचन्द्र के सहस्र सुन्दर रचना का संयोग) से सुशोभित होने वाली एवं उज्ज्वल (सघटना की सुन्दरता से युक्त एवं पत्तों की शोभा से युक्त) जो कोई अलौकिक विच्छित्ति (कवि-कौशल की कमनीयता एवं सुन्दर ढङ्ग से पत्तों का विभाग) उलसित होती है, उसका विचार करके सहृदय रूप भ्रमरों का समूह वाक्यरूपी पुष्पों के आश्रय वाले अत्यधिक आमोद (सहृदयह्लादकारिता एवं सुगन्धि) के कारण हृदयावर्जक मधु (समस्त काव्य की कारण सामग्री के उदय एवं मकरन्द) का नवीन उत्कण्ठा से वक्राकुल होकर पान करें ॥ ३५ ॥

वागेव वल्ली वाणीलता तस्याः काप्यलौकिकी विच्छित्तिर्जृम्भते शोभा समुत्सर्ति । कथम्-पदपल्लवास्पदतया । पदान्येव पल्लवानि सुप्तिङन्तान्येव पत्राणि तदा स्पदतया तदाश्रयत्वेन । कीदृशी विच्छित्तिः-सरसत्वसंपदुचिता, रसवत्त्वापातिशयोपपन्ना । किंविशिष्टा च-वक्रतया वक्रभावेनोद्भासते भ्राजते या सा तथोक्ता । कीदृशी-उज्ज्वला छायातिशयरमणीया । तामेवंविधामालोच्य विचार्य विदग्धपटपदगणैर्विदग्धपट्चरणचक्रैर्मधु पीयतां मकरन्द आस्वाद्यताम् । कीदृशम्-वाक्यप्रसूनाश्रयम् । वाक्यान्येव पदसमुदायरूपाणि प्रसूतानि पुष्पाण्याश्रयः स्थानं यस्य तत्तथोक्तम् । अन्यच्च कीदृशम्-स्फारामोदमनोहरम् । स्फारः स्फुरितो योऽस्त्वामोदस्तद्धर्मविशेषस्तेन मनोहरं हृदयहारि । कथमास्वाद्यताम्-नवीत्कण्ठाकुलं नूतनोत्कलिकाध्यप्रम् । मधुकरसमूहाः खलु वल्ल्याः प्रथमोत्सितपल्लवोत्सेजमालोच्य प्रतीतचेतसः समनन्तरोद्भिन्नमुकुमारमुकुममकरन्द-पानमहोत्सवमनुभवन्ति । तद्वदेव सहृदयाः पदास्पदं कामपि वक्रता-

विच्छित्तिमालोच्य नद्योत्कलिकाकलितचेतसो वाक्पाथ्यं किमपि
वक्रताजीवितसर्वस्य विचारयन्तिवति तत्पर्यायः । अत्रैकत्र सरसत्वं
स्वसमपसम्भविरसादप्यत्वम्, अन्यत्र शृङ्गारादिव्यञ्जकत्वम् । वक्र-
तैकत्र बालेन्दुसुन्दरसंस्थामप्युषतत्वम्, इतरत्रोत्थादिवैविध्यम् ।
विच्छित्तिरेकत्र सुविभक्तपत्रत्वम् अन्यत्र कविकौशलकमनीयता
उज्ज्वलत्वमेकत्र पर्णच्छायापुवतत्वम्, अपरत्र सन्निवेशतोन्दर्यसमुदयः ।
आमोदः पुष्पेषु सौरभम्, वाक्येषु तद्विदाह्लादकारिता । मधु कुसुमेषु
मकरन्दः, वाक्येषु सफलकाव्यकारणसम्पत्समुदय इति ।

इति श्रीमत्कुन्तकविरचिते वक्रोक्तिजीविते
द्वितीय उन्मेषः ॥

बाणो ही है वल्ली जर्पात् बाणोरपी लता, उसकी कोई अलौकिक
विच्छित्ति अर्थात् शोभा उत्पन्न होती है । कैसे—पद पल्लवों के आश्रय
से । पद ही है पल्लव अर्थात् सुवन्त एव तिङन्त (पद) ही किसलय है, उनकी
आश्रयता से अर्थात् उसके आश्रय से (उत्पन्न होती है) । कैसी विच्छित्ति
(उत्पन्न होती है)—मुरसता की सम्पत्ति से मुक्त अर्थात् रसयुक्तता के
वतिरेक से सम्पन्न (विच्छित्ति) । और रंगी (विच्छित्ति) जो वक्रता से
अर्थात् बौकपन के कारण उद्भासित अर्थात् सुगोभित होती है ऐसी
(विच्छित्ति) और कैसी—उज्ज्वल अर्थात् कान्ति के उत्कर्ष से रमणीय ।
उस उस प्रकार की शोभा की आलोचना अर्थात् विचार करके विदग्ध रूप
पट्पटों का समूह अर्थात् सहृदय रूपी भ्रमरों का समुदाय मधु का पान करें
अर्थात् पुष्प रस का आस्वादन करें । कैसे (पुष्प रस का) वाक्य पुष्प के
आश्रय बाले (रस का) । पदों के समुदाय रूप वाक्य ही हैं पुष्प अर्थात्
फूल एव वे ही हैं आश्रय अर्थात् निवासस्थान जिसके ऐसे पुष्प रस का
पान करें । और कैसा है (वह पुष्प रस) प्रचुर आमोद के कारण मनोहर
स्फार । अर्थात् अत्यधिक जो यह आमोद अर्थात् पुष्प का धर्मविशेष
(सुगन्धि) होता है उससे मनोहर चित्ताकर्षक (रस का आस्वादन करें)
कैसे आस्वादन करें—नवीन उत्पन्ना से व्याकुल होकर अर्थात् अभिनव
उत्पन्ना से शुब्ध होकर । (इसका आशय यह है कि जैसे) भ्रमरों के समूह
कता के पहले-पहल निकले हुए किसलयों की उत्पत्ति को देखकर विश्वस्त
होकर उनके बाद घिरे हुए सुमोदल पुष्पों के पुष्परस के पीने का आनन्द
अनुभव करते हैं उसी प्रकार सहृदय पदों के आश्रय बाली किसी अलौकिक
वक्रता की शोभा का विवेचन कर अभिनव उत्पन्ना से सवलितहृदय

होकर वाक्य के आश्रय वाले वक्रता के प्राणस्वरूप किसी तरह का विचार करने हैं ।

यहाँ लतापक्ष में सरसता का अर्थ है अपने समय के अनुसार उत्पन्न होने वाली रस की प्रचुरता तथा वाणीपक्ष में अर्थ है शृङ्गारादि रसों की व्यञ्जकता । लतापक्ष में वक्रता से तात्पर्य है बालचन्द्रमा की तरह सुन्दर संघटना से युक्त होना तथा वाणीपक्ष में अर्थ है कथन आदि की विचित्रता विचित्रता से लतापक्ष में अभिप्राय है पत्ती के सुन्दर कृष्ण के विभाग से तथा वाणीपक्ष में अर्थ है कवि की कुशलता का सौन्दर्य । लतापक्ष में उज्ज्वल होने का अर्थ है पत्ती की शोभा से युक्त होना, तथा वाणीपक्ष में तात्पर्य है संघटना की सुन्दरता की भली-भाँति सृष्टि । फूल में आमोद से तात्पर्य है सुगन्धि से तथा वाक्य में आमोद का अर्थ है सहृदयों को आनन्दित करने की शक्ति से । फूलों में मधु का अर्थ है पुष्प रस तथा वाक्यों में मधु का अर्थ है समस्त वाक्यों की कारण सामग्री की सम्पत्ति का आविर्भाव ।

इस प्रकार श्रीमान् कुन्तक द्वारा विरचित वक्रोक्तिजीवित का
द्वितीय उन्मेष समाप्त हुआ ।



तृतीयोन्मेषः

एवं पूर्वम्निम्न प्रकारेण वाक्यावयवानां यथासम्भववक्रभाव विचारयन् वाचकवक्रताविच्छित्तिप्रकाराणां दिक्प्रदर्शनं विहितवान् । इदानीं वाक्यवक्रतावैचित्र्यमासूत्रयितुं वाच्यस्य वर्णनीयतया प्रस्तावाधिकृतस्य वस्तुनो वक्रतास्वरूपं निरूपयति, पदार्थावबोधपूर्वकत्वाद् वाक्यार्थावस्थितेः-

इस प्रकार पहले (द्वितीय उन्मेष के) प्रसङ्ग में वाक्य के अङ्गरूप पदों की यथासम्भव वक्रता का विवेचन करते समय (ग्रन्थकार के) शब्दों की वक्रता से उत्पन्न होने वाले वैचित्र्य के प्रभेदों का कुछ परिचय दिया था । अब (तृतीय उन्मेष में) वाक्यों की वक्रता की विच्छित्ति का प्रतिपादन करने के लिए वाच्य अर्थात् वर्णन का विषय होने के कारण प्रकरण के आश्रित रहने वाले पदार्थ की वक्रता का स्वरूपनिरूपण करते हैं, क्योंकि पदार्थ का ज्ञान हो जाने के बाद ही वाक्यार्थ का बोध होता है ।

उदारस्वपरिस्पन्दसुन्दरत्वेन वर्णनम् ।

वस्तुनो वक्रशब्दैकगोचरत्वेन वक्रता ॥ १ ॥

(वर्धमान) केवल अपने सर्वोत्कृष्ट स्वभाव की रमणीयता से युक्त रूप में, वस्तु का वक्र शब्द के द्वारा ही प्रतिपाद्य रूप में, वर्णन, (उस पदार्थ या वस्तु की) वक्रता होती है ॥ १ ॥

वस्तुनो वर्णनीयतया प्रस्तावितस्य पदार्थस्य यदेवविधत्वेन वर्णनं सा तस्य वक्रता वक्रत्वविच्छित्तिः । किंविधत्वेनेत्याह—उदारस्वपरिस्पन्द-सुन्दरत्वेन । उदारः सोढकर्मः सर्वोतिशायो यः स्वपरिस्पन्द-स्वभावमहिमा तस्य सुन्दरत्वं सौकुमार्योतिशयस्तेन, अत्यन्तरमणीयस्वाभाविकधर्म-युक्तत्वे । वर्णनं प्रतिपादनम् । कथम्—वक्रशब्दैकगोचरत्वेन । वक्रं योऽसौ नानाविधवक्रताविशिष्टः शब्दः कश्चिदेव वाचकविशेषो विवक्षितार्थममर्थ-स्तस्यैकस्य केवलस्य गोचरत्वेन प्रतिपाद्यतया विषयत्वेन । वाच्यत्वेनेति नोक्तम्, व्यङ्ग्यत्वेनापि प्रतिपादनसमवात् । तदिदमुक्तं भवति—यदेवविधेभावस्वभावसौकुमार्यवर्णनप्रस्तावे भूयसां न वाच्यालङ्काराणा-मुपमादीनामुपयोगयोग्यता सम्भवति, स्वभावसौकुमार्योतिशयम्लानता-प्रसङ्गात् ।

वस्तु अर्थात् वर्णन का विषय होने के कारण प्रकरणप्राप्त पदार्थ का जो इस तरह से वर्णन है वह उस (वस्तु) की वक्रता अर्थात् वाक्यपन का वैचित्र्य होता है । किस तरह से वर्णन (वक्रता होती है) इसे (ग्रन्थकार)

महते है—अपने उदार स्वरूप की रमणीयता से (किया गया) वर्णन । उदार का अर्थ है उत्कृष्टता से सम्पन्न सर्वातिरिक्त ऐसा जो अपना परिस्पन्द अर्थात् अपने स्वरूप की महत्ता उसकी सुन्दरता अर्थात् अत्यधिक सुकुमारता उससे अर्थात् अत्यधिक मनोहर अपने सहज धर्म में युक्त रूप से (किया गया) वर्णन अर्थात् प्रतिपादन (वस्तुवक्रता होती है) कैसे (किया गया वर्णन) केवल वक्र शब्द के द्वारा ही गोचर रूप से । वक्र का अर्थ है नाना प्रकार की वक्रताओं से सम्पन्न जो शब्द अर्थात् कोई ही अभीष्ट प्रतिपाद्य अर्थ का प्रतिपादन कराने वाला विशेष शब्द केवल । उसी के गोचर रूप से अर्थात् प्रतिपाद्य होने के कारण विषय रूप में (वर्णन) । यहाँ वाच्य रूप से (प्रतिपादन) नहीं कहा गया क्योंकि प्रतिपादन व्यङ्ग्य रूप से भी हो सकता है । तो इसका आशय यह है कि इस प्रकार के पदार्थ की सहज सुकुमारता का प्रतिपादन करने समय बहुत में उपमा आदि अर्थात् द्वारों का प्रयोग ठीक नहीं होता, क्योंकि उससे पदार्थ के स्वभाव की सुकुमारता का उत्कर्ष मलिन हो जाने की सम्भावना रहती है ।

(इस पर स्वभावोक्ति को अलङ्कार स्वीकार करने वालों की ओर से यह प्रश्न उठाया जाता है कि अरे वस्तु वक्रता के रूप में आपने जिसका प्रतिपादन किया है) यह तो वही (टण्डी आदि आनामों द्वारा) अलङ्कार रूप से स्वीकार की गई सहृदयों को आनन्दित करने वाली स्वभावोक्ति है, मत उस (स्वभावोक्ति की अलङ्कारता को) दूषित करने के दुर्व्यसनयुक्त प्रयास से क्या (मतलब) ? क्योंकि उन (स्वभावोक्त्यालङ्कारवादियों) की दृष्टि में वस्तु वा सामान्य धर्म ही अलङ्कार्य है और अतिशययुक्त स्वभाव के सौन्दर्य की परिपूर्ण अलङ्कार है । अतः स्वभावोक्ति को अलङ्कारता ही युक्तियुक्त है ऐसा जो मानते हैं उनके प्रति (ग्रन्थकार) समाधान प्रस्तुत करता है कि यह बात सर्वथा समीचीन नहीं है । क्योंकि अगतिगतिन्याय से जैसे-कैसे भी काव्य-रचना प्रतिष्ठा के योग्य नहीं होती क्योंकि काव्य का लक्षण 'सहृदयों को आनन्दित करने वाला' होता है । (जैसी-तैसी काव्य-रचना से सहृदयों को आनन्द नहीं मिलेगा अतः वह काव्य नहीं होगी ।)

ननु च सैषा सहृदयाह्लादकारिणी स्वभावोक्तिरलङ्कारतया समाम्नाता, तस्मात् किं तद्दूषणदुर्व्यसनप्रयासेन ? यतस्तेषां सामान्य-वस्तुधर्मेमात्रमलङ्कार्यम्, सातिशयस्वभावसौन्दर्यपरिपोषणमलङ्कारः प्रतिभासते । तेन स्वभावोक्तेरलङ्कारत्वमेव युक्तियुक्तमिति ये मन्यन्ते तान् प्रति समाधीयते यदेतन्नातिचतुरश्रम् । यस्मादगतिगतिन्यायेन

काव्यकरण न यथाकथंचिदनुप्रेयतामर्हति, तद्विदाह्लादकारिकाव्यलक्षण-
प्रस्तावात् । किंच—अनृकृष्टधर्मयुक्तस्य वर्णनीयस्यालकरणमप्य-
समुचितमिति भागोल्लिखितालेख्यत्र शोभातिशयकारितामावहति ।
यस्मादत्यन्तरमणीयस्वाभाविकधर्मयुक्त वर्णनीयवस्तु परिग्रहणीयम् ।
तथात्रेघस्य नस्य यथायोगमौचित्यानुसारेण रूपकाद्यलकार योजनया
भवितव्यम् । एतावास्तु विशेषः यत् स्वाभाविकसौन्दर्यप्राधान्येन
विवक्षितस्य न भूयसा रूपकाद्यलकार उपकाराय कल्प्यते, वस्तुस्व-
भावसौकुमार्यस्य रसादिपरिपोषणस्य वा ममाच्छादनप्रसङ्गात् । तथा
चैतस्मिन् त्रिपये सर्वाकारमलंकार्य विलासयतीव पुनरपि स्नानसमय-
विरहव्रतपरिग्रह-सुरतावसानादौ नात्यन्तमलकरणसहता प्रतिपद्यते,
स्वाभाविकसौकुमार्यस्यैव रसिक्कृदयाह्लादकारित्वात् । यथा—

और फिर अतिशय से हीन धर्म वाली वर्ण्यमान वस्तु का अलङ्कृत करना
भी दीवाल के अनुपयुक्त हिस्से पर चित्रित किये गये चित्र के समान अत्यधिक
सौन्दर्य नहीं उत्पन्न कर पाता । अतः अत्यधिक मनोहर सहज धर्म से सम्पन्न
वर्ण्यमान वस्तु को ही उपनिबद्ध करना चाहिए । तदनन्तर उम प्रकार की
(सहज रमणीय धर्म से युक्त) उस वस्तु के औचित्य को ध्यान में रखते हुए
यथासम्भव रूपकादि अलङ्कारों को उपनिबद्ध करना चाहिए । हाँ यह विशेषता
जरूर है कि जिस वस्तु के वर्णन में सहज रमणीयता ही प्रधान रूप से
अभिप्रेत है उसके प्रतिपादन में बहुत से रूपकादि अलङ्कारों का प्रयोग उपयुक्त
नहीं होता क्योंकि उमसे या तो उस वर्ण्य पदार्थ की सहज सुकुमारता ही
नहीं प्रकट हो पाती अथवा शृङ्गारादि रसों का पूर्ण परिपोष नहीं हो पाता ।
क्योंकि इस विषय में सब तरह से अलङ्कृत करने योग्य वस्तु भी अत्यधिक
अलङ्कारों को उसी प्रकार नहीं सहन कर पाती है जैसे कि विलासिनी स्त्री
नहाते समय, या विरह के कारण व्रत धारण किए रहने पर, अथवा सम्भोग की
समाप्ति पर अत्यधिक अलङ्कारों को नहीं सहन कर पाती, क्योंकि उस समय
उसकी सहज सुकुमारता ही सहृदयों के हृदयों को आनन्दित करती है । जैसे—

ता प्राङ्मुखी तत्र निवेश्य तन्वीं क्षण व्यलम्बन्त पुरो निषण्णा ।

भूतार्थशाभाह्वियमाणेनैवा प्रसाधने मनिहितेऽपि नार्यः ॥ १ ॥

(कुमारसम्भव में पार्वती की सहज शोभा से शृङ्गार करने वाली नारियों
के मुग्ध हो जाने का यह वर्णन कि—(अन्न पुर की) स्त्रियाँ कृपाङ्गी उन
(पार्वती) को वहाँ (अलङ्कारगृह मण्डप में) पूर्वाभिमुख बैठ कर सामने
(अलङ्कार पहनाने के लिये) बैठी हुई अलङ्कारादि के समीप विद्यमान रहने

पर भी (पार्वती) सहज सौन्दर्य से आकृष्ट नयनो वाली होकर हाथ भर के लिए देर लगा दिया (अर्थात् उनके सहज सौन्दर्य को ही एकटक देखती हुई अलङ्कार पहनाना भूल गई) ॥ १ ॥

अत्र नथाविद्यस्वाभाविकमौकुमार्यमनोहरः शोभानिर्णयः कवेः
प्रतिपादयितुमभिप्रेतः । अस्यालंकरणकलापकलन सहजच्छायातिरो-
धानशङ्कास्पन्दत्वेन सभाषितम् । यस्मान् स्वाभाविकमौकुमार्यप्राधान्येन
वर्ण्यमानस्योदारस्वपरिस्पन्दमाहेम्न सहजच्छायातिरोधानविधायि
प्रतीत्यन्तरापेक्षमलंकरणकल्पन नोपकारिता प्रतिपद्यत । विशेषस्तु—
रसपरिपोषपेशलायाः प्रतीनेविभायानुभावव्यभिचार्यौचित्यव्यतिरेकेण
प्रकारान्तरेण प्रतिपत्तिः प्रस्तुतशोभापरिदृशकारितामावहति । तथा च
प्रथमतरङ्गणीतारुण्यतारप्रभृतयः पदार्थाः सुकुमारवसन्तादिसमयस-
मुन्नेपपरिपोषपरिसमाप्तिप्रभृतयश्च स्वप्रतिपादकवाक्यवक्तृत्वव्यतिरेकेण
भूयमाना न कस्यचिदलंकरणान्तरस्य कविभिरलंकरणीयतामुपनीयमाना
परिदृश्यन्ते । यथा—

यहाँ पर कवि को उस प्रकार की अपूर्व सहज सुकुमारता से हृदयार्चक
सौन्दर्यातिशय का प्रतिपादन करना ही अभीष्ट है । इसके अलङ्कार समूह की
रचना स्वाभाविक कान्ति के विरोहित हो जाने की शङ्का से युक्त रूप में
उत्प्रेक्षित है । क्योंकि सहज सुकुमारता की प्रधानता से युक्त रूप में वर्णन की
जाने वाली वस्तु के अपने उत्कर्ष युक्त स्वभाव की महत्ता के स्वाभाविक सौन्दर्य
को अभिभूत कर देने वाले एवं दूसरी प्रतीति की अपेक्षा वाले अलङ्कारों की
रचना उपकारक नहीं होती । सात बात तो यह है कि रसों के सम्यक् पोषण
से मनोहर प्रतीति वा, विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारिभाव के औचित्य से
रहित दूसरे ढङ्ग से प्रतिपादन वर्ण्यमान पदार्थ के सौन्दर्य का बाधक बन
जाता है । इसीलिये अधिकतर कविजन युवती की पहले-पहल युवावस्था के
प्रारम्भ रत्यादि एवं अत्यन्त कोमल वसन्त आदि ऋतुओं के प्रारम्भ, परिपोष
एवं समाप्ति आदि पदार्थों को उनके प्रतिपादन करने वाली वाक्यवक्त्रता से
भिन्न किसी दूसरे अलङ्कार के द्वारा यल्लवृत करते हुए नहीं दिखाई पड़ते ।
जैसे—

स्मित किञ्चिन्मुग्धं तरलमधुरो दृष्टिविभवः
परिस्पन्दो वाचात्मिनवविलासोक्तिसरसः ।
गतानामारम्भः किस्लयितलीलापरिमलः
स्पर्शान्त्यास्तारुण्य किमिदं हि न रम्य मृगदृशः ॥ २ ॥

(कोई किसी नवयौवना का स्वाभाविक वर्णन करते हुए कहता है कि पहले-पहल जबानी का स्पर्श करने वाली हरिणाश्री की मधुर मन्द मुसकान, चञ्चल होने के कारण रमणीय नयनों की छटा, नई-नई विलासपूर्ण बातों के कारण सरस वाणी का विकास और अनेकों हावभावों की सुगन्धि को विकसित करने वाली गति का उपक्रम (इनमें) कोन सी वस्तु रमणीय नहीं है (अर्थात् सभी कुछ तो रमणीय है) ॥ २ ॥

यथा वा—

अव्युत्पन्नमनोभवा मधुरिमस्पर्शोल्लसन्मानसा
भिन्नान्तःकरणं दशौ मुकुलयन्त्याघातभूतोद्भ्रमाः ।
रागेच्छा न समापयन्ति मनसः खेदं विनैवालसा
वृत्तान्तं न विदन्ति यान्ति च वशकान्यामतोजन्मनः ॥ ३ ॥

अथवा जैसे—

(नई-नई जबानी को प्राप्त करने वाली कुमारियों का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि)—कामदेव के पूर्णज्ञान से रहित तथा (जबानी के) मादक स्पर्श से प्रफुल्लित हृदयों वाली कुमारियाँ प्राणिमो के भ्रम का इशारा पाकर ही हृदय को टुकड़े-टुकड़े कर बेती हुई जालें बन्द कर लेती हैं । मानसिक अनुराग की अभिलाषा को नहीं समाप्त कर पाती, बिना परिश्रम के ही बलसाई (रहती हैं) तथा पूरा वृत्तान्त नहीं जानती फिर भी काम के बश में हो जाती हैं ॥ ३ ॥

यथा च—

दोर्मलावधि इति ॥ ४ ॥

तथा जैसे—(उदाहरण संख्या १।१२१ पर पूर्वोदाहृत)

‘दोर्मलावधि सूत्रितस्तनमुरो’ इत्यादि पद्य युवती के प्रथमतः स्पर्श के सहज वर्णन को प्रस्तुत करता है ॥ ४ ॥

यथा वा—

गर्ममन्थिषु वीरुधां सुमनसो मध्येऽङ्कुर पल्लवा
वाञ्छामात्रपरिमहः पिकवधूकण्ठोदरे पञ्चमः ।
किञ्च त्रीणि जगन्ति जिष्णु दिवसैर्द्वित्रैर्मनोजन्मनो
देवस्यापि चिरोज्जित यदि भवेदभ्यासवर्य धनुः ॥ ५ ॥

अथवा जैसे—

लताओं के गासों की पोर पर (खिंचे हुए) पुष्प, जड़ों के बीज (निकलने हुए) किसलय और मादा कोयल के कण्ठद्वार में इच्छामाष

से प्रस्तुत किया जाने वाला पंचम स्वर यदि ये हो तो ये तीनों लोकों को जीत लेने वाला कामदेव का बहुत दिनों से छोड़ दिया गया हुआ धनुष् भी दो-तीन दिनों में ही अभ्यास के द्वारा बलीभूत किए जाने योग्य हो सकता है ॥ ५ ॥

यथा वा—

हंसानां निनदेषु इति ॥ ६ ॥

अथवा जैसे—

(उदाहरण सख्या १७३ पर पूर्वोदाहृत) हंसानां निनदेषु इत्यादि (श्लोक) ॥ ६ ॥

यथा च—

सज्जेह सुरहिमासो ण दाव अप्पेइजुअइअणलक्खमुहे ।
अहिणअसहआरमुहे णवपल्लवपत्तले अणंगस्स सरे ॥ ७ ॥
(सज्जयति सुरभिमासो न तावदर्पयति मुवतिजनलज्जमुखान् ।
अभिनवसहकारमुखान् नवपल्लवपत्रलाननज्जस्य शरान् ॥)

तथा जैसे—

मधुमास तरुणियों को निशाना बनाने वाले, अथवाग से युक्त, एवं नूतन किसलय रूप पक्षों को धारण करने वाले कामदेव के बाणों को जिनमें नवमुकुलित आम्र प्रधान है, बनाता तो है लेकिन (कामदेव को प्रहार करने के लिए) देता नहीं है ॥ ७ ॥

एवविधविषये स्वाभाविकसौकुमार्यप्राधान्येन वर्ण्यमानस्य वस्तुन-स्तदाच्छादनमयादेव न भूयसा तत्कविभिरलकरणमुपनिबध्यते । यदि वा कदाचिदुपनिबध्यते तत्तदेव स्वाभाविक सौकुमार्यं सुतरां समुन्मीलयितुम्, न पुनरलंकारैर्विचित्रोपपत्तये । यथा—

इस प्रकार के स्थानों पर कविजन सहज मुकुमारता की प्रधानता से युक्त रूप में वर्णन की जाने वाली वस्तु को अत्यधिक अलङ्कारों से युक्त इसी लिए नहीं करते क्योंकि उन अलङ्कारों से उस वस्तु के सहज स्वभाव के अभिभूत हो जाने का भय रहता है । और यदि कभी (अलङ्कारों की) रचना करते हैं तो यह केवल उसकी स्वाभाविक मुकुमारता को ही प्रकट करने के लिए, न कि अलङ्कारों की विविधता का प्रतिपादन करने के लिए ।
जैसे—

धौताञ्जने च नयने स्फटिकाच्छकान्ति-
गण्डस्थली विगतकृत्रिमरागमोष्ठम् ।
अद्धानि दन्तिशिशुदन्तविनिर्मलानि
किं यत्र सुन्दरमभूत्तरुणीजनस्य ॥ ८ ॥

सम्भवतः स्नान किए हुए युवती की सुन्दरता का वर्णन कोई करता है कि—युवतिगो के धुल गये काजल वाले नेत्र, स्फटिक के सहस्र निर्मल छवि वाली कपोलस्थली, एवं बनावटी लालिमा से हीन ओष्ठ, तथा हाथी के बच्चे के दाँतों के सहस्र स्वच्छ अवयव (इनमें) कौन ऐसी वस्तु है जो रमणीय नहीं है (अर्थात् सभी वस्तुएँ रमणीय हैं) ॥ ८ ॥

अत्र 'दन्तिशिशुदन्तविनिर्मलानि' इत्युपमया स्वाभाविकमेव सौन्दर्यमुन्मोलितम् । यथा वा—

अकठोरवारणवधूदन्ताङ्कुरस्पर्धिनः इति ॥ ९ ॥

यहाँ कवि ने 'हाथी के बच्चे के दाँतों के समान स्वच्छ' (युवती के अङ्ग) इस प्रकार की उपमा के प्रयोग द्वारा (युवती की) सहज मुकुमारता को ही व्यक्त किया है । अथवा जैसे—

(उदाहरण सख्या १।७३ 'हंसाना निनदेषु' आदि श्लोक के तृतीय चरण 'अकठोर चारणवधू' आदि में उपमा के द्वारा मृगाल की नदीन ग्रन्थियों का स्वाभाविक सौन्दर्य ही उत्कर्ष को प्राप्त हुआ है ॥ ९ ॥

एतदेवातीव युक्तियुक्तम् । यस्मान्महाकवीना प्रस्तुतीचित्यानु-
रोधेन कदाचित् स्वाभाविकमेव सौन्दर्यमैकराग्येन विजृम्भयितुमभि-
प्रेत भवति, कदाचिद् विविधरचनावैचित्र्ययुक्तमिति । अत्र पूर्वस्मिन्
पक्षे, रूपकादेरलकरणकलापस्य न तादृक् तत्त्वम् । अपरस्मिन् पुन, स
एव सुतरां समुज्जृम्भते । तस्मादनेन न्यायेन सर्वातिशायिनः
स्वाभाविकसौन्दर्यलक्षणस्य पदार्थपरिस्पन्दस्यालकार्यत्वमेव युक्तियुक्त-
तामालम्बते । न पुनरलकरणत्वम् । सातिशयत्वशून्यधर्मयुक्तस्य
वस्तुनो विभूयितस्यापि पिशाचादेरिव तद्विदाह्लादकारित्वविरहादनु-
पादेयत्वमेवेत्यलमतिप्रसङ्गेन । यदि वा प्रस्तुतीचित्यमाहात्म्यान्मुख्य-
तया भावस्वभावः सातिशयत्वेन वर्ण्यमानः स्वमहिम्ना भूषणान्तरा-
सहिष्णुः स्वयमेव शोभातिशयशालित्वादलंकार्याऽप्यलकरणमित्यभिधीयते
तदयमास्माकीन एव पक्षः । तदतिरिक्तवृत्तेरलकारान्तरस्य तिरस्कार-
सात्पर्येणाभिधानाद्वात्र ध्वनिविवदाम्भे ।

तथा यही अत्यन्त युक्तिसङ्गत है। क्योंकि श्रेष्ठ कवियों को कभी भी वर्ण्यमान पदार्थ के औचित्य के अनुसार (वस्तु की) अद्वितीय ढङ्ग से केवल सहज सुकुमारता ही उन्मीलित करना अभिप्रेत होता है, तथा कभी-कभी नाता प्रकार की रचनाओं की विचित्रता से युक्त सौन्दर्य को (उन्मीलित करना अभिप्रेत होता है) यहाँ पहले पक्ष में (अर्थात् जब केवल सहज रमणीयता का प्रतिपादन ही कवि को अभिप्रेत होता है तब) रूपक आदि अलङ्कारों की वैसी प्रधानता नहीं होती। जब कि दूसरे पक्ष में (जब केवल रचनावेचित्र्य का चाखत्व कवि को अभिप्रेत होता है तब) वह (रूपकादि अलङ्कार समुदाय) ही भली-भाँति प्रकाशित होता है। तो इस ढङ्ग से सहज रमणीयता रूप पदार्थ के सर्वोत्कृष्ट धर्म का अलङ्कार्य होना ही युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है न कि अलङ्कार होना। क्योंकि उत्कृष्टता से हीन धर्म से युक्त वस्तु अलङ्कृत होने पर भी पिशाचादि की भाँति सहृदयों को आनन्दित करने के अभाव के कारण बेकार ही होती है—इस प्रकार इस अति प्रसङ्ग को समाप्त करते हैं।

अथवा यदि वर्ण्यमान वस्तु के औचित्य की महता से मुख्य रूप से वर्णन किया गया पदार्थ का उत्कर्षयुक्त स्वभाव ही अपने माहात्म्य से अन्य अलङ्कार को न सह सकने के कारण खुद ही सौन्दर्यप्रतिपक्ष से युक्त होने के कारण, अलकार्य होने हुए भी अलङ्कार कहा जाता है तो यह हमारा ही पक्ष है। क्योंकि उससे भिन्न स्थिति वाले दूसरे अलङ्कार को तिरस्कृत करने के अभिप्राय से (यदि स्वभावोक्ति को) अलङ्कार कहा जाता है तो हम विवाद नहीं करते।

एवमेवैव वर्ण्यमानवस्तुनो वक्रतेत्युतान्या काचिदस्तीत्याह—

अपरा सहजाहार्यकविकौशलशालिनी ।

निर्मितिर्नूतनोल्लेखलोकातिप्रान्तगोचरा ॥ २ ॥

इस प्रकार वर्णन की जाने वाली वस्तु की यही एक वक्रता है अपना कोई दूसरी भी—इसे (ग्रन्थकार) बताते हैं—

कवि की स्वाभाविक एवं व्युत्पत्तिजन्य निपुणता से सुसोभित होने वाली एवं अपूर्व वर्णन के कारण लोकोत्तर विषय (का निरूपण करने) वाली (कवि की) सृष्टि (वर्ण्यमान वस्तु की) दूसरी वक्रता होती है ॥ २ ॥

अपरा द्वितीया वर्ण्यमानवृत्ते, पदार्थस्य निर्मितः सृष्टिः। वक्रनेति संबन्धः। कीदृशी—सहजाहार्यकविकौशलशालिनी। सहजं स्वाभाविकमाहार्यं शिवाभ्यासममुन्नासितं च शक्तिव्युत्पत्तिपरिपाकमोदं

यत् कविकौशलं निर्मातृनैपुण्य तेन शालते श्लाघते वा सा तथोक्ता ।
अन्यच्च कीदृशी—नूतनोल्लेखलोकातिक्रान्तगोचरा । नूतनस्तरप्रथमो
योऽसावुल्लिख्यत इत्युल्लेखस्तत्कालसमुल्लिख्यमानोऽतिशयः, तेन
लोकातिक्रान्तः प्रसिद्धव्यापारातीतः कोऽपि सर्वानिशायी गोचरो विषयो
यस्याः सा तथाक्तेति विग्रहः । तस्मान्निर्मितिस्तेन रूपेण विहितिरित्यर्थः ।
तदिदमत्र तात्पर्यम्—यद्वा वर्ण्यमानस्वरूपा पदार्थाः कविभिरभूताः
सन्तः क्रियन्ते, केवल सत्तामात्रेण परिस्फुरता चैषां तथाविध-कोऽप्य-
तिशय पुनराधीयते, येन कामपि महद्दयहृदयहारिणी रमणीयतामवि-
रोप्यते । तदिदमुक्तम्—

लीन वस्तुनि इत्यादि ॥ १० ॥

प्रस्तुत वृत्ति वाली वस्तु की निमित्ति अर्थात् निर्माण अपर अर्थात् दूसरी
वक्त्रा होती है । कैसी वक्त्रा—सहज एव आहार्य कविकौशल से सुशोभित
होने वाली । सहज का अर्थ है स्वाभाविक, एवं आहार्य का अर्थ है—शिक्षा
एव अभ्यास के द्वारा अर्जित अर्थात् प्रतिभा एव व्युत्पत्तिकी परिपक्वता से
प्रबुद्ध जो कवि का कौशल अर्थात् (काव्य का) निर्माण करने वाले का
चानुर्य उससे शोभित अर्थात् प्रशंसित होने वाली (वक्त्रा होती है) । और
कैसी है (वह वक्त्रा)—अभिनव उल्लेख के कारण लोकातिक्रान्त विषय
वाली है । नवीन अर्थात् उस (वस्तु) का जो पहले-पहल उल्लेख किया जा
रहा है ऐसा वर्णन अर्थात् (अभूतपूर्व) उसी समय वर्णन किया जाने वाला
जो (पदार्थ का) उत्कर्ष, उसके कारण लोकातिक्रान्त अर्थात् प्रसिद्ध व्यापार का
अतिक्रमण करने वाला कोई (अपूर्व) सर्वोत्कृष्ट (व्यापार) जिस (वक्त्रा)
का गोचर अर्थात् विषय होता है (ऐसी वक्त्रा है) । उस (वक्त्रा) निर्माण
का अर्थ है उस (लोकोत्तर) रूप में (पदार्थ का) वर्णन । तो यहां इसका
आशय यह है कि—कविजन जिन पदार्थों के स्वरूप का वर्णन प्रस्तुत करते
हैं वे उनके द्वारा अविद्यमान रहने हुए उत्पन्न नहीं किए जाते, अपितु केवल
सत्तामान से परिस्फुरण करने वाले इन पदार्थों में वे उस प्रकार के किसी
अपूर्व उत्कर्ष की सृष्टि करते हैं जिससे कि पदार्थ (लोकोत्तर) रसिकों के
हृदयों को आकर्षित करने वाली, किसी कमनीयता से युक्त हो जाते हैं ।
इसीलिए ऐसा कहा गया है—

(उदाहरणसंख्या २।१०७ पर पूर्वोद्धृत) लीन वस्तुनि ॥ १० ॥ इत्यादि
पद्य में ।

तदेवं सत्तामात्रेणैव परिस्फुरतः पदार्थस्य कोऽप्यलौकिकः
शोभातिशयविधायो विच्छिन्नचित्तिविशेषोऽभिधीयते, येन नूतनच्छाया-

मनोहारिणा वास्तवस्थितितिरोधानप्रवणेन निजावभासोद्भासित-
तत्स्वरूपेण तत्कालोन्लिखित इव वर्णनीयपदार्थपरिस्पन्दमहिमा
प्रतिभासते, येन विधातृव्यपदेशपात्रता प्रतिपद्यन्ते कवयः। उद्दि-
मुक्तम्।

तो इस प्रकार केवल सत्तामात्र से प्रतीत होने वाले पदार्थ के सौन्दर्याति-
शय का प्रतिपादन करने वाले किसी लोकोत्तर वैचित्र्य विरोध का वर्णन किया
जाता है, जिससे (पदार्थ की) वास्तविक सत्ता को आन्ध्रादित करने में
तत्पर एव अपूर्व सौन्दर्य के कारण वित्ताकर्षक अपने प्रकाश में देदीप्यमान
उसके स्वरूप के द्वारा तत्काल ही निर्मित की गई-सी वर्णन किये जाने वाले
पदार्थ के स्वभाव की महत्ता झटकती है जिससे कि कविजन विधाता की
सञ्ज्ञा प्राप्त कर लेते हैं। इसी लिए ऐसा कहा गया है कि—

अपारे काव्यससारे कविरेव प्रजापतिः।

यथास्मै रोचते विश्व तथेद परिवर्तते ॥ ११ ॥

(इस) अनादि एव अनन्त (अपार) काव्यससार में (उसका
निर्माता) केवल कवि ही विधाता है। जैसी उसकी रुचि होती है उसी प्रकार
वह इस जगत् को परिवर्तित कर देता है। ११ ॥

सैषा सहजाहार्यभेदभिन्ना वर्णनीयस्य वस्तुनो द्विप्रकारा वक्रता।
तदेवमाहार्या येय मा प्रस्तुतविच्छित्तिविधात्यलकारव्यतिरेकेण
नान्या काचिदुपपद्यते। तस्माद् बहुविधतत्प्रकारभेदद्वारेणात्यन्तवितत-
व्यवहाराः पदार्थाः परिदृश्यन्ते। यथा—

ऐसी वह वर्णनीय वस्तु की वक्रता स्वाभाविक (अपने प्रतिभाजन्य)
एव आहार्य अपात् (अपने व्युत्पत्तिजन्य) दोनों भेदों से युक्त होने के कारण दो
प्रकार की होती है तो इस प्रकार (उनमें) जो यह व्युत्पत्तिजन्य (वक्रता)
है वह वर्ण्यमान पदार्थ के सौन्दर्य को उत्पन्न करने वाली होकर भी अलङ्कार
से भिन्न और कुछ नहीं हो पाती। इसीलिए अनेकों प्रकार के उसके भेद-
प्रभेद के द्वारा बहुत ही ज्यादा विस्तृत व्यवहार वाले पदार्थ दिखाई पड़ते
हैं। जैसे—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूषन्द्रो नु कान्तद्युतिः

शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।

वेदाभ्यासजडः कथं न विषयव्यावृत्तकौतूहलो

निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥ १२ ॥

उर्वशी के स्वरूप का वर्णन करते हुए विक्रमोर्वशीय नाटक में कहता है कि (उर्वशी) की सृष्टि करने में क्या (साक्षात्) कमनीय कान्ति वाला (स्वयं) चन्द्रमा, या कि फिर एकमात्र शृङ्गार में आनन्द लेने वाला स्वयं कामदेव, अथवा फूलों की खान (स्वयं) वसन्त ही प्रजापति बना था, अन्यथा क्या कभी निरन्तर वेदों का अभ्यास करने के कारण मन्दबुद्धि एवं भोगों के प्रति समाप्त कौतूहल वाला बृद्ध मुनि (नारायण) इस मनोहर रूप के निर्माण करने के लिए समर्थ हो सकता है ॥ १२ ॥

अत्र कान्ताया कान्तिमत्त्वममीमविलामसंपदां पद च रसवत्त्वमसामान्यमौपुत्र च सौकुमार्यं प्रतिपादयितुं प्रत्येकं तत्परिस्पन्दप्राधान्यममुचितसभावनानुमानमाहास्यात् पृथक् पृथगपूर्वमेव निर्माणमुत्प्रेक्षितम् । तथा च कारणत्रितयस्याप्येतस्य सर्वेषां विशेषणानां स्वयम् इति सबध्यमानमेतदेव सुतरां समुदीपयति । यः किल स्वयमेव कान्त्युतिस्तस्य सौजन्यसमुचितादरोचकित्वात् कान्तिमत्कार्यकारणकौशलमेवोपपन्नम् । यश्च स्वयमेव शृङ्गापरैकरसस्तस्य रसिकत्वादेव रसवद्वस्तुविधानवैदग्ध्यमौचित्यं भजते । यश्च स्वयमेव पुष्पाकरस्तस्याभिजात्यादेव तथाविध सुकुमार एव सर्गः समुचितः । तथा चोत्तरार्धे व्यतिरेकमुखेन त्रयस्याप्येतस्य कान्तिमत्त्वादेविशेषणैरन्यथानपपत्तिरुपपादिता । यस्माद् वेदाभ्यामजडत्वात् कान्तिमद्वस्तुविधानानभिज्ञत्वम्, व्यावृत्तकौतुकत्वाद् रसवत्पदार्थे विहितवैमुख्यम् पुराणत्वात् सौकुमार्यसरसभावविरचनवैरस्यं प्रजापतेः प्रतीयते । तदेवमुत्प्रेक्षालक्षणोऽयमलंकारः कविना वर्णनीयवस्तुनः कमप्यलौकिकलेखविलक्षणमतिशयभाषातुं निबद्धं । स च स्वभावमौन्दर्यमहिम्ना स्वयमेव तत्सहायसम्पदा सह अर्थमहनीयनामीहमानः सन्देहसंसर्गमङ्गीकरोतीति तेनोपबृंहितः । तस्मान्लोकोत्तरनिर्मातृनिमित्तत्वं नाम नूतनः कोऽप्यतिशयः पदार्थस्य वर्ण्यमानवृत्तेर्नायिकास्वरूपसौन्दर्यलक्षणस्यात्र निर्मितः कविना, ये न तदेव तत्प्रथममुत्पादितमिव प्रतिमाति ।

यत्राप्युत्पाद्यं वस्तु प्रबन्धार्थवदपूर्वतया वाक्यार्थस्तत्कालमुल्लिख्यते कविभिः, तस्मिन् स्वसत्ताममन्वयेन स्वयमेव परिस्फुरता पदार्थानां तथाविधपरस्परान्वयलक्षणसंबन्धोपनिबन्धनं नाम नवीनमतिशयमात्रमेव निर्मितिविधयतां नीयते, न पुनः स्वरूपम् । यथा—

यहाँ कामिनी की सौन्दर्य सम्पन्नता, एवं अनन्त विलास के सामग्री की भूमि रस सम्पन्नता तथा असाधारण अतिशय से युक्त सुकुमारता का प्रतिपादन करने के लिए उसके हर एक स्वरूप की प्रधानता के अनुरूप उत्प्रेक्षा द्वारा

अनुमान की महत्ता से अलग-अलग अपूर्व सृष्टि की सम्भावना की गई है। और इसीलिए इन तीनों (चन्द्र, काम एवं वसन्त रूप) कारणों का सभी विशेषणों के साथ 'स्वयम्' यह पद सम्बद्ध होता हुआ इसी (अनुमान) को भली भाँति पुष्ट करता है। जैसे कि—जो स्वयं ही कमनीय कान्ति वाला (चन्द्रमा) है उसके लिये सौज्य के अनुरूप अरोचको होने के कारण कान्ति से सम्पन्न कार्य करने की निपुणता हो अप्रयुक्त प्रतीत होती है। तथा जो स्वयं ही एकमात्र शृङ्गार में आनन्द लेने वाला है उसके सहृदय (यारसिक) होने के कारण ही सरस वस्तु के निर्माण की कुशलता उचित प्रतीत होती है। और जो स्वयं ही फूलों की खान है उसके सहज सोकुमार्य के कारण उस प्रकार का सुकुमार ही निर्माण अप्रयुक्त प्रतीत होता है। इसीलिए (श्लोक के) अपरार्द्ध में प्रयुक्त विशेषणों के द्वारा कान्ति-सम्पन्नता आदि इन तीनों (विशेषणों) की व्यतिरेक के द्वारा अन्य प्रकार से अनुपपन्न बताया है। क्योंकि वेदों के निरन्तर अभ्यास से मन्दबुद्धि हो जाने के कारण ब्रह्मा की कान्तिसम्पन्न वस्तु के निर्माण की अनभिज्ञता, कोतूहल के समाप्त हो जाने के कारण सरस पदार्थों के प्रति उत्पन्न विमुलसा, एवं बूढ़े हो जाने के कारण सुकुमारता से सरस पदार्थ की सृष्टि के प्रति विरक्ति द्योतित होती है। तो इस प्रकार कवि ने प्रस्तुत पदार्थ की किसी लोकोत्तर रचना के विलक्षण उत्कर्ष का प्रतिपादन करने के लिए उत्प्रेक्षा रूप अलङ्कार का प्रयोग किया है। और वह (उत्प्रेक्षा अलङ्कार) सहज रमणीयता के माहात्म्य से अपने आप ही उसकी सहायक सम्पत्ति के साथ पदार्थ के उत्कर्ष को चाहता हुआ सन्देहालङ्कार के समर्थ को स्वीकार करता है इस लिए उस (सन्देहालङ्कार) के द्वारा परिपुष्ट किया गया है। इसलिये कवि ने प्रस्तुत नायिका (उर्वशी) के स्वरूप की सुन्दरता रूप पदार्थ के निर्माण में किसी अलौकिक श्रष्टा की कारणत्वरूप अतिशय को प्रस्तुत किया है जिसके कारण वह (नायिकास्वरूपसौन्दर्य) ही उस (अलौकिक श्रष्टा) के द्वारा सर्वप्रथम उत्पन्न किया गया—सा लगता है।

(इस प्रकार) जहाँ-कहाँ भी कवि लोग पहले पहल उत्पाद्य वस्तु को प्रबन्ध के अर्थ की भाँति अपूर्व ब्रह्म से वाक्यार्थ रूप में वर्णित करते हैं, वहाँ वे केवल अपनी स्थिति के समन्वय के कारण अपने आप ही परिस्फुरित होने वाले पदार्थों के उस प्रकार के परस्पर सम्पर्क को प्रस्तुत करने वाले प्रबन्ध के कारणभूत किसी अपूर्व अतिशय को ही प्रस्तुत करते हैं, न कि (उस पदार्थ) के स्वरूप को। जैसे—

कस्यं भो दिवि मालिकोऽहमिह किं पुष्पाधमभ्यागतं
किं ते सूनमइ श्रयो यदि महर्षिधनं तदाकर्ण्यताम्।

संप्राप्तेष्वलभाभिधाननृपतौ दिव्याङ्गनाभिः स्रजः

प्रोज्झन्तीभिरविद्यमानकुसुम यस्मात्कृतं नन्दनम् ॥ १३ ॥

(निम्न श्लोक में कवि किसी अप्रस्तुत राजा के यश का वर्णन इस प्रकार प्रस्तुत करता है—

अरे ! तुम कौन हो ? मैं स्वर्ग में माली हूँ । यहाँ (पृथ्वी पर) कैसे (पधारे) ? फूल लेने आया हूँ । क्या किसी पुष्पोत्सव अथवा (पुष्पयोग) के लिए (फूल) खरीदने हो ? अगर आप को बड़ा अचरज है तो सुनिए । क्यों सङ्ग्राम में (किसी) अज्ञातनामा नरपति के ऊपर पुष्पहारों की वर्षा करती हुई दिग्गजानाओं ने (स्वर्गस्थ) नन्दन (वन) को फूलों से विहीन कर दिया है ॥ १३ ॥

तदेवंविधे विषये वर्णनीयवस्तुविशिष्टातिशयविधायो विभूषण-विन्यासो विधेयतां प्रतिपद्यते । तथा च—प्रकृतमिदमुदाहरणमलंकरण-कल्पनं विना सम्यक् न कथंचिदपि वाक्यार्थसङ्गति भजते । यस्मात् प्रत्यक्षादिप्रमाणोपपत्तिनिश्चयाभावात् स्वाभाविक वस्तु धर्मितया व्यवस्थापना न सहते, तस्माद्विदग्धकविप्रतिभोल्लिखितालंकरणगोचर-त्वेनैव सहृदयहृदयाह्लादमादधाति । तथा च, दुःसहसमरसमयसमु-चितशौर्योतिशयश्लाघया प्रस्तुतनरनाथविषये वल्लभलाभरभसोल्ल-सितसुरमुन्दरीसमूहमंगृह्यमाणमन्दारादिकुसुमढामसहस्रसंभावनानुमा-नाग्रन्दनोद्यानपादपप्रसूतसमृद्धिप्रध्वंसभावसिद्धिः समुत्प्रेक्षिता । यस्मा-दुत्प्रेक्षाविषय वस्तु कवचस्तदिवेति तदेवेति वा द्विविधभुपनिबन्धन्ती-येतत्तल्लक्षणावसर एव विचारयिष्यामः । तदेवमियमुत्प्रेक्षा पूर्वार्ध-विहिता प्रस्तुतप्रशसोपनिबन्धबन्धुरा प्रकृतपाथिवप्रतापातिशयपरिपोष-प्रवणतया सुतरां समुद्भासमाना तद्विदावर्जन जनयति । सातिशयत्वम्

तो इस प्रकार के प्रसङ्गों में वर्णनीय पदार्थ के विशिष्ट उत्कर्ष को प्रतिपादित करनेवाला अलङ्कारविन्यास अनिवार्य हो जाता है । जैसे कि यही प्रासंगिक ('कस्त्व भो०' इत्यादि) उदाहरण का वाक्यार्थ विना अलङ्कार विन्यास के किसी भी प्रकार भलीभाँति सङ्गत नहीं होता । क्यों-कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की युक्ति से निश्चय का अभाव होने के कारण स्वाभाविक वस्तु धर्मों के रूप में व्यवस्थित नहीं हो पाती अतः वह निपुण कवियों की शक्ति से उल्लिखित अलङ्कारों का विषय बन कर ही सहृदय-हृदय को आनन्दित करती है । जैसे कि (इसी उदाहरण में) अत्यन्त भीषण सग्रामकाल के अनुरूप शौर्य के उत्कर्ष की प्रशंसा द्वारा प्रकृत नरपति

के विषय में प्रियतम की प्रार्थना को उत्तरण्डा ने अत्यन्त हर्षित वृत्तुवन्तियों के समुदाय द्वारा संगृहीत किए जाते हुए मन्दार आदि फूलों की हथारों मालाओं की उत्प्रेक्षा के अनुमान से मन्दनवन के वृक्षों की वृत्तुवन्तियों के प्रत्यक्ष भाव की चिह्नों की सुन्दर उत्प्रेक्षा की गई है। क्योंकि कविवर उत्प्रेक्षा विषयक वस्तु को 'यह उसके समान लगती है' अथवा 'यह वही जान पड़ती है' इन दो रूपों में उपनिबद्ध करने हैं, इसका विवेचन हम उत्तरका उत्तर करते समय करेंगे। इस प्रकार पृथार्द्ध में प्रतिपादित अस्तुत-प्रशंसा के समर्पण से समीचीन यह उत्प्रेक्षा प्रस्तुत नरपति के शौचविधाय को परिपुष्ट करने में समर्थ होकर भलीभांति उल्लसित होती हुई स्वयम्भूतों को आह्लादित करती है।

(इसके अनन्तर कुन्तक सम्भवतः उन लोगों की बात का समाधान करते हैं जो यही अतिशयोक्ति अलङ्कार बताते हैं। कुन्तक इस बात को सिद्ध करते हैं कि अतिशयोक्ति तो सर्वत्र सभी अलङ्कारों में विद्यमान हो रही है। जैसा कि भामह ने 'कोशकुरारोपना विना' के द्वारा प्रतिपादित किया है। वही 'अतिशय' से तात्पर्य 'लोकातिक्रान्तगोचरता' से तो है किन्तु अतिशयोक्ति अलङ्कारविशेष से नहीं क्योंकि अतिशयोक्ति अलङ्कारविशेष का लक्षण है—

निमित्ततो वचो यस् लोकातिक्रान्तगोचरम् ।

मन्वन्तेऽतिशयोक्ति तामलङ्कारतया यथा ॥ का० अ० २।८१ यहाँ निमित्त का होना आवश्यक है। इसीलिये आगे कुन्तक ने भी कहा है—

'यद्वा कारणतो लोकातिक्रान्तगोचरत्वेन वचनः सैवेयमित्यस्तु' इत्यादि ।

इसी बात को प्रतिपादित करते हुए कि अतिशय तो सर्वत्र विद्यमान रहता है वे कहते हैं कि—

उत्प्रेक्षातिशयान्विता ॥ १४ ॥

इत्यस्याः, स्वलक्षणानुप्रवेश इत्यतिशयोक्तेश्च

कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥ १५ ॥

इति सकलानुकरणानुमाहकत्वम् । तस्मान् पृथगतिशयोक्तिरेवेयं मुख्यतमेत्युच्यमानेऽपि न किञ्चिदतिरिच्यते । कश्चिप्रतिभोत्प्रेक्षितत्वेन स्वात्यन्तमसभाव्यमप्युपनिबध्यमानमनयैव युक्त्या समञ्जसमतो ग्राहते । न पुनः स्वातन्त्र्येण । यद्वा कारणतो लोकातिक्रान्तगोचरत्वेन वचनः सैवेयमित्यस्तु, तथापि प्रस्तुतातिशयविधानव्यतिरेकेण न किञ्चिदपूर्वमस्ति ।

(और यह) सातिशयता तो 'उत्प्रेक्षातिशयाग्विता' इस (भामह की उत्प्रेक्षा) के अपने लक्षण के • • • • • में ही (प्रतिपादित किया गया है) तथा अतिशयोक्ति की 'कोऽलङ्कारोऽयमा विना' के द्वारा समस्त अलङ्कारों की अनुग्राह्यता (प्रतिपादित ही की गई) है । अतः (अगर इसे आप) अलग से प्रधानतया यह अतिशयोक्ति ही है (उत्प्रेक्षा नहीं) ऐसा कहें तो भी कुछ अन्तर नहीं पड़ता । (क्योंकि) कविशक्ति द्वारा उत्प्रेक्षित रूप में बिल्कुल असम्भाव्य वस्तु भी इसी युक्ति से उपनिबद्ध होकर युक्तिसंगत होती है । न कि स्वच्छन्दतापूर्वक उपनिबद्ध किये जाने पर । अथवा निमित्ततः कथन की लोकातिक्रान्तगोचरता के कारण यहां वही (अतिशयोक्ति अलङ्कार ही) मान लिया जाय तो भी वर्धमान (पदार्थ) के उत्कर्ष के प्रतिपादन से भिन्न और कोई अपूर्णता यहां नहीं आ जायगी । (अतः उत्प्रेक्षा ही मानना समीचीन है) ।

तदेवमभिधानस्य पूर्वमभिधेयस्य चेह वक्रतामभिधायेदानीं वाक्यस्य वक्रत्वमभिधातुमुपक्रमते—

मार्गस्थवक्रशब्दार्थगुणालङ्कारसंपदः ।

अन्यद्वाक्यस्य वक्रत्वं तथाभिहितजीवितम् ॥ ३ ॥

मनोज्ञफलकोल्लेखवर्णच्छायाश्रियः पृथक् ।

चित्रस्येव मनोहारि कर्तुः किमपि कौशलम् ॥ ४ ॥

तो इस प्रकार पहले (द्वितीयोन्मेष में) शब्द की एवं अभी (तृतीयोन्मेष के प्रारम्भ में) अर्थ की वक्रता का प्रतिपादन कर अब वाक्य की वक्रता का प्रतिपादन प्रारम्भ करते हैं—

(सुकुमारदि) मार्गों में विद्यमान वक्र शब्दों, अपों, गुणों एवं अलङ्कारों की सम्पत्ति से भिन्न, चित्र के मनोहर चित्रपट, (उस पर अंकित) रेखाचित्र, (उसके) रङ्गों तथा (उसकी) कान्ति से भिन्न चित्रकार को किसी अलौकिक निपुणता के समान, उस प्रकार के (अनिर्वचनीय) ढङ्ग से वर्णन रूप प्राणवाली कवि की कुछ अपूर्व सरलता वाक्य की वक्रता होती है ॥ ३-४ ॥

अन्यद्वाक्यस्य वक्रत्वम्—वाक्यस्य परस्परान्वितवृत्ते पदसमुदायस्यान्यदपूर्वं व्यतिरिक्तमेव वक्रत्वं वक्रभावः । भवतीति सबन्धः, क्रियान्तराभावात् । कुतः—मार्गस्थवक्रशब्दार्थगुणालङ्कारसंपदः ।

मार्गाः सुकुमारादयस्तत्रस्याः केचिदेव वक्राः प्रसिद्धव्यवहारव्यतिरेकिणो ये शब्दार्थगुणालकारास्तेषां मंपत् काव्युपशोभा तस्याः । पृथग्भूतं किमपि वक्रतान्तरमेव । कीदृशम्—तथाभिहितिनोवितम् । तथा तेन प्रकारेण केनाप्यव्यपदेश्येन याभिहितः काव्यपूर्ववाभिधा सैव जीवित सर्वस्व यस्य तत्तथोक्तम् । किंस्वरूपमित्याह—पल्लवः किमपि कौशलम् । कर्तुर्निर्मातुं किमप्यलौकिकं यत्कौशलं नैपुण्यं तदेव वाक्यस्य वक्रत्वमित्यर्थः । कथंचिद् चित्रस्येव, आलेख्यस्य यथा, मनोहारि हृदयरञ्जकं प्रकृतोपकरणव्यतिरेकि कर्तुरेव कौशलं किमपि पृथग्भूतं व्यतिरिक्तम् । कुत इत्याह—मनोज्ञफलकोल्लेखवर्णच्छायाश्रितः । मनोज्ञाः काञ्चिदेव हृदयहारिण्यो याः फलकोल्लेखवर्णच्छायास्तासां श्रीरुपशोभा तस्याः । पृथग्पूष किमपि तत्त्वान्तरमेवेत्यर्थः । फलकमालेख्याधारभूता भित्तिः, उल्लेखरिचित्रसूत्रप्रमाणोपपन्नं रेखाविन्यसनामात्रम्, वर्णा रञ्जकद्रव्यविशेषाः छाया कान्तिः । तद्विदमत्र तात्पर्यम्—यथा चित्रस्य किमपि फलकाद्युपकरणकलापव्यतिरेकि सकलप्रकृतपदार्थजीवितायमानं चित्रं कौशलं पृथक्त्वेन मुख्यतयोद्भासते, तथैव वाक्यस्य मार्गादिप्रकृतपदार्थसार्थव्यतिरेकि कविकौशललक्षणं किमपि सहृदयसंवेद्यं सफलं प्रस्तुतपदार्थस्फुरितभूतं वक्रत्वमुज्जम्भते ।

वाक्य की वक्रता भिन्न होती है—वाक्य अर्थात् एक दूसरे से (योग्यता, आकांक्षा एवं सतिथि के कारण) संयुक्त अवस्था वाले पदों के समूह का अन्य ही अर्थात् अपूर्व कोई पृथक् वक्रता अपवा वाक्यन होता है । किससे पृथक् (वक्रता होती है) मार्गों में स्थित वक्र शब्दों, अर्थों, गुणों एवं अलङ्कारों की सम्पत्ति से (पृथक्) । मार्ग का अर्थ है सुकुमार (विचित्र एवं मध्यम) आदि (मार्ग) उनमें विद्यमान कुछ ही वक्र अर्थात् लोकप्रसिद्ध व्यवहार से भिन्न जो शब्द, अर्थ गुण तथा अलङ्कार उनकी सम्पत्ति अर्थात् कोई (लोकोत्तर) विच्छित्ति, उससे भिन्न कोई दूसरी ही वक्रता (वाक्य की वक्रता होती है) । (वह वाक्यवक्रता) कैसी होती है—उस ढङ्ग से किया गया कथन जिसका प्राण है । उस प्रकार किसी अनिवार्य ढङ्ग से जो अभिहित अर्थात् कोई अपूर्व कथन, वह ही जिस वक्रता का प्राण अर्थात् सर्वस्व होता है । (उस वक्रता का) स्वरूप क्या है इसे (प्रत्येक) बताते हैं—कर्ता की कोई कुशलता । कर्ता अर्थात् निर्माण करनेवाले का कोई लोकोत्तर जो कोशल अर्थात् निपुणता

होती है वही वाक्य की वक्रता होती है। किस तरह से? चित्र अर्थात् प्रतिमा की तरह मनोहर अर्थात् चित्ताकर्षक, एवं प्रस्तुत (चित्रपट आदि) साधनों से भिन्न चित्रकार की निपुणता की तरह कुछ अलग ही अर्थात् भिन्न। किसमे भिन्न-मनोहर चित्रपट (उस पर बनाये गये) रेखाचित्र एवं रङ्ग तथा (उसकी) कान्ति की सम्पत्ति से (भिन्न)। मनोज्ञ का अर्थ है हृदय को आकर्षित करनेवाली कुछ ही जो चित्रपट, रेखाचित्र एवं रङ्ग तथा कान्ति हैं उनकी जो श्री अर्थात् सौन्दर्य उसमे भिन्न कोई दूसरा तत्त्व ही (चित्रकार की कुशलता है) फलक का अर्थ है चित्र की आधारभूत दीवाल (चित्रपट)। उल्लेख का अर्थ है चित्र बनाने के मूल की नाप से ठीक किया गया केवल रेखाओं का विन्यास। वर्णों का अर्थ है रंगने वाले विशेष पदार्थ (रंग आदि)। छाया का अभिप्राय है चमक। तो यहाँ आशय यह है कि—जैसे चित्र का (उसके) चित्रपट आदि साधनों के समुदाय से अतिरिक्त एवं समस्त (चित्र में) प्रस्तुत पदार्थों की प्राणभूत चित्रकार की निपुणता अलग से प्रधान रूप में दिखाई पड़ती है उसी प्रकार वाक्य के मार्गादि प्रस्तुत पदार्थ समुदाय से अतिरिक्त एवं समस्त प्रस्तुत पदार्थों की प्राणभूत केवल सहृदयों द्वारा भलीभाँति जानी जा सकनेवाली, कवि की निपुणता रूप कोई लोकोत्तर वक्रता क्षमकती है।

तथा च, भावस्वभावसौकुमार्यवर्णने शृङ्गारादिरसस्वरूप-समुन्मीलने वा विविधविभूषणविन्यासविच्छित्तिविरचने च परः परिपोषातिशयस्तद्विदाह्यादकारितायाः कारणम् । पदवाक्यैकदेश-वृत्तिर्वा यः कश्चिद्वक्रताप्रकारस्तस्य कविकौशलमेव निबन्धनया व्यवतिष्ठते । यस्मादाकल्पमेवेषां तावन्मात्रस्वरूपनियतनिष्ठतया व्यवस्थितानां स्वभावालकरणवक्रताप्रकाराणां नवनवोल्लेखविलक्षण चेतनचमत्कारकारि किमपि स्वरूपान्तरमेतस्मादेव समुज्ज्मते । तेनेदमभिधीयते—

और इसीलिए—पदार्थों के स्वभाव की सुकुमारता का प्रतिपादन करने में अथवा शृङ्गारादि रसों के स्वरूप को भलीभाँति व्यक्त करने में एवं अनेकों प्रकार के अलंकारों के प्रयोग से शोभा उत्पन्न करने में उनकी भलीभाँति निपुणता का अत्यधिक उत्कर्ष ही रसिकों को आनन्दित करने का कारण बनता है। पद अथवा वाक्य के एक अंश में रहने वाला जो वक्रता का कोई भेद होता है उसका कारण विशेषतः कवि की निपुणता ही होती है।

क्योंकि इसी (कवि कौशल) से ही सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आश्रयक उसी एक ही स्वरूप में निश्चिन्नरूप से स्थित (वस्तुओं के) स्वभाव, (उनके) बलकारों एवं वक्रता प्रकारों का, नये-नये ढङ्ग में वर्णन होने के कारण अद्वितीय एवं सहृदयों को आनन्दित करनेवाला कोई दूसरा ही स्वरूप सामने आता है । इसीलिए ऐसा कहा जाता है—

आसंसारं कश्चिपुङ्गवै प्रतिदिवसगृहीतसारोऽपि ।

अज्ञाः अभिन्नमुद्रा इव जगद्वाचा परिस्पन्दो ॥ १६ ॥

(आसंसार कश्चिपुङ्गवै प्रतिदिवसगृहीतसारोऽपि ।

अज्ञान्यभिन्नमुद्रा इव जयति वाचा परिस्पन्दः ॥)

सृष्टि के प्रारम्भ से ही श्रेष्ठ कवियों द्वारा निरत्य प्रति तत्त्व का ग्रहण किए जाने पर भी आज भी अप्रकट रहस्यवाता-सा वाणी का परिस्पन्द सर्वोत्कर्ष से युक्त है ॥ १६ ॥

अत्र सर्गांश्चान् प्रभृति कविप्रधानैः प्रातिस्विकप्रतिभापरिस्पन्द-माहात्म्यात् प्रतिदिवसनगृहीतसर्वस्वोऽप्यद्यापि नवनवप्रतिभासानन्त्य-विजृम्भणादनुत्ताटितप्राय इव यो वाक्यपरिस्पन्दः स जयति सर्वो-त्कर्षेण वर्तते इत्येवमास्मिन् सुमद्भूतेऽपि वाक्यार्थं कविकौशलस्य विलम्वितं किमप्यलाकिमेव परिस्फुरति । यस्मात् स्वाभिमानध्वनि-प्रधान्येन तेनैतदाभितितम् यथा—आसंसारं कश्चिपुङ्गवै प्रति-दिवसनगृहीतसारोऽप्यद्याप्यभिन्नमुद्रा इवायम् । एवमपरिज्ञाततत्त्व-तया न केनचित् किमप्येतस्माद् गृहीतमान सत्प्रतिभेऽद्वितीयपरमाथ-स्वेदानीमेव मुद्राबन्धोद्भेदो भविष्यतीति लोकोत्तरम्बपरिस्पन्दसार-व्यापत्तैर्वाक्यपरिस्पन्दो जयतीति संबन्धः ।

यहाँ सृष्टि के प्रारम्भ से ही श्रेष्ठ कवियों द्वारा अपनी-अपनी असाधारण प्रतिभा के विलास को प्रयुक्त से निरत्य प्रति जिसके नस्व का ग्रहण किया गया है फिर भी नई-नई प्रतिभाओं का असंख्य विलासों में आज भी जिसका निरूपण नहीं किया जा सका है ऐसा जो वाणी का विलास वह बिजली है अर्थात् सर्वोत्कृष्ट रूप में विद्यमान है । इन ढङ्ग से इस वाक्यार्थ का समन्वय हो जाने पर भी कवि की निपुणता का कोई लोकोत्तर ही वैभव शक्तता है क्योंकि उस (कवि) ने अपने अभिमान की व्यञ्जना की प्रधानता से इस प्रकार कहा है कि—‘सृष्टि के प्रारम्भ से ही श्रेष्ठ कवियों द्वारा प्रतिदिन जिसके तत्त्व का ग्रहण किया गया है किन्तु आज भी जिसका उद्घाटन नहीं हो

सका ऐसा यह वाणी का परिस्पन्द है । इस तरह इस के तत्त्व को न जानने के कारण कोई भी इसमें कुछ भी ग्रहण नहीं कर सका इसलिये मेरी प्रतिभा से अब परम तत्त्व का उद्घाटन किये जाने पर इसका रहस्य प्रकट हो जायगा, इस प्रकार अपने अलौकिक (काव्य) व्यापार की सफलता को प्रतिपादित कर देने के कारण वाणी के परिस्पन्द के विजय की बात (कवि द्वारा) कही गई है ।

यद्यपि रसस्वभावालकाराणां सर्वेषां कविकौशलमेव जीवितम् ।
तथाप्यलकारस्य विशेषतस्तदनुग्रहं विना वर्णनावयवस्तुनो भूषण-
भिव्याधित्वेनाभिमतस्य स्वरूपमात्रेण परिस्फुरता यथार्थत्वन निवध्य-
मानस्य तद्विदाह्लादविधानानुपपत्तेर्मनाङ्गमात्रमपि न वैचिश्य-
मुत्प्रेक्षामहे, प्रचुरप्रवाहपतितेतरपदार्थसामान्येन प्रतिभासनात् ।
यथा—

यद्यपि कवि की कुशलता ही रस, स्वभाव एवं अलंकार सभी का प्राण होती है फिर भी विशेष रूप में वर्णित किए जाने वाले पदार्थ के अलंकार रूप से कहे जाने वाले केवल स्वरूप से ही स्फुरित होते हुए यथार्थता से निरूपित किए जाने वाले अलंकार के उस (कविकौशल) की कृपा के बिना सहृदयो के लिये आनन्ददायक न होने से कुछ भी वैचिश्य नहीं आ सकता क्योंकि प्रचुर प्रवाह में पड़े हुए दूसरे पदार्थों की भाँति सामान्य रूप से ही वह भी प्रतीत होगा । जैसे—

दूर्वाकाण्डमिव श्यामा तन्वी श्यामलता यथा ॥ १७ ॥

इत्यत्र नूतनोल्लेखमनोहारिणः पुनरेतस्य लोकोत्तरविन्यसनविच्छित्ति-
विशेषितशोभातिशयस्य किमपि तद्विदाह्लादकारित्वमुद्दिश्यते । यथा—

अस्या" सर्गविधौ इति ॥ १८ ॥

यथा—

किं सारुण्यतरोः इति ॥ १९ ॥

दूब के तिनको की तरह साँवली छरहरी स्त्री सोमलता (अथवा प्रिय-
ङ्गुलता) जैसी है ॥ १७ ॥

यहाँ पर (प्रयुक्त उपमालंकार वैचिश्यजनक नहीं है) ॥

जब कि मधे ढग से किये गये वर्णन के कारण मनोहर एवं अलौकिक रचना के वैचिश्य से विशिष्ट बना दिये गये सौन्दर्यातिशय वाला यही (अलंकार) किसी लोकोत्तर सहृदयाह्लादकारिता को व्यक्त करता है । जैसे— (उदाहरण

स० ३।१२ पर उद्धृत) अस्या सर्गविधौ । इस श्लोक में ॥१८॥ अथवा जैसे (उदाहरण स० १।१२ पर उद्धृत) कि तावत्प्रतरो... इत्यादि इस श्लोक में ॥ १९ ॥

तदेव पृथग्भावेनापि भवतोऽस्य कविकीशलायत्तवृत्तित्वलक्षणवाक्य-
वक्रतान्तर्भाव एव युक्तिशुक्तामवगाहते । तदिदमुक्तम्—

वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा ।

यत्रालवारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भवित्यति ॥ २० ॥

तो इस प्रकार यद्यपि यह अलंकार अलग से भी सम्भव है फिर भी कविकीशल के दशभूत रहनेवाली वाक्यवक्रता में ही इसका अन्तर्भाव युक्तिसंगत है । इसीलिए (काविका १।२० में) इस प्रकार कहा गया है कि—

वाक्य की वक्रता (पूर्वोक्त पदादि की वक्रताओं से) भिन्न है जिसके हजारों भेद हो जाते हैं तथा जिसमें यह सारा का सारा अलंकार समूह अन्तर्भूत हो जायगा ॥ २० ॥

स्वभावोदाहरण यथा—

तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहसाक्षिणां
क्षेम भद्र कलिन्दशैलतनयातीरे लतावेशमनाम् ।
विच्छिन्नेस्मरतरुपकरूपनमृदुच्छेदोपयोगेऽधुना
ते जाने जरठीभवन्ति विगलज्जीलत्विषः पल्लवा ॥ २१ ॥

[इस प्रकार अलंकार का उदाहरण तो 'अस्याः सर्गविधौ—' एवं 'कि तावत्प्रतरो—' इत्यादि दे चुके हैं इसलिये अब स्वभाव एवं रस का उदाहरण देना शेष है । उनमें) स्वभाव का उदाहरण जैसे—

हे सीम्प ! गोपियों के विलास के दोस्त, राधा की एकान्त (फोड़ाओं) के गवाह, कलिन्द पर्वत की मुना (जमुना) के किनारे (दिग्भान) के लतापूद् बहुघाल तो हैं ? (अथवा मैं तो) समझता हूँ कि अब काम की सेज बनाने के लिये मुलायम (पत्तों के) तोड़ने की आवश्यकता समाप्त हो जाने के कारण विगलित होती हुई श्यामल कान्तिवाले वे किसलय कठोर होते जा रहे होंगे) ॥ २१ ॥

अत्र यद्यपि सदृश्यसंवेद्यं वस्तुसमयि स्वभावमात्रमेव वर्णितम्, तथाप्यनुत्तानतया व्यवस्थितस्यास्य विरलविदग्धहृदयैकगोचरं किमपि नूतनोल्लेखमनोहारि पदार्थान्तरलीनवृत्ति सूक्ष्मसुभगं तादृक् स्वरूप-
मुन्मीलितं येन वाक्यवक्रतात्मनः कविकीशलस्य काचिदेव काष्ठाधि-

रूढिरुपपद्यते । यस्मात्तद्व्यतिरिक्तवृत्तिरर्यातिशयो न कश्चित्प्रलभ्यते ।
रसोदाहरण यथा—

यहाँ यद्यपि पदार्थ में सम्भव होने वाले केवल रसिकों के द्वारा जानने योग्य स्वभावमात्र को प्रस्तुत किया गया है फिर भी असामान्य ढंग से व्यवस्थित होने के कारण इस स्वभाव के, कुछ ही निपुणों के अनुभवैकगम्य एवं अपूर्व वर्णन के कारण मनोहर, पदार्थों में अन्तर्भूत, सूक्ष्मता के कारण सुन्दर किसी उस लोकोत्तर स्वरूप को व्यक्त किया गया है जिससे वाक्यवक्त्रारूप कविकौशल किसी अपूर्व पद को पहुँच गया है । क्योंकि उससे भिन्न रहनेवाला दूसरा कोई अतिशय नहीं प्राप्त होता है ।

लोको यादृशमाह साहसधन त क्षत्रियापुत्रक
स्यात्सत्येन स तादृगेव न भवेद्वाक्ता विसवादिनी ।

एकां कामपि कालविप्रसमी शीर्योऽमकण्डूव्यय-

व्यग्राः स्युश्चिरविस्मृतामरचमूडिम्बाहवा बाहवः ॥ २२ ॥

रस का उदाहरण जैसे—(सम्भवतः राम को उद्देश करके रावण कहता है कि—) साहसरूप धन वाले इस क्षत्रिया के बच्चे को लोक जिस प्रकार का (पराक्रमी) कहता है वह भले ही वैसा क्यों न हो लोगों की बातें झूठी न हो फिर भी देवताओं की सेना के वीरों के साथ के युद्ध को भूली हुई मेरी ये मुझमें समय की किसी एक भी वृद्ध के लिए (अर्थात् क्षणभर के लिए ही) पराक्रम की गर्मों से उत्पन्न खुजलाहट को मिटाने के लिए व्याकुल हो जायें (तो मैं उस दुष्ट का पराक्रम देख लूँ) ॥ २२ ॥

अत्रोत्साहाभिधानः स्थायीभावः समुचितालम्बनविभावलक्षण-
विषयसौन्दर्यातिशयश्लाघाश्रद्दालुतया विजिगीषोर्बद्धमध्यमङ्गीभणिति-
वैचित्र्येण परां परिपोषद्वीमधिरोषितः सम् रसतामानीयमानः
किमपि वाक्यवक्त्रभावस्वभाव कविकौशलभावेद्व्यति । अन्येषां
पूर्वप्रकरणोदाहरणानां प्रत्येक तथाभिहितजीवितलक्षण वक्त्रत्व
स्वयमेव महदयैविचारणीयम् ।

यहाँ पर उत्साह नाम का स्थायीभाव अत्यन्त उपयुक्त आलम्बन विभाव (राम) रूप विषय क सौन्दर्यातिशय की प्रशंसा के प्रति विश्वस्त होकर विजय की इच्छा रखनेवाले (रावण) की चातुर्यपूर्ण ढंग के कपन की विचित्रता के द्वारा परिपोष की चरम सीमा को पहुँचाया जाकर रसरूपता को प्राप्त कराया जाता हुआ वाक्यवक्त्रारूप किसी अपूर्व कविकौशल को व्यक्त करता है । अन्य पहले के प्रकरणों में उद्धृत उदाहरणों में से प्रत्येक

के उसी प्रकार के कथन के ही प्राणोवाली वक्रता का सहृदयो का अपने भाव विचार करना चाहिए ।

वक्रताया प्रकाराणामीचित्यगुणशालिनाम् ।

एतदुत्तेजनायालं स्वरूपन्दमहतामपि ॥ २३ ॥

रसस्वभावालकारा आमंमारमपि स्थिताः ।

अनेन नयनां यान्ति तद्विदाह्लादवायिनीम् ॥ २४ ॥

इत्यन्तरल्लोकी ।

औचित्य गुण से सम्पन्न एवं अपने स्वभाव से ही महान् वक्रता के प्रभेदों को अत्यधिक प्रकाशित करने के लिये यह (कविकौशल) समर्थ है । मृष्टि के प्रारम्भ में भी स्थित रस, स्वभाव तथा अलंकार इस (कविकौशल) के द्वारा सहृदयो को आनन्दित करनेवाली नवीनता को प्राप्त कर लेते हैं ॥ २३-२४ ॥

ये दो अन्तरल्लोक हैं ।

एवमभिधानाभिधेयाभिधालक्षणस्य काव्योपयोगिनस्त्रितयस्य स्वरूपमुल्लिख्य वर्णनीयस्य वस्तुनो विषयविभाग विदधाति—

इस प्रकार काव्य के उपयोगी शब्द, अर्थात् एव उक्ति (अर्थात् कविकौशल) इन तीनों के स्वरूप का उल्लेख कर (अब) वर्णनीय वस्तु का विषय की दृष्टि से विभाजन करते हैं—

भावानामपरिम्लानस्वभावौचित्यसुन्दरम् ।

चेतनानां जडानां च स्वरूपं द्विविधं स्मृतम् ॥ ५ ॥

चेतन (प्राणवान्) एवं अचेतन पदार्थों का, सरस स्वभाव को उपयुक्त होने से रसनीय दो प्रकार का स्वरूप (विद्वानो द्वारा) स्वीकार किया गया है ॥ ५ ॥

भावानां वर्ण्यमानवृत्तीनां स्वरूप परिस्पन्दः । कीदृशम्—द्विविधम् । द्वे विधे प्रकारौ यस्य तत्तथोक्तम् । स्मृतं सूरिभिराभ्यातम् । केषां भावानाम्—चेतनानां जडानां च । चेतनानां सविद्वतां प्राणिनामिति यावत् ; जडानां तद्व्यतिरेकिणा चैतन्यशून्यानाम् । एतदेव च धर्मद्वैविध्य धर्मद्वैविध्यस्य निबन्धनम् । कीदृकस्वरूपम्—अपरिम्लानस्वभावौचित्यसुन्दरम् । अपरिम्लानः प्रत्यपरिपोषपेशलोपः स्वभावः पारमार्थिको धर्मस्तस्य यदीच्छत्यमुचित्प्रभावः प्रस्तावोपयोग्यदोषदुष्टत्वं तेन सुन्दरं सुकुमारं तद्विदाह्लादकमित्यर्थः ।

भाव अर्थात् वर्णन किये जाने वाले पदार्थों का स्वरूप अर्थात् स्वभाव । कैसा (स्वरूप) दो प्रकार का । अर्थात् जिसके दो भेद हैं वह इस शब्द से बताया गया है । स्मरण किया गया है अर्थात् विद्वानों ने स्वीकार किया है । किन् पदार्थों का (स्वरूप)—चेतनो एव अचेतनो का । चेतन से अभिप्राय है प्राणियों से जिनके अन्दर ज्ञान होता है । जड़ों का अर्थ है उनसे भिन्न एव चेतनतारहित अचेतन पदार्थ । यही दो प्रकार के धर्मों का होना धर्म के दो प्रकार का होने का कारण है । (पदार्थों का) कैसा स्वरूप (दो प्रकार का होता है) सरस स्वभाव के औचित्य से सुन्दर (स्वरूप) । सरस अर्थात् अपूर्ण परिपोष के कारण कोमल जो स्वभाव अर्थात् मुख्य धर्म उसका जो औचित्य अर्थात् उपयुक्तता प्रकरण के लिये उपयुक्त दोषहीनता उसके कारण सुन्दर अर्थात् सुकुमार सहृदयों को आनन्दित करनेवाला स्वरूप (दो प्रकार का होता है) ।

एतदेव द्वैविध्यं विभज्य विचारयति—

तत्र पूर्वं प्रकाराभ्यां द्वाभ्यामेव विभिद्यते ।

सुरादिसिंहप्रभृतिप्राधान्येतरयोगतः ॥ ६ ॥

इन्हीं दो प्रकारों का अलग-अलग विवेचन करते हैं—

उनमें से पहला (चेतन पदार्थ) देवादि तथा सिंहादि के प्राधान्य एव अप्राधान्य के कारण दो ही प्रकार से (पुनः) विभक्त हो जाता है ॥ ६ ॥

तत्र द्वयाः स्वरूपयोर्मध्यात् पूर्वं यत्प्रथमं चेतनपदाधिसंबन्धि तद् द्वाभ्यामेव रक्ष्यन्तराभावान् प्रकाराभ्यां विभिद्यते भेदमासादयति, द्विविधमेव संपद्यते । कस्मात्—सुरादिसिंहप्रभृतिप्राधान्येतरयोगतः । सुरादिः त्रिदशप्रभृतयो ये चेतनाः सुरासुरसिद्धविद्याधरगन्धर्वप्रभृतयः, ये चान्ये सिंहप्रभृतयः केसरिप्रमुखास्तेषां यत्प्राधान्यं मुख्यत्वमितरदप्राधान्यं च ताभ्यां यथासंख्येन प्रत्येकं योगं संबन्धस्तस्मात् कारणात् ।

उनमें अर्थात् दोनों (चेतन एव अचेतन पदार्थों) के स्वरूप के मध्य से पूर्व अर्थात् जो पहला चेतन पदार्थों से सम्बन्ध रखनेवाला (स्वरूप) है वह भिन्न-भिन्न समूहों (अपवा वगैः) के कारण दो ही प्रकारों से विभक्त हो जाता है अर्थात् उसके दो भेद होने हैं और वह दो प्रकार का ही हो जाता है । कैसे (वह दो ही प्रकार का होता है)—देवादि एव सिंह आदि के प्राधान्य एव अप्राधान्य रूप सम्बन्ध के कारण । सुरादि अर्थात् देवता

आदि अर्थात् देवता, राक्षस, सिद्ध, विद्याधर एव गन्धर्व आदि जो चेतन पदार्थ, तथा दूसरे जो सिंह आदि जिनमें शेर प्रधान है ऐसे पदार्थों का जो प्राधान्य अर्थात् मुख्यरूपता एव उससे भिन्न अर्थात् गौणता उन दोनों से क्रमानुसार प्रत्येक का जो योग अर्थात् सम्बन्ध है उसके कारण (दो प्रकार हो जाते हैं) ।

तदेवं सुरादीनां मुख्यचेतनानां स्वरूपनेकं कवीनां वर्णना-
स्पर्दम् । सिंहादीनाममुख्यचेतनानां पशुमृगपक्षिसरीसृपाणां स्वरूपं
द्वितीयमित्येतदेव विशेषेणोन्मीलयति—

तो इस प्रकार एक तो देवादिप्रधान चेतन पदार्थों का स्वरूप एक कवियों के वर्णन का आधार होता है तथा दूसरा सिंह आदि पशुओं, मृगों, पक्षियों एव सर्प, बिच्छू आदि गौण चेतन पदार्थों का स्वरूप होता है इसी बात को विशेष ढंग से प्रतिपादित करते हैं—

मुख्यमविलष्टरत्यादिपरिपोषमनोहरम् ।

स्वजात्युचितहेवाकसमुल्लेखोज्ज्वलं परम् ॥ ७ ॥

सुकुमार रति आदि (स्थायीभावों) के परिपोष से हृदयावर्जक प्रधान (चेतन पदार्थों का स्वरूप) तथा अपनी जाति के अनुरूप स्वभाव के सम्पक्क निरूपण से सुशोभित होनेवाला दूसरा (गौण अचेतन पदार्थों का स्वरूप कवियों के वर्णन का विषय होता है) ॥ ७ ॥

मुख्य यत्प्रधानं चेतनसुरासुरादिसंबन्धिस्वरूपं तदेवंविधं
सत्कवीनां वर्णनास्पर्दं भवति स्वव्यापारमोचरतां प्रतिपद्यते ।
कीदृशम्—अविलष्टरत्यादिपरिपोषमनोहरम् । अविलष्टः कदर्थनाविरहितः
प्रत्यप्रतामनोहरो यो रत्यादिः स्थायिमावस्तस्य परिपोषः शृङ्गार-
प्रभृतिरसव्यापादनम्, स्थाय्येष तु रसो भवेदिति न्यायात् । तेन
मनोहरं हृदयहारि । अवोदाहरणा न विप्रलम्भशृङ्गारे चतुर्थेऽङ्के
विक्रमोर्वश्यामुन्मत्तस्य पुरुरपसः प्रलपितानि । यथा—

मुख्य अर्थात् जो चेतन देवता राक्षस आदि से सम्बन्धित प्रधान स्वरूप है वह इस प्रकार का होने पर घेष्ठ कवियों के वर्णन योग्य होता है अर्थात् अपने व्यापार (कविकर्म-काव्य) का विषय होता है । कैसा होने पर—
सुकुमार रति आदि के परिपोष से मनोहर । अविलष्ट अर्थम कठिनता से रहित अपूर्ण होने से मनोहर जो रति आदि स्थायीभाव हैं उनके परिपोष

अर्थात् शृंगारादि रसो मे परिणत हो जाना—क्योंकि स्थायी ही तो रस होता है ऐसा नियम है ।

तिष्ठेत्कोपत्रशात्प्रभावपिहित्वा दीर्घं न सा कुप्यति
स्वर्गायोत्पनिता भवेन्मयि पुनर्भावाद्भ्रमस्या मनः ।
तां हर्तुं विषुयद्विपोऽपि न च मे शक्ता. पुरोवतिनीं
सा चात्यन्तमगोचर नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः ॥ २५ ॥

उसके कारण मनोहर अर्थात् हृदयावर्जक । यहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार के विषय में उदाहरण स्वरूप 'विक्रमोर्गश.य' नाटक के चौथे अंक में (उर्बशी के वियोग में) पागल पुरुषवा के प्रलाप (समझे जा सकते) हैं । जैसे— (राजा कुछ सोचकर कहता है कि शायद) क्रोधवश (अपनी अन्तर्धान विद्या के) प्रभाव से छिपकर (कहीं) बैठी हो (पर ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि) वह देर तक क्रुद्ध नहीं रहती । (फिर सोचता है कि कहीं) स्वर्ण को (न) उड गई हो (पर ऐसी बात भी नहीं हो सकती क्योंकि) उसका हृदय मेरे प्रति स्नेह से सरस है । और फिर मेरे सामने स्थित उस (प्रियतमा) को हर लेने में दानव भी समर्थ नहीं हैं फिर भी वह आँखों के सामने बिल्कुल दिखाई नहीं पड़ती, न जाने भाग्य कैसा है अथवा न जाने क्या बात है ॥ २५ ॥

अत्र राज्ञो बल्लभाविरहवैधुर्यदशावेशविग्रशवृत्तेस्तदसंप्राप्तिनिमित्त-
मनधिगच्छत. प्रथमतः स्वभाविकमौकुमार्यसंभाव्यमानम्
अनन्तरोचितविचारापसार्यमाणोपगच्छति किमपि तात्कालिकविकल्पा-
ल्लिख्यमानमनवलोकनकारणमुत्प्रेक्षमाणस्य तदासादनसम्बन्धा-
सम्भवाद्यैराशयनिश्चयविमूढमानसतया रसः परां परिपोषपदवी-
मधिरोपित. ।

तथा चैतदेव वाक्प्रमान्तरैरुदीपितं यथा—

यहाँ पर प्रियतमा (उर्बशी) के वियोग की विफलता की अवस्था के अभिनिवेश से व्याकुल हृदय तथा उसकी अनुपलब्धि के कारण को न समझते हुए, न दिखाई पड़ने के कारण का अनुमान करने वाले राजा की सर्वप्रथम ही सहज सुकुमारता से अनुमानित किया गया एवं तुरन्त बाद में उचित विचार के कारण अनुपपन्न हो गया उस समय के विकल्पो से वर्णित किये गये न दिखाई पड़ने के कारण का अनुमान करनेवाले राजा से उसकी प्राप्ति सम्बन्ध के असम्भव होने से निराशा के निश्चित हो जाने से मुग्ध चित्त होने के कारण रस अपने परिपोषकी पराकाष्ठा को पहुँच गया है ।

पद्मयां स्पृशेद्वसुमती यदि सा सुगात्री
 मेघाभिवृष्टसिकतासु वनस्थलीषु ।
 पश्चान्नता गुरुनितम्बतया ततोऽस्या
 दृश्येत चारुपदपङ्क्तिरलक्तकाङ्क्षा ॥ २६ ॥

और जैसे कि यही (विप्रनम्ब शृङ्गार) अन्य श्लोको द्वारा भी उद्दीप्त करायी गया है । जैसे—(पुरुरवा ही कहता है कि) यदि वह सुन्दर अङ्गो वाली (प्रियतमा उर्वशी) बादलो से गीली बालुकामय वनभूमि में पृथ्वी का पैरो से स्पर्श करती तो भारी नितम्बों के कारण इसकी, महावर से चिह्नित सुन्दर चरणपत्ति पीछे की ओर अधिक गहरी दिखाई पड़ती ॥ २६ ॥

अत्र पद्मया वसुमती कदाचित् स्पृशेद्वित्याशसया तत्प्राप्तिं सभाव्येत । यस्माज्जलधरसलिलसेकमुकुमारसिकतासु वनस्थलीषु गुरुनितम्बतया तस्याः पश्चान्नतत्वेन नितरां मुद्रितसंस्थानां रागोपरक्ततया रमणीयवृत्तिश्चरणविन्यासपरपरा दृश्येत, तस्मान्नैराश्यनिश्चितरेव सुतरां समुज्जृम्भिता, या तदुत्तरवाक्योन्मत्तत्रिलपितानां निमित्तता-मभजत् ।

यहाँ 'शायद कही पृथ्वी का पैरो से स्पर्श करती' इस आशा से उत्तरी प्राप्ति सम्भव हो सकती । क्योंकि बादलो के जल से सींची होने के कारण कोमल बालुका वाली वनस्थलियों में भारी नितम्बों से युक्त होने के कारण उसके पीछे झुके होने से अत्यधिक चिह्नित स्थानों वाली एवं महावर से रेंगी होने के कारण सुन्दर पदविन्यास की शृंखला दिखाई पड़ती, इस प्रकार निराशा का निश्चय ही खल्लो तरह से व्यक्त किया गया है जो उसके बाद के श्लोको के उन्मत्त विलाप का कारण बन गया है ।

करुणरसोदाहरणानि तापसवत्सराजे द्वितीयेऽङ्के वत्सराजस्य परिदेवितानि । यथा—

धारावेरम विलोक्य दीनवदनो भ्रान्त्वा च लीलागृह-
 त्रिरवस्थापयतमाशु केसरलतावीधीषु कृत्वा दृशः ।
 किं मे पार्श्वमुपैपि पुत्रक कृतैः किं चाटुभिः क्रूरया
 मात्रा न्व परिबर्जितः सह मया यान्त्यातिदीर्घा भुवम् ॥ २७ ॥

करुण रस के उदाहरण 'तापसवत्सराज' के द्वितीय अंक में वत्सराज उदमन के प्रलाप (समझे जा सकते हैं) । जैसे—(वासवदत्ता के पाल्शू

हरिण को धारागृह आदि स्थानों में डूँडकर वासवदत्ता को न पाने से निराश हो जाने पर राजा हरिण से कहता है—) हे पुत्र ! धारागृह को देखकर (वहाँ अपनी माता वासवदत्ता को न पाकर) मलीन मुख होकर क्रीडागृहों में भ्रमणकर (वहाँ भी न पाने से) बड़ी-बड़ी उसासों भरकर, शीघ्र ही बकुलवृक्ष की लताओं की गलियों में तजर दौड़ाकर मेरे पास क्यों आ रहा है, प्रियवचनो से क्या लाभ ? (अर्थात् यदि मैं तुमसे झूठे ही प्रियवचनो का प्रयोग करूँ कि तुम्हारी माता कही अभी गई है आती होगी तो उससे क्या लाभ क्योंकि) कठोरहृदय (तुम्हारी) माता ने बहुत दूर देश (स्वर्ग) को जाते समय मेरे ही साथ तुम्हें भी त्याग दिया है । (अब उससे मिलना अवम्भव है) ॥ २७ ॥

अत्र रसपरिपोषनिबन्धन विभावादिसपरसमुदय कविना सुतरा समुज्जृम्भितः । तथा चास्यैव वाक्यस्यावतारक विदूषकवाक्यमेवं प्रयुक्तम्—

कवि ने यहाँ पर रस के परिपोष के कारणभूत विभावादि की सामग्री के समुदाय को भलीभाँति प्रस्तुत किया है । और जैसे कि इसी श्लोक को अवतीर्ण करनेवाले विदूषक के वाक्य का इस प्रकार प्रयोग किया है—

पमादो एसो वस्तु देवीए पुत्तकिदको हरिणपोदो अत्तभवन्तं अणुमरदि ॥ २८ ॥

(प्रमाद. एष खलु देव्या पुत्रकृतको हरिणपोदोऽवभवन्तमनुसरति ।)

यह बड़ी लापरवाही है कि देवी का पुत्र सहश यह मृगशावक आपका अनुगमन कर रहा है ॥ २८ ॥

एतेन करुणरसोद्दीपनविभावता हरिणपोतकधारागृहप्रभृतीनां सुतरा समुत्पद्यते । तथा चायमपरः श्रुते क्षारावक्षेप इति समण्वद्वचना-दनन्तरमेतत्परत्वेनैव वाक्यान्तरमुपनिबद्धम् ।

यथा—

कर्णान्तस्थितपद्मारागकलिकां भूय ममाकर्षता

चञ्चवा दाडिमबीजामेत्यभिदता पादेन गण्डस्थलो ।

येनासीं तय तस्य नर्मसुहृदः खेदान्मुहुः ग्रन्थतो

निःशङ्कं न शुकस्य किं प्रतिवचो देवि त्वया दीयते ॥ २९ ॥

इस (विदूषक के कथन) से मृगशावक एव धारागृह आदि भली भाँति कल्पा रस के उद्दीपन विभाव बन जाते हैं । और जैसे कि क्षण्वान के 'यह

दूसरा पाव पर नमक छिड़का गया' ऐसा कहने के बाद इसी को घुट्ट करने के लिये ही दूसरे श्लोक की रचना की गई है। जैसे—(राजा कहते हैं कि) हे देवि वासवदत्ते ! कानो के बगल में लगी हुई पद्मराग मणि की कली को अनार का बीज समझ कर चोच से लीचते हुए जिस (शुक) ने तुम्हारी इस कपोलस्थली पर पदप्रहार किया था उस अपने नर्ममुह के तोने की बातों का नि शङ्क होकर तुम जबाब भी नहीं देती हो जो (तुम्हारे विमोह से उत्थन्न) शोक के कारण बार-बार चिल्ला रहा है ॥ २९ ॥

अत्र शुकस्यैवंविधदुर्ललितयुक्तत्वं वास्तव्यप्रतिपादनपरत्वे-
नोपात्तम्। 'असौ' इति कपोलस्थल्याः स्वानुभवस्वदमानसौकुमार्यो-
त्कर्षपरामर्शः। एवमेवोद्दीपनविभावैकजीवितत्वेन करुणरसः
काष्ठाधिरुद्धिरमणीयतामनीयतः।

यही पर तोते का इस प्रकार के दुर्ललितत्व से मुक्त होना उसकी अत्यधिक प्रियता का प्रतिपादन करने के लिये प्रयुक्त किया गया है। 'असौ' इस पद के द्वारा कपोलस्थली के अपने अनुभव द्वारा आस्वादित किए जाने वाले सौकुमार्योत्तिष्ठ का परामर्श किया गया है। इसी प्रकार उद्दीपन विभाव ही जिसका एकमात्र प्राण हो गया है ऐसा करुण रस रमणीयता की पराकाष्ठा को पहुँचाया गया है।

एवं विप्रलम्भशृङ्गारकरुणयोः सौकुमार्यादुदाहरणप्रदर्शनं विहितम्।
रसान्तराणामपि स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयम्।

इस प्रकार विप्रलम्भ शृङ्गार एवं करुण रसों के सुकुमार होने के कारण उनका उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। अन्य रसों के भी उदाहरण अपने आप समझ लेना चाहिए।

एवं द्वितीयमप्रधानचेतनसिंहादिसंबन्धि यत्स्वरूपं तदित्थं कवीनां
वर्णनास्पदं संपद्यते। कीदृशम्—स्वजात्युचितदेवाकसमुल्लेखोऽञ्जलम्।
स्या प्रत्येकमात्मीया सामान्यलक्षणवस्तुस्वरूपा या जातिस्तस्याः
समुचितो यो देवाकः स्वभावानुसारी परिस्पन्दस्तस्य समुल्लेखः
सम्यगुल्लेखनं वास्तवेन रूपेणोपनिबन्धस्तेनोऽञ्जलं भ्राजिष्युः
तद्विदाह्लादकारीति यावत्।

इस तरह जो गीण चेतन सिंह आदि पदायों से सम्बन्धित दूसरा स्वरूप है वह इस प्रकार का होने पर कवियों के वर्णन योग्य बनता है। कैसा

(होने पर)—अपनी जाति के अनुरूप स्वभाव के वर्णन मनोहर (होने पर) । स्वकीय अर्थात् हर एक की अपनी जो जाति अर्थात् सामान्य रूप पदार्थ का स्वरूप होता है उसके अनुरूप जो हेवाक अर्थात् (पदार्थ) के स्वभाव का अनुसरण करनेवाला (पदार्थ) का धर्म उसका समुल्लेख अर्थात् भली-भाँति वर्णन, वास्तविक ढङ्ग से प्रतिपादन, उसके कारण उज्ज्वल अर्थात् प्रकाश-मान, सहृदयो की आह्लादित करने वाला (गोण चेतन सिंहादि पदार्थों का स्वरूप कवियों के वर्णन का विषय बनता है) ।

यथा—

कदाचिदेतेन च पारियात्रगुहागृहे मीलितलोचनेन ।

व्यत्यस्तहस्तद्वितयोपविष्टदृष्टाङ्कुराञ्चिबुकं प्रसुप्तम् ॥ ३० ॥

जैसे—

(किसी सिंह की स्वाप्नावस्था का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि—) कभी पारियात्र (पर्वत विशेष) की कन्दारूपी गृह में (दोनों) आँखें मूँदे हुए इस (सिंह) ने अपने आड़े ढग से रखे हुए दोनों हाथों पर स्थित दाढ़ की नोक के कारण फैली हुई ढोड़ी वाला लगते हुए शयन किया था ॥ ३० ॥

अत्र गिरिगुहागेहान्तरे निद्रामनुभवतः केसरिणः स्वजातिसमुचितं स्थानकमुल्लिखितम् । यथा वा—

श्रीशामभङ्गाभिराम मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः

पञ्चार्घेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम् ।

शङ्खैरर्थावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा

पर्योदमे प्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्या प्रयाति ॥ ३१ ॥

यहाँ पर्वत की गुफारूप गृह के भीतर निद्रा का अनुभव करते हुए सिंह की अपनी जाति के अनुरूप स्थिति का वर्णन किया गया है । अथवा जैसे—('अभिज्ञान शाकुन्तल' में राजा दुष्यन्त अपने सारथि से कहते हैं कि हे सारथि !) देखो, अपने पीछे चलते हुए रथ पर बार-बार गर्दन मोड़ने से सुन्दर दृष्टि लगाए हुए, बाण लगने के डर से (अपने शरीर के) पिछले अङ्ग भाग से आगे के हिस्से में बहुत ज्यादा झिन्का हुआ, एग परिश्रम के कारण खुले हुए मुँह से गिरते हुए अर्धवर्धित कुशों को रास्ते में बिखेरता हुआ (यह हरिण) ऊँची एग लम्बी छलांगें मारने के कारण ज्यादातर बाकाश में तपा थोड़ा-सा जमीन पर चल रहा है ॥ ३१ ॥

एतदेव प्रकारान्तरेणोन्मीलयति—

रसोद्दीपनसामर्थ्यविनिबन्धनबन्धुरम् ।

चेतनानाममुख्यानां जडानां चापि भूयसा ॥ ८ ॥

इसी (चेतन पदार्थों के द्विविध स्वरूप) को दूसरे ढङ्ग से व्यक्त करते हैं—

गोण चेतन (सिंहादि पदार्थों) का तथा अधिकतर जड पदार्थों का भी रस को उदीप्त करने के सामर्थ्य से युक्त रूप में वर्णन के कारण मनोहर (स्वरूप कवियों का वर्णनास्पद होता है ।) ॥ ८ ॥

चेतनानां प्राणिनाममुख्यानामप्रधानभूतानां यत्स्वरूपं तदेवविधं तद्वर्णनीयतां प्रतिपद्यते प्रस्तुताद्गतयोपयुज्यमानम् । कीदृशम्—रसोद्दीपनसामर्थ्यविनिबन्धनबन्धुरम् । रसा. शृङ्गारादयस्तेषामुद्दीपनमुक्त्वा सनं परिपोषस्तस्मिन् सामर्थ्यं शक्तिस्तथा विनिबन्धन निवेशस्तेन बन्धुरं हृदयहारि । यथा—

अमुख्य अर्थात् गोणभूत चेतन अर्थात् प्राणिमो का जो स्वरूप है वह इस प्रकार का होने पर उन (कवियों) के वर्णन योग्य होता है अर्थात् प्रस्तुत (पदार्थ) के अङ्ग रूप से उपयोगयोग्य होता है । कैसा (होने पर)—रस को उदीप्त करने के सामर्थ्य से युक्त रूप में वर्णित होने से मनोहर (होने पर) रस अर्थात् शृङ्गारादि उनका उद्दीपन अर्थात् उत्तसित होना परिपुष्ट होना उसमें जो सामर्थ्य अर्थात् शक्ति उसमें विनिबन्धन अर्थात् वर्णन उसके कारण बन्धुर अर्थात् मनोहर (होने पर वर्णनीय होता है ।)

चूनाङ्कुरास्वादफपायकण्ठः पुंस्कोकिलो यन्मधुरं चुकूज ।

मनस्विनीमानविघातदक्ष तदेव जातं वचन स्मरस्य ॥ ३२ ॥

(वसन्त के प्रारम्भ में) आम के अङ्कुरों के भक्षण से रक्त कण्ठ वाले पुष्प कोपल ने जो मधुर अल्पक ध्वनि किया वही मानो मानिनिर्वो के मान को भग करने में समर्थ कामदेव का वचन (आदेश) हो गया ॥ ३२ ॥

जडानां चापि भूयसा—जडानामचेतनानां तलिलतरुङ्कुसुमसमय-प्रभृतीनामेवविध स्वरूपं रसोद्दीपनसामर्थ्यविनिबन्धनबन्धुर वर्णनीय-तामवगाहते । यथा—

तथा अधिकतर जड पदार्थों का भी (स्वरूप वर्णन योग्य होता है) ।

जड अर्थात् अचेतन जल, वृक्ष, वसन्त आदि का रस प्रकार इसको उद्दीप्त

करने के सामर्थ्य से युक्तरूप में वर्णन के कारण मनोहर स्वरूप (येछ कवियों के) वर्णन का विषय बन जाता है। जैसे—

इदममुलभवस्तुप्रार्थनादुनिवार प्रथममपि मनो मे पञ्चबाणः श्रिणोति ।
किमुन मलयवातोन्मूलितापाण्डुपत्रैरुपवनमहकारैर्दशतेष्वङ्गुरेषु ॥ ३३ ॥

दुर्लभ पदार्थ की कामना से कठिनतापूर्वक रोके जा सकने वाले मेरे चित्त को कामदेव पहले ही शीण कर रहा है, तो भला दक्षिण पवन (मन्या-निल) के द्वारा गिरा दिए गये पीले पत्तों वाले बगीचे के सात्र वृक्षों के द्वारा अङ्गुरों के दिखाई देने पर (क्या होगा) ॥ ३३ ॥

यथा था—

उद्भेदाभिमुखाङ्गुराः कुरवका शैवालजालाकुल-
प्रान्तं भान्ति सरांसि फेनपटलैः सीमन्तिताः सिन्धवः ।
किंचाम्मिन् समये कृशाङ्घ्रि विलसत्कन्दर्पकोदण्डिक-
क्रीडाभाञ्छि भवन्ति सन्ततलताकीर्णान्यरण्यान्यपि ॥ ३४ ॥

अथवा जैसे—

। शीघ्र ही निकल पडने वाले अङ्गुरों वाले कुरवक (वृक्ष), सेवार के जालों से व्याप्त किनारों वाले तालाब, और फेनो के समूहों से विभाजित कर दी गई नदियाँ सुशोभित हो रही हैं। और भी ऐ कृशाङ्घ्रि, इस समय भलीभाँति विस्तीर्ण लताओं से व्याप्त विपिन भी विलसित होते हुए कामदेव के धनुष की क्रीडाओं से सम्पन्न हो रहे हैं ॥ ३४ ॥

एवं स्वाभाविकसुन्दरपरिस्पन्दनिबन्धनं पदार्थस्वरूपमभिधाय तदेवोपसहरति—

शरीरमिदमर्थस्य रामणीयकनिर्भरम् ।

उपादेयतया ज्ञेयं कवीनां वर्णनास्पदम् ॥ ९ ॥

इस प्रकार सहज सौन्दर्य के कारणभूत, पदार्थों के स्वरूप का प्रतिपादन कर उसी का उपसंहार करते हैं—

कवियों के वर्णन (काव्य) के आधारभूत, सुन्दरता से परिपूर्ण पदार्थ का यह शरीर उपादेय रूप से समझना चाहिए ॥ ९ ॥

अथेस्य वर्णनीयस्य वस्तुनः शरीरमिदम् उपादेयतया ज्ञेयं ब्राह्मत्वेन बोद्धव्यम् । कीदृशं सत्—रामणीयकनिर्भरम्, सौन्दर्यपरिपूर्णम्, औपहत्यरहितत्वेन तद्विदावर्जकमिति यावत् । कवीनामेतदेव यस्माद्वर्णनं,

स्वःमभिभाष्यापारोचरम् । एवविधस्यास्य रवम्गशोभाविशयभ्राजि-
ष्णाभिभूष्णान्युपशोभान्तरमारभन्ते ।

अर्थ प्रयान् वर्णन किये जाने वाले पदार्थ का इस शरीर को उपादेय
रूप से जानना चाहिए अर्थात् ग्रहण करने योग्य समझना चाहिए । कैसा
होने पर—रमणीयता ने निर्भर अर्थात् सुन्दरता से परिपूर्ण, दोषों से हीन
होने के कारण सहृदयों की आकृष्ट करनेवाला (होने पर) । ज्योंकि यही
कवियों का वर्णनास्पद अर्थात् कविताजी के व्यापार का विषय होता है ।

इस प्रकार अपने स्वरूप की शोभा के उत्कर्ष से कान्तिमुक्त इस
स्वरूप के अलङ्कार उपशोभा मात्र को प्रारम्भ करते हैं ।

एतदेव प्रकारान्तरेण विचारयति—

धर्मादिसाधनोपायपरिस्पन्दनिबन्धनम् ।

व्यवहारोचितं चान्यल्लभते वर्णनीयताम् ॥ १० ॥

इसी बात का दूसरे ढंग से विवेचन करते हैं—

और दूसरा भी (चेतना व अचेतना का स्वरूप) धर्म आदि (पुष्पार्थ-
चतुष्टय) की प्राप्ति के उपायभूत-व्यापार के कारण रूप से, लोक व्यवहार
के अनुरूप (हो कवियों के) वर्णन का विषय बनता है ॥ १० ॥

व्यवहारोचितं चान्यत् । अपरं पदार्थानां चेतनाचेतनानां स्वरूप-
मेवविधं वर्णनीयतां लभते कविज्यापारविषयतां प्रतिपद्यते । कीदृशम्—
व्यवहारोचितम् । लोकवृत्तयोग्यम् । कीदृशं सत्—धर्मादिसाधनोपाय-
परिस्पन्दनिबन्धनम् । धर्मादेश्चतुर्वर्गस्य साधने संपादने उपायभूतो
य. परिस्पन्दः स्वविलसित तदेव निबन्धन यस्य तत्तथोक्तम् । तद्विदमुक्तं
भवति—यत् काव्ये वर्ण्यमानवृत्तयः प्रधानचेतनप्रभृतयः सर्वे पदार्थ-
श्चतुर्वर्गसाधनोपायपरिस्पन्दप्राधान्येन वर्णनीयाः, येऽप्यप्रधानचेतन-
स्वरूपाः पदार्थास्तेपि धर्मार्थाद्युपायभूतस्वप्रतिभासप्राधान्येन कवीनां
वर्णनीयतामवतरन्ति । तथा च राक्षं शूद्रकप्रभृतीनां मन्त्रिणः च शूकना-
समुल्यानां चतुर्वर्गानुग्रानोपदेशपरत्वेनैव चरितानि वर्ण्यन्ते । अप्रधान-
चेतनानां हस्तिद्विगणप्रभृतीनां संप्रामाद्युपायद्वयतया परिस्पन्दसुन्दर स्वरूपं
लक्ष्ये वर्ण्यमानतया परिदृश्यते । तस्मादेव च तथाविधस्वरूपोद्धे-
प्राधान्येन काव्यकाव्योपकरणरूचीनां चित्रचित्रोपकरणचित्रकैः साम्यं
प्रथममेव प्रतिपादितम् । उद्देशविधं स्वभावप्राधान्येन रसप्राधान्येन

द्विप्रकार सत्तत्र वाकुमार्थनरग स्वरूप वर्णनाविषयवस्तुन शरीरमेवा-
लंकार्यन्तामेवाहति ।

व्यवहार के बोध दूसरा (स्वरूप वर्णनीय होता है) । चेतन एव जड़ पदार्थों का इस प्रकार का दूसरा स्वरूप वर्णनीय होता है अर्थात् कवि-
व्यापार का विषय बनता है । कैसा (स्वरूप) व्यवहारोचित अर्थात् लोक-
व्यवहार के अनुकूल (स्वरूप) कैसा होकर—धर्मादि की प्राप्ति के उपाय-
भूत व्यापार का कारण होकर, धर्मादि (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूप)
चतुर्वर्ग (अथवा पुरुषार्थचतुष्टय) की सिद्ध करने में अर्थात् सम्पादित
करने में उपायभूत जो परिस्पन्द अर्थात् अपना विलसित वही जिस (स्वरूप)
का कारण होता है (ऐसा स्वरूप) । तो कहने का आशय यह है कि—
काव्य में जिन मुख्य चेतन आदि के व्यवहार का वर्णन किया जा रहा है
उन सभी पदार्थों का (धर्मादि) चतुर्वर्ग की सिद्धि में उपायभूत अपने
विलसितों की प्रधानता से युक्त रूप में वर्णन किया जाना चाहिए, तथा
जो गौण चेतन स्वरूप वाले पदार्थ हैं वे भी धर्म, अर्थ आदि के उपायभूत
अपने विलासों की प्रधानता से ही कवियों के वर्णन के विषय बनते हैं ।
जैसे कि शूद्रक इत्यादि राजाओं, चुकनास आदि प्रमुख मन्त्रियों के चरित्रों का
वर्णन (धर्मादि) चतुर्वर्ग के अनुष्ठान के उपदेश के लिए ही किया जाता
है । तथा लक्ष्य (एवम् काव्यों में) गौण चेतन हाथी-मृग आदि पदार्थों का,
लड़ाई तथा शिकार आदि के अङ्ग रूप में अपने विलास से सुन्दर स्वरूप ही
वर्णन का विषय दिखाई पड़ता है । और इसीलिए उस प्रकार के स्वरूप
के वर्णन की प्रधानता से काव्य, काव्य की सामग्री एव कवि का, चित्र,
चित्र की सामग्री एव चित्रकार के साथ साम्य पहले ही दिखाया जा चुका
है । तो इस प्रकार स्वभाव की प्रधानता एव रस की प्रधानता से दो तरह
का स्वाभाविक मुकुमारता के कारण सरस वर्णनीय पदार्थ का स्वरूप शरीर
ही है तथा उसका अलङ्कार्य होना ही ठीक है ।

तत्र स्वाभाविक पदार्थस्वरूपमलंकरणं यथा न भवति तथा प्रथममेव
प्रतिपादितम् । इदानीं रसात्मनः प्रधानचेतनपरिस्पन्दवर्ण्यमानवृत्तेर
लंकारकारान्नराभिमतमलंकारता निराकरोति—

अलंकारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात् ।

स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थासङ्गतेरपि ॥ ११ ॥

जहाँ पदार्थों का स्वाभाविक स्वरूप जैसे अलङ्कार नहीं होता इसका
प्रतिपादन पहले ही किया जा चुका है । अब मुख्य चेतन पदार्थ के विलास

रूप व्यवहार का जिसमें वर्णन किया जाता है ऐसे रस स्वरूप की अन्य आलङ्कारिकी द्वारा स्वीकृत अलंकारता का निराकरण करते हैं—

(पदार्थ के 'स्वरूप से भिन्न किसी दूसरे का बोध न कराने के कारण तथा शब्द एवं अर्थ के सङ्गत न होने से 'रसवत्' अलंकार नहीं होता ॥११॥

अलंकारो न रसवत् । रसवदिति योऽयमुत्पादितप्रतीतिर्नालंकार-
स्तस्य विभूषणत्वं तोषयद्यते इत्यर्थः । कस्मात् कारणात्—स्वरूपादिति-
रिक्तस्य परस्याप्रतिभासनात् । वर्ण्यमानस्य यस्तुनो यत् स्वरूपमात्मोप-
परिस्पन्दस्तस्मादतिरिक्तस्यात्यधिकस्य परस्याप्रतिभासनाद् अनवबोध-
नात् । तदिदमत्र तात्पर्यम्—यत् सर्वेषामेवालंकारिणां * सत्कविवाक्यानां
मिदमलंकारमिदमलंकरणम् इत्यपोद्धारविहितो विविक्तभावः सर्वस्य
कस्यचित् प्रमातुश्चेतसि परिस्फुरति । रसवदलंकारवदिति वाक्ये पुनर-
वहितचेतसोऽपि न किञ्चिदेतदेव बुध्यामहे ।

रसवत् अलंकार नहीं है । इसका अर्थ यह है कि 'रसवत् नाम का अलंकार है' ऐसा जिसका (प्राचीन आलंकारिकी द्वारा) बोध कराया गया है उसका अलंकारत्व उचित नहीं है । किस कारण से—स्वरूप से भिन्न दूसरे का बोध न होने के कारण । वर्णन किये जाने वाले पदार्थ का जो स्वरूप अर्थात् अपना स्वभाव होता है उससे भिन्न अधिक दूसरे किसी का प्रतिभासन अर्थात् ज्ञान न होने के कारण ('रसवत्' अलंकार नहीं होता) । तो यहाँ इसका आशय यह है कि—श्रेष्ठ कवियों के सभी अलंकृत वाक्यों में यह अलंकार्य है, यह अलंकार है ऐसी विभाग-बुद्धि द्वारा उत्पन्न भिन्नता सभी

- * यहाँ पर पा० डे के संस्करण में 'सर्वेषामेवालंकारिणाम्' पाठ मुद्रित था ।
रस पाठ की असंगत बताकर आचार्य विरवेन्दर जीने अपनी 'विवेकानि-
सम्पादन पद्धति' के द्वारा 'सर्वेषामेवालंकारिणां सत्कविवाक्यानामिदम-
लंकारमिदमलंकरणम्' शेषादि पाठ समुचित बताया है । पर विद्या इनारे
पाठ को देखते हुए स्वयं रस बात का अनुमान कर सकते हैं कि आचार्य
जी का विवेक उन्हें धोखा दे गया है । वस्तुतः हमें तो लगता है कि छुरप
की गलती से 'ता' के स्थान पर 'ती' छप गया है । केवल 'ती' को 'ता'
मान लेने पर एतत् का अर्थ समझास है । जब कि आचार्य जी के पाठ की
मानने पर अर्थ पूर्णतया असंगत हो रहता है । क्योंकि अलंकारों में अलंकार्य
और अलंकार का भेद कदाँ से होगा । यह भेद तो अलंकृत वाक्यों में ही
सम्भव है । रसवत् ।

किसी प्रमाता के हृदय में स्फुरित होती है। लेकिन 'रसवत् अलङ्कार में युक्त है' इस वाक्य में सावधान चित्त वाले व्यक्ति के हृदय में भी कुछ नहीं प्रस्फुरित होता, ऐसा ही मैं समझता हूँ।

नथा च—यदि शृङ्गारादेरय प्राधान्येन व्ययमानाऽलङ्कारैस्त-
न्नयन फेर्नाचदलकरणेन भवितव्यम् । यदि वा तत्स्वरूपमेव तादृश-
ह्लादिनिबन्धनत्वात्लक्षणमित्युच्यते तथापि नद्वयतिरिक्तमन्यदलकार्य-
तया प्रकाशनीयम् । नदेवाविधौ न कश्चिदपि विरेकश्चिरन्तनालङ्काराभन्ते
रसवदलङ्कारलक्षणोदाहरणमार्गे मनागपि विभाव्यते । यथा च—

रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादि ॥ ३५ ॥

और भी—यदि शृङ्गारादि ही मुख्य रूप से वर्णित होने पर अलङ्कार है तो उससे भिन्न कोई अलङ्कार होना चाहिए। अथवा यदि शृङ्गारादि का स्वरूप ही सहृदयों के आनन्द का जनक होने से अलङ्कार कहा जाता है तो भी उससे भिन्न अलङ्कार रूप में किसी को व्यक्त करना चाहिए। तो इस प्रकार का तर्क भी कोई भी विवेचन प्राचीन आलङ्कारिकों द्वारा स्वीकृत 'रसवत्' अलङ्कार के लक्षण अथवा उदाहरण मार्ग में नहीं दिखाई पड़ता। जैसे कि—

रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादि ॥ ३५ ॥

[इति] रसवल्लक्षणम् । अत्र दर्शिताः स्पष्टाः स्पष्ट वा शृङ्गाराद्यो यत्रेति व्याख्यानं काव्यव्यतिरिक्तेन कश्चिदन्य समासार्थभूतः सलक्ष्यते । योऽसावलङ्कारः काव्यमेवेति चेत्, तदपि न सुस्पष्टसौष्ठवम् । यस्मात् काव्यैकदेशयोः शब्दार्थयोः पृथक् पृथगलङ्काराः सन्तीत्युपक्रमेदानीं काव्यमेवालङ्कारणमित्युपक्रमोपसहारवैपम्यदुष्टत्वमायाति ।

यह (भागह एव उद्धृत के अनुसार) रसवत् अलङ्कार का लक्षण है। यहाँ पर दिखाये गये जहाँ शृङ्गारादि हों या तो स्पष्ट रूप से परामृष्ट हों—ऐसी व्याख्या करने पर काव्य से भिन्न समास का अर्थभूत कोई दूसरा नहीं दिखाई पड़ता। (और यदि ऐसा कहा जाय कि) जो यह अलङ्कार है वह काव्य ही है, तो भी सुन्दरता स्पष्ट नहीं होती। क्योंकि पहले (ग्रन्थ के आरम्भ में) काव्य के अवयवभूत शब्द और अर्थ के अलग-अलग अलङ्कार होते हैं ऐसा प्रारम्भ कर अब 'काव्य ही अलङ्कार है' ऐसा कथन प्रारम्भ एव समाप्ति को विषमता से दूषित हो जाता है।

यदि वा दर्शिताः स्पष्ट शृङ्गारादयो येनेति समासः, तथापि वक्तव्यमेव-
 कोऽसाविति ? प्रतिपादनवैचित्र्यमेवेति चेत्, तदपि न सम्यक् समर्थ-
 नाहम् । यस्मात् प्रतिपाद्यमानादन्यदेव तदुपशोभानिवन्धनं प्रतिपादन-
 वैचित्र्यम्, न पुनः प्रतिपाद्यमेव । स्पष्टतया दर्शितं रमानां प्रतिपादन-
 वैचित्र्यं यत्राभिधीयते, तदपि न सुप्रतिपादनम् । स्पष्टतया दर्शने शृङ्गारा-
 दीनां स्वरूपपरिनिर्वाणत्तरेव पर्यवस्यति । किंच, रसवतः काव्य-
 स्यालङ्कार इति तथाविधस्य सतस्तस्यासाविति न किंचिदनेन तस्याभि-
 धेये स्यात् ।

अथवा यदि 'जिसके द्वारा स्पष्ट रूप से शृङ्गारादि दिखाये गये हो' (वह रसबदलकार है) ऐसा समास स्वीकार किया जाय तो भी बताना ही पड़ेगा कि वह कौन है (जिसके द्वारा स्पष्ट रूप से शृङ्गारादि दिखाये गये हो) । (यदि उत्तर दें कि) प्रतिपादन की विचित्रता ही वह (अलङ्कार है) तो वह भी भलीभाँति समर्थन करने योग्य नहीं है । क्योंकि जिसका प्रतिपादन किया जा रहा है उसकी गौण सुन्दरता का कारण उससे भिन्न ही प्रतिपादन की विचित्रता होती है । न कि जिसका प्रतिपादन किया जा रहा है, वही (अपनी उपशोभा का कारण होता है ।

यदि कहा जाय कि स्पष्ट रूप से दिखाया गया रसों के प्रतिपादन की विचित्रता ही (रसबद् अलङ्कार है) तो वह भी अच्छा समझाना नहीं होगा । (क्योंकि) शृङ्गारादि के साफ-साफ दिखाई पड़ने पर उनका स्वरूप ही भलीभाँति निष्पन्न होगा । और यदि 'रसवान्' काव्य का अलङ्कार (रसबद-
 संकार होता है) इस प्रकार (कहा जाय तो) उस प्रकार (रसवान्) होने पर उसका यह (रसबद् अलङ्कार है) इस कथन से उसका कुछ भी निष्पन्न नहीं होता । अथवा उसी (रसवत्) अलङ्कार के कारण वह काव्य रसवान् होता है, (यह कहा जाय) तो इस प्रकार वह रसवान् (काव्य) का अलङ्कार नहीं है अपितु रसवान् अलङ्कार है यह अर्थ होने लगेगा, उसी के माहात्म्य से काव्य भी रस से सम्पन्न हो जाता है ।

अथवा तेनैवालङ्कारेण रसवत्त्वं तस्याधीयते, तदेकं तर्ह्यसौ न रसवतोऽलङ्कारः, अत्युत रसवानलङ्कार इत्यायावि, तन्मा-
 हात्म्यान काव्यमपि रसवान् सपद्यते । यदि वा तेनैवाहितरससम्बन्धस्य रसवतः काव्यस्यालङ्कार इति तत्पश्चाद्रसबदलङ्कारव्यपदेशमासादयति-
 यथाग्निष्टोमयाज्यस्य पुत्रो भवितेत्युच्यते-तदपि न सुप्रतिपादसमाधानम् ।
 यस्माद् 'अग्निष्टोमयाजि'शब्दः प्रथमं भूतलक्षणे विपर्यान्तरे निष्पत्ति-

पदान्या ममासादितप्रसिद्धि परचाद् भविष्यन्ति वाक्यार्थसम्बन्धलक्षण-
योग्यतया तमनुभवितुं शक्नोति । न पुनरत्रैव प्रयुज्यते । यस्माद्रसवतः
काव्यन्यालङ्कार इति तत्सम्बन्धितयैवास्य स्वरूपलब्धिरेव । तत्सम्बन्धि-
निबन्धनं च काव्यस्य रसवत्त्वमित्येवमितरेतराश्चलक्षणदोषः केना-
पसार्यते । यदि वा रसो विद्यते यस्यासौ तद्वानलङ्कार एवास्तु इत्यभि-
धीयते तथाप्यलङ्कारः काव्यं वा नान्यत् तृतीयं किञ्चिदत्रास्ति ।
तत्पक्षद्वितीयमपि प्रत्युक्तम् । उदाहरणं लक्षणैकयोगक्षेमत्वात् पृथक्
न विकल्प्यते ।

अथवा यदि उसी (रसबदलकार) के कारण रस से सम्बन्ध स्थापित होने से (वह) रस से युक्त काव्य का अलङ्कार उसके बाद रसबदलङ्कार कहा जाता है—जैसे इसका लङ्का अग्निष्टोम यज्ञ करने वाला होया—ऐसा कहा जाता है तो यह भी समाधान ठीक नहीं है । क्योंकि 'अग्निष्टोमयाजि' शब्द भूतदप दुन्दरे विषय में निष्पन्न होने के कारण प्रसिद्धि को प्राप्त हो जाने के बाद भविष्यवाची वाक्यार्थ के साथ सम्बन्ध रूप योग्यता से उसका अनुभव कर सकता है । लेकिन यहाँ पर ऐसा प्रयोग ठीक नहीं । क्योंकि रस से युक्त काव्य का अलङ्कार (रसबदलकार होता है) इस प्रकार इसके स्वरूप की प्राप्ति ही उस (रसवत्काव्य) के सम्बन्धित रूप से होती है तथा वह सम्बन्ध का होना ही काव्य के रसयुक्त होने का कारण है इस प्रकार इस अन्वयान्वाद्य दोष को कोन दूर कर सकता है । अथवा यदि जिसके रस है वह उस रस से युक्त अलङ्कार ही है ऐसा कहा जाय तो भी अलङ्कार अथवा काव्य से भिन्न कोई तीसरा है ही नहीं (जिसे रसबदलङ्कार कहा जाय) तथा इन दोनों पक्षों का सङ्गठन किया जा चुका है । लक्षण मात्र के ले आने या समर्पित करने के कारण उदाहरण का अलग से सङ्गठन नहीं किया जाता है ।

मृतेति प्रेत्य सद्गन्तु यथा मे मरणं स्मृतम् ।

सैवावन्ती मया लब्धा कथमत्रैव जन्मनि ॥ ३६ ॥

जैसे—(दण्डी का रसबदलङ्कार का निम्न उदाहरण) (प्रियावासवदत्ता)
मर गई है ऐसा सोचकर जिसके साथ सम्मिलन के लिए मुझे मृत्यु अभीष्ट थी
वही वासवदत्ता मुझे इसी जन्म में कैसे मिल गई ॥ ३६ ॥

अत्र रतिपरिपोषलक्षणवर्णनीयशरीरभूतायाश्चित्तवृत्तेरतिरिक्तमन्यद्वि-
भवत वस्तु न किञ्चिद्विभाव्यते । तस्मादलङ्कार्यैव युक्तिमती ।
यदपि कैश्चित्—

स्वशब्दस्थाधिसंचारविभाषाधिनयास्पदम् ॥ ३७ ॥

यहाँ शृंगार रूप वर्णन के योग्य शरीरभूत चित्तवृत्ति से भिन्न कोई अन्य वस्तु नहीं दिखाई पड़ती। इसलिये (इसका) अलंकार्य होना ही युक्तिमय है। और जो किसी ने—

स्वशब्द, स्पायिभाव, नञ्चारीभाव, विभाव एवं अनिय के अधिष्ठानवाला (स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया गया शृंगारादि रसवदलंकार होता है) ॥ ३७ ॥

इत्यनेन पूर्वमेव लक्षणप्रशेषितम्, तत्र स्वशब्दास्पदत्वं रसानाम् परिगतपूर्वमस्माकम्। ततस्त एव रसमर्थस्वनमाहेतवेतसस्तत्परमार्थविदो विद्वांसः पर प्रष्टव्याः—किं स्वशब्दास्पदत्वं रसानामुत रमयत इति। तत्र पूर्वस्मिन् पक्षे—रस्यन्त इति रसास्ते स्वशब्दास्पदास्तेषु तिष्ठन्तः शृङ्गारादिषु वर्तमानाः सन्तस्तज्ज्वरास्वाद्यन्ते। तदिदमुक्तं भवति—यत् स्वशब्दैरभिधीयमानाः श्रुतिपथमवतरन्तश्चेतनानां चर्वणचमत्कारं कुर्वन्तीत्यनेन न्यायेन घृतपूरप्रभृतयः पदार्था स्वशब्दैरभिधीयमानास्तदास्वादसपद संपादयन्तीत्येवं सर्वस्य कस्यचिदुपभोगसुखार्थिनमनैरुदारचरितैरयत्नेनैव तदभिधानमात्रादेव त्रैलोक्यराज्यसप्तसीख्यः समृद्धिः प्रतिपाद्यते इति नमस्तेभ्यः।

इससे पहले वाले लक्षण को ही विचारित किया गया है। उसमें रसों को अपने रसों में प्रतिष्ठित होना तो हमने पहले-पहल जाना है। इसलिये जिनका हृदय रससर्वस्व में ही समाधिस्य है ऐसे परमार्थ को जाननेवाले उन्हें पण्डितों से पूछना है कि—अपने रसों में रस प्रतिष्ठित रहता है अथवा रसवत् (अलंकार)। उनमें पहले पक्ष में (कि रस अपने रसों में प्रतिष्ठित होता है)—जिनका रसन (अर्थात् आस्वादन) किया जाता है वे रस होते हैं वे स्वशब्दास्पद अर्थात् उन (अपने रसों) में स्थित अर्थात् शृंगारादि में विद्यमान रहते हुए उनके जानने वालों द्वारा आस्वादिष्ट किए जाते हैं।

तो इस कथन का आशय यह हुआ कि—(शृंगारादि रस) अपने रसों द्वारा सुनाई पड़ते हुए संहृदयों को रस-चर्वणा का आह्लाद प्रदान करते हैं और इस ढंग से घृतपूर इत्यादि पदार्थ अपने रसों द्वारा कहे जाते हुए उनके आस्वाद के आनन्द को उत्पन्न कर देते हैं। इसलिए वे उदारचरित (महापुरुष) उपभोग सुख की इच्छा वाले किसी भी व्यक्ति के लिये उसका नाम ले लेने में ही तीनों लोकों के राज्य-सम्पत्ति के सुख वाली समृद्धि का प्रतिपादन करते हैं अतः उन्हें नमस्कार है।

रसवत्तदास्पदत्वं नोपपद्यते, रसस्यैव स्ववाच्यस्यापि तदास्पद-
त्वाभावात् । किमुतान्यस्येति । तदलङ्कारत्व च प्रथममेव प्रतिगृह्यम् ।
शिष्टं व्याख्यादिलक्षणं पूर्वं व्याख्यातमेवात न पुनः पर्यालोच्यते ।

(अब दूसरे पक्ष में) रसवत् (अलंकार) का उस (शृंगारादि शब्दों)
में प्रतिष्ठित होना ठीक नहीं लगना (क्योंकि) अपने वाच्य भी रस का ही
जब उसमें प्रतिष्ठित होना असम्भव है तो दूसरे की प्रतिष्ठा उसमें कैसे हो
सकती है । तथा उस रस की अलंकारता का प्रतिषेध पहले ही किया जा
चुका है । शेष स्थायी आदि के लक्षण की पहले ही व्याख्या की जा चुकी
है अतः फिर से उसका विवेचन नहीं किया जा रहा है ।

यदपि ।

रसवद्रससंश्रयात् ॥ ३८ ॥

इति कैश्चिन्नलक्षणमकारि तदपि न सम्यक् समाधेयतामधितिप्रति ।
तथा हि—रसः संश्रयो यस्यासौ रससंश्रयः, तस्मात् कारणादय रसवद्-
लङ्कारः सपद्यते । तथापि वक्तव्यमेव—कोऽसौ रसव्यतिरिक्तवृत्तिः
पदार्थः । काव्यमेवेति चेत् तदपि पूर्वमेव प्रत्युक्तम्, तस्य स्वात्मनि
क्रियाविरोधादलङ्कारत्वानुपपत्तेः । अथवा रमस्य संश्रयो रसेन संश्रियते
यस्मिन्माद् रससंश्रयादिति । तथापि कोऽसाविति व्यतिरिक्तत्वेन वक्त-
व्यतामेवायाति । उदाहरणजातमप्यस्य लक्षणस्य पूर्वेण समान-
योगक्षेमप्रायमिति (न) पृथक् पर्यालोच्यते ।

और जो भी—

रसवद्रससंश्रयात् ॥ ३८ ॥

ऐसा किसी ने (रसवदलंकार का) लक्षण किया है उसे भी भजोभाति
समाधानयुक्त नहीं कहा जा सकता । क्योंकि—रस जिसका आश्रय है उसे
रस के आश्रय वाला कहा जाएगा और उसी कारण है यह रसवदलंकार
सम्पन्न होता है । फिर भी यह तो बताना ही पड़ेगा कि रस से भिन्न स्थिति
वाला यह कौन सा पदार्थ है । (यदि यह कहा जाय कि) काव्य ही है
(यह पदार्थ) तो भी उसका पहले ही सङ्गठन किया जा चुका है अपने में
(ही) क्रिया विरोध होने के कारण अलंकारता की सिद्धि न होने से ।
अथवा रस का जो आश्रय है या जिसका रस आश्रय ग्रहण करता है उसके
कारण (रसवदलंकार कहा जाता है ऐसा समास करें) तो भी (रस से)
भिन्न वह क्या है ।

इसे अलग से व्यक्त करना अपेक्षित ही है। इस मध्यम के धारे के धारे उदाहरण भी पहले की तरह ही ले आये जाने वाले और सर्वांगभूत किए जाने वाले से है इसी से उनका अलग विवेचन नहीं किया जा रहा है।

रसपेशलम् ॥ ३६ ॥

इति पाठे न किंचिदत्रातिरिच्यते। अथ प्रतिपादकवाक्यो-
पारूढपदार्थसाधैस्वरूपमलंकाररसस्वरूपानुपवेशेन (विगलितस्वपरि-
स्पन्दानां द्रव्यानामिव.....) कथमलङ्कारणं भवतीत्येतदपि चिन्त्यमेव।
किञ्च तथाभ्युपगमेऽपि प्रधानगुणभावविपर्ययः पर्यवस्यतीति न
किंचिदेतत्।

रसपेशलम् ॥ ३९ ॥

ऐसा पाठ कर देने पर भी कोई अन्तर नहीं जा पाता। और फिर प्रतिपादक वाक्य में प्रतिपादित किया गया पदार्थों का स्वरूप, अलंकार रस के स्वरूप के अनुपवेश से अलंकार होने ही जाता है यह भी विचारणीय ही है। और फिर वैसा स्वीकार कर लेने पर प्रधानता एवं गौणता का वैपरीत्य स्पष्ट हो जाता है (अर्थात् पदार्थ का स्वरूप जो कि अलंकार होने से प्रधान रहता है वही अलंकार होकर गौण बन जायगा) इसलिये यह (रसपेशलम्) कथन भी कुछ नहीं है।

अत्रैव उपक्रमते—शब्दार्थसङ्गतिरपि। शब्दार्थ-
योरभिधानाभिधेययोरसम्बन्धश्च रसबदलङ्कारोपपत्तिर्नास्ति। अत्र
च रसो विद्यते विद्यति यस्येति सप्रत्ययविहिते तस्मालङ्कार इति
पठ्योपमायाः क्रियते। रसवाञ्छासावलङ्कारश्चेति विशेषणसमासो वा।
तत्र पूर्वस्मिन् पक्षे—रसव्यतिरिक्तसन्त्यत् पदार्थान्तरं विद्यते यस्या-
सावलङ्कारः। काव्यमेवेति चेत्, तत्रापि सद्वाच्यतिरिक्त कोऽसौ पदार्थो
यत्र रसबदलङ्कारव्यपदेशः सावकारावां प्रतिपद्यते ? विशेषातिरिक्त-
पदार्थो न कश्चित् परित्यज्यते यस्तद्वानलङ्कार इति व्यवस्थितिमा-
सादयति। तदेवमुल्लङ्घने मार्गे रसबदलङ्कारस्य शब्दार्थसङ्गतिर्न
कदाचिदस्ति।

इसी विषय में (और भी) आरम्भ करते हैं कि—शब्द एवं अर्थ की संगति न होने से भी (रसबदलंकार नहीं हो सकता) एतद् तथा अर्थ अर्थात् अभिधान एवं अभिधेय का भेदोभेदोक्ति सम्बन्ध (अपवा सम्बन्ध) न होने से भी रसबदलंकार की सिद्धि नहीं होती है। क्योंकि यहाँ पर, विद्यते

रस विद्यमान है या स्थित है इस प्रकार इससे मनुष्य ग्रन्थ करने पर (वह रसवान् कहा जायगा और) उसका अलंकार (रसवदलकार हुआ इस प्रकार) पद्य (तत्पुण्य) समास किया जा सकता है। अथवा रसवान् है यह अलंकार अतः (रसवदलकार हुआ) ऐसा विशेषण समास किया जा सकता है। उनमें पहले (पद्य समास वाले) पद्य में-रस से भिन्न अन्य दूसरा (कोई) पदार्थ है जिसका कि यह अलंकार है। यदि (कहे कि काव्य ही (वह पदार्थ) है तो उसमें भी उस (रस) से भिन्न कौन ऐसा पदार्थ है जिसमें 'रसवदलकार' इस सजा को अवसर प्राप्त होता है। (यथा विशेषण समास पद्य में) विशेषण (अर्थात् रस) से भिन्न कोई पदार्थ नहीं दिखाई पड़ता जो 'रसवान् अलंकार' इस व्यवस्था को प्राप्त कर सके। (अर्थात् रस को ही रसवान् अलंकार कहा जा सकता है जिसका कि पहले ही सङ्गठन कर चुके हैं कि रस अलंकार्य होता है अलंकार नहीं) तो इस प्रकार उक्त स्वरूप वा मार्ग में रसवदलकार के शब्द एवं अर्थ की सङ्गति भी नहीं होती।

यत्र वा निश्चयान्तरविषयतया समामद्वितयेऽपि शब्दार्थसङ्गति-
योजना विधीयते, यथा—

तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया धौताधरेवाश्रुभिः
शून्येवाभरणैः स्वकालविरहाद् विथान्तपुष्पोद्गमा ।
चिन्तामौनमिवास्थिता मधुकृतां शब्दैर्विना लक्ष्यते
चण्डी मामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा ॥ ४० ॥

अथवा यदि दूसरे उदाहरणों के इसका विषय होने से दोनों तरह के समासों में शब्द और अर्थ की सङ्गति की योजना बनाई जाती है। जैसे—

(यह लता) बादलों के जल से भीगी हुए नये किसलयों वाली होने के कारण आँसुओं से धुल गये अधर वाली-सी अपना समय बीत जाने के कारण विरसित पुष्पों से रहित होने के कारण आभूषणों से रहित-सी एवं भ्रमों के गुञ्जन के अभाव में, चिन्ता के कारण मौन होकर स्थित-सी पैरों पर गिरे हुए मुझे तिरस्कृत कर उत्पन्न पशवात्ताप वाली उस बूढ़ा प्रियतमा उर्वशी-सी प्रतीत होती है ॥ ४० ॥

यथा वा—

सक्तभ्रूमङ्गा क्षुभितविद्गग्रेणिरशना
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम् ।

यथाविद्धं यानि म्बलिनमभिसंधाय बहुशो

नदीभावेनयं ध्रुवसत्ता ना परिणता ॥ ५१ ॥

अथवा जैसे—

तरंगरूपी भोहो को बकना वाली, धुम्र पतिपों की पड़ती लगी करनी वाली, तथा हृदयों के कारण ढीले हो गए वल सराखे फेन को खोखली हुई (यह नदी) जिस प्रकार (जिलादि से) बार बार स्थलित होती हुई कुदिल गति से वह रही है (तो ऐसा लगता है) मानो अनेको बार (मेरे) अपराधों को सोचकर वह मानिनी (प्रियतमा उर्वशी) नदी रूप में यह परिवर्तित हो गई है ॥ ४१ ॥

अत्ररसत्वमलङ्कारश्च प्रकट प्रतिभासेते । तस्मान्न कथंचिदपि तद्विवेकस्य दुरवधानता । तेन रसवतोऽलङ्कार इति पट्टीसमासपक्षे शब्दार्थयानं किंचिदसङ्गतत्वम्, रसपरिपोषपरत्वादलङ्कारस्य तन्निबन्धनमेव रसवत्त्वम् । रसवाश्चासावलङ्कारश्चेति विशेषणसमासपक्षे । तथा चैतयोऽदाहरणयोर्लतायाः सरितश्चाद्वीपनविभाशयेन वल्लभाभाविनाना-
करणतया नायकस्य तन्मयत्वेन (निश्चेतन ?) -मेघ पदार्थजात सकलमवलोकयत तस्मान्मयसमारोपणं तद्वर्माध्यापणं चैत्युपनारूप-
काव्यालङ्कारयोजनं विना न केनचित् प्रकारेण घटते, तल्लक्षणवाक्य-
त्वात् । सत्यमेतत्, किन्तु 'अलङ्कार'-शब्दाभिधानं विना विशेषणसमा-
सपक्षे केवलस्य रसवानित्यस्य प्रयोगः प्राप्नोति । रसवान-
लङ्कार इति चेत् प्रतीतिरभ्युपगम्यते तदपि युक्तियुक्तां नार्हति ...
देरमात्रात् । रसवतोऽलङ्कार इति पट्टीसमासपक्षोऽपि न सुस्पष्टसमन्वयः ।
यस्य कस्यचित् काव्यत्वं रसवत्त्वमेव । यस्यातिशयत्वनिबन्धनं तथाविधं
तद्विधाह्लादकारिकाव्यं करणीयमिति तस्यालङ्कार इत्याश्रिते संबंधमेव
रूपकादीनां रसवलङ्कारत्वमेव न्यायोपपन्नतां प्रतिपद्यते । अलङ्कारस्य
यस्य कस्यचिद्रसवत्त्वाद् । विशेषणसमासेऽप्येवैव वार्त्ता ।

यहाँ रसरूपता एवं अलङ्कार साफ-साफ दिखाई पड़ते हैं । इसलिये उनके विवेक में किसी भी प्रकार की कठिनाई नहीं है । इसलिये रसवान् का अलङ्कार (रसवलङ्कार होता है) इस प्रकार पट्टी सपास वाते पक्ष में शब्द तथा अर्थ की कोई असंगति नहीं है; क्योंकि अलङ्कार के रस-
परिपोष रूप होने के कारण रसवत्ता उसका कारण ही है । 'रसवान् अलङ्कार'
इस विशेषण समास के पक्ष में... और फिर इन दोनों उदाहरणों में लता एवं
नदी के उद्दीपन विभाव होने से, प्रियतमा के निरन्तर ध्यान से परिपूर्ण हृदय

होने के कारण समस्त अचेतन पदार्थों को (प्रियतमामय) ही देखते हुए नायक का (उन लता आदि जड़ पदार्थों में) उस (प्रियतमा) की समानता का आरोप एवं उसके धर्म का आरोप बिना उपमा एवं रूपक आदि काव्य अलङ्कारों का प्रयोग किए किसी भी प्रकार सम्भव नहीं क्योंकि ये वाक्य ही उन्हीं अलङ्कारों के चिन्हों को प्रस्तुत करने वाले हैं ।

ठीक है यह बात । लेकिन विशेषण समास वाले पक्ष में अलङ्कार शब्द के कथन के बिना केवल 'रसवान्' है यही प्रयोग प्राप्त होता है । यदि 'रसवान् अलङ्कार' ऐसी प्रतीति स्वीकार की जाती है तो यह भी युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता..... ।

रसवान् का अलङ्कार (रसवदलङ्कार है) इस प्रकार वही समास वाला पक्ष भी स्पष्ट रूप से समन्वित नहीं होता । जिस किसी का भी काव्यत्व रसवरत्न ही होता है । तब जिस (रसवत्त्व) के उत्कर्ष का कारणभूत, सहृदयों को बाह्यादित करनेवाला उस प्रकार का काव्य निर्माण योग्य होता है इसलिए उसका अलङ्कार (रसवदलङ्कार होगा) इस आधार पर तो सभी रूपक आदि अलङ्कारों की रसवदलङ्कारता ही युक्तिसंगत होगी, जिस किसी भी अलङ्कार में रसवरत्न होने के कारण । और यही बात विशेषण समास वाले पक्ष में भी होगी ।

किंच, तदभ्युपगम प्रत्येकमुत्स्खलितलक्षणोल्लेखवि.....कृतपरि-
पोषतया लब्धात्मनामलङ्काराणां प्रातिस्विकलक्षणमिदित्यादिशय-
व्यतिरिक्तमनेन किञ्चिदाधिक्यमास्थीयते । तस्मात्तल्लक्षणकरणवैचित्र्यं
प्रतिवारितप्रसरमेव परापतति । न चैवविधविषये रसवदलङ्कारव्यवहारः
सावकारः, तज्ज्ञैस्तथावगमात्, अलङ्काराणां च मुख्यतया
व्यवस्थानात् ।

और फिर उसे स्वीकार कर लेने पर भी...परिपुष्टि होने के कारण अलङ्कारता को प्राप्त अलङ्कारों के अलग-अलग लक्षणों में प्रतिपादित किए गये सतिशय से भिन्न कुछ आधिक्य इसके द्वारा स्थापित किया जाता है । अतः उन अलङ्कारों के लक्षण करने का वैचित्र्य प्रतिवारित प्रसर अर्थात् व्यर्थ ही सिद्ध होने लगता है (क्योंकि सर्वत्र काव्य में रस होगा अतः सभी अलङ्कार रसवत् ही होंगे तो प्रारम्भ से लेकर आज तक आलङ्कारिकों ने जो उदाहरण अलङ्कार के वैचित्र्य का बराबर प्रतिपादन किया है वह व्यर्थ हो जाएगा क्योंकि सभी (रसवदलङ्कार तो होंगे ही)

और फिर ऐसे विषय में (जहाँ रूपकादि अलंकार मुख्य होते हैं) वहाँ रसबलकार के व्यवहार की गुञ्जाइश ही नहीं रहती क्योंकि उसको जानने वालों को वैसे ही प्रतीति होती है तथा अलंकार ही प्रधान रूप में स्थित रहते हैं ।

अथवा, चेतनपदार्थगोचरतया रसबलंकारस्य निश्चेतनवस्तुविषयत्वेन चोपमादीनां विषयविभागो व्यवस्थाप्यते, तदपि न विद्वज्जना-वर्जनं विदधाति । यस्मादचेतनानामपि रसोद्दीपनमामर्ष्यमनुचित-सत्कविसमुत्तिखितसौकुमार्यसरसत्वादुपमादीनां प्रविरलविषयता निर्विषयस्य वा स्यादिति शृङ्गारादिनिस्त्यन्दसुन्दरस्य सत्कविप्रवाहस्य च नीरसत्वं प्रसज्यत इति प्रतिपादितमेव पूर्वसूत्रिभिः । यदि वा वैचित्र्यान्तरमनोहारितया रसबलंकारः प्रतिपाद्यते, यथोभियुक्तैस्तैरेवाभ्युपायि—

अथवा (यदि) रसबलकार के विषय चेतन पदार्थों के होने के कारण एवं उपमादि अलंकारों के विषय जड़ पदार्थों के होने के कारण (दोनों का) अलग-अलग विषय निर्धारित किया जाता है, तो वह भी विद्वानों के लिये आकर्षक नहीं होता । क्योंकि जड़ पदार्थों के भी रस को उद्दीप्त करने की सामर्थ्य के अनुरूप श्रेष्ठ कवि द्वारा वर्णन की गई सुकुमारता से सरस होने के कारण उपमादि अलङ्कारों का या तो विषय बहुत योग्य रह जायता अथवा उनका कोई विषय ही न रह जायगा और इस प्रकार शृङ्गारादि रसों के प्रवाह से रमणीय श्रेष्ठ कवियों के प्रवाह (अर्थात् काव्यादि) नीरस होने लगेंगे, ऐसा पूर्व विद्वानों द्वारा प्रतिपादित ही किया जा चुका है ।

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राहं तु रसादयः ।

काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः ॥ ४२ ॥

अथवा यदि दूसरी विचित्रता के कारण मनोहर होने से रसबलकार का प्रतिपादन किया जाता है जैसा कि उन्हीं विद्वानों ने कहा है कि—

जित् काव्य मे (रसादि से भिन्न) दूसरे वाक्यार्थ के प्रधान होने पर रस आदि अङ्ग रूप होते हैं उसमें रस आदि अलंकार होते हैं यह मेरा विचार है ॥ ४२ ॥

इति । यत्रान्यो वाक्यार्थः प्राधान्यादलंकार्यतया व्यवस्थितस्तस्मिन् सदङ्गतया विनिश्चयमानः शृङ्गारादिरलंकाराः प्रतिपद्यते । यस्माद्

गुणप्राधान्यं भावाभिव्यक्तिपूर्वमेवविधविषये विभूष्यते । भूषणविवेक-
व्यक्तिरुज्जम्भते, यथा—

- क्षिप्रो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहृतोऽप्याददानोऽशुकान्त
- गृह्णन् केशेश्वपास्तश्चरणनिपतितो नैक्षितः संभ्रमेण ।
- आनिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साक्षुनेत्रोत्पलाभिः

‘कामीवार्द्रापराय’ स दत्तु दुरितं शाम्भवो वः शराग्नि ॥५३॥

— जहाँ दूसरा वाक्यार्थ मुख्य होने के कारण अलङ्काररूप में प्रतिपादित किया जाता है उसमें उसके अङ्ग रूप में प्रयुक्त होने के कारण शृंगारादि (रस) अलंकार हो जाते हैं । क्योंकि गौणता एवं प्रधानता ये दोनों इस तरह के विषय में भावों की अभिव्यक्ति के हो जाने पर सुशोभित होते हैं और अलंकारता के विवेक का प्रकाशन जाहिर होता है । जैसे—

(त्रिपुरदाह के समय उत्पन्न) असुओं में युक्त कमल के समान नेत्रों वाली त्रिपुर की युवतियों द्वारा तत्काल अपराध करनेवाले कामी (नायक) की तरह हाथ पकड़ने पर छटक दिया गया, बलपूर्वक ताडित किये जाने पर भी आवल को पकड़ता हुआ, वालों को पकड़ते हुए हड़बड़ी गया, हड़बड़ी के कारण पैरों पर पड़ा हुआ भी न देखा गया, तथा आलिङ्गन करते हुए दुत्कारा गया भगवान् शंकर के भाणों का अग्नि आप लोगों के पापों को भस्म करे ॥ ४३ ॥

— (यहाँ पर आचार्य आनन्दवर्धन ने रसबदलकार स्वीकार किया है । रसबदलकार उन्होंने दो प्रकार का माना है । एक शुद्ध तथा दूसरा सकीर्ण । प्रस्तुत उदाहरण को उन्होंने सकीर्ण रसबदलकार के रूप में उद्धृत किया है । इसके विषय में उनका कहना है कि—

“इत्यत्र त्रिपुररिपुप्रभावातिशयस्य वाक्यार्थत्वे ईर्ष्याविप्रलम्भस्य श्लेषसहित-
स्याङ्गभावः ।” अर्थात् इस श्लोक में भगवान् शंकर का प्रभावातिशय वाक्यार्थ है । उसके अङ्ग रूप में ईर्ष्याविप्रलम्भ उपनिबद्ध है । अतः वह रसबदलकार हुआ । साथ ही चूंकि श्लेष भी अङ्ग रूप में आया है अतः ईर्ष्याविप्रलम्भ के श्लेष से सकीर्ण होने के कारण यह सकीर्ण रसबदलकार का उदाहरण है ।)

न च शब्दवाच्यं नाम समान कामिशराग्नितेजसोः सभवतीति
न तावतैव तयोस्तयाविधविरुद्धधर्माभ्यासादिविरुद्धस्वभावयोरैक्यं
कथंचिदपि व्यवस्थापयितुं पार्यते, परमेश्वरप्रयत्नेऽपि स्वभावस्या-

न्यथाकर्तुमशक्यत्वात् । न च तथाविधशब्दवाच्यतामात्रादेव तद्विशं-
तदनुभवप्रतीतिरस्ति । 'गुडलण्ड'-शब्दश्रुतिभिधानादपि प्रतिविषयदेस्त-
दास्त्राटप्रसंगात् तदनुभवप्रतीती सत्यां रसद्वयसमावेशदोषोऽप्यनि-
वार्यतामाचरति । यदि वा भगवत्प्रभावस्य मुख्यत्वं द्वयोरप्येतयो-
रगत्वाद् भूषणत्वमित्युच्यते तदपि न समीचीनम् । यस्मात्
कारणस्य वास्तवत्वातिरेव स्यात् । निर्मूलत्वादेव तयोर्भावाभा-
वयोरिव न कथंचिदपि साम्योपपत्तिरित्यलमनुचितविषयचर्चण-
चातुर्यचापलेन ।

यहाँ पर कामी और शराग्नि के तेज की समानरूप से शब्दवाच्यता
सम्भव नहीं है । और न उतने से ही उस प्रकार के विरुद्ध धर्मों की स्थिति
आदि के कारण विरुद्ध स्वभाव वाले उन दोनों का ऐक्य ही किसी प्रकार
भी स्थापित किया जा सकता है, क्योंकि परमेश्वर के प्रयत्न करने पर भी
स्वभाव नहीं बदला जा सकता । और फिर केवल उस प्रकार की शब्द
वाच्यता से ही सहृदयों को उसका अनुभव नहीं होने लगता अथवा
'गुडलण्ड' शब्द के उच्चारण से भी उसके विपरीत (आस्थावाले) विष-
यादि भी उसी समय आस्वाद्य होने लगेंगे । अथवा यदि यहाँ उस अनुभव
की प्रतीति मान ली जाय तो दो (विरुद्ध) रसों के समावेश का दोष
निवारणरूप से आ जायगा । अथवा परमेश्वर के प्रभाव को मुख्य स्वीकार
कर, इन दोनों की उसके अङ्गरूप में विद्यमान रहने के कारण अलकारता
मान ली जाय, ऐसा समाधान करे तो वह भी युक्तिसंगत नहीं । और क्योंकि
कारण के स्तुतिरूप आदि ही हो सकने की सम्भावना है । उन दोनों
(कामी और शराग्नि के) निर्मूल होने के कारण ही पदार्थों के अभाव की
तरह किसी भी प्रकार समानता की सिद्धि नहीं हो सकती, इस प्रकार
अनुचित विषय के विवेचन की चातुरी की अपलता दिखाना बेकार है ।

यदि वा निदर्शनेऽस्मिन्नश्वस्तः समाम्नातलक्षणोदाहरणसंगतिं
सम्यक् समोहमानाः समर्पणा उदाहरणान्तरविन्यास रसवदलंकारस्य
व्याचख्युः, यथा—

किं हात्येन मे प्रयास्यसि पुनः प्राप्तश्चिराद्दर्शनं
केयं निष्करुणप्रवासरुचिता केनासि दूरीकृतः ।
स्वप्नान्तेष्विति ते वदन् प्रियतमग्न्यासक्तकण्ठमहो
बुद्ध्या रोदिति रिक्तबाहुबल्यस्तारं रिपुक्षीजनः ॥ ४४ ॥

अथवा इस उदाहरण में आश्वस्त न होकर स्वीकृत लक्षण की सम्पत्ति को चाहने हुए रसबलङ्कार के दूसरे उदाहरण की व्याख्या की है—

(जैसे कोई चाटुकार राजा की प्रशंसा करते हुए कहता है) हे निर्दय ! हेसो (प्रणय-परिहास) से क्या ? अब फिर मेरे पास से नहीं जा सकोगे ! चिरकाल के बाद तुम्हारा दर्शन हुआ है । यह कोन सी तुम्हारी परदेश में रहने की आदत है ? किसने तुम्हें दूर भेज दिया है ? इस प्रकार कहती हुई अपने प्रियतम के गले में लिपटी हुई, शत्रु की लीवा, स्वप्न के समाप्त हो जाने पर जग कर खाली भुजमण्डल वाली होकर बड़े जोरो से विलाप करती हैं ॥ ४४ ॥

अत्र भवद्विनिहतबल्लभो वैरिविलासिनीसमूहः शोकावेशादशरणः करुणरसकाष्ठाधिरुद्विदितमेवविधवैशसमनुभवतीति तात्पर्यप्राधान्ये वाक्यार्थस्तदङ्गतया विनिबध्यमानः प्रवासविप्रलम्भशृङ्गारः (प्रतिभासन ? परत्वमत्र परमार्थ ?) परस्परान्वितपदार्थममर्प्यमाणवृत्तिगुणभावेनावभासनादलङ्कारणमित्युच्यते । तस्य च निविषयत्वाभावाद् रसबदालम्बनविभावादिस्वकारणसामधीविरतविरहिता लक्षणानुपपत्तिर्न सम्भवति । रसद्वयममाशुद्रुषमाप दूरमपास्तमेव । द्वयारपि वास्तवस्वरूपस्य विद्यमानत्वात्तदनुभवप्रतीक्षा सत्या नात्मविरोधः, स्पर्धित्वाभावान् । तेन तदपि तद्विदाह्यादविधानसामर्थ्यसुन्दरम्, करुणरसस्य निश्चायकप्रमाणाभावात् ।

महाँ पर 'आपके द्वारा निहत पतियो वाली शत्रुओं की अंगनाओं का समूह शोक के आवेश के कारण वेशहारा होकर करुण रस की पराकाष्ठा पर पहुँचा देने वाले विधान वाले इस प्रकार के महान् कष्ट का अनुभव करता है' इस तात्पर्य का प्राधान्य होने पर उसके अंग रूप में उपनिबद्ध किया जाता हुआ प्रवास विप्रलम्भ शृङ्गार (?) परस्पर एक दूसरे के साथ अन्वित पदार्थों के समूह के द्वारा समर्पित किए जाते हुए व्यापार वाला होकर गुणभाव के कारण बलङ्कार कहा गया है । उसके निविषय न होने के नाते रसबलङ्कार के अनुरूप गुणीभूत होने वाले उस रस के आलम्बन विभावादि निजी कारणों की समर्पता के अभाव से होने वाली लक्षण की असिद्धता भी सम्भव नहीं । साथ ही दो-दो रसों के समावेश का दोष भी बहुत दूर फेंक दिया जाता है । दोनों के ही वास्तविक स्वरूप के विद्यमान होने के नाते उनके अनुभव का बोध होने पर परस्पर प्रतिपक्षता के अभाव में स्वविरोध भी नहीं आता । इसलिए करुणरस का निश्चय कराने वाले प्रमाणों के अभाव के कारण वह

भी रसिकों के आनन्द विभाज करने में समर्थ होने के नाते रमणीय प्रतीत होता है ।

प्रवासविप्रलम्भस्य स्वकारणभूतवाक्योपाद्भालम्बनविभावादि-
समर्प्यमाणत्वं स्वप्नान्तरनमरे च तथाविधत्वं युक्त्या सम्भवत्तन्तस्यो-
भयमुपपन्नमिति प्रथमतःमेव कथमभौ समुद्भवतीति चे [त] दपि न
समञ्जनप्राप्यम् । यस्मान्चादुविषयमशुपुरुषप्रतापाक्रान्तिचकितचेतसा-
मितस्ततः स्ववैरिणां तत्प्रेयसीनां च प्रवासनैरपि (प्रकाश० १) पृथग-
वस्थानं न युक्तिप्रयुक्तनामतिवर्तने.....तनेव तदपि चतुरस्रम् ।
करुणरसस्य भक्त्यपि निश्चये, तथाविधपरिपोषदशाधाराधिरुद्धैरभाप्रता-
स्तिमितमानसस्य तथाभ्यस्तरसवामनाधिवासितचेतसः सुचिरात्समा-
सादितस्वप्नसमागमः पूर्णानुभूतवृत्तान्तसमुचितसमाख्यकान्तसंलापः
कथमपि सम्प्रबुद्धः प्रबोधसमनन्तरसमुल्लसितपूर्वपरानुसन्धानावहित-
प्रस्तुतवस्तुविसंवादविदारितान्तःकरणो भवद्वैरिविनासिनीसार्यो रोदि-
सीति करुणस्यैः परिपोषपदबीमधिरोहः ।

अपने कारणस्वरूप वाक्य में साक्षात् बहे गए हुए आलम्बन विभावादि
के द्वारा प्रवासविप्रलम्भ की समर्प्यमाणता तथा स्वप्न के बीच के समय
वैसा होना युक्ति- सङ्गत है इसलिए उसके दोनों ही (प्रवासविप्रलम्भ और
करुणा) समीचीन हैं, भटएव वह (विप्रलम्भ पक्ष) उससे पहले कैसे उद्भूत
होता है ? यदि इस तरह का तर्क प्रस्तुत किया जाय तो वह भी समीचीन
महीं माना जा सकता क्योंकि सुतामर के आशयभूत महाराज के प्रताप के
आक्रमण के कारण भयभीत हृदय वाले उनके वैरियों के इधर-उधर
(चले जाने के कारण) और उनकी प्रेयसियों के प्रेषित हो जाने के कारण
अलग-अलग स्थित होना तर्कसङ्गतता के बाहर नहीं जाता है । वह
भी समीचीन है । करुणरस का निश्चय हो जाने पर भी वैसी परिपुष्टि वाली
दशाओं की धारा पर आरोहण के कारण एकाग्रता से दान्तवित्तवाले उस
तरह अभ्यास की गई हुई रसवासना से सुवासित वित्त वाले के लिए काफी
खरसे के बाद स्वप्न में उपलब्ध समागम वाला पहले के अनुभव किए गए
हुए वृत्तान्त के उपयुक्त कान्त के साथ आरम्भ किए गए संलाप वाला यथा
कथञ्चिद् प्रबुद्ध हुआ, और प्रबुद्ध होने के बाद पूर्वोपर्य का विचार उद्भूत होने
पर प्रस्तुत वस्तु के अनुरूप होने के कारण विदीर्ण कर दिए गए अन्तःकरण
वाला 'आपके दातु की बिलासिनियों का समुदाय रो रहा है' इस वाक्य से करुण
रस का ही परिपोष होता है ।

तथाविधव्यभिचार्योचित्यचारुतत्त्वरूपानुप्रवेशो वेति कुतः

प्रवामविप्रलम्भस्य पृथग्व्यापारे रसगन्धोऽपि ? यदि वा प्रेयसः प्राधान्ये तदङ्गत्वात् करुणरसस्यालङ्कारत्वमित्याभवीयो तदापि न निर्वच्यम् । यस्माद् द्वयाऽरस्तेतयोरुदाहरणशामुख्यभूतो वाक्यार्थे करुणात्मनैव विवर्तमानवृत्तिरूपनिबद्धः । पर्यायोक्तान्यापदेशन्यायन वाच्यतान्यनिरिक्तयोः प्रतीयमानतया न करुणस्य रसत्वाद् व्यङ्ग्यस्य नतो वाक्यन्वमुपपन्नम् । नापि गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य विषय, व्यङ्ग्यस्य करुणात्मनैव प्रतिभामनात् । न च द्वयोरपि व्यङ्ग्यत्वम्, अङ्गाङ्गिभावस्यानुपपत्तेः । एतच्च यथान्यम्भवमस्माभिर्विकल्पितम् । न पुनस्तन्मात्रं ...ण ।

वैसे व्यभिचारिभावों के औचित्य की चास्ता अथवा उसके स्वरूप का अनुपप्रेष होने के कारण प्रवास विप्रलम्भ के दूसरी तरह के व्यापार के होने पर रस का गन्ध भी कहाँ मिल सकता है ? यदि कोई कहे कि प्रेयस् के प्रवास होने के कारण उसके पोषक होने के नाने कथन रस को अलङ्कार कहा जाना है तो वह कथन भी निर्दोष न होगा क्योंकि उन दोनों उदाहरणों में प्रधान ही उठा हुआ वाक्यार्थ कहा के रूप में ही परिणत होने वाले व्यापार वाला प्रस्तुत किया गया है । पर्यायोक्त तथा अन्यापदेश रूप अप्रस्तुत प्रसंगा के न्याय के अनुसार वाच्यता से भिन्न इन दोनों के प्रतीयमान होने के नाते और कथन के रस होने के कारण व्यङ्ग्य होने पर वाच्यता समीचीन नहीं मानी जा सकती । और न गुणीभूत व्यङ्ग्य का ही विषय माना जा सकता है क्योंकि व्यङ्ग्य कहा के रूप में ही प्रतिभासित होता है । दोनों की भी व्यङ्ग्यता नहीं मानी जा सकती क्योंकि अङ्गाङ्गिभाव उपपन्न नहीं होता है । यह विरूप हमारे द्वारा यथाशक्ति प्रस्तुत किया गया ... ।

किञ्च, 'काव्ये नस्मिन्नलङ्कारो रसादिः' इति रस एवालङ्कारः केवलः, न तु रसवदिति मत्प्रत्ययस्य जीवितम् न किञ्चिद्भिहितं स्यात् । एवं सति शशार्थं ... दनस्यैव (शशविषाणवदनवस्यैव ?) निष्ठतीत्येतदपि न किञ्चित् ।

और फिर उस काव्य में रसादि अलङ्कार होते हैं' इस कथन से केवल रस ही अलङ्कार होता है, न कि रसवत् और इस तरह मत् प्रत्यय का कोई भी वास्तविक आधार कहा गया हुआ नहीं माना जा सकता । ...

[इस प्रकार रसबलङ्कार का विवेचन कर कुन्तक प्रेयस् अलङ्कार का विवेचन प्रारम्भ करते हैं, जिसका रसबलङ्कार से घनिष्ठ सम्बन्ध है । इस विषय में वे भामह के सिद्धान्त की आलोचना करते हैं । वे आचार्य दण्डी के प्रेयः अलङ्कार के लक्षण 'प्रेयः प्रियतरास्वानम्' (२ २७५) का सुन्दर

प्रस्तुत करते हैं तथा भामह के विषय में कहते हैं कि उन्होंने केवल उदाहरण की ही लक्षण मानते हुए प्रेम अलङ्कार का लक्षण नहीं किया (उदाहरण-मात्रमेव लक्षणं मन्यमानः) । दण्डी ने भामह के ही उदाहरण में एक दूसरी पट्टिका जोड़कर उसी को उद्धृत किया है जो कि वाक्य को पूर्ण कर देता है तथा अलङ्कार को स्पष्ट कर देता है । वह पक्ति है 'कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्त-वैवागमनात्पुनः' । इस लिए कुन्तक ने जो सम्पूर्ण पद्य उद्धृत किया है, वह इस प्रकार है—]

प्रेयो गृहागत कृष्णमवादीद्विदुरो यथा ।

अथ या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते ।

कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः ॥ ४५ ॥

'प्रेयः' (अलङ्कार का उदाहरण) जैसे घर आए हुए कृष्ण से विदुर ने कहा कि हे गोविन्द ! आज आपके घर आने पर मुझे जो प्रसन्नता हुई वह फिर हमें आपके ही आगमन से होवे ॥ ४५ ॥

तदेव न क्षोदक्षमतामर्हति । तथा च, कालेनेत्युच्यते तदेव वर्ण्यमानविषयतया वस्तुनः स्वभावः, तदेव लक्षणकरणमित्यलङ्कार्यं न किञ्चिदवशिष्यते । तस्यैवोभयमलङ्कार्यमलङ्कारणत्वञ्चेत्युक्तियुक्तम् । एकक्रियाविषय युगपदेकस्यैव वस्तुनः कर्मकरणत्व नोपपद्यते । यदि दृश्यन्ते तथाविधानि वाक्यानि येषामुभयमपि सम्भवति (यथा)—

लेकिन कुन्तक आलोचना करते हैं—

तो इस प्रकार यह क्षोदक्षम नहीं हो सकता । क्योंकि जो 'कालेन' ऐसा कहते हो वही वर्ण्यमान विषय होने के कारण पदार्थ का स्वभाव है और वह (प्रेयोऽलङ्कार के) लक्षण का प्रकटतम हेतु है इस प्रकार कोई अलङ्कार्य बचता ही नहीं । तथा उसी का अलङ्कार्य तथा अलङ्कार दोनों होना मुक्तिसङ्गत नहीं होता क्योंकि एक वस्तु की एक ही समय में एक ही क्रिया की कर्मता और करणता संगत नहीं होती । (इस पर पूर्ववर्ती कहता है कि नहीं ऐसे बनेका वाक्य है जहाँ एक ही वस्तु एक ही क्रिया का कर्म और करण दोनों हैं) अगर उस प्रकार के वाक्य, दिखाई पड़ते हैं जिनमें (एक ही क्रिया का कर्म और करण हो) दोनों सम्भव होता है जैसे—

आत्मानमात्मना वेत्ति सृजस्यात्मानमात्मना ।

आत्मना कृतिना च त्वमात्मन्येव प्रतीयसे ॥ ४६ ॥

हे भगवन् ! आप अपने को (अर्थात् आदि में अपने ब्रह्म स्वरूप को

करते हैं तथा अपने सृष्टि विधान के कार्यों से निवृत्त होकर अपने आप अपने में ही लीन हो जाते हैं ॥ ४६ ॥

इत्यभिधीयन्, तदपि निःसम्बन्धप्रायमेव । यस्मादत्र वास्तवोऽयमभेदे काल्पनिकमुपचारसत्तानिबन्धनं विभागमाश्रित्य तद्व्यवहारः प्रवर्तते । किञ्च, विश्वमयत्वान् परमेश्वरस्य परमेश्वरमयत्वाद्वा विश्वस्य पारमार्थिकोऽयमभेदे माहात्म्यप्रतिपादनार्थं प्रातिस्त्रिकपरिस्पन्दत्रिचित्रा जगत्प्रपञ्चरचना प्रति सकलप्रमातृतास्वमवेद्यमानो भेदावबोधः स्फुटावकाशता न कदाचिदप्यतिक्रामति । तस्मादत्र परमेश्वरस्यैव रूपस्य कस्यचित्तदाप्यमानत्वाद्वेदनादेः क्रियाया कर्मत्वम्, कस्यचित् साधकतमत्वात् करणत्वमिति...। उदाहरणे पुनरप्योद्धारबुद्धिरिति कल्पनयापि न कथञ्चिद्विभागो विभाज्यते । तस्मात्—

स्वरूपादतिरिक्तस्य परस्याप्रतिभासनात् ॥ ४७ ॥

इति दूषणमत्रापि सम्बन्धनीयम् ।.....पक्षे च यदेवालङ्कार्यं तदेवालङ्कारणमिति प्रेयसो रसवतश्च स्वात्मनि क्रियाविरोधात्—

आत्मैव नात्मनः स्कन्ध कचिदप्यधिरोहति ॥ ४८ ॥

इति स्थितमेव ।

ऐसा कहा जाता है, तो भी यह सम्बन्ध को नहीं उपस्थित कर पाता । क्योंकि यहाँ पर वास्तविक अभेद के विद्यमान रहने पर भी काल्पनिक औपचारिक सत्ता वाले विभाग का आश्रय ग्रहण कर (उभयरूपता का) व्यवहार किया गया है । और भी, परमेश्वर के विश्वमय होने के कारण अथवा विश्व के परमेश्वरमय होने के कारण वास्तविक अभेद के विद्यमान रहने पर भी (उन परमेश्वर के) माहात्म्य का प्रतिपादन करने के लिए अपने-अपने परिस्पन्द के कारण विचित्र जगत्प्रपञ्च की रचना के प्रति समस्त प्रमाताओं के द्वारा स्वसवेद्यमान भेदप्रतीति स्पष्ट रूप से कभी भी निरवकाश नहीं होती । अतः यहाँ पर परमेश्वर के ही किसी रूप का उस समय भी प्रमाणाभाव के कारण वेदन (वेत्ति) आदि क्रिया का कर्मत्व, तथा किसी (स्वरूप) का साधकतम होने के कारण करणत्व (वर्णित किया गया) है (यद्यपि वस्तुतः अभेद ही है ।) ।

यदि यह कल्पना कर ली जाय कि उदाहरण में अपोद्धार (अर्थात् अवास्तविक भी विभाग) बुद्धि से काम लिया जाय तो भी (प्रेयस् अलङ्कार के उदाहरण में अलङ्कार और अलङ्कार्य का) किसी भी प्रकार विभाग समझ में नहीं आता । अतः—

अपने स्वरूप से भिन्न किसी दूसरे का ज्ञान न कराने के कारण (प्रेयस अलङ्कार नहीं हो सकता) यह दोष यहाँ भी सम्बद्ध हो जाता है । अन्य पक्ष स्वीकार करने पर जो अलङ्कार्य है वही अलङ्कार है इस तरह प्रेयस और रसवत् दोनों ही अलङ्कारों में अपने में ही क्रिया-विरोध होने के कारण (अलङ्कारता नहीं हो पायेगी) क्योंकि कोई भी शरीर अपने ही कान्धे पर कभी भी नहीं बढ़ती यह बात सिद्ध ही है ।

[इसके अनन्तर प्रेयस् को अलङ्कार मानने के विषय में एक अन्य आपत्ति का विवेचन करने के उपरान्त कुरतक सवेत करते हैं कि ऐसे स्थलों की सृष्टि तथा संकर का भी उदाहरण नहीं कहा जा सकता । वे इसी पुष्टि के लिए अधोलिखित श्लोक उद्धृत करते हैं—]

इन्दोर्लक्ष्म त्रिपुरजयिन. कण्ठमूल मुरारि-

दिङ्नागाना मदजलमसीभाञ्ज गण्डस्थलानि ।

अथाप्युर्वीवलपतिलक्ष्मामालम्नानुलिप्ता-

न्याभासन्ते यद् धवलित किं यशोभिस्तद्वीर्यैः ॥ ४६ ॥

अत्र प्रेयोर्भाङ्गितरलङ्कार्यः, व्याजस्तुतिरलङ्कारणम् । न पुनरुभयोरलङ्कारप्रतिभासो येन तद्व्यपदेश सङ्करव्यपदेशो वा... , सृतीयस्यालङ्कार्यतया स्वस्वन्तरस्याप्रतिभासनात् ।

हे पृथ्वीमण्डल के तिलक (राजन् !) चन्द्रमा का लाञ्छन, भगवान् राक्षस का कण्ठमूल, भगवान् विष्णु, तथा दिग्गजों के मदजल रूप अञ्जन को धारण करने वाले कपोलरूप आज भी कालिमा से पुते हुए प्रतीत होते हैं, तो फिर बताओ कि तुम्हारी कीर्तियों ने किसे स्फेद बनाया है ॥ ४९ ॥

(तथा इसका विश्लेषण करते हैं कि)—यहाँ पर अत्यन्त प्रिय कथन अलङ्कार्य है, एक व्याजस्तुति (उसका) अलङ्कार है न कि दोनों ही अलङ्कार रूप में प्रतीत होते हैं जिससे (दोनों के लिए) अलङ्कार सङ्गा या संकर सङ्गा (दी जाय) क्योंकि इन दो के अतिरिक्त कोई तीसरा पदार्थ अलङ्कार्य रूप में प्रतीत नहीं होता ।

अन्यस्मिन् विषये प्रेयो [प्रायो ?] भणितिद्विविक्ते वर्णनीयान्तरे प्रेयसो विभूषणत्वादुपमादेरिवोपनिबन्धः प्राप्नोति इति न क्वचिदपि दृश्यते । तस्मादन्यत्रान्यथा [दा ?] प्रेयसो न युक्तियुक्तमलङ्कारत्वम् । रसवतोपि तदेव, योगक्षेमत्वान् ।

अन्य उदाहरणों में (जहाँ) वर्णनीय प्रियतर आशयान से भिन्न दूसरा (पदार्थ) है वहाँ प्रेयस् (अलङ्कार) के विभूषण रूप में होने से (अन्य) उपमा आदि अलङ्कारों की तरह इसका प्रयोग प्राप्त होता है (परन्तु) ऐसा

कोई विषय ही नहीं दिखाई पड़ता (क्योंकि सर्वत्र प्रियतर आख्यान ही वर्णनीय रूप होता है जहाँ कहीं भी उसका प्रतिपादन किया जाता है ।) अतः अन्यत्र दूसरे ढङ्ग से भी प्रेयस् का अलंकारत्व युक्तिसङ्गत नहीं होता है । (वह अलंकार्य रूप में ही आता है) रसबदलकार की भी वही स्थिति है (वह भी अलंकार नहीं हो सकता क्योंकि प्रेयस् के) समान ही वह भी लाया जाने वाला व समर्पित किया जाने वाला है ।

एवमलङ्करणतां प्रेयसः प्रत्यादिश्य वर्णनीयशरीरत्वात्तदेकरूपाणामन्येषां प्रत्यादिशति—

इस प्रकार प्रेयोलङ्कार की अलंकारता का खण्डन कर कुन्तक उसी के समान स्वल्प वाले अन्य अलंकारों का वर्णन योग्य शरीर होने के कारण खण्डन करते हैं । प्रेयस् के अनन्तर कुन्तक ऊर्जस्वि तथा उदात्त अलंकारों का विवेचन प्रारम्भ करते हैं ।

ऊर्जस्व्युदात्ताभिधयोः पौर्वापर्यप्रणीतयोः ।

अलङ्करणयोस्तद्वद्भूषणत्वं न विद्यते ॥ १२ ॥

न विद्यते न सम्भवाति । कथम्—तद्वत् । तदित्यनन्तरोत्तरस्युदात्तिपरामर्शः । ... रसवदादिवदेव तयोर्बिभूषणत्वं नास्ति ।

उन्हीं (रसवदादि अलङ्कारों) की तरह (भामह द्वारा) पौर्वापर्य (क्रमशः का० ३।६ तथा ३।१०) द्वारा प्रतिपादित ऊर्जस्वि तथा उदात्त समा वाले अलङ्कारों का भी अलङ्कारत्व सम्भव नहीं होता है ।

नही विद्यमान है अर्थात् सम्भव नहीं होता । कैसे—उनकी तरह । यहाँ उन (तद्) से अभी प्रतिपादित किए गये रसवदादि अलङ्कारों का परामर्श होता है । ... आशय यह है कि रसवदादि की तरह उनका भी अलङ्कारत्व सम्भव नहीं है ।

[इसके बाद कुन्तक भामह तथा उद्भट द्वारा दिए गये ऊर्जस्वि अलङ्कार के लक्षणों तथा उदाहरणों का खण्डन करते हैं । खण्डन करते समय वे उद्भट के ऊर्जस्वि अलङ्कार के लक्षण एवं उदाहरण को उद्धृत करते हैं जो इस प्रकार हैं]—

अनावित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात् ।

भावानां च रसानाञ्च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते ॥ ५० ॥

तथा कामोऽस्य वृद्धे यथा हिमनिरेः सुताम् ।

मह्महीतुं प्रवृत्ते हठेनापास्य सत्पथम् ॥ ५१ ॥

[अर्थात्] काम तथा आदि के कारण अनौचित्य से प्रवृत्त होने वाले भावों और रसों का निबन्ध ऊर्जस्वि (अलङ्कार) कहा जाता है ॥ ५० ॥

(जैसे) इतना काम ऐसा प्रवृद्ध हुआ कि ये (शिव) सम्मार्ग को छोड़ कर हठात् हिमयिरी की सुता (पार्वती) को पकड़ने के लिए प्रवृत्त हुए ॥ ५१ ॥

[यहाँ शिव को हठात् प्रवृत्ति के कारण उद्भट के अनुसार अनौचित्य है अतः ऊर्जस्वि अलङ्कार है ।]

[इसके बाद वृत्तक भागह के विषय में यह कहते हुए कि किन्हीं ने उदाहरण को ही वस्तुत्व होने के कारण लक्षण समझने हुए उसी का प्रदर्शन किया है । (कैश्चिदुदाहरणमेव यत्कव्याल्लक्षणं मध्यमानैस्तदेष प्रदर्शितम्) उनके ऊर्जस्वि अलङ्कार के उदाहरण को उद्धृत करते हैं जो इस प्रकार है]

ऊर्जस्वि कर्णेन यथा पार्थाय पुनरागतः ।

द्विः मन्दधाति किं कर्णः शल्येत्यहिरपाकृतः ॥ ५२ ॥

[इसी विषय में वे एक अग्न अधोलिखित दण्डी का पद्य भी उदाहरण रूप में प्रस्तुत करते हैं]

अपहर्ताऽहमस्मीति हृदि ते मास्म भूद्भयम् ।

विमुखेषु न मे खड्गः प्रवर्तुं जातु वाञ्छति ॥ ५३ ॥

(युद्ध में पीठ दिखा कर भागते हुए किसी घोड़े के प्रति किसी घोड़े की यह उक्ति है कि) मैं तुम्हारा अनिष्ट करने वाला हूँ इस लिये तुम्हारा हृदय भयभीत न हो क्योंकि मेरा खड्ग कभी भी पीठ दिखाने वालों पर प्रहार नहीं करना चाहता ॥ ५३ ॥

[उद्भट के लक्षण का विवेचन करते हुए वे सञ्केत करते हैं कि यदि भाव अनौचित्यप्रवृत्त है तो वहाँ रसभङ्ग ही जायगा । इसके समर्थन में वे ध्वन्यालोक पृष्ठ ३३० पर उद्धृत कारिका—

अनौचित्यादौ नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम् ॥

को उद्धृत करते हैं । लेकिन जैसा कि उदाहरण उद्भट ने प्रस्तुत किया है उसके विषय में वे कहते हैं कि वही—]

समुचितोऽपि रसः परमसौन्दर्यमावहति, तत्र कथमनौचित्यपरि-
म्लानः कामादिकारणकल्पनोपसत्तद्वृत्तिरलङ्कारताप्रतिभासः प्रयाभयति ।

समुचित भी रस अत्यधिक सुन्दरता को धारण करता है, वहाँ भला कैसे अनौचित्य के कारण म्लान कामादि कारणों की कल्पना से मृष्टवृत्ति होकर अलङ्कार की प्रतीति होगी ।

[इसके अनन्तर कुमारसम्भव से अधोलिखित श्लोक को उद्धृत कर कुन्तक उसमें भरतनयनिपुणमानसो के द्वारा मान्य रसाभास अलङ्कार का खण्डन करते हैं ।]

पशुर्पातरपि तान्यहानि कृच्छ्रादगमयद्रिसुताभमागमोत्क. ।

कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि त यदमी स्पृशन्ति भावा. ॥५४॥

भरतनयनिपुणमानसैः उदाहरणमेवोचितम् । तदेवमयं प्रधानचेतन-
लक्षणोपकृतातिशयविशिष्टांचत्तवृत्ति [वि] शेषवस्तुस्वभाव एव मुख्यतया
वर्ण्यमानत्वादलङ्कार्यो न पुनरलङ्कार. ।

पार्वती के समागम के लिए उत्सुक भगवान् शङ्कर ने भी उन (तीन) दिनों को बड़े कष्ट से बिताया । ये (औत्सुक्यादि) भाव दूसरे किसे न विवश कर विकार युक्त बना दें जब कि ये उन समर्प शकर का भी स्पर्श करते हैं (अर्थात् उन्हें भी विकारयुक्त बना देते हैं) ।

(यहाँ) भरत के नय में निपुण चित्तवालो ने उदाहरण को ही अर्जित कर दिया है । इस प्रकार यह प्रधान चेतन (शिव के) स्वरूप से उपकृत उत्कर्ष से विशिष्ट चित्तवृत्तिविशेषरूप वस्तु का स्वभाव ही मुख्य रूप से वर्ण्यमान होने के कारण अलङ्कार्य ही है न कि अलङ्कार ।

इस तरह कुन्तक खण्डन का आधार वही रहते हैं जिसके आधार पर कि इन्होंने रसवदादि अलङ्कारों का खण्डन किया है और कहते हैं कि यह (ऊर्जस्वि) अलङ्कार भी रसवदादि को (अलङ्कार मानने में) प्रतिपादित किये गये दोषों की पात्रता का अतिक्रमण नहीं कर पाता (अर्थात् यह भी उन्ही दोषों से युक्त है) इसलिये (इसे अलङ्कार मानने में) अभी कहे गये (दोषों) की योजना कर लेनी चाहिए ।

इसके बाद उदात्त अलङ्कार की भी उन्ही समान तर्कों के आधार पर अलङ्कारता का खण्डन करते हैं । सर्वप्रथम उदात्त के प्रथम प्रकार के उद्भट द्वारा किये गये लक्षण—

उदात्तमृद्धिमद्वस्तु ॥ ५५ ॥

की आलोचना करते हुए कहते हैं कि—

अत्र यद्वस्तु यदुदात्तम् अलङ्करणम् । कीदृशमित्याकाङ्क्षायाम्
'मृद्धिमत्' इत्यनेन यदि विशेष्यते, तद्यदेव सम्पदुपेतं वस्तु वर्ण्यमान-
मलङ्कार्यं यदेवालङ्करणमिति स्वात्मनि क्रियाविरोधलक्षणस्य दोषस्य
दुर्निवारत्वात् स्वरूपातिरिक्तस्य वस्तुस्वन्तरस्याप्रतिभासनादूर्जस्विवत् ।

यहाँ जो (वर्णनीय) वस्तु है वह उदात्त अलङ्कार है । कैसी वस्तु

(उदात्त अलङ्कार है) इस आकांक्षा से यदि उस वस्तु को (ऋद्धिमत्) अर्थात् 'ऋद्धि से सम्पन्न' इस विशेषण से विशिष्ट कर दिया जाता है तो जो ही सम्पत्ति से युक्त वस्तु धर्णनीय होने के कारण अलङ्कार्य है, वही अलङ्कार है इस प्रकार अपने में ही क्रियाविरोध रूप दोष के हुटायें न जा सकने के कारण तथा अपने अपने स्वरूप से भिन्न अन्य किसी पदार्थ की प्रतीति न कराने के कारण ऊर्जस्वि की तरह ही (अलङ्कार नहीं हो सकता) ।

अथवा ऋद्धिमद्वस्तु यस्मिन् यस्य वेत्यपि व्याख्यानं क्रियते, तथापि तदन्यपदार्थलक्षण वस्तु यत्कव्यमेव यत्समानार्थतामुपनीतं । तद्विद्विमद्वस्तु यस्मिन् तस्य वेति तत्काव्यमेव तथाविध भविष्यतीति चेत् तदपि न किञ्चिदेव । यस्मात्काव्यस्यालङ्कार इति प्रसिद्धिः, न पुनः काव्यमेवालङ्कारणमिति ।

अथवा सम्पत्ति सम्पन्न वस्तु जिसमें हो अथवा जिसकी हो (वह उदात्त अलङ्कार है) इस प्रकार व्याख्या करते हैं । तो भी यह भिन्न पदार्थ रूप वस्तु बताना ही पड़ेगा जिसकी समानार्थकता को प्राप्त करवाया गया है ।

यह ऋद्धिमत् वस्तु जिसमें अथवा जिसके हो वह काव्य ही उस प्रकार (उदात्त अलङ्कार) होगा यदि ऐसा कहते हैं तो भी यह कुछ भी नहीं है । वक्तोक्ति काव्य का अलङ्कार (होता है) यही प्रसिद्ध है न कि फिर काव्य ही अलङ्कार होता है (ऐसी प्रसिद्धि है) ।

यदि वा ऋद्धिमद्वस्तु यस्मिन् यस्य वेत्यस्य अलङ्कारः "तथापि धर्णनीयालङ्कारणव्य(म?)तिरिक्कमलङ्कारणकल्पमन्यदत्र किञ्चिदेवोपलभ्यत इत्युभयथापि शब्दार्थोत्तन्नतिलक्षणदायः सम्प्राप्तावसरः सम्पद्यते ।

अथवा यदि सम्पत्ति सम्पन्न वस्तु जिसमें अथवा जिसके हो ऐसा अलङ्कार (ही उदात्त अलङ्कार है) तो भी प्रतिपाद्य अलङ्कार से भिन्न कोई अन्य अलङ्कार सा यहाँ प्राप्त होता है (ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा) इस प्रकार दोनों ही वेंगों से शब्द एवं अर्थ की असंगति रूप दोष का अवसर उत्पन्न हो जाता है । (अतः ऋद्धिमद्वस्तु उदात्त अलङ्कार होता है यह कहना अनुचित है । उदात्त अलङ्कार नहीं अपितु अलङ्कार्य ही होता है ।)

इसके बाद उद्भट द्वारा प्रतिपादित द्वितीय उदात्त प्रकार का विरलेक्षण करते हुए कहते हैं कि—

द्वितीयस्याप्युदात्तप्रकारस्यालङ्कार्यत्वमेवोपपन्नम्, न पुनरलङ्कारमायः । तथा चैतस्य लक्षणम्—

चरितञ्च महात्मनाम् ।

उपलक्षणतां प्राप्त नेतिवृत्तत्वमागतम् ॥ ५६ ॥

इस उदात्तालकार के दूसरे भी भेद की अलकार्यता ही उपयुक्त है न कि अलकारता । क्योंकि इस (दूसरे प्रकार) का लक्षण है कि—

(जहाँ पर) महात्माओं का चरित उपलक्षण होकर आता है, इतिवृत्त के रूप में नहीं प्रयुक्त होता (वहाँ दूसरे प्रकार का उदात्तालकार होता है ।)

इति । तत्र वाक्यार्थपरमार्थविद्विरेवं पर्यालोच्यताम्—यन्महानुभाषाना व्यवहारस्योपलक्षणमात्रवृत्तेरन्वयः प्रस्तुते वाक्यार्थे कश्चिद्विद्यते वा न वेति । तत्र पूर्वस्मिन् पक्षे—तत्र तदलोपत्वात् पृथगभिधेयस्यापि पदार्थान्तरवृत्तद्वयवृत्तेनैव व्यपदेशो न्याय्यः । पाण्यादेरिव शरीरे । न पुनरलङ्कारभावोऽपीति । अन्यस्मिन् पक्षे—तदन्वयाभावादेव वाक्यान्तरवृत्तिपदार्थवृत्तस्य तत्र सत्तैव न सम्भवति, किं पुनरलङ्कारत्ववर्त्ता ।

इसमें वाक्यार्थ के परमार्थ को जाननेवाले (विद्वानों) को इस प्रकार विचार करना चाहिए—कि इस वाक्यार्थ में महापुरुषों के केवल उपलक्षण रूप ही व्यवहार का कोई संबंध है या नहीं है । उनमें से पहला पक्ष (कि सम्बन्ध है) स्वीकार करने पर—उसमें लीन न होने के कारण अलग से प्रतिपाद्य भी (उस व्यवहार का) अन्य पदार्थों की भाँति उस वाक्यार्थ के अवयव रूप से ही कथन करना उचित है जैसे शरीर में हाथ इत्यादि का (शरीर के अवयव रूप में ही प्रयोग होता है), न कि अलङ्कारता भी उचित होती है । दूसरा पक्ष (कि सम्बन्ध नहीं होता है ऐसा) स्वीकार करने पर—उसका सम्बन्ध ही न होने से दूसरे वाक्यों में रहने वाले पदार्थ की भाँति उसकी वहाँ सत्ता ही नहीं सम्भव होती है, तो भला अलङ्कारता की चर्चा कैसे हो सकती है ।

[इसके बाद, जैसा कि डा० डे संकेत करते हैं, कुन्तक ने इस विषय में किसी श्लोक को उद्धृत किया है जो कि वाग्भुलिपि की भ्रष्टता के कारण पढ़ा नहीं जा सका ।]

इस प्रकार ऊर्जस्वि एव उदात्त की अलङ्कारता का सम्यक् कर कुन्तक समाहित अलङ्कार का विवेचन करते हैं ।

वे कहते हैं—

तथा समाहितस्यापि प्रकारद्वयशोभिनः ॥ १३ ॥

तथा तेनैव पूर्वोक्तेन प्रकारेण समाहिताभिधानस्य अलङ्कारस्य भूषणत्वं न विद्यते नास्तीत्यर्थः ।

उसी प्रकार दो भेदों से घोभित होनेवाले समाहित की (अलङ्कारता नहीं होती) ॥ १३ ॥

वैसे अर्थात् उसी (ऊर्जस्वि आदि में प्रतिपादित किये गये) पहलेवाले बङ्ग से समाहित नाम के अलङ्कार की अलङ्कारता नहीं होती है । यह आशय है ।

इसके अन्तर कुन्तक कारिका में निर्दिष्ट किए गये दो प्रकारों में से प्रथम प्रकार अर्थात् उद्धट द्वारा दिये गए समाहित अलङ्कार के लक्षण का खण्डन करते हैं । परन्तु जैसा कि डा० डे ने पाठ दे रखा है वह उद्धट के ग्रन्थ में प्राप्त लक्षण से कुछ भिन्न है । उद्धट के ग्रन्थ में समाहित का लक्षण इस प्रकार है—

रसभावतदाभासवृत्तेः प्रशमबन्धनम् ।

अन्यानुभावनिःशून्यरूप यत्तत्समाहितम् ॥ ५७ ॥

जहाँ पर अन्य अनुभावों से निःशून्य रूप में रस, भाव, रसाभास तथा भावाभास के व्यापार की शक्ति उपनिबद्ध की जाती है वहाँ समाहित अलङ्कार होता है ॥ ५७ ॥

किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ का लक्षण इस प्रकार है—

रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः ।

अन्यानुभावनिःशून्यरूपो यस्तत्समाहितम् ॥

परन्तु यह लक्षण समीचीन नहीं हैं ।

[इस उद्धट के अभिमत लक्षण का खण्डन कुन्तक ने किन तर्कों से किया है उसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि न तो डा० डे ने उसका मूल ही प्रकाशित किया है और न उनके विषय में कोई संकेत ही किया है । इस प्रकार का उदाहरण कुन्तक ने इस पद्य को दिया है—]

अक्षयोः स्फुटाङ्गकुलुषोऽरुणिमा विलीनः

शान्तं च सार्धमधरस्फुरण भ्रुकुट्या ।

भावान्तरस्य (तव) गण्डगतोऽपि कोपो

नोद्गाढवीसनतया प्रसर ददाति ॥ ५८ ॥

स्पष्ट आँसुओं की कटुपता वाली आँसुओं की रक्तिमा गायब हो गयी और भौंहों के साप-साप ही अधर का फटकना भी समाप्त हो गया है ।

(आश्चर्य है कि) तुम्हारे कपोलस्थल पर विद्यमान क्रोध प्रगाढ़ वासना के कारण दूसरे भाव को प्रश्रय नहीं देता है ।

पर इसका भी विवेचन उन्होंने किस ढङ्ग से किया है और इसमें समाहित के अलङ्कारत्व का कैसे खण्डन किया है । कुछ भी नहीं कहा जा सकता ।

इसके बाद कुन्तक कारिका में निर्दिष्ट दूसरे प्रकार अर्थात् दण्डी के अभिमत लक्षण का खण्डन प्रस्तुत करते हैं ।

यद्यपि कैश्चित् प्रकारान्तरेण समाहिताख्यमलङ्कारमाख्यातं तस्यापि तथैव भूषणत्वं न विद्यते । तदभिधत्ते-प्रकारद्वयशोभिनः पूर्वोक्तेन प्रकारेणानेन वापरेणेति द्वाभ्यां शोभमानस्य समाहितस्यालङ्कारत्वं न सम्भवति ।

और भी जो किन्हीं आचार्यों ने दूसरे ढङ्ग से समाहित नामक अलङ्कार प्रतिपादित किया उसकी भी उसी प्रकार अलङ्कारता नहीं है । इसीलिये (कारिका में कहा गया है) दो प्रकारों से सुशोभित होने वाले (समाहित अलङ्कार) का । अर्थात् पहले बताये गये (उद्धृत के अभिमत) प्रकार से एवं इस दूसरे (दण्डी द्वारा अभिमत प्रकार) से दोनों प्रकारों द्वारा शोभित होने वाले समाहित अलङ्कार की अलङ्कारता सम्भव नहीं होती है ।

इस दूसरे प्रकार का खण्डन करते समय उन्होंने दण्डी के लक्षण एवं उदाहरण को उद्धृत किया है जो इस प्रकार है—

लक्षण है—

किञ्चिदारभमाणस्य कार्यं दैववशात्पुनः ।

तत्साधनसमापत्तिर्यो तदाहुः समाहितम् ॥ ५६ ॥

किसी कार्य को आरम्भ करने वाले को दैववश पुनः उसके साधन की सम्प्राप्ति हो जाने पर समाहित अलङ्कार होता है ॥ ५६ ॥

एव उदाहरण है—

मानमस्या निराकर्तुं पादयोर्मै पतिष्यतः ।

उपकाराय दिष्टयैतदुदीर्णं धनगजितम् ॥ ६० ॥

इसके मान को दूर करने के लिए पैरों पर गिरते हुए मेरे भाग्य से यह मेघ गर्जन उत्पन्न हो गया ॥ ६० ॥

पर इसका खण्डन उन्होंने किन तर्कों द्वारा किया है यह कुछ कहा

नहीं जा सकता। क्योंकि उसके विषय में कोई भी संकेत डा० डे के संस्करण में स्पष्ट नहीं।*

इसके बाद कुन्तक अपने अभिमत रसवत् अलङ्कार की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं उसकी अवतरणिका रूप में वे कहते हैं—

तदेव चेतनाचेतनपदार्थभेदभिन्नं स्वाभाविक-सौकुमार्य-मनोहर-वस्तुनः स्वरूप प्रतिपादितम्। इदानीं तदेव कविप्रतिभोल्लिखितलोकोत्तर-तिशयशालितया नवनिर्मितं मनोज्ञतामुपनीयमानमालोच्यते। तथा-विधभूषणविन्यासविहितसौन्दर्योतिशयव्यतिरेकेण भूतत्वनिमित्तभूत न तद्विदाह्यादकारितायाः कारणम्।

तो इस प्रकार चेतन एवं अचेतन पदार्थों का भेद होने के कारण अलग-अलग या भेदयुक्त तथा सहज सुकुमारता से मनोहर वस्तु का स्वरूप प्रतिपादित किया गया। अब कवि की शक्ति द्वारा वर्णित किए गये प्रलौकिक उत्कर्ष से सुशोभित होने के कारण अपूर्व निर्माण से युक्त एवं रमणीयता को प्राप्त कराये जाने वाले उसी स्वरूप का विवेचन (ग्रन्थकार) प्रस्तुत करता है। उस प्रकार की अलङ्कार रचना द्वारा जनित शोभा के उत्कर्ष के बिना केवल पदार्थों का निमित्तभूत (वर्णन) सहृदयों को आह्लादित करने का कारण नहीं बनता है।

[यहाँ पर, जैसा कि डा० डे संकेत करते हैं, कुन्तक दो अन्तरालोको को उद्धृत कर एक अन्य—

‘अभिधायाः प्रकारो स्तः ॥’ इत्यादि कारिका की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। पाण्डुलिपि के अत्यन्त भ्रष्ट होने के कारण डा० डे उसे पढ़ नहीं सके। अतः वहाँ क्या विवेचन किया गया है कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इसके अनन्तर वे अपने अभिमत रसवदलङ्कार का विवेचन इस प्रकार प्रारम्भ करते हैं]—

यथा स रसवन्नाम सर्वालङ्कारजीवितम्।

काव्यैकसारतां याति तथेदानीं विवेच्यते ॥ १४ ॥

रसेन वर्तते तुल्यं रसवच्चविधानतः।

योऽलङ्कारः स रसवत् तद्विदाह्यादनिर्मितः ॥ १५ ॥

* इस समाहितस्वाप्यव्याख्यानव्यवस्थेन, न पुनरलङ्कारमात्रः।

इस प्रकार समाहित की भी अलङ्कारता ही समझी है, अलङ्कारर नही।

जैसे वह रसवत् नामक (अलङ्कार) समस्त अलङ्कारों का प्राण एवं काव्य का सर्वस्व बन जाता है उसी प्रकार (ग्रन्थकार) अब विवेचन करने जा रहे हैं।

सरसता का सम्पादन करने के कारण, तथा काव्यतत्त्व को समझने वाले (सहृद्यों) को आनन्द-प्रदान करने के कारण जो अलङ्कार रस के समान होता है वह रसवत् (अलङ्कार होता है।)

यथेत्यादि। यथा स रसवत्ताम यथा येन प्रकारेण पूर्वप्रत्याख्यात-वृत्तिरलङ्कारो रसवदभिधानं। काव्यैकसारतां याति काव्यैकसर्वस्वतां प्रतिपद्यते सर्वाङ्गारजीवितं सर्वेषामलङ्काराणामुपमादीनां जीवितं स्फुरितं सम्पद्यते। तथा तेन प्रकारेणोदानीमधुना विवेच्यते विचार्यते लक्षणोदाहरणभेदेन वितन्यते।

यथेत्यादि। जैसे वह रसवत् नामक अर्थात् जिस प्रकार से रसवत् नामक अलङ्कार, जिसकी स्थिति का पहले खण्डन किया जा चुका है, (यह) काव्य की एक मात्र सारता को प्राप्त होता है अर्थात् काव्य का एकमात्र (अकेला ही) सर्वस्व बन जाता है, तथा समस्त अलङ्कारों का जीवन अर्थात् सभी उपमा आदि अलङ्कारों का प्राण बन जाता है, वैसे उस प्रकार से अब इस समय विवेचन या विचार किया जा रहा है अर्थात् लक्षण एवं उदाहरण के भेद पूर्वक विस्तार किया जा रहा है।

तमेव रसवदलङ्कारं लक्षयति—रसेनेत्यादि। 'योऽलङ्कारः स रसवत्' इत्यन्वयः। यः किल एवस्वरूपो रूपकादिः रसवदभिधीयते। किं स्वभावेन—रसेन वर्तते तुल्यम्। शृङ्गारादिना तुल्यं वर्तते, यथा ब्राह्मणवत् क्षत्रियस्तथैव स रसवदलङ्कारः। कस्मात्—रसवत्त्वविधानतः। रसोऽस्यास्तीति रसवत् काव्यम् तस्य भावस्तत्त्वम् ततः, सरसत्वसम्भादनात्। तद्विदाह्यादनिर्मितेश्च। तन् काव्यं विदन्तीति तद्विदः, तज्ज्ञास्तेषामाह्लाद-निर्मितेरानन्दनिष्पादनात्। यथा (तथा?) रसः काव्यस्य रमवत्तां तद्विदाह्यादश्च विदधाति। एवमुपमादिरप्युभय निष्पादयन् भिन्नो रसवदलङ्कार सम्पद्यते। यथा—

उसी रसवदलङ्कार का लक्षण करते हैं—रसेनेत्यादि (कारिका के द्वारा)। 'जो अलङ्कार है वह रसवत् होता है' यह कारिका का अन्वय है। अर्थात् जो इस प्रकार के रूपकादि हैं वे रसवत् कहे जाते हैं। जिस प्रकार के (रूपकादि)—(जो) रस के तुल्य होते हैं। रस अर्थात् शृङ्गारादि के समान रहते हैं, जैसे ब्राह्मण के समान क्षत्रिय होता है (ऐसा कहा जाता

है) उसी प्रकार (रस के समान जो अलंकार होता है) वह रसवत् अलंकार कहा जाता है। किस कारण से—रसवत्त्व के विधान के कारण रस है इसके पास अतः यह रसवत् हुआ काव्य, उस (रसवत्) का भाव रसवत्त्व हुआ उसके कारण अर्थात् सरसता का सम्पादन करने के कारण (रस के तुल्य होता है)। तथा काव्यशो के आह्लाद का निर्माण करने के कारण। तत् का अर्थ है काव्य उसे जो जानते हैं वे कहे जायेंगे तद्विद् अर्थात् काव्य को समझने वाले उनके आह्लाद का निर्माण करने के कारण (रस के तुल्य होता है)। (क्योंकि) जिस प्रकार रस काव्य की रसवत्ता तथा सहृदयों के आह्लाद को उत्पन्न करता है। उसी प्रकार उपमा आदि भी (काव्य की रसवत्ता एवं सहृदयाह्लाद) दोनों को उत्पन्न करने हुए (उपमादि से भिन्न) रसबलद्वार हो जाते हैं। जैसे—

उपोढरागेण विलोलतारक तथा गृहीतं शशिना निशामुखम् ।
यथा समस्त निमिराशुक तथा पुरोऽपि रागाद्वलित न लक्षितम् ॥ ६० ॥

(सायंकालिक) अर्धणिमा (प्रियाविधायक प्रेम) को धारण करने वाले चन्द्रमा (नायक) के द्वारा चञ्चल तारो (कनीनिकाओं) वाले रात्रि (नायिका) के अग्रभाग (मुख) को उस प्रकार से पकड़ लिया (अर्थात् आभासित किया) (चुम्बन के लिए पकड़ लिया) कि जिससे सल्लिमा (अनुराग) के कारण सामने से भी गिरता हुआ तिमिराशुक अर्थात् किरणों द्वारा विचित्र अन्धकार-समूह (नीलजालिका) लोगों द्वारा (या नायिक द्वारा) नहीं देखा गया ॥ ६१ ॥

अत्र स्वायसरसमुचितसुकुमारस्वरूपयोर्निशाशशिनोर्वर्णनाया ...
रूपकालद्वारः समारोपितवान्तपृत्तान्तः कवितापनिबद्धः । स च श्लेष-
च्छायामनोर्ज्ञविशेषणवक्रभावाद् विशिष्टलिङ्गसामर्थ्याच्च.....काव्यस्य
सरसनामुल्लासयंस्त्वदिदाह्लादमादधानः स्वयमेव रसबलद्वारतां समा-
नार्ढितवान् ।

यहाँ अपने समय के अनुरूप सुकुमार स्वभाव वाले रात्रि एवं चन्द्रमा का वर्णन करते हैं..... कवि ने कान्त (अर्थात् नायक एवं नायिका) के वृत्तान्त का भलीभाँति आरोप कर रूपक अलङ्कार की योजना की है। और यह (रूपकालद्वार) श्लेष के सौन्दर्य से रमणीय विशेषणों की शक्ति के कारण तथा विशेष लिङ्गों (अथवा चिह्नों) के सामर्थ्य के कारण..... काव्य की रससम्पन्नता को व्यक्त करते हुए तथा सहृदयों की

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृगसे वदशो धेपधुमती
रहस्याख्यायीव स्वनासे मृदु कर्णान्तिक्चर ।
ऋरौ व्याधुन्यत्या' पित्रालि रनिमर्वम्बमधर
वयं तत्तयान्वेषान्मधु हर' इनास्त्व सल्लु कृती ॥ ६२ ॥

(राजा दुष्यन्त गकुन्तला पर मंदराते हुए भ्रमर को देखकर कहते हैं कि)
हे भ्रमर ! तू चञ्चल नेत्रप्रान्त वाली तथा रुम्पित होती हुई दृष्टि का
बार-बार स्पर्श कर रहा है । रहस्य की बात बताने वाले के समान कान के
पास जाकर मधुर गुञ्जन कर रहा है तथा हाथों को हिलाती हुई (गकुन्तला)
के काम के सर्वस्व रूप अथवा का पाल कर रहा है । निश्चय ही हम तो तप्य
के अनुसन्धान में (अर्थात् मेरे लिए यह प्राण है या नहीं यही पता लगाने
में) मारे गये, पर तू (तो सचमुच) कृतार्थ हो गया ॥ ६२ ॥

अर्थ परमाथ.—प्रधानवृत्तं शृङ्गारस्य भ्रमरममारोपितकान्तदृष्टान्तो
रमयदलङ्कारः शोभातिशयमाहितवान् ।

यथा वा—

कपोले पत्राली ॥ ६३ ॥

इति ।

तदेवमनेन न्यायेन—

श्रियो हस्ताग्रलम् ॥ ६४ ॥

इत्यत्र रसवदलङ्कारप्रत्याख्यानमयुक्तम् । सत्यमेतत्, किन्तु विप्रलम्भ-
शृङ्गारता तत्र निवार्यते । शेषस्य पुनस्तत्तन्वृत्तान्तिनया रमयदलङ्कार-
त्वमनिवार्यमेव ।

न चानलङ्कारान्तरे सति रसवदपेक्षानिवन्धनं समृष्टि-मङ्गलव्यपदेश-
प्रसङ्गः प्रत्याख्येयता प्रतिपद्यते । यथा—

इसका विश्लेषण करने हैं कि—यहाँ वास्तविक अर्थ यह है—भ्रमर
पर आरोपित किए गए नायक के व्यवहार वाले (रूपक बलङ्कार ने जो कि रस
के तुल्य होने के कारण रसवदलङ्कार हो गया है अतः उसी) रसवदलङ्कार ने
मुख्य रूप से स्थित शृङ्गार रस की शोभा में उत्कर्ष को उत्पन्न कर दिया है ।
अथवा जैसे—

(उदाहरण संख्या (२१।०१ पर पूर्वोद्धृत) 'कपोले पत्राली' । इत्यादि में
रसवदलङ्कार है) ।

(इस पर पूर्वपक्षी प्रश्न करता है कि इस प्रकार यदि आज रसवदलङ्कार
स्वीकार करते हैं) तो इस रंग से (उदाहरण संख्या १।४३ पर पूर्वोद्धृत)

‘क्षितो हस्तावलम्बः ॥’ इस श्लोक में (आपके द्वारा किया गया) रसबललंकार का सण्डन उचित नहीं है ।

अन्यकार (इसका उत्तर देते हैं) कि यह बात सही है (कि वह भी रसबद्ध अलंकार का उदाहरण है) लेकिन वहाँ पर हम विप्रलम्भ भ्रूंगार का निषेध करते हैं । शेष का तो वहाँ भी उस (कामी एवं सराग्नि के) समान व्यवहार होने के कारण रसबललङ्कारता अनिवार्य है । और भी अन्य अलङ्कारों के विद्यमान रहने पर रसबद्ध की अपेक्षा होनेवाली संसृष्टि अपवा सङ्कर अलंकार की संज्ञा का सण्डन नहीं हो जाता है । (अर्थात् रसबद्ध के साथ अन्य अलङ्कारों की संसृष्टि अपवा सङ्कर हमें स्वीकार है । उनका हम निषेध नहीं करते) जैसे—

अङ्गुलीभिरिव केशमञ्जय सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः ।

कुङ्कुमीकृतगरोजलोचनं पुष्पतीव रजनीमुखं शशी ॥ ६५ ॥

अङ्गुलियों द्वारा केश समुदाय की तरह किरणों द्वारा अन्धकार को भली भाँति बाँध कर चन्द्रमा (नाटक) बन्द किए हुए नयन रूप कमजोरवाले (नायिका) के मुख को मानो घूम रहा है ॥ ६५ ॥

अत्र रसबललङ्कारस्य रूपकाशीनाञ्च सन्निपातः सुतरा न समुद्भूयते । तत्र ‘पुष्पतीव रजनीमुखं शशी’ इत्युत्प्रेक्षाश्लेषणस्य रसबललङ्कारस्य प्राधान्येन निबन्धनम्, तदङ्गत्वेनापमादीनां केवलस्य प्रस्तुतपरिपोषाय परिनिष्पन्नवृत्तेः ।

यहाँ रसबललंकार की तथा रूपकादि अलंकारों की समान स्थिति भली भाँति स्पष्ट नहीं होती है क्योंकि उसमें ‘रात्रि के मुख को मानो चन्द्रमा घूम सा रहा है’ इस प्रकार के उत्प्रेक्षारूप रसबललंकार की मुख्य रूप से योजना की गई है, तथा उसके अङ्ग रूप में उपमा आदि अलंकारों की । क्योंकि केवल (उत्प्रेक्षित रूप रसबललंकार की ही) स्थिति प्रस्तुत (भ्रूङ्गार) के परिपोष के लिए पर्याप्त थी ।

ऐन्द्रधनुः पाण्डुपयोधरेण शरहृधानार्द्रनखक्षताभम् ।

प्रसादयन्ती मङ्गलहृमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार ॥ ६६ ॥

पाण्डुवर्ण पयोधर (स्तन या भेष) से आर्द्रनखसत की आभावाते इन्द्रधनुष को धारण करती हुई, मङ्गलहृद्युक्त चन्द्रमा (प्रतिनायक) की प्रसन्न (काचित-सुख) करती हुई रात्रि (नायिका) ने सूर्य (नायक) के ताप (गर्मी एवं सन्ताप) को और अधिक कर दिया ।

‘प्रसादयन्ती रवेरभ्यधिकं ताप शरच्चकार’ इति समयसम्भव-पदार्थ-स्वभावस्वरूपाचक-‘वारिद’-शब्दाभिधान विना प्रतीयमानोत्प्रेक्षातत्त्वज्ञेन रसवदलङ्कारेण कविना कामपि कमनीयतामाधरोपित, प्रसादयन्तर-मनोहारिणां ‘सकलङ्का’दीना वाचकादीनामुपनिबन्धनात्, ‘पाण्डुपयो-धरेणाद्र्द्वनखश्रुताभमैन्द्र धनुर्दधाना’ इति श्लेषोपमयोश्च तदानुगुण्येन विनिवेशनात् । एव ‘सकलङ्कमपि प्रसादयन्ती (शरत्) परस्याभ्यधिकं तापं चकार’ इति रूपकालङ्कारनिबन्धनः प्रकटाङ्गनावृत्तान्तसमारोप-सुतरां समन्वयमासादितवान् । अत्रापि प्रतीयमानवृत्ते रसवदलङ्कारस्य प्राधान्यम्, तदङ्गत्वमुपमादीनामिति पूर्ववदेव सङ्गतिः ।

यही कवि ने ‘प्रसन्न करती हुई शरत् ने सूर्य के ताप को और भी अधिक कर दिया’ इस प्रकार के अपने समय (ऋतु) के अनुसार उत्पन्न होनेवाले पदार्थ के स्वभाव को, उसके वाचक ‘वारिद’ या (बादल) शब्द का कपन किये बिना ही गम्यमान उत्प्रेक्षा रूप रसवदलङ्कार के द्वारा किसी अनूक्त रमणीयता से युक्त कर दिया है । (क्योंकि कवि ने) उसी (उत्प्रेक्षा रूप रसवदलङ्कार) के अनुरूप अन्य प्रतीति के कारण मनोहर ‘सकलक’ आदि शब्दों का प्रयोग किया है तथा ‘पाण्डु पयोधर से आर्द्रतल्लताभ इन्द्रधनुष को धारण किए हुए’ ऐसे वाक्य में श्लेष एवं उपमा अलङ्कार की योजना की है । इस प्रकार ‘कलकयुक्त को भी प्रसन्न करती हुई शरत् ने दूसरे (नायक) के ताप को और भी अधिक कर दिया’ इस प्रकार रूपकालङ्कार का हेतुभूत स्पष्ट (वेश्या) अङ्गना के व्यवहार का (शरत् पर) आरोप अत्यधिक समन्वित हो गया है । यहाँ पर भी गम्यमान स्थिति वाला (उत्प्रेक्षारूप रसवदलङ्कार ही प्रधान है तथा उपमा आदि उसके अङ्ग रूप हैं इस प्रकार पहले की ही भाँति यहाँ भी सङ्गति होती है ।

[इसके बाद कुन्तक ने अधोलिखित श्लोक उद्धृत किया है]—

लग्नाद्वरेफाञ्जनभाक्तचित्रं मुखे मधुश्रीतिलकं प्रकाश्य ।

रागेण बालारुणकोमलेन चूतप्रवालोलुपमलञ्चकार ॥ ६७ ॥

अयं रसवतां सर्वालङ्काराणां चूडानाणेरिवाभाति ।

वसन्त शोभा ने भ्रमररूपी अञ्जन की रचना से विविध तिलक को मुख पर प्रकट कर प्रातः काल के सूर्य के समान सुन्दर राग (रक्तिमा) से आलसपल्लव रूप अधर को अलङ्कृत किया ॥ ६७ ॥

(इसके बाद रसवदलङ्कार का उपसंहार करते हुए कुन्तक कहते हैं) कि यह (रसवदलङ्कार) रसयुक्त (काव्यों के) समस्त अङ्कारों का शिरोरत्न या सुशोभित होता है ।

[इसके बाद त्रैसा कि डा० डे संकेत करने है कुन्तक ने उक्त कथन के समर्थन में दो अन्तरङ्गोक्तों को भी उद्धृत किया है जो कि पाण्डुलिपि की भ्रष्टता के कारण पढ़े नहीं जा सके ।]

इस प्रकार रसवदलकार के प्रकरण का उपसंहार कर कुन्तक दीपक अलंकार एवं उसके प्रभेदों का विवेचन प्रारम्भ करते हैं—

एवं नीरमाना पदार्थानां सरसतां समुज्जापयितु रसवदलद्वारं
सामाप्तादिबान् । इदानीं स्वरूपमात्रेणैवावस्थितानां वस्तूनां कमप्यति-
शयमुदीपयितु दीपकालङ्कारमुपक्रमते । तच्च पूर्वाचार्यैरादिदीपक मध्य-
दीपकमन्तदीपकमिति दीप्यमानपदापेक्षया वाक्यस्यादौ मध्ये चान्ते च
व्यवस्थितमिति क्रियापदमेव दीपकाख्यमलङ्कारमाख्यातम् ।

इस प्रकार नीरस पदार्थों की सरसता को प्रकट करने के लिए रसवदलकार का विवेचन किया गया । अब केवल स्वरूप से ही स्थित पदार्थों के किसी अपूर्व उत्कर्ष को व्यक्त करने के लिए (ग्रन्थकार कुन्तक) दीपकालङ्कार (का विवेचन) प्रारम्भ करते हैं । तथा उस दीपकालङ्कार की प्राचीन आचार्यों ने आदि दीपक, मध्य दीपक तथा अन्त दीपक इस प्रकार, प्रकाशमान पद की अपेक्षा से बावय के आदि, मध्य अथवा अन्त में (क्रिया पद ही) व्यवस्थित होता है ऐसा सोचकर क्रियापद को ही दीपक नामक अलङ्कार बताया है । (इसके बाद कुन्तक भागह के दीपक के तीनों भेदों के उदाहरण रूप तीनों श्लोकों को उद्धृत करते हैं जो इस प्रकार हैं :—

मदो जनयति प्रीति, सानङ्गं मानभङ्गुरम् ।

स प्रियासङ्गमोत्कण्ठां, सासह्यां मनसः शुचम् ॥ ६८ ॥

मालिनीरशुकभृतः स्त्रियोऽलङ्कुरुते मधु ।

हारीतशुकवाचश्च भूधराणामुपस्यकाः ॥ ६९ ॥

धौरीमतीरण्यानी. सरितः शुण्यदम्भसः ।

प्रवासिनाश्च चेतांसि शुचिरन्त निनीपति ॥ ७० ॥

मद प्रीति को उत्पन्न करता है, वह मान को भंग करने वाले मदन को वह प्रियतमा के सिलन की उत्कण्ठा को, और वह हृदय के अगह्य शोक को (उत्पन्न करती है) ॥ ६८ ॥

वसन्त हार पहनने वाली एवं वज्रो को धारण करने वाली स्त्रियों को विभूषित करता है तथा हारीत (मैना) एवं तोतो की बाणी को और पर्वतों को (विभूषित करता है) ॥ ६९ ॥

झोंगुरो से युक्त बड़े-बड़े जगलो को, सूखने हुए जलवाली नदियों को तथा (विरही) परदेशियों के हृदयों को आषाढ का महीना नष्ट कर देना चाहता है ॥ ७० ॥

(इसके बाद कुन्तक अलग-अलग भामहकृत दीपक अलंकार के लक्षण एवं वर्गीकरण की आलोचना उस प्रकार करने हैं कि)

तत्र क्रियापदानां दीपकत्वं प्रकाशमत्त्वम्, यस्मान् क्रियापदैरेव प्रकाश्यन्ते स्वसम्बन्धितया स्थाप्यन्ते ।

(भामह के अनुसार) उसमें (दीपकालंकार) में क्रियापदों की दीपकता अर्थात् प्रकाशकता होती है क्योंकि क्रियापद ही (अन्य पदों को) प्रकाशित करते हैं अर्थात् अपने में सम्बन्धित रूप में (अन्य पदों को) व्यवस्था करते हैं ।

तदेव मयस्य कस्यचिदीपकव्यातेरेकिणोऽपि क्रियापदस्यैकरूपत्वात् दीपकाद् द्वैतं प्रसज्यते ।

किञ्च शोभाकारित्वस्य युक्तिशून्यत्वादलङ्कारत्वानुपपत्तिः ।

(इसका खण्डन कुन्तक करते हैं कि) तो इस प्रकार दीपक से भिन्न भी सभी किसी क्रियापद के (अन्य दो पदों की सम्बन्धित रूप में व्यवस्था करने के कारण) समान होने से दीपकालङ्कार से घालमेल होने लगेगा ।

और फिर सौन्दर्योत्पादकता के युक्तियुक्त न होने से अलङ्कारता ही नहीं हो सकेगी ।

अन्यच्च आस्ता सावत्क्रिया, एवं यस्यकस्यचिद्वाक्यवर्तिनः पदस्य सम्बन्धितया पदान्तरशोतनस्वभाव एव, परस्परान्वयसम्बन्धनिबन्धना-द्वाक्यार्थस्वरूपस्येति पुनरपि दीपकद्वैतमायातम् ।

और भी, क्रिया को सब तक रहने दीजिये । इस प्रकार तो वाक्य में स्थित जिस किसी भी पद का, वाक्यार्थ के स्वरूप के परस्पर (पदों) के अन्वय सम्बन्ध-मूलक होने के कारण, (परस्पर) सम्बन्धित होने के कारण दूसरे पद को प्रकाशित करना स्वभाव ही है इस लिये फिर (किसी भी पद का) दीपकालङ्कार के साथ घालमेल हो सकता है (अर्थात् कोई भी पद दीपक हो सकता है ।

आदौ मध्ये चान्ते वा व्यवस्थितं क्रियापदमतिशयमासादयति, येनालङ्कारतां प्रतिपद्यते । तेषां वाक्यादीनां परस्परं तथाविधः कः स्वरूपातिरेकः सम्भवति ?

(और यदि आप यह कहें कि) आदि, मध्य अथवा अन्त में व्यवस्थित क्रियापद उत्कर्ष युक्त होता है अतः यह अलङ्कार बन जाता है (तो आप यह

बताये कि) उन क्रियापदों एवं वाक्यों का परस्पर कौन सा वैसा स्वरूप का अतिशय उत्पन्न हो जाता है (जिससे कि आप उस क्रिया पद को अलंकार कहते हैं) बल्कि उसका स्वरूप तो बही रहता है) ।

क्रियापदप्रकारभेदनिबन्धन वाक्यस्य यदादिमध्यान्तं तदेव तदर्थवाचकेष्वपि सम्भवतीत्येव दीपकप्रकारानन्त्यप्रसङ्गः । दीपकालङ्कार-
बिहितवाक्यान्तर्वर्तिनः क्रियापदस्य भ्वादिब्यतिरिक्तस्यैव वाक्यान्तर-
व्यपदेशः । यदि वा समानविभक्ती (क्ता ?) नां बहूनां करका (पा ?)
नामैकक्रियापदं प्रकाशकं दीपकमित्युच्यते, तत्रापि काव्यचञ्चायां निशय-
कारितायाः किं निबन्धनमिति वक्तव्यमेव ।

(और जैसा कि आप) क्रियापद के प्रकार-भेद का कारण वाक्य के जिस आदि, मध्य एवं अन्त (को स्वीकार करते) है (वैसे ही) वही (आदि, मध्य एवं अन्त) उस (वाक्य) के अर्थ का प्रतिपादन करने वाले (अन्य पदों) में भी सम्भव हो सकता है अतः इस प्रकार दीपक के भेद अनन्त होने लगेगे । दीपकालङ्कार प्रस्तुत करने के लिए ले आये गये वाक्य के भीतर स्थित भ्वादि से भिन्न क्रियापद की दूसरे प्रकार की बाध्यता होगी ।

अथवा समान विभक्तियों वाले बहुत से कारकों का प्रकाश अनेक क्रियापद दीपक कहा जाता है, तो भी यह बताना ही पड़ेगा कि काव्यसौन्दर्य में उत्कर्ष लाने का क्या कारण है ?

इस प्रकार भामह के दीपकालङ्कार के लक्षण का खण्डन कर कुन्तक उद्भट की दीपकालङ्कार की व्याख्या को भामह की अपेक्षा अधिक उपयुक्त समझते हैं । और इसी लिए शायद वे उद्भट को अभिमुक्ततर भी कहते हैं—वे कहते हैं—

प्रस्तुताप्रस्तुतविध्यसामर्थ्यसम्प्राप्तिप्रतीयमानवृत्तिसाम्यमेव नान्य-
त्किञ्चिदित्यभियुक्ततरैः प्रतिपादितमेव—

आदिमध्यान्तविषयाः प्राधान्येतरयोगिनः ।

अन्तर्गतोपमा धर्मा यत्र तदीपक विदुः ॥ ७१ ॥

प्रस्तुत और अप्रस्तुत के बीच विधि की असमर्थता की प्राप्ति होने के कारण प्रतीयमान व्यापार का साम्य ही आता है और दूसरा कुछ नहीं ऐसा श्रेष्ठ विद्वानों द्वारा ही प्रतिपादित किया जा चुका है—

दीपकालङ्कार उसे कहते हैं जहाँ प्राधान्य एवं अप्राधान्य से सम्बन्ध रखने वाले (वाक्य के) आदि, मध्य एवं अन्त के विषयभूत धर्म उन्निबद्ध किए जाते हैं जिनमें (परस्पर) उपमानोपमेयभाव विद्यमान रहता है (अन्तर्गतोपमा) ।

इसके बाद इस दीपकालंकार के उदाहरण रूप में कुन्तक अधोलिखित प्राकृत श्लोक उद्धृत करते हैं ।

चनमति करीन्दा दिसागअमअगन्धवाग्निअहिअआ ।

दुख्ख वणे च कइणो भणिइविसममहाकइ भग्गो ॥ ७२ ॥

(चङ्क्रम्यन्ते करीन्द्रा दिग्गजमदगन्धहारितहृदयाः ।

दुःख वने च कवयो भणितिविषमहाकविमार्गे ॥)

दिग्गजों के गण्डजल की महक से विदीर्ण कर दिए गए हृदय वाले गजेन्द्र जङ्गल में तथा उक्तियों के कारण विषम महाकवियों के मार्गमें कविजन दुःखपूर्वक सञ्चरण करते हैं ।

यथा दिक्कुञ्जरमदामोदहारितमानसाः करीन्द्रा कान्ते कथमपि दुःख चङ्क्रम्यन्ते, तथा भणितिविषमे वक्रोक्तिविचित्रे महाकविमार्गे... कवय इति 'च'-शब्दार्थः ।

"जिस प्रकार से दिग्गजों के गण्डजल की सुगन्धि से खिन्न चित्त वाले गजेन्द्र वन में किसी तरह दुःखपूर्वक विचरण करते हैं उसी प्रकार उक्तियों से विषम अर्थात् वक्रोक्तियों से विचित्र महाकवियों के पथ में कविजन (विचरण करते हैं) यह (श्लोक में आये हुए) 'च' शब्द का अभिप्राय है । कुन्तक उद्धट के इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं कि यदि प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत में प्रतीयमान धृति द्वारा साम्य नहीं रहेगा तो वहाँ दीपकालङ्कार नहीं होगा । तथा उद्धट द्वारा अन्तर्गतोपमाधर्म की विशेषता के जोड़ देने का अनुमोदन करते हैं ।

इसके बाद दीपकालङ्कार के अपने अभिमतलक्षण को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

औचित्यावहमम्लानं तद्विदाह्लाद-कारणम् ।

अशक्तं धर्ममर्थानां दीपयद्वस्तु दीपकम् ॥ १॥ ॥

वर्णनीय पदार्थों के औचित्य का बहन करने वाले, सहृदयों के आह्लादजनक, अभिनव एवं अस्पष्ट धर्म को प्रकाशित करता हुआ पदार्थ दीपक अलङ्कार होता है ।

तदिदानीं दीपकमलङ्कारान्तरकारणं कलयन् कामपि काव्यकमनीयतां कल्पयितुं प्रकारान्तरेण प्रक्रमते—औचित्यावहमित्यादि । वस्तु दीपकं वस्तुसिद्धरूपमलङ्करणं भवतीति सम्बन्धः, क्रियान्तराश्रयणात् । तदेवं सर्वस्य कस्यचिद्वस्तुनः तद्भावापत्तिरित्याह-दीपयत् प्रकाशयदलङ्करणं सम्पद्यते । किं कस्येत्यभिधत्ते-धर्मं परिस्पन्दविशेषमर्थानां वर्णनीया-

नाम् । कीदृशम्-अशक्तम् अप्रकटम् तेनेव प्रकाश्यमानत्वात् । किंस्वरूपञ्च—ओचित्यावहम् । ओचित्यमौगार्यम् आवहति यः स नयोक्तः । अन्यस्य विविधम् अम्लानम्, प्रत्यमनम् । अनालोडमिति यावत् । एवं स्वरूपत्वान् तद्विद्वद्वादकारणम्, काव्यविदानन्दनिमित्तम् ।

इस कारिका की व्याख्या करते हैं—तो अब दीपक को अन्य अलङ्कार का एक समझने हुए काव्य की किसी अपूर्व रमणीयता को प्रस्तुत करने के लिए उसे दूसरे ढङ्ग से प्रस्तुत करते हैं—ओचित्यावहम् इत्यादि (कारिका के द्वारा) । वस्तु दीपक होती है अर्थात् पदार्थ का सिद्ध रूप (कारक पद) अलङ्कार होता है । (इस वाक्य का) अन्य क्रिया के मुताबिक न पड़ने से (भवति होती है) के साथ साम्य है । तो इस प्रकार सभी कोई वस्तु दीपकालङ्कार होने लगेगी अतः (उसका निषेध करने के लिए) कहते हैं कि—रोप्त करती हुई अर्थात् प्रकाशित करती हुई वस्तु अलङ्कार होती है । यथा (प्रकाशित करती हुई वस्तु और) किमथा (प्रकाशित करती हुई) इसे बताते हैं—अर्थात् यथात् यथोक्त पदार्थों के धर्म अर्थात् स्वभाव विशेष को (प्रकाशित करती हुई वस्तु अलङ्कार होती है) । कैसे धर्म को—अशक्त अर्थात् जो प्रकट नहीं रहता यथोक्ति वह उसी (वस्तु) के द्वारा प्रकाशित होने योग्य होता है । और जिस स्वरूप का है (वह धर्म)—ओचित्य का दहन करने वाला । ओचित्य अर्थात् उदारता को जो बहन या धारण करता है वह ओचित्य की दहन करने वाला होता है । और कैसा (धर्म होता है) अम्लान अर्थात् अभिनय जिसका जास्वाद नहीं किया गया है । ऐसे स्वरूप वाला होने के कारण उसे जानने वालों के आह्लाद का कारण अर्थात् काव्य को समझने वालों के आनन्द का हेतु बनता है ।

इसके बाद जैसा कि शा० ६ संकेत करते हैं कि पाण्डुलिपि अत्यन्त दोषपूर्ण है तथा कुन्ताक ने दीपक अलङ्कार का वर्गीकरण कैसे किया है इसे ठीक-ठीक नहीं प्रतिपादित किया जा पाता, पर जहाँ तक पाण्डुलिपि में विषय को समझा जा सकता है वह इस प्रकार है । कुन्ताक निम्न कारिका को प्रस्तुत करते हैं—

एकं प्रकाशकं मन्ति भूयांसि भूयसां कचित् ।

केवलं पङ्क्तिमस्य वा द्विविधं परिदृश्यते ॥ १७ ॥

अस्यैव प्रकारान्तररूपयति-द्विविधं परिदृश्यते । द्विप्रकारमवलोक्यते, तस्यै विभाज्यते ! कथम् केवलमसहायम्, पङ्क्तिमस्य वा पङ्क्तौ व्यवस्थितं तत्तुल्यशुद्धमात्रं सहायान्तरोपरचितायां वर्तमानम् । कथम् एकं बहूनां पदार्थानामेकं प्रकाशक दीपकं केवलमित्युच्यते । यथा—

असार संसारम् ॥ ७३ ॥

इत्यादि । अत्र 'विधातु व्यवसितः' कर्ता ससारादीनामसारत्वप्रभृतीन् धर्मानुद्योतयन् दीपकालङ्कारतामाप्तवान् ।

(दीपक अलंकार) केवल तथा पक्तिसस्य (भेद से) दो प्रकार का दिखाई पड़ता है । (उनमें जहाँ बहुत से पदार्थों का) एक प्रकाशक होता है (वह केवल दीपक तथा जहाँ) बहुतों के बहुत से (प्रकाशक) हैं (वह पक्तिसस्य दीपक होता है) ॥ १७ ॥

इसी वारिका की व्याख्या करते हैं—इसी (दीपकालंकार) के भेदों का निरूपण करते हैं—दो प्रकार का दिखाई पड़ता है अर्थात् (यह दीपक अलंकार) सस्य (काव्यादि) में दो तरह का दिखाई पड़ता है । कैसे—केवल अर्थात् असहाय (रूप में) अथवा पक्तिसस्य अर्थात् पक्ति में व्यवस्थित अर्थात् अग्य सहायक द्वारा विरचित उनकी समान स्थिति में विद्यमान । कैसे—एक अर्थात् बहुत से पदार्थों का अकेला प्रकाशक केवल दीपक कहा जाता है । जैसे—

(उदाहरण सख्या १।२१ पर पूर्वोदाहृत) असार संसारम् । इत्यादि श्लोक ।

यहाँ 'विधातु व्यवसित' कर्ता ससार आदि के निःसारता आदि धर्मों को प्रकाशित करता हुआ दीपक अलंकार बन गया है ।

पङ्क्तिसस्यम्—भूयामि बहूनि वस्तूनि दीपकानि भूयसां प्रभूतानां वर्णनीयानां सन्ति वा कचिद् भवन्ति वा कस्मिंश्चिद्विषये । यथा—

कङ्क्रेमरी वअणाणं मोत्तिअरअणाण आइवेअटिओ ।

ठाणाठाण जाणइ कुमुमाण अ जीणमालारो ॥ ७४ ॥

(कविकेसरी वचनानां मोत्तिकरत्नानामादिवैकटिकः ।

स्थानास्थानं जानाति कुमुमानाञ्च जीर्णमालाकारः ॥)

चन्द्रमऊएहिणिमा नलिनी कमलेहि कुसुमगुच्छेहि लआ ।

हसेहि मारअसोहा कव्वकहा सज्जनेहि करइ गरुई ॥ ७५ ॥

(चन्द्रमयूखैर्निशा नलिनी कमलं कुसुमगुच्छैर्लता ।

हसैश्शरदशोभा काव्यकथा सज्जनैः क्रियते गुर्वी ॥)

पङ्क्तिसस्य—(दीपक वहाँ होता है जहाँ) कहीं किसी विषय में (यथा स्थल पर बहुत से अर्थात् अनेकों वर्णनीय पदार्थों की बहुत-सी अर्थात् अनेकों वस्तुएँ प्रकाशक होती हैं) जैसे—

श्रेष्ठ कवि (कवि केसरी) उत्कर्मों के, प्राचीन जोहूरी मोत्तिकरत्नों के तथा पुराना माली फूलों के ओचित्य तथा अनौचित्य को जानता है ॥ ७४ ॥

चन्द्रमा को किरणें रात्रि को, कमल कमलिनी को, फूलों के गुच्छे लता को, इस धारद श्चतु के सौन्दर्यको तथा सज्जन काव्य कथा को महत्त्वपूर्ण बना देते हैं ॥७५॥

इसके बाद कुन्तक ने इस पक्तिसंस्थ दीपक के भी अन्य-अन्य प्रभेद किये हैं। किन्तु पाण्डुलिपि में वह स्थल अधिक स्पष्ट नहीं है। कारिका तो पूर्णतः अस्पष्ट है। उसे डा० डे सम्पादित नहीं कर सके। पर उस स्थल को पढ़ने से ऐसा पता चलता है कि कुन्तक ने इस पक्तिसंस्थ दीपक के पुनः तीन भेद किए हैं। कारिका तो सर्वथा अस्पष्ट ही है। वृत्ति में से जितना स्थल स्पष्ट हो सका है वह इस प्रकार है—

यदपर पक्तिसंस्थं नाम...कारणात् त्रिप्रकारम् । त्रयः प्रकाराः प्रभेदा यस्येति विग्रहः । तत्र प्रथमस्तावदनन्तरोक्तो 'भूयांसि भूयसां षविभूवन्ति' इति ।

द्वितीयो—दीपकं दीपयत्यन्यत्रान्यदिति, अन्यस्यातिशयोत्पादकत्वेन दीपकम् । यदीपित तत्कर्मभूतमन्यत् कर्तृभूत दीपयति प्रकाशयति तद-न्यन्यदीपयतीति ।

जो दूसरा 'पक्तिसंस्थ' नाम का (दीपकालङ्कार का भेद है वह)... [यहाँ डा० डे ने पाठलोप सूचक चिह्न दिए हैं। अतः यह कह सकना, कि किस कारण से वह पक्तिसंस्थ दीपक तीन प्रकार का होता है, कठिन है।] कारण से तीन प्रकार का है। 'त्रिप्रकारम्' का विग्रह होगा तीन प्रकार हैं जिसके वह। उनमें से पहला प्रकार तो अभी-अभी बताया गया 'कि बहुत से वर्ण्यमान पदार्थों के कहीं बहुत से प्रकाशक होते हैं' यह है। (इसका उदाहरण ऊपर दिया ही आ चुका है)

दूसरा प्रकार यह है—दूसरे स्थान पर वह एक दीपक को दूसरा (दीपक) प्रकाशित करता है वह दूसरे के अतिशय को उत्पन्न करने के कारण दीपक (अलङ्कार) होता है। जो प्रकाशित हुआ है वह कर्मभूत है और दूसरा कर्तृभूत है वह दीपक अर्थात् प्रकाशित करता है, वह भी दूसरे को प्रकाशित करता है।

द्वितीयदीपकप्रकारो यथा—

शोणीमण्डलमण्डन नृपतयस्तेषां त्रियो भूषणं
साः शोभां गमयत्यचापलमिदं प्रागल्भ्यतो राजते ।
तद्दूष्यं नयवर्त्मनस्तदपि च क्रौर्यक्रियालङ्कृतं
बिभ्राणं यदियत्तदा त्रिभुवनं छेत्तुं व्यवस्येदपि ॥ ७६ ॥

(पक्तिसंस्थ दीपक के) दूसरे भेद का उदाहरण जैसे—

भूमण्डल के शोभा हेतु राजा लोग हैं और उनकी शोभा हेतु सम्पत्तियाँ हैं। वे दिग्गता के द्वारा शोभा को प्राप्त कराई जाती है। और यह (स्थिरता) भी

प्रगल्भता से सुशोभित होती है। वह (प्रगल्भता) राजनीति के मार्ग की दोषभाक् है और वह (राजनीति का मार्ग) भी कृतापूर्ण कर्मों से अर्थात् परराष्ट्र पर आक्रमण आदि से सुशोभित होता है यदि इस कृतापूर्ण कर्म को धारण कर लिया जाय तो (व्यक्तिविशेष) त्रिभुवन का ही उच्छेद करने पर तुल जाय। ७६॥

टिप्पणी—[यहाँ पर डा० डे ने 'च क्रौर्यक्रियालङ्कृतम्' पाठ मुद्रित किया है, तथा उससे अर्थवैयर्थ्य को देखते हुए पादटिप्पणी में उन्होंने 'विच्छौर्यक्रिया-लङ्कृतम्' पाठान्तर निर्दिष्ट किया है। स्व० आचार्य विश्वेश्वर जी ने 'च शौर्यक्रिया-लङ्कृतम्' पाठ देते समय 'शार्दूलविक्रीडितवृत्तगत' छन्दोभङ्ग की ओर पता नहीं ध्यान रखा नहीं दिया।]

हमने यहाँ पर मातृकागत पाठ को ही श्रेयान् मानकर रूपान्तर प्रस्तुत किया है। इस पद्य में सात दीपक दृष्टि पथ में आने हैं। पहला है क्षोगीमण्डल और नृपति के बीच। दूसरा नृपति और श्री के बीच। तीसरा श्री और अचापल के बीच। चौथा अचापल और प्रागल्भ्य के बीच। पाँचवाँ प्रागल्भ्य और नयवर्त्म के बीच। छठा नयवर्त्म और क्रौर्यक्रिया के बीच और अन्तिम क्रौर्यक्रिया और त्रिभुवनच्छेद के बीच है। पहले का धर्म मण्डन, दूसरे का भूषण, तीसरे का शोभागमन, चौथे का राजन, पाँचवें का दुष्यत्व, छठे का अलङ्कृतत्व और सातवें का विभ्रान्तत्व है। डा० डे० की आशंका का हेतु ऊपर से चला आता हुआ मण्डनादि और दुष्यत्व के बीच का वैयर्थ्य प्रतीत होता है। परन्तु चतुर्यं चरण का पाठ करने पर स्पष्ट हो जायगा कि कवि का सरम्भ एक ही प्रकार के धर्म के साथ अभिसम्बन्ध दिखाने में नहीं है। अन्तिम बात यह भी ध्यान देने की है कि यहाँ शौर्यक्रिया की बात करना अनुचित है। क्योंकि त्रिभुवन का उच्छेद शौर्यक्रिया से नहीं अपितु क्रौर्यक्रिया से ही सम्भव है। यहाँ पर इन सातों दीपकों में प्रत्येक पहले दीपक का अप्रस्तुत दूसरे दीपक का प्रस्तुत बन जाता है। इसीलिए इसे दीपिनदीपक कहा जाता है।]

अत्रोत्तरोत्तराणि पूर्वपूर्वपददीपकानि मालायां कविनोपनिषद्धानीति ।
यथा वा—

शुचि भूषयति श्रुतं वपुः प्रशमस्तस्य भवत्यलङ्क्रिया ।

प्रशामभरणं पराक्रमः स नयापादितसिद्धिभूषणः ॥ ७७ ॥

यथा च—

चारुतावपुरभूषयदासाम् ॥ ७८ ॥

इत्यादि ।

यहाँ पर उत्तरोत्तर दीपक उसके पूर्ववर्ती प्रत्येक दीपक के साथ कवि के द्वारा एक माला में गुम्फित किए गए हैं।

अथवा जैसे—(दूसरा उदाहरण)

सुद्ध शास्त्र (भवण) शरीर को अलङ्कृत करता है तथा (शोधादि का) समन उस (शास्त्र) का आभूषण होता है । समन का अलङ्कार पराक्रम होता है तथा यह (पराक्रम) नीति के द्वारा सम्पादित सिद्धि रूप अलङ्कार वाला होता है ॥ ७७ ॥

और जैसे—(उदाहरण सख्या ११२४ पर पूर्वोदाहृत)

चास्तावपुरभूषणदासाम् ॥ ७८ ॥ इत्यादि श्लोक ।

तृतीयप्रकारोऽत्रैव श्लोकाद्ध 'दीपक'-स्थाने 'दीपित'मिति पाटान्तरं विधाय व्याख्येयः । तदयमत्रार्थः—यद्दीपितं यदन्येन केनचिदुत्पादिना-तिशय सम्पादित वस्तु तत्कर्तृभूतमन्यद्दीपयदुत्तेजयति...। यथा—

मदो जनयति प्रीतिम् । इत्यादि ॥ ७९ ॥

(इस पक्तिसंख्य दीपक के) तीसरे भेद के लिए इसी (कारिका) श्लोक के अर्द्धभाग में 'दीपक' के स्थान पर 'दीपित' यह दूसरा पाठ करके व्याख्या करनी चाहिए । तो यहाँ आशय यह है कि—जो दीपित अर्थात् किसी दूसरे के द्वारा उत्पन्न किए गए उत्कर्ष से युक्त रूप में सम्पादित की गई वस्तु है उसके कर्तृभूत दूसरे को प्रकाशित करता हुआ उत्तेजित करता है जैसे—

'मदो जनयति प्रीतिम्' इत्यादि श्लोक ॥ ७९ ॥

ननु पूर्वाचार्यैश्चैतदेव पूर्वमुदाहृतम् । तदेव प्रथमं प्रत्याख्येयदानं समाहितमित्यभिप्रायो व्याख्यातव्यः ।

सत्यमुक्तम् । तदयं व्याख्यायते—क्रियापदमेकमेव दीपकमिति तेषां तात्पर्यम्, अस्माकं पुनः कर्तृपदादिनिबन्धनानि दीपकानि बहूनि सम्भवन्तीति ।

(भागह के दीपकालंकार का खण्डन करते समय कुन्तक ने भागह के इसी 'मदो जनयति' इत्यादि श्लोक की जासोचना की थी । किन्तु अब उन्होंने उसी उदाहरण को अपने अनुसार 'दीपितदीपक' के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है । अतः पूर्वपक्षी शक्य करते हैं कि)—

इसी उदाहरण को तो प्राचीन (भागह आदि) आचार्यों ने उद्धृत किया है । उसी का पहले खण्डन कर अब (आपने उसी का) समाधान किया है तो किछ आशय से, इसे हटाने का कष्ट करें ।

कुन्तक इसका उत्तर देने हैं—

ठीक कहा (तुमने) तो यह व्याख्या कर रहा है। उन (प्राचीन) आचार्यों का अभिप्राय है कि केवल (वा एक ही) क्रियापद दीपक होता है, पर हमारा मत है कि कर्तृपदादिकमूलक बहुत से दीपक हो सकते हैं।

[इसके बाद कुन्तक इस प्रकरण का अधोलिखित कारिका के साथ उपसंहार करते हैं। इस कारिका जो जिस ठङ्ग से डा० डे ने मुद्रित किया है उसके अनुसार यह प्रतीत होता है कि कुन्तक यहाँ यह बताना चाहते हैं कि 'कैसा क्रियापद दीपक हो सकता है और कैसी वस्तु दीपक हो सकती है—]

यथायोगि क्रियापदं मनःसंवादि तद्विदाम् ।

वर्णनीयस्य विच्छित्तेः कारणं वस्तुदीपकम् ॥ १८ ॥

उदानीमेतदेवोपमहरति—यथायोगि क्रियापदमित्यादि । यथा येन प्रकारेण युज्यते इति यथायोगि क्रियापदं यस्य तत्तथोक्तम् । येन यथा सम्बन्धमनुभूयितुं शक्नोति तथा दीपके क्रिया । [अन्यच्च किं रूपम् ? मनःसंवादि तद्विदाम् ।] तद्विदां काव्यज्ञाना मनसि सचदति चेन्मि प्रतिफलति यत्तत्तथोक्तम् ।

जिस प्रकार मे (वाक्यार्थ) सम्बद्ध हो सके वैसा और सहृदयो का मनोनुकूल क्रियापद (दीपक होता है) तथा वर्णनीय पदार्थ की सुन्दरता का कारणभूत वस्तु दीपक होती है ॥

अब (ग्रन्थकार) इसी (दीपक अलङ्कार) का उपसंहार करते हैं— यथायोगि क्रियापदम्' इत्यादि कारिका के द्वारा । जैसे अर्थात् जिस तरह युक्त होता है वह यथायोगि हुआ इस प्रकार यथायोगि क्रियापद है जिसके वह यथायोगि क्रियापद वाला हुआ । अतः जिस प्रकार से सम्बन्धका अनुभव किया जा सकता है वैसी दीपक में क्रिया होती है । उस काव्य को जानने या समझने वालों के चित्त में जो सबाद उत्पन्न करती है अर्थात् हृदय में प्रतिफलित होती है वह क्रिया दीपक होती है ।

[नस्मादेव सहृदयहृदयसंवादमादात्म्यात्—'मुखमिन्दु' इत्यादौ न केवलं रूपकमिति यावत् । 'किं तारुण्यतरो.' इत्येवमाद्यपि । तस्मादेव च सूक्ष्ममतिरिक्तं वा न किञ्चिदुपमानात् साम्यं तस्य निमित्तमिति सचेतसः प्रमाणम्]

[इसीलिये सहृदय हृदय के साथ संवाद होने पर 'मुख चन्द्र है' ऐसे कथनों में महाविषय होने के नाते केवल रूपकही नहीं होता । और इसी से 'किं तारुण्य-

तरोः" इत्यादि भी ऐसे ही हैं। इसीलिए बहुत ही सूक्ष्म और अपमान से अनतिरिक्त साम्य दीपक का निमित्त है इस विषय में सहृदय जन ही प्रमाण है।]

अन्यच्च कीदृशम्—वर्णनीयस्य विच्छिन्नेः कारणम् । वर्णनीयस्य प्रस्तावाधिकृतस्य पदार्थस्य विच्छिन्नेरुपशोभायाः कारणं निमित्तभूतम् [न पुनर्जन्यत्वप्रमेयत्वादिसामान्यम्] । यस्मात् पूर्वोक्तलक्षणेन साम्येन वर्णनीय सहृदयहारितामावदति ।

ओर कैसा होता है (दीपक बलद्वारा)—वर्णन किए जाने वाले (पदार्थ) के सौन्दर्य का हेतु होता है। वर्णनीय अर्थात् प्रकरण के द्वारा अधिकृत पदार्थ की विच्छिन्ति अर्थात् सौन्दर्य का कारण अर्थात् हेतुरूप (होता है)। यह जगत्त्व या प्रमेयत्व आदि के तुल्य नहीं हैं। क्योंकि पहले कहे गए लक्षण वाले साम्य में युक्त वर्णविषय सहृदयो का आवश्यक होता है।

उपचारैकमर्थस्त्वं यत्र तत् साम्यमुद्बहत् ।

यदर्पयति रूपं स्वं वस्तु तद्रूपकं विदुः ॥ १९ ॥

रूपकं विविनक्ति—उपचारेत्यादि । वस्तु तद्रूपकं विदुः तद्वस्तु पदार्थ-स्वरूपं रूपकाख्यमलंकारं विदुः जना इति शेषः । कीदृशम्—यदर्पयतीत्यादि—यत् कर्तृभूतमर्पयति विन्यस्यति । किम्—स्वमात्मीयं रूपं, वाक्यस्य वाचकात्मकं परिस्पन्दम्, अलंकारप्रस्तावादलंकारस्यैव स्वसम्बन्धित्वात् । किं कुर्वत्—साम्यमुद्बहत् समत्वं धारयत् (कीदृशम्) उपचारैकमर्थस्वम्—उपचारस्तत्त्वाध्यारोपस्तस्यैकं सर्वस्वं केवलमेव जीवितं तन्निबन्धनत्वाद्, उपचारैः रूपकस्य प्रवृत्तेः ।

जहाँ उपचार की एकमात्र प्राणभूत उस समानता को धारण करता हुआ पदार्थ अपने स्वरूप को समर्पित कर देता है उसे (विद्वानो ने) रूपक (अलङ्कार) कहा है ।

रूपक का विवेचन करते हैं—उपचार इत्यादि कारिका के द्वारा । उस वस्तु को रूपक कहा है अर्थात् लोगों ने उस पदार्थ स्वरूप को रूपक नाम का अलङ्कार बताया है । कैसे (पदार्थ स्वरूप) को—(इसे) यदर्पयति इत्यादि (के द्वारा बताते हैं) । कर्ता रूप ओ (पदार्थ) अर्पित करता है अर्थात् विन्यस्य करता है । क्या (विन्यस्य) करता है—स्व अर्थात् अपने स्वरूप को, वाक्य के वाचकरूप अपने स्वभाव को । यहाँ अलङ्कार का प्रकरण चलने के कारण अपने स्वरूप से आशय अलङ्कार स्वरूप से ही है क्योंकि वही अपना सम्बन्धी है । क्या करते हुए ? साम्य को बहान करते हुए, बराबरी को धारण करते हुए । कैसी

बराबरी को ? जिसका एकमात्र प्राण उपचार है । उपचार अर्थात् तरब का अध्यारोप (वह ' उसका एकमात्र सर्वस्व अर्थात् उसका कारण होने के कारण केवल प्राणभूत होता है क्योंकि उपचारों से ही रूपक की प्रवृत्ति होती है ।

[यहाँ प्रयुक्त साम्य वस्तुतः प्रतीयमानवृत्ति साम्य की ओर संकेत करता है जैसा कि दीपकालङ्कार के विवेचन में किया गया है । इसीलिए शायद कारिका में तत् साम्यमुद्धृत् करके आया है किन्तु वृत्ति में तत् की कोई व्याख्या ही नहीं उपलब्ध है, अतः कोई निश्चित संकेत ज्ञात नहीं होता । पर जैसा कि डा० डे भी कहते हैं कि इस साम्य को प्रतीयमानवृत्तिसाम्यरूप में ही ग्रहण करना चाहिए, वही उचित प्रतीत होता है ।]

यस्मादुपचारवक्रताजीवितमेतदलङ्करणं प्रथममेव समाख्यानम्—
यन्मूला रमाल्लेखा रूपकादिरलङ्कृतिः । (इति)

एवं च रूपकादि सामान्यलक्षणमुल्लिख्य प्रकारपर्यालोचनेन तमेवोन्मीलयति

क्योंकि उपचार वक्रता रूप प्राण वाला यह (रूपक) अलङ्कार होता है ऐसा पहले ही (कारिका २।१४) कि—

जिस (उपचार वक्रता) के मूल में होने के कारण रूपक आदि अलङ्कार आस्वादपूर्ण अथवा चमत्कार युक्त हो जाते हैं ॥ (प्रतिपादित किया जा चुका है ।)

इस प्रकार रूपक आदि के सामान्य लक्षण को बताकर भेदों का विवेचन करते हुए उसी (रूपकालङ्कार) का स्वरूप बताते हैं—

समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति च ।

नमस्तवस्तुविषयो यस्य तत्तथोक्तम् । तदयमत्रार्थः—यत् सर्वोपेव प्राधान्येन वाच्यतया सकलवाक्योपाख्यान्यभिधेयान्यलङ्क्यनया सुन्दर-स्वरूपपरिस्पन्दसमर्पणेन रूपान्तरापादितानि गोचरो यस्येति । यथा—

(वह रूपक) (१) समस्तवस्तु विषय तथा (२) एकदेशविवर्ति (दो प्रकार का) होता है ।

जिसका विषय समस्तवस्तु होती है वह समस्तवस्तु विषय रूपक होता है । तो यहाँ इसका आशय यह है—कि जिस अलङ्कार के विषय समस्त वाक्य के अन्दर अग्निविष्ट सारे के सारे अभिधेय व्यर्थ अलङ्कार्य के रूप में वाक्यार्थ की प्रधानता के द्वारा उपात्त (विषयी के) अपने रमणीय स्वभाव के आरोपण कर देने के कारण एक दूसरे विषय रूप को प्राप्त करा दिये जाते हैं (वह समस्त-वस्तु विषय रूपक होता है ।) जैसे—

मृदुननूलावभन्त सुन्दरः नन्दुबिम्बलितपद्मः ।

मन्मथमातङ्गमनो जयत्यहं तमणतारम्भः ॥ ८० ॥

लोगल कलेवर रूपी तता कावसन्त सुन्दर मुख रूपी चन्द्रबिम्ब का सुवल्गुपत्र
झोर कामदेव रूपी हाथी का मद, यह ताक्षक का आरम्भ सर्वातिशायी है ॥ ८० ॥

अत्र पूर्वोक्तैर्व्याख्यानम्—नथा यदेकदेशेन विवर्तते विघटते
विशेषेण वा वर्तते (तत्) तथोक्तम् इति । उभयथाप्येतद्युक्तं भवति ।
यद्वाक्यस्य यत्कस्मिंश्चिदेव स्थाने स्वपरिस्पन्दसमर्पणात्मकरूपणमा-
दधाति क्वचिद्विधेति तदेकदेशविवर्तिरूपकम् । यथा—

इस प्रकार समस्तवस्तु विषय रूपक की व्याख्या एवं उदाहरण प्रस्तुत करने
के अनन्तर कुन्तक एकदेशविवर्ति रूपक की व्याख्या इस प्रकार प्रारम्भ करते हैं—

इस (एकदेश विवर्ति रूपक) के विषय में प्राचीन आचार्यों ने इस प्रकार
व्याख्या की है, जैसे—जो एकदेश के द्वारा विवर्तित अर्थात् विघटित होता है
अथवा विशेष रूप से विद्यमान रहता है, यह एकदेशविवर्तित रूपक होता है ।
इस प्रकार दोनों ही दृष्टि से की गयी व्याख्या अनुचित है । जो वाक्य के किसी
एक ही स्थान पर कहीं ही अपने स्वरूप के समर्पण रूप आरोप को प्रस्तुत करता
है वह एकदेश विवर्ति रूपक होता है । जैसे—

तडिद्वतयकन्याणां बलाकामालभारिणाम् ।

पयोमुखा ध्वनिर्भीरो दुनोति मम ता प्रियाम् ॥ ८१ ॥

विद्युन्मण्डल रूपी कन्या (हाथी की कमर में बाँधने वाली रस्ती) वाले,
बगुलो की पङ्क्ति रूपी माला का धारण करने वाले बादलो की गम्भीर ध्वनि
मेरी उस प्रिया की पीडित करती है ॥ ८१ ॥

अत्र विद्युद्बलस्य कन्यात्वेन, बलाकानां तन्मालात्वेन रूपण
विद्यते । पयोमुखां पुनर्दन्तिभावो नास्तीत्येकदेशविवर्तिरूपकमलङ्कारः ।
तदत्यर्थयुक्तियुक्तम्, यस्मादलङ्कारस्यालङ्कार्यशोभातिशयोत्पादनमेव
प्रयोजनं नान्यत्किञ्चित् ।

तदुक्तम्—रूपकापेक्षया किञ्चिद् विलक्षणमेतेन यदि सम्पाद्यते
तदेतस्य रूपकप्रकारान्तरतोपपत्तिरस्यात्, तदेतदास्तां तावत् । प्रत्युत
कन्यादिनिमित्तरूपणोचितमुख्यवस्तुविषये विघटमानत्वादलङ्कारदोषत्वं
दुर्नियारतामयलम्बते । तस्मादन्यच्चैवैतदस्मात्समाधीयते ।

यहाँ विद्युन्मण्डल का कन्या रूप में बगुलो की पङ्क्तिमें का उसकी माला रूप
में निरूपण किया गया है । किन्तु बादलो की हाथी रूपता नहीं है अतः यह एक

वेषविवर्ति रूपकालङ्कार हुआ। यह बहुत ही युक्तिसङ्गत है, क्योंकि अलङ्कार का प्रयोजन अलङ्कार्य के सौन्दर्य को उपस्थित करना ही होता है दूसरा कुछ नहीं।"

यदि इसके द्वारा रूपक की अपेक्षा कुछ विलक्षणता लाई जाती है तो उससे इसकी रूपक की ही भेदान्तरता सिद्ध होती है जः इस तरह कहा गया है तो उसे रहने ही दीजिए। चाय ही कक्ष्या आदि निमित्तों के आरोप के लिए समीचीन मुख्यवस्तुविषय के बारे में विघटित हो जाने के कारण यह अलङ्कार-विषयक दोषता कठिनाई से हटाने योग्य हो उठती है। इस लिए इससे भिन्न समाधान दिया जाता है।

रूपकालङ्कारस्य परमार्थस्तावदयम्—यत् प्रसिद्धसौन्दर्यातिशयपदार्थ-सौकुमार्यनिबन्धनं वर्णनीयस्य वस्तुनः साम्यममुल्लिखित स्वरूपसमर्पणग्रहणसामर्थ्यमविसर्वादि। तेन 'मुखमिन्दु' इत्यत्र मुखमिवेन्दु' सस्याजने, तेन रूपणं विचर्तते। तदेवमयमलङ्कार —

रूपकालङ्कार का वास्तविक रहस्य यह है—वर्णनीय वस्तु का प्रसिद्ध सौन्दर्य की अधिकता वाले पदार्थ की सुकुमारता पर आधारित साम्य के आधार पर समुद्भासित अपने स्वरूप के समर्पण को ग्रहण करने की अवि-सर्वादिनी शक्ति हुआ करती है। इस लिए 'मुख चन्द्र है' इस कथन में मुख के तुल्य चन्द्र को बनाया जाता है और फिर उसी से आरोप निष्पन्न होता है। तो इस प्रकार इस अलङ्कार की व्यवस्था है।

हिमाचलसुतावल्लिगाढालिङ्गितमूर्तये।

ससारमरुमार्गैककल्पवृक्षाय ते नमः ॥ ८२ ॥

(यथा वा)

उपोदरगणे विलोलतारकम् ॥ ८३ ॥ इत्यादि।

हिमालय की पुत्री रूपी लता के द्वारा प्रगाढ़ रूप से आलिङ्गित शरीर वाले ससार रूपी मरुस्थल के मार्ग के लिए अद्वितीय कल्पवृक्ष रूप तुम्हें प्रणाम है।

अथवा जैसे—उपोदरगणे विलोलतारकम् ॥ इत्यादि ॥

प्रतीयमानरूपकं यथा—

लावण्यकान्तिपरिपूरितदिरुमुखेऽस्मिन्

स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताश्रि।

क्षोभं यदेति न मनागवि तेन मन्ये

सुन्यक्तमेव जलराशिरथं पयोधिः ॥ ८४ ॥

प्रतीयमान रूपक (का उदाहरण) जैसे—

हे वज्रचल एवं विशाल नेत्रो वाली (सुन्दरि) । इस समय (क्रोध के कालुष्य के दूर हो जाने के अनन्तर) आकृतिसौष्ठव एवं कान्ति से दिशाओं के मुखों को परिपूर्ण कर देने वाले तुम्हारे इस मुख के मुस्कुराहट युक्त होने पर भी यह समुद्र जो छोटा भी थोभ (चान्चल्य) को नहीं प्राप्त होता है, उसमें मैं समझता हूँ कि स्पष्ट रूप से यह जल (जड) समूह ही है ।

नयन्ति कवयः काश्चिद्वक्रभावरहस्यताम् ।

अलङ्कारान्तरोल्लेखसहायं प्रतिभावशात् ॥ २० ॥

कविजन अपनी शक्ति के सामर्थ्य से अन्य अलङ्कारों की रचना की सहायता वाले (इस रूपकालङ्कार) को वक्रता के किसी लोकोत्तर रहस्य में युक्त कर देने हैं ॥ २० ॥

तदेव विच्छिन्नान्तरेण विशिनष्टि—एतदेवरूपकाख्यमलङ्कारेण काश्चिदलौकिकवक्रभावरहस्यतां वक्रत्वपरमार्थतां नायान्तं प्रापयन्ति । तथोपनिबद्धानि यथा वक्रताविच्छिन्नतिवैचित्र्यादिरुदिरमणीयतया तदेव तत्त्व पर प्रतिभासते । कीदृशम्—अलङ्कारान्तरोल्लेखसहायम् । अलङ्कारान्तरस्यान्यस्य ससन्देहोत्प्रेक्षाप्रभृते, उल्लेखः समुद्भेद-सहायः काव्यशोभातिशयोत्पादने सहकारो यस्य तत्तथोक्तम् । कस्मान्नयन्ति—प्रतिभावशात् । स्वरक्तैरायत्तत्वात् । तथाविधे लाककान्तिकान्तिकोचरे विषये तस्यापनिबन्धो विधीयते । यत्र तथाप्रसिद्धाभावात् सिद्धव्यवहारावतरण साहसिकमिवावभासते विभूषणान्तरसहाय्य पुनरुल्लेखत्वेन विधीयमानत्वात् सहृदयहृदयसवादसुन्दरी परा प्रौढिरुत्पद्यते ।

(यथा)—

किं तारुण्यलरो.....इत्यादि ॥ ८५ ॥

उसी (रूपक अलङ्कार) को दूसरी शोभा से विशिष्ट करते हैं—दशौ रूपक नाम के अलङ्कार को (कविजन) किसी लोकोत्तर वक्रभाव की रहस्यता के पास से जाने हैं अर्थात् वक्रता की परमार्थता को प्राप्त करा देने हैं । वैं उक्त से प्रस्तुत किए गए हुए होते हैं जिससे कि वक्रता की रमणीयता के वैचित्र्य आदि की रुचिमुग्धता के कारण वही तरव उत्कृष्ट रूप में प्रतिभासित होता है ।

कैसे (रूपकालङ्कार) को ? अन्य अलङ्कारों की रचना की सहायता वाले । अलङ्कारान्तर अर्थात् दूसरे ससन्देह उत्प्रेक्षा आदि (अलङ्कारों) का उल्लेख अर्थात् सृष्टि या रचना जिसकी सहाय्य अर्थात् काव्य में शोभनीयता की सृष्टि करने में

सहयोगी होती है उसे (रूपकालङ्कार को वक्रता की परमार्थता को प्राप्त करा देते हैं) किससे प्राप्त करा देते हैं—प्रतिभावश अर्थात् अपनी शक्ति की सामर्थ्य से । उस तरह के लौकिक कान्ति के अतिक्रमण कर जाने वाले विषय के गोचर होने पर उसका वर्णन किया जाता है । जहाँ उसना प्रसिद्ध होने के अभावश प्रसिद्ध व्यवहार का प्रयोग अनुचित सा प्रतीत होता है वहाँ दूसरे अलङ्कार को साय लेकर आने वाले (रूपक) के पुनरुल्लेख के द्वारा प्रस्तुत किए जाने के नाते सहृदयों के हृदय के साय सवादी होने के नाते सुन्दर एक उत्कृष्ट परिष्कार उत्पन्न हो जाता है । जैसे—

‘कि तावन्महती’ इत्यादि ।

इसके बाद कुन्तक ने किमी अन्य श्लोकार्द्ध को भी उदाहरण रूप में उद्धृत किया है जिसे कि बा० डे पढ़ नहीं सके । इस प्रकार रूपक का विवेचन समाप्त कर कुन्तक ‘अप्रस्तुतप्रशंसा’ अलङ्कार का विवेचन प्रारम्भ करते हैं ।

‘अप्रस्तुतोऽपि विच्छित्तिं प्रस्तुतस्यावतारयन् ।

यत्र तत्साम्यमाश्रित्य सम्बन्धान्तरमेव वा ॥ २१ ॥

वाक्यार्थोऽसत्यभूतो वा प्राप्यते वर्णनीयताम् ।

अप्रस्तुतप्रशंसेति कथितासावलङ्कृतिः ॥ २२ ॥

जहाँ उस (रूपक के लिए उपयोगी) समानता के अथवा दूसरे (निमित्त-भावादि) सम्बन्धों के आधार पर प्रस्तुत (अर्थात् वर्णन के लिए अभिप्रेत पदार्थ) की शोभा को उत्पन्न करता हुआ अप्रस्तुत अथवा असत्यभूत भी वाक्यार्थ वर्णन के योग्य बनाया जाता है उसे (आलङ्कारिकों ने) अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार कहा है ॥ २१-२२ ॥

एव रूपकं विचार्य तद्दर्शनसम्पन्निबन्धनामप्रस्तुतप्रशंसा प्रस्तौति—अप्रस्तुतोऽपीत्यादि । अप्रस्तुतप्रशंसेति कथितासावलङ्कृतिः—अप्रस्तुत-प्रशंसेति नाम्ना सा कथिता-अलङ्कारविद्भिरलङ्कृतिः । कीटशी—यत्र यस्यामप्रस्तुतोऽप्यविवक्षितः पदार्थो वर्णनीयतां प्रति प्राप्यते वर्णना-विषयः सम्पाद्यते । किं कुर्वन्—प्रस्तुतस्य विवक्षितार्थस्य विच्छित्तिमुप-शोभामवतारयन् समुल्लासयन् ।

इस प्रकार रूपक (अलङ्कार) का विवेचन कर उसके दर्शन की सम्पत्ति के मूल वाले (अर्थात् जिसके मूल में रूपक की दर्शनसम्पत्ति अर्थात् तदुपयोगी समता रहती है उस) अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार को प्रस्तुत करते हैं—अप्रस्तुतोऽ-पीत्यादि—कारिका के द्वारा । अप्रस्तुतप्रशंसा यह अलङ्कार कहा गया है

अर्थात् अलङ्कारवेत्ताओं ने उसे अप्रस्तुतप्रशंसा इस नाम का अलङ्कार कहा है। किस प्रकार की (यह अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कृति है) — जहाँ अर्थात् जिस (अलङ्कार) में अप्रस्तुत अर्थात् कहने के लिए नहीं भी अभिप्रेत पदार्थ वर्णनीयता को प्राप्त हो जाता है अर्थात् वर्णन का विषय बनाया है। क्या करता हुआ — प्रस्तुत अर्थात् कहने के लिये अभिप्रेत पदार्थ को विच्छित्ति अर्थात् सौन्दर्य को अवतीर्ण करता हुआ अनुसृत करता हुआ (अप्रस्तुत पदार्थ वर्णन का विषय बनाया जाता है)।

द्विविधा हि प्रस्तुतः पदार्थः सम्भवति—वाक्यान्तर्भूतपदमात्रसिद्धः सकलवाक्यव्यापककार्यो विविधस्वपरिस्पन्दातिशयविशिष्टप्राधान्येन वर्तमानश्च । तदुभयरूपमपि प्रस्तुत प्रतीयमानतया चेतसि विधाय पदार्थान्तरमप्रस्तुत तद्विच्छित्तिसम्पत्तये वर्णनीयतामस्यामलङ्कृतौ षष्ठ्यं प्रापयन्ति । किं कृत्या—तत्साम्यमाश्रित्य । तदनन्तरोक्तं रूप-कालङ्कारोपकारं साम्यं समत्वं निमित्तीकृत्य । सम्बन्धान्तरमेव वा निमित्तभावादि संश्रित्य । वाक्यार्थोऽसत्यभूतो वा—परस्परान्वयपद-समुदायलक्षणवाक्यकार्यभूतः । साम्यं सम्बन्धान्तरं वा समाश्रित्या-प्रस्तुत प्रस्तुतशोभायै वर्णनीयतां यत्र नयन्तीति ।

प्रस्तुत पदार्थ दो प्रकार का सम्भव होता है—(एक तो) वाक्य में अन्तर्भूत (विद्यमान) केवल एक पद से ही सिद्ध हो जाने वाला होता है (तथा दूसरा यह है) जिसका कार्य सम्पूर्ण वाक्य में व्यापक रहता है तथा अपने नाना प्रकार के स्वभावोत्कर्ष से विशिष्ट प्रधानता के साथ विद्यमान रहता है। इस प्रकार इस अलङ्कार में कविजन दोनों प्रकार के उस प्रस्तुत पदार्थ को गन्धमान रूप में अपने हृदय में रख कर, उसके सौन्दर्य की समृद्धि के लिए दूसरे अप्रस्तुत पदार्थ को वर्णन का विषय बनाते हैं। क्या करके (कविजन अप्रस्तुत को वर्णन का विषय बनाते हैं) उस साम्य का आश्रय ग्रहण कर। उस से तात्पर्य है अभी प्रतिपादित किए गये रूपक अलङ्कार का उपकार करने वाले साम्य अर्थात् समानता से, उसको निमित्त बनाकर अथवा दूसरे सम्बन्ध अर्थात् निमित्त (नैमित्तिक) भाव आदि का आश्रयण कर (अप्रस्तुत पदार्थ को कविजन वर्णन का विषय बनाते हैं)। अथवा असत्य भूत, वाक्यार्थ अर्थात् परस्पर अन्वय वाले पदों के समुदाय स्वरूप वाक्य का कार्यभूत (वर्णन का विषय बनाया जाता है)। साम्य अथवा दूसरे सम्बन्ध का आश्रयण करके अप्रस्तुत को प्रस्तुत की शोभा के लिए यही पर वर्णन का विषय बनाते हैं।

साम्यसमाश्रयणाद्वाक्यान्तर्भूतप्रस्तुतपदार्थप्रशंसा (यथा)—

लावण्यमिन्धुरपरैव नि केयमत्र

यत्रोपलानि शशिना सह सम्प्लवन्ते ।

उन्मज्जति द्विरदकुम्भनटी च यत्र

यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डा ॥ ८६ ॥

साम्य के आधार पर वाक्य में अन्तर्भूत प्रस्तुत पदार्थ की प्रशंसा का उदाहरण जैसे—(कोई युवक किसी तटणी को नदी में स्नान करते हुए देख कर कहता है कि ' यहाँ यह कोन सी दूसरी (सौन्दर्य) लावण्य की सरिता (प्रवाहित हो रही है) जिसमें चन्द्रमा के साथ कमल तैर रहे हैं, एवं जिसमें हाथी की कपोलस्यन्ती उभर रही है तथा जहाँ दूसरे कदलीस्तम्भ एवं मृणालदण्ड (दिखाई पड़ते हैं) ।

नाम्याश्रयणात्सरुतवाक्यव्यापकप्रस्तुतपदार्थप्रशंसा (यथा)—

छाया नात्मन एव या कथममावन्यस्य निष्प्रग्रहा

ग्रीष्मोष्मापदि शीतलस्तलमुवि स्पर्शाऽनिलादेः कुतः ।

वार्ता वर्षशते गते किल फलं भावीति वार्तैव सा

द्राघिमणा मुपिताः कियच्चिरमहो तालेन भाला वयम् ॥ ८७ ॥

साम्य के आधार पर सम्पूर्ण वाक्य में व्यापक प्रस्तुत पदार्थ की प्रशंसा का उदाहरण जैसे—

हम कम समस्त लोग तालवृक्ष की ऊँचाई से कितने ही समय तक ठगे गए जिसकी छाया अपने ही लिए भरीभाँति ग्रहण करने के योग्य नहीं है वह दूसरे के ग्रहण करने योग्य कैसे हो सकती है । ग्रीष्म की गर्मी की विपत्ति के आने पर जिसके नीचे की ही धरती पर शीतलता नहीं दिखाई देती तो उसकी वायु आदि से शीतल स्पर्श कैसे मिल सकता है । यह कहना कि सी सालों के बाद इसमें फल लगेगा यह एक कोरी बात ही रह जाती है ।

यहाँ मैंने सुभाषितावली (श्लो० ८२१) का पाठ ग्रहण किया है क्योंकि 'वार्तावर्षशतैरनेकलवल्' इस प्राचीन पाठ में 'अनेकलवल्' यह बहुव्रीहिपद किञ्च विशेष्य का विशेष्य होगा यह समस्त में नहीं आता । पता नहीं डा० डे इसे कैसे सगत मानते हैं ।

सम्बन्धान्तराश्रयणाद्वाक्यन्तर्भूतप्रस्तुतपदार्थप्रशंसा (यथा)—

इन्दुर्लित इवाञ्जनेन जडिता दृष्टिर्मृगीणामिव

प्रमत्तानारुणिमेव विद्रुमलता श्यामेव हेमप्रभा ।

कार्कश्यं कलया च कोकिलवधूकण्ठेष्विष्य प्रस्तुत

सीताया पुरनश्र हन्त शिखिनां बर्हा सगर्हा इव ॥ ८८ ॥

दूसरे सम्बन्ध के आधार पर वाक्य में अन्तर्भूत प्रस्तुत पदार्थ की प्रशंसा जैसे—आश्चर्य है । सीता के सामने चन्द्रमा मानो काजल से पोत दिया गया है, हरिणियों की आँखें मानो जड़ हो गई हैं, मूंगे की लता मानो मुरझाई हुई (अर्थात् धीमी पड़ गई) लालिमा वाली हो गई है, स्वर्णप्रभा मानो श्याम वर्ण हो गई है, एवं कठोरता मानो कपटपूर्वक कोकिलबधुओं के कण्ठ में उपस्थित हो गई है तथा मयूरो की पूंछें मानो निन्दनीय हो गई हैं ।

सम्बन्धान्तराश्रयणाद् सकलवाक्यव्यापकप्रस्तुतप्रशंसा (यथा)—

परामृशति सायकं क्षिपति लोचन कार्मुके

विलोकयति वल्लभां स्मितसुधार्द्रवक्त्र स्मरः ।

मधो. किमपि भापते भुवननिर्जयाप्रयावनि

गतोऽहमिति हर्षितः स्पृशति गोत्रलेखामहो ॥ ८९ ॥

अग्न्य सम्बन्ध के आधार पर समस्त वाक्य में व्यापक प्रस्तुत पदार्थ की प्रशंसा जैसे—

अहो ! कामदेव बाणों का परामर्श करता है, धनुष पर निगाह फेंकता है, मुस्कुराहट रूपी अमृत से मुख को आर्द्र कर प्रियतमा को देखता है, मधु से कुछ बाते करता है, 'लोको की विजय के लिए रणक्षेत्र के अप्रमाण में पहुँच गया हूँ' (ऐसा सोचकर) अतः हर्षित होकर छत्ररूपी चन्द्रलेखा का स्पर्श कर रहा है । (अगर 'गोत्रलेखा स्पृशति' यह पाठ किया जाय तो ताल ठीकता है यह अर्थ अधिक संगत होगा) ।

इसके बाद 'अस्त्यभूतवाक्यार्थतात्पर्याप्रस्तुतप्रशंसा' के उदाहरण-स्वरूप कुन्तक ने एक प्राकृत श्लोक को उद्धृत किया है जो कि पाण्डुलिपि के

१. आचार्यविश्वेश्वर जी ने यहाँ 'गोत्रलेखाम्' पाठ देकर के 'कामदेव (उस नवयौवना के) अङ्गों का स्पर्श करता है ।' यह अर्थ दिया है । गोत्र का कोश है—

"गोत्रं क्षेत्रेऽवधे छत्रे सम्भागे बोधवर्मनोः ।

यने नाम्नि च, गोत्रोऽष्टौ, गोत्रा भुवि गदागणे ॥" (अनेकार्थसङ्ग्रह) इन पर्यायों में से किसी का भी ग्रहण करने पर विश्वेश्वर जी का अर्थ नहीं निकल पाता ।

यहाँ कुन्तक के अनुसार कामदेव का चैष्टातिशय वप्रस्तुत है जब कि प्रस्तुत युवती के यौवन के प्रारम्भ का निर्देश करता है ।

अत्यन्त भ्रष्ट होने के कारण बा० डे द्वारा नहीं पढ़ा जा सका । इसके अनन्तर इस प्रकरण का उपसंहार करते हुए कुन्तक कहते हैं कि—

तदेवमयमप्रस्तुतप्रशसाव्यवहारः कवीनामतिवित्तप्रपञ्चः परिदृश्यते । तस्मात्सद्दृश्यैश्च स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयः । प्रशसाशब्दोऽत्र अर्थप्रकाशादिवद्विपरीतलक्षणया वर्तते ।

तो इस प्रकार यह अप्रस्तुतप्रशंसा का व्यवहार कवियों में अत्यधिक विस्तृत क्षेत्र वाला दिखाई पड़ता है, अतः सद्दृश्यजन स्वयं इसको समझें । यहाँ पर प्रशंसा शब्द अर्थप्रकाश आदि पदों के व्यवहार में पायी जाने वाली विपरीत लक्षणा से अर्थ प्रस्तुत करता है ।

शैवाद्वैत में प्रकाशस्वरूप केवल शिव हैं अर्थ नहीं । वाच्यवाचकरूप जगत् तो शक्तिपरिस्पन्दमात्र है, अतः अर्थप्रकाश में मुख्यार्थ बाधित माना जायगा । वस्तुतः अर्थ प्रकाशरूप शिव के विमर्श से आभासित होता है न कि अर्थ का कोई प्रकाश हो सकता है । अतएव विपरीत लक्षणा के द्वारा प्रकाशविमृष्ट अर्थ रूप अर्थ ही गृहीत होगा ।

इस प्रकार अप्रस्तुतप्रशंसा का व्याख्यान समाप्त कर कुन्तक पर्यायोक्त अलङ्कार का विवेचन प्रारम्भ करते हैं । पर्यायोक्त अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार है—

यद्वाक्यान्तरवक्तव्यं तदन्येष समर्थ्यते ।

येनोपशोभानिष्पत्त्यै पर्यायोक्तं तदुच्यते ॥ २३ ॥

दूसरे वाक्य द्वारा प्रतिपादित करने योग्य वस्तु सौन्दर्य की सृष्टि के लिए, उससे भिन्न जिस (वाक्य के) द्वारा प्रतिपादित की जाती है उसे पर्यायोक्त (अलङ्कार) कहा जाता है ॥ २३ ॥

एवमप्रस्तुतप्रशंसा विचार्य विवक्षितार्थप्रतिपादनाय प्रकारान्तराभिधानत्वादन्यैव समानप्रायं पर्यायोक्त विचारयति—यद्वाक्यान्तरेत्यादि । पर्यायोक्तं तदुच्यते—पर्यायोक्ताभिधानमलङ्करणं तदभिधीयते । कीदृशम्—यद्वाक्यान्तरवक्तव्यं वस्तु वाक्यार्थलक्षण पदसमुदायान्तराभिधेयं तदन्येन वाक्यान्तरेण येन समर्थ्यते प्रतिपाद्यते । किमर्थम्—उपशोभानिष्पत्त्यै विच्छित्तिसम्पत्तये । तत्पर्यायोक्तमित्यर्थः ।

तदेवं पर्यायवक्तृत्वात् किमत्रातिरिच्यते ? पर्यायवक्तृत्वस्य पदार्थमात्रं वाच्यतया विषयः पर्यायोक्तस्य वाक्यार्थोप्यङ्गतयेति वस्मात्पृथगभिधीयते । उदाहरणं यथा—

इस प्रकार अप्रस्तुतप्रशंसा का विवेचन कर विवक्षित अर्थ की प्रतीति कराने के लिए दूसरे वङ्ग में प्रतिपादन किये जाने के कारण लगभग इसी (अप्रस्तुतप्रशंसा) के सदृश पर्यायोक्त (अलङ्कार) का विवेचन करते हैं—
यद्वाक्यान्तर इत्यादि कारिका के द्वारा। पर्यायोक्त उसे कहा जाता है अर्थात् उसको पर्यायोक्त नाम का अलङ्कार कहा जाता है। कैसे उसको—जो दूसरे वाक्य के द्वारा कही जाने वाली अर्थात् अन्य पदसमूह के द्वारा प्रतिपादन की जाने वाली वाक्यार्थरूप वस्तु उससे भिन्न जिस दूसरे वाक्य से समर्पित अर्थात् प्रतिपादित की जाती है। किम लिए—उपमाना की निष्पत्ति के लिए अर्थात् सौन्दर्य की प्रतीति कराने के लिए। यह पर्यायोक्त (अलङ्कार) होती है यह अभिप्राय हुआ।

इस पर पूर्वपक्षी प्रश्न करता है कि इस प्रकार यहाँ पर्यायवक्तृता में अधिक क्या उत्कर्ष आता है (यह तो पर्यायवक्तृता ही हुई) ? इसका सन्धकार उत्तर देता है कि 'पर्यायवक्तृता का वाक्यरूप से कवच पदार्थ ही विषय होता है जब कि पर्यायोक्त अलङ्कार का वाक्यार्थ भी वङ्ग रूप में विषय होता है इसी लिए इसका अन्ग से प्रतिपादन किया गया है। इसका उदाहरण जैसे—

चक्राभिघातप्रसभज्ञयव चक्षर या राहुवधूजनस्य।

आलिङ्गनोद्दामविलासबन्धरतोत्सव चुम्बनमात्रशेषम् ॥ ६० ॥

जिस (विष्णु भगवान्) ने सुदर्शन चक्र के प्रहाररूप अनुष्ठान्तीय आदेश से ही राहु की स्त्रियों के सम्भोग के आनन्द को आलिङ्गन की प्रधानता वाले विलासों से शून्य केवल अवशिष्ट चुम्बन दाता कर दिया था।

इसके बाद सन्ध की पाण्डुलिपि में 'अत्र ग्रन्थपात' लिख कर कुछ सन्धभाग क छुप्त होने की सूचना दी गई है। वस्तुतः यह 'ग्रन्थपात' का सङ्केत पाण्डुलिपि में रूपकालङ्कार के विवेचन के प्रारम्भ में एवं पर्यायोक्त के अन्ग में दिया गया था। किन्तु रूपकालङ्कार के विवेचन के अनन्तर पुनः कुछ अंश का छुप्त होना द्योतित होता है क्योंकि उसके बाद विवेचित किए गए व्याजस्तुति अलङ्कार के केवल उदाहरण ही प्राप्त होते हैं लक्षण नहीं है। अतः डा० डे ने पाण्डुलिपि के कुछ पत्रों के क्रम की गड़बड़ी बताई है और उन्हें दीपकालङ्कार के अनन्तर रूपकालङ्कार का विवेचन प्रस्तुत किया है क्योंकि वृत्ति में स्वयं सन्धकार ने भी इस प्रकार सङ्केत किया है कि—

'एकदेशवृत्तिस्त्वयनेकदेशवृत्तिरव्यय रूपकस्य दीपकेन समालक्ष्यमिति तदनन्तर-
मस्योपनिबन्धनम्।'

इस लिये दीपक के अन्दर रूपक का तदनन्तर अप्रस्तुतप्रशंसा का विवेचन कर पर्यायोक्त का विवेचन किया गया है। अब पर्यायोक्त के अनन्तर 'ग्रन्थपात' इस सङ्केत के बाद जो श्लोक उद्धृत किए गये हैं वे रूपकालङ्कार के उदाहरण न होकर व्याजस्तुति के उदाहरण हैं। इससे स्पष्ट है कि छुप्त ग्रन्थभाग में व्याजस्तुति का लक्षण भी सम्मिलित है। उसके उदाहरण इस प्रकार है—

भूभारोद्धृणाय जेपशिरसां सार्थेन नन्नद्यते

विश्वस्य स्थितय स्वयं स भगवान् जागर्ति देवो हरि ।

प्रद्याप्यत्र च नाभिमानममम राजस्त्वया तन्वता

विश्रान्तिः क्षणमेकमेव न तयोर्जातेति कोऽयं क्रम ॥६१॥

पृथ्वी के भार को बहन करने के लिए शेषनाग के फणों के समूह ही सन्नद्ध होते हैं और विश्व के पालन के लिए उन भगवान् विष्णु को ही जागृत रहना पड़ता है। ऐ महा राज अप्रतिम अभिमान को धारण करते हुए तुम्हारे द्वारा एक क्षण भर के लिए आज भी उन दोनों को विश्राम न दिया जा सका यह बातों का कैसा चिन्तित रहा।

(यथा च)—

इन्दोर्लक्ष्मिपुरजयिनः ॥ इति ॥ ६२ ॥

(यथा वा)—

हे हेलाजित । इति ॥ ६३ ॥

(यथा च)—

नामाप्यन्यतरोऽर्च्य इति ॥ ६४ ॥

और जैसे (उदाहरण सं० ३४९ पर पूर्वोदाहृत)

इन्दोर्लक्ष्मिपुरजयिनः ॥ यह श्लोक ।

(या जैसे)—उदाहरण सं० ११९० पर पहले उदाहृत)

हे हेलाजित बोधिसत्त्व । इत्यादि श्लोक ।

तथा जैसे—(उदाहरण सं० ११९१ पर पहले उद्धृत)

नामाप्यन्यतरोर्निमीलितमभूत् ॥ इत्यादि श्लोक ।

इसके अनन्तर उत्प्रेक्षा अलङ्कार का विवेचन प्रारम्भ किया गया है। उत्प्रेक्षा का लक्षण इस प्रकार है—

सम्भावनानुमानेन सादृश्येनोभयेन वा ।

निर्वर्ण्यातिशयोद्रेकप्रतिपादनवाञ्छया ॥ २४ ॥

वाच्यवाचकसामर्थ्याक्षिप्तस्वार्थैरिवादिभिः ।

तदिवेति तदेवेति वादिर्मिर्वाचकं विना ॥ २५ ॥

समुल्लिखितवाक्यार्थव्यतिरिक्तार्थयोजनम् ।

उत्प्रेक्षा ॥ २६ ॥

सम्भावना द्वारा लाये गए अनुमान के द्वारा अथवा सादृश्य के द्वारा या दोनों के द्वारा जहाँ पर वर्णनीय के आतिशय्य की उत्पन्नता को प्रतिपादित करने की इच्छा से 'वा' इत्यादि वाचक के बिना 'उसके से' या 'वह ही' इत्यादि प्रकारों से वाच्य वाचक के सामर्थ्य से लाए गए अपने अर्थ वाले इस आदि सम्भावना के वाचकों के द्वारा उल्लिखित वाक्यार्थ से भिन्न अर्थयोजन होता है उसे उत्प्रेक्षा कहते हैं ॥ २४-२६ ॥

सम्भावनेत्यादि । समुल्लिखितवाक्यार्थव्यतिरिक्तार्थयोजनम् उत्प्रेक्षा । समुल्लिखितः सम्यगुल्लिखितः स्वाभाविकत्वेन समर्पयितुं प्रस्तावितो वाक्यार्थः पदसमुदायोऽभिधेयवस्तु तस्माद् व्यतिरिक्तस्यार्थस्य वाक्यान्तरतात्पर्यलक्षणस्य योजनमुपपादनमुत्प्रेक्षाभिधानमलङ्करणम् । उत्प्रेक्षणमुत्प्रेक्षेति विगृह्यते । किंसाधनेनेत्याह सम्भावनानुमानेन । सम्भावनया यदनुमान सम्भाव्यमानस्य***तेन ।

सम्भावनेत्यादि । भलीभाँति वर्णित वाक्यार्थ से भिन्न अर्थ की योजना उत्प्रेक्षा (होती है) । समुल्लिखित अर्थात् भलीभाँति वर्णित स्वाभाविक ढङ्ग से (अभिप्रेत वस्तु की) प्रतीति कराने के लिए प्रस्तुत किया गया वाक्यार्थ अर्थात् पदों का समूह रूप अभिधेय वस्तु उससे भिन्न अर्थ अर्थात् दूसरे वाक्य के तात्पर्य-भूत (अर्थ) की योजना अर्थात् उपपादन उत्प्रेक्षा नाम का अलङ्कार होता है । उत्प्रेक्षणम् उत्प्रेक्षा यह उत्प्रेक्षा का विग्रह होता है । किंस साधन से (योजना की जाती है) सम्भावना द्वारा लाये गए अनुमान के द्वारा । सम्भावना से जो सम्भाव्यमान का अनुमान किया जाता है उससे ।

प्रकारान्तरेणाप्येषा सम्भवतीत्याह—सादृश्येनेति । सादृश्येन साम्येनापि हेतुना समुल्लिखितवाक्यार्थव्यतिरिक्तार्थयोजनमुत्प्रेक्षैव । द्विविधां सादृश्यं सम्भवति—वास्तव्य काल्पनिकश्च । तत्र वास्तव्यमुपमादिविषयम् । काल्पनिकमिहाश्रियते ।

(सम्भावनानुमान से भिन्न) दूसरे ढङ्ग से भी यह (उत्प्रेक्षा) हो सकती है इसी बात को बताते हैं—सादृश्येन के द्वारा । सादृश्य अर्थात् समता के कारण भी सम्यक् वर्णित वाक्यार्थ से भिन्न अर्थ की योजना उत्प्रेक्षा ही होती है । सादृश्य

दो प्रकार का हो सकता है—(एक) वास्तविक (सादृश्य) तथा (दूसरा) काल्पनिक (सादृश्य) । उनमें वास्तविक (सादृश्य) उपमा आदि का विषय होता है । तथा काल्पनिक सादृश्य का आश्रय यहाँ (उत्प्रेक्षाालङ्कार में) ग्रहण किया जाता है ।

इसके बाद कुछ पङ्क्तियाँ लुप्त हैं । उन लुप्त पङ्क्तियों के अनन्तर विवेचन इस प्रकार प्रारम्भ होता है—

प्रकारान्तरमस्याः प्रतिपादयति—उभयेन वा । सादृश्यलक्षणेनोभयेन वा कारणद्विनयेन सवलितवृत्तिना प्रस्तुतव्यातिरिक्तार्थान्तरयोजनम् । उत्प्रेक्षा—प्रकारस्य तृतीयस्याप्यस्य केनाभिप्रायेणोपनिबन्धनमित्याह—निर्वर्ण्यतिशयोद्वेकप्रतिपादनवाच्छ्रया, वर्णनीयोत्कर्षोन्मेषसमर्पणाकाङ्क्षया । कथम्—तद्वेति तदेवेति वा द्वाभ्यां प्रकाराभ्याम् । तद्वि अप्रस्तुतमित्य, तदतिशयप्रतिपादनाय प्रस्तुतसादृश्योपनिबन्धः । तदेवेत्य-प्रस्तुतमेवेति तत्स्वरूपप्रसारणपूर्वक प्रस्तुतस्वरूपसमारोपः । प्रस्तुतोत्कर्ष-धाराधिरोहप्रतिपत्तये तात्पर्यान्तरयोजनम् । कैर्वाक्यैरुत्प्रेक्षा प्रकाशयते इत्याह—इवादिभिः । इवप्रभृतिभि शब्दैर्यथायोगं प्रयुज्यमानैरित्यर्थः । न चेदिति पश्चान्तरमभिधत्ते—वाक्यवाचकसामर्थ्याक्षिप्तस्वार्थैः । तैरेव प्रयुज्यमानैः, प्रतीयमानवृत्तिभिर्वा ।

इन उत्प्रेक्षा के अन्य (तीसरे) प्रकार का प्रतिपादन करते हैं—अथवा दोनों के द्वारा । सादृश्य स्वरूप वाले दोनों के द्वारा अथवा दोनों ही कारणों से मिली हुई अवस्था द्वारा प्रस्तुत से भिन्न दूसरे अर्थ की योजना (उत्प्रेक्षा ही होती है) । उत्प्रेक्षा के इस तीसरे प्रकार का भी किस आशय से प्रयोग किया जाता है इसे बताने हैं—वर्ण्यमान के अतिशय के सादृश्य का प्रतिपादन करने की इच्छा से अर्थात् जिसका वर्णन किया जा रहा है उसके उत्कर्ष की अधिकता को सम्पादित करने की अभिलाषा से । कैसे—‘उसके सदृश’ अथवा ‘वह ही’ इन दोनों प्रकारों से । ‘उसके सदृश’ का अर्थ है अप्रस्तुत के सदृश । अर्थात् उस प्रस्तुत के उत्कर्ष का प्रतिपादन करने के लिए प्रस्तुत के (अप्रस्तुत के साथ) सादृश्य का वर्णन किया जाता है । ‘वह ही’ का अर्थ है अप्रस्तुत ही अर्थात् उस (अप्रस्तुत) के स्वरूप को विस्तृत कर प्रस्तुत के स्वरूप का समारोप । प्रस्तुत के उत्कर्ष को चरमसीमा पर पहुँचाने के लिए अन्य तात्पर्य की योजना उत्प्रेक्षा होती है । किन् वाक्यों के द्वारा उत्प्रेक्षा प्रकाशित की जाती है—इव आदि के द्वारा । यथासम्भव प्रयुक्त किए जाने वाले इव इत्यादि शब्दों के द्वारा (उत्प्रेक्षा प्रकाशित की जाती है) । यदि (इवादि) न प्रयुक्त हूँ तो दूसरा पक्ष

प्रतिपादित करते हैं—अर्प एष वानर की सामर्थ्य से आक्षिप्त हो गये अपने अर्प वाले उन्ही प्रयुक्त किए जाने वाले (इवादि के द्वारा) अथवा सम्पत्ति वाले इवादि के द्वारा ।

सम्भावनानुमानात्प्रेक्षादाहरण (यथा)—

आपीडलोभादुपकर्णमेत्य प्रत्याहित' पाशुपतेर्द्विरेफेः ।

अमृत्यमाणेन महीपतीना सम्मोहमन्त्रो मकरध्वजेन ॥ ६४ ॥

सम्भावना के द्वारा किए गए अनुमान से उत्प्रेक्षा का उदाहरण जैसे—

शिरोशम के लोभ से कानो के पास आकर मकरन्दसंबलित धमरो के माध्यम से क्षमा न करते हुए कामदेव के द्वारा राजाओं के (कानों में) बशीकरण मन्त्र निक्षिप्त कर दिया गया है ।

काल्पनिकसादृश्योदाहरण (यथा)—

राशीभूतः प्रतिदिनमिव ज्यम्बकस्याट्टा न. ॥ ६६ ॥

यथा वा—

निर्मोकमुक्तिरिव गगनोरगम्य इत्यादि ॥ ६७ ॥

काल्पनिक सादृश्य (से की गई उत्प्रेक्षा) का उदाहरण जैसे—

मानो शिव जी का दैनंदिन अट्टहास पुजीभूत हो उठा हो ।

अथवा जैसे—

आकाश रूपी सर्व के केंचुलपरित्याग सा । इत्यादि ।

इसके बाद वास्तवसादृश्योत्प्रेक्षा के उदाहरण रूप में ग्रन्थकार ने एक पाकृत श्लोक को उद्धृत किया है जो कि पाण्डुलिपि के अत्यन्त भ्रष्ट होने के कारण पढ़ा नहीं जा सका । उसका दूसरा उदाहरण इस प्रकार है—

वास्तवसादृश्योदाहरण (यथा)—

उत्कुञ्जधानकुसुमस्तम्भकेन नम्रा

येय ध्रुता रुविरचूतलता मृगाद्या ।

शङ्खे न वा विरहिणीमृदुमर्दनस्य

भारस्य तार्जितमिदं प्रति पुष्पचापम् ॥ ६८ ॥

वास्तविक सादृश्य (से की गई उत्प्रेक्षा) का उदाहरण जैसे—

गृध्रनयनी ने जो विकसित गुन्दर फूलों के गुच्छे से शूली हुई इस गुन्दर क्षमलता को हिला दिया है, मैं ऐसा सोचता हूँ कहीं वियोगिनियों का मृदु मर्दन करने वाले कामदेव की पर्येक वृष्ण के धनुष की सर्जना तो नहीं है ।

इसके बाद ग्रन्थकार ने 'उत्प्रेक्षादाहरण' के रूप में भी एक प्राकृतश्लोक को उद्धृत किया है जो कि पाण्डुलिपि की भ्रष्टता के कारण पढ़ा नहीं जा सका ।

तदेवेत्यत्र वादिभिर्विनोदाहरणम्, यथा—

चन्दनासक्तभुजगनिःश्वासानिलमूर्च्छितः ।

मूर्च्छयत्येष पथिकान् मधो मलयमारुत ॥ ६६ ॥

‘बह (अप्रस्तुत) ही’ इस अर्थ १ वा आदि के बिना उत्प्रेक्षा का उदाहरण जैसे—

(मानो) चन्दन (के पेड़) में लिपटे हुए सपों की निश्वासवायु से मूर्च्छित हुआ (ही) यह मलयपवन वसन्त ऋतु में राहियों को मूर्च्छित कर रहा है ॥

यथा वा—

देवि त्वन्मुखपङ्कजेन इत्यादि ॥ १०० ॥

यथा वा—

त्वं रक्षसा भीरु इत्यादि ॥ १०१ ॥

अथवा जैसे (उदाहरण सख्या २।४४ पर पूर्वोदाहृत)—

देवि त्वन्मुखपङ्कजेन । इत्यादि श्लोक ।

अथवा जैसे (उदाहरण सख्या २।८० पर पूर्वोद्धृत)

त्वं रक्षसा भीरु ॥ इत्यादि श्लोक ।

तदेवेत्यत्र वाचक विनोदाहरणम् यथा—

एकैकं दलमुन्नमय्य इत्यादि ॥ १०२ ॥

‘बह (अप्रस्तुत ही) इस अर्थ में वाचक के बिना उत्प्रेक्षा का उदाहरण जैसे—

(उदाहरण सख्या १।१०२ पर पूर्वोद्धृत ‘यत्तेनारजसामुदञ्चति’...इत्यादि’ श्लोक का उत्तरार्द्ध)

- एकैकं दलमुन्नमय्य । इत्यादि श्लोक ।

इसके बाद प्रत्येक उत्प्रेक्षा के एक अन्य प्रकार को प्रस्तुत करता है जो इस प्रकार है

प्रतिभासात्तथा बोद्धुः स्वस्पन्दमहिमोचितम् ।

वस्तुनो निष्क्रियस्यापि क्रियायां कर्तृतार्षणम् ॥ २६ ॥

क्रियाहीन भी पदार्थों की क्रिया के प्रति अनुभव करने वाले को उस प्रकार की प्रतीति होने से अपने स्वभाव के उत्कर्ष के अनुरूप कर्तृत्व का आरोप (उत्प्रेक्षा अलङ्कार होता है) ॥ २६ ॥

तदिदमपरमुत्प्रेक्षायाः प्रकार परिदृश्यते—प्रतिभासादित्यादि । क्रियायां साध्यस्वरूपायां कर्तृतार्षण स्वतन्त्रत्वसमारोपणम् । कस्य—वस्तुनः पदार्थस्य निष्क्रियस्य क्रियाविरहितस्यापि । कीदृशम्—स्वस्पन्द-

महिमोचितम् । तस्य पदार्थस्य यः स्वस्वपन्दमहिमा स्वभावोत्कर्षस्त-
स्योचितमनुरूपम् । कस्मात्—बोद्धरनुभवितुस्तथा तेन प्रकारेण
प्रतिभासादवबोधोपात् । 'निर्वर्ण्यतिशयोद्वेकप्रतिपादनवाञ्छया' 'तद्विवेति
तदेवेति वादिभिर्वाचकं विना' इति पूर्ववादिहापि सम्बन्धनीये । उदा-
हरणं यथा—

तो यह उत्प्रेक्षा का दूसरा भेद दिखाई पड़ता है—'प्रतिभासात्' इत्यादि
(कारिका के द्वारा उसका स्वरूपनिरूपण करते हैं । साध्य रूप क्रिया के प्रति
कर्तृत्व का आरोप अर्थात् स्वतन्त्रता का समारोपण (उत्प्रेक्षा होती है) । किसी
(कर्तृता का आरोप) निष्क्रिय वस्तु अर्थात् क्रिया से हीन पदार्थ की (कर्तृता
का आरोप) । कंसा (कर्तृता का आरोप)—अपने स्वभाव की महिमा के
अनुरूप । उस पदार्थ की जो अपने स्वन्द की महिमा अर्थात् स्वभाव का अतिशय
उसके प्रति उचित अर्थात् योग्य (कर्तृता का आरोप) । किस कारण से (ऐसा
आरोप किया जाता है) बोद्धा अर्थात् अनुभव करने वाले की उसी प्रकार से
प्रतीति अर्थात् ज्ञान होने के कारण (आरोप किया जाता है, और यह आरोप)
'वर्ण्यमान पदार्थ के अतिशय के बाहुल्य का प्रतिपादन करने की इच्छा में' एवं
उस (अस्तुत) के समान, इस अर्थ में या 'यह (अस्तुत) ही' इस अर्थ में
या आदि तथा वाचक के विना (किया जाता है)—ऐसा पहले की ही भांति
यहाँ भी सम्बन्ध जोड़ लेना चाहिए । उदाहरण जैसे—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जन नभः ॥ १०३ ॥

यथा वा—

तरन्तीवाङ्गानि स्खलदमललावण्यजलधौ ॥ १०४ ॥

अत्र दण्डिना विहितमिति न पुनर्विधीयते ।

अन्धार अङ्गो को लीप सा रहा है तथा आकाश कज्जल सा बरसा रहा है ।

अथवा जैसे—(उदाहरण सख्या २।११ पर पूर्वोदाहृत)

तरन्तीवाङ्गानि स्खलदमललावण्यजलधौ ॥ आदि श्लोक)

यहाँ पर (अर्थात् ऐसे स्थलो पर) दण्डी ने (उत्प्रेक्षा का विधान) कर
दिया है अतः पुनः विधान नहीं किया जा रहा है ।

इसके अनन्तर कुन्तक एक तीसरा भी उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जो
पाण्डुलिपि के अरपन्त भ्रष्ट होने के कारण पढ़ा नहीं जा सका । उसके बाद
उत्प्रेक्षा के इस प्रकार के विषय में कुन्तक इस बात का निरूपण करते हैं कि—

अपहृत्याग्यालङ्कारलावण्यातिशयस्त्रियः ।

उत्प्रेक्षा प्रथमोल्लेखजीवितत्वेन जन्वते ॥ १०५ ॥

इत्यन्तरश्लोकः ।

दूसरे अलङ्कारों के सौन्दर्य एवं उत्कर्ष की शोभा का अपहरण कर उत्प्रेक्षा (अलङ्कार) प्रथम उल्लेख पाने वाले प्राण के रूप में स्फुरित होता है । यह अन्तर श्लोक है ।

इस प्रकार उत्प्रेक्षा अलङ्कार का निरूपण करने के अनन्तर कुन्तक अतिशयोक्ति अलङ्कार का विवेचन प्रारम्भ करते हैं—

यस्यामतिशयः कोऽपि विच्छित्त्वा प्रतिपाद्यते ।

वर्णनीयस्य घर्माणां तद्विदाह्लाददायिनाम् ॥ २७ ॥

जिसमें वर्णन किए जाने वाले पदार्थ के सहृदयों को आनन्दित करने वाले धर्मों का कोई लोकोत्तर उत्कर्ष वैदग्ध्यपूर्ण ढङ्ग से प्रतिपादित किया जाता है । (उसे अतिशयोक्ति अलङ्कार कहते हैं) ॥ २७ ॥

एवमुत्प्रेक्षां व्याख्याय नातिशयत्वमाट्टश्यसमुल्लमितावमरामतिशयोक्तिं प्रस्तौति—यस्यामित्यादि । मातिशयोक्तिरलङ्कृतिरभिधीयते । कीदृशी—यस्यामतिशयः प्रकर्षकाष्टाधिरोहः कोऽप्यतिक्रान्तप्रनिद्वयवहारसरणिः विच्छित्त्वा प्रतिपाद्यते वैदग्ध्यभङ्गया समर्प्यते । कस्य—वर्णनीयस्य घर्माणाम्, प्रस्तावाधिकृतस्य वस्तुनः स्वभावानुसम्बन्धिनां परिस्पन्दानाम् । कीदृशानाम्—तद्विदाह्लाददायिनाम्, काव्यविदानन्दकारिणाम् । यस्मात्सहृदयहृदयाह्लादकारि स्वस्पन्दसुन्दरत्वमेव काव्यार्थः, तत्तस्तदतिशयपरिपोषिकायामतिशयोक्तावलङ्कारकृतः कृतादरा ।

इस प्रकार उत्प्रेक्षा का विवेचन कर अतिशयमुक्ता रूप साम्य के कारण (उत्प्रेक्षा के अनन्तर) मवसरप्राप्त अतिशयोक्ति (अलङ्कार) का निरूपण करते हैं—अस्याम्—इत्यादि (कारिका के द्वारा) । उसे अतिशयोक्ति अलङ्कार कहा जाता है । कैसी होती है (वह अतिशयोक्ति)—जिसमें (लोक —) विस्फात व्यवहारपद्धति का उल्लङ्घन करने वाला कोई (लोकोत्तर) अतिशय अर्थात् उत्कर्ष का चरमसीमा पर पहुँच जाना विच्छित्ति के द्वारा प्रतिपादित किया जाता है अर्थात् वैदग्ध्यपूर्ण भङ्गी के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है (उसे अतिशयोक्ति कहते हैं) । किसके (अतिशय को इस ढङ्ग से प्रस्तुत किया जाता है ?)—वर्णनीय के धर्मों के (अतिशय को) अर्थात् प्रकरण के द्वारा अधिकृत पदार्थ के स्वभाव से सम्बन्धित व्यापारों के (अतिशय को प्रस्तुत किया जाता है) । किस प्रकार के धर्मों का (अतिशय) । उसे जानने वालों को आह्लाद प्रदान करने वाले अर्थात् काव्य (—तत्त्व) को समझने वाले (सहृदयों) का आनन्द उत्पन्न करने वाले

(धर्मों का अतिशय) । क्योंकि सहृदयों को आनन्दित करने वाले अपने स्वभाव से सुन्दर होना ही तो वाक्य का अर्थ होता है । इसी लिए उस अतिशय को परिपुष्ट करने वाली अतिशयोक्ति के प्रति आलङ्कारिकों ने समादर प्रदान किया है ।

इसके बाद कुन्तक ने अतिशयोक्ति के पाँच उदाहरण देकर उनकी व्याख्या प्रस्तुत की है । पर पाण्डुलिपि के भ्रष्ट होने के कारण व्याख्या तो पढ़ी ही नहीं जा सकी । श्लोक भी केवल तीन ही पढ़े जा सके हैं जो इस प्रकार हैं—

स्वपुष्पच्छविहारिण्या चन्द्रभासा^१ तिरोहिताः ।

अन्वमीयन्त भृङ्गालिवाचा^१ सप्तच्छदद्रुमाः ॥ १०६ ॥

अपने ही फूलों की कान्ति का अपहरण कर लेने वाली 'चन्द्रमा' की प्रभा से छिप गए हुए सप्तदर्पण के वृक्षों का भ्रमरो की ध्वनि से अनुमान किया गया ।

(यथा वा)—

शक्यमोषधिपतेर्नवोदयाः कर्णपूररचनाकृते तव ।

अप्रगल्भयवसूचिकोमलारक्षेत्तुममनखसम्पुटैः करा^१ ॥ १०७ ॥

अथवा जैसे—

नये-नये उदयवाली, अकठोर जो के अक्षुर की तरह सुकुमार, ओषधिपति (चन्द्रमा) की किरणें तुम्हारे कर्णवत्तल की निर्माणक्रिया के लिए नामूनो के अग्रभाग से काटी जा सकने योग्य है ।

(यथा वा)—

यस्य प्रोच्छ्रयति प्रतापतपने तैजस्विनामित्यल

लोकालोकधराधरावति यशःशीतांशुचिम्बे प्रधा ।

त्रैलोक्यप्रयितावदानमहिमक्षोणीशयशोऽङ्गवौ

सूर्याचन्द्रमसौ स्वयं तु कुशलच्छाया समारोहतः ॥ १०८ ॥

१. डा० डे ने वक्तोक्ति जीवित में 'स्वपुष्पच्छविहारिण्यचन्द्रभासा' पाठ दे रखा है जो अस्तमौरीन दे । जैसा पाठ मैंने दिया है वही पाठ मामद के काव्यालङ्कार (२६२) बाहमनोरमा सौरीन न० ५४ में दिया हुआ है ।

२. डा० डे के तृतीय संस्करण में 'भृङ्गालिवाचा' पाठ छपा है । सम्भवतः वह क में दार्ष्ट ईकार छापने वालों के प्रमादवश छप गया है, वैसे मैंने भृङ्गालिवाचा कर दिया है ।

अथवा जैसे—

जिसके प्रतापरूपी सूर्य के ऊपर चढ़ जाने पर अन्य तेजस्वियों की चर्चा ही व्यर्थ है और जिसके यश रूपी चन्द्रबिम्ब के समुच्छिन्न होने पर लोक में प्रकाश धारण करने वालों के निम्नवर्ती होने के विषय में अत्यधिक चर्चा होने लगती है। त्रैलोक्य में विख्यात बल की महिमा वाले राजाओं के यश के मूल भूत सूर्य और चन्द्रमा स्वयं कुशलता के लिए (जिसकी) छाया का आश्रयण कर लेते हैं।

इसके अनन्तर कुन्तक विस्तारपूर्वक उपमा अलङ्कार का विवेचन प्रारम्भ करते हैं। परन्तु जैसा कि डा० डे ने लिखा है इस स्थल पर पाण्डुलिपि अत्यन्त भट्ट है। अतः इसके विवेचन को पूर्ण रूप से सही सही प्रस्तुत कर सकना कठिन हो गया है। प्रयास करके जैसा डा० डे ने मूल में दे रखा है उसे ही सद्धृत कर उसका अर्थ यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। उपमा का लक्षण है—

विवक्षितपरिस्पन्दमनोहारित्वसिद्धये ।

वस्तुनः केनचित्साम्यं तदुत्कर्षवतोपमा ॥ २८ ॥

पदार्थ के वर्णन के लिए अभिप्रेत, किसी धर्म की हृदयावर्जकता की निष्पत्ति के लिए उसके अतिशय से सम्पन्न किसी पदार्थ के साथ (उसका) सादृश्य उपमा होता है ॥ २८ ॥

तां साधारणधर्मोक्तौ वाक्यार्थे वा तदन्वयात् ।

इवादिरपि विच्छित्या यत्र वक्ति क्रियापदम् ॥ २९ ॥

उस उपमा को साधारण धर्म का कथन होने पर इव आदि सूत्र अपवादाकार्य में उन (पदार्थों) का सम्बन्ध होने के कारण क्रियापद भी वैदम्भ्यपूर्ण ढङ्ग से प्रतिपादित करते हैं ॥ २९ ॥

इदानीं साम्यसमुद्भासिनो विभूषणवर्गस्य विन्यासविच्छित्ति विचारयति—विवक्षितेत्यादि। यत्र यस्यां वस्तुनः प्रस्तावाधिकृतस्य केनविदप्रस्तुतेन पदार्थान्तरेण साम्यं सादृश्यं सोपमा उपमालङ्कृति-

१. यदि इत कारिका को हम रूप में रखा जाय तो शायद अधिकसमोचीन होगा—

क्रियापदं विच्छित्या यत्र वक्ति इवादिरपि ।

ता साधारणधर्मोक्तौ वाक्यार्थे वा तदन्वयात् ॥

भयोकि वृत्ति में जैसा कि डा० डे ने दे रखा है—एवविधानुपमा का प्रतिपादयतीत्याह—क्रियापदमित्यादि। इसमें स्पष्ट है कि द्वितीय कारिका का प्रारम्भ 'क्रियापदम्' से हो होता है।

रूपमित्युच्यते । किमर्थमप्रस्तुतेन साम्यमित्याह—विवक्षितपरिस्पन्द-
मनोहारित्वसिद्धये । विवक्षितो वक्तुमभिप्रेतो योऽसौ परिस्पन्दः कश्चिदेव
धर्मविशेषस्तस्य मनोहारित्वं हृदयल्लुक्तत्वं तस्य सिद्धिर्निष्पत्तिस्तद-
र्थम् । कीदृशेन पदार्थान्तरेण—तदुत्कर्षवता । तदिति मनोहारित्वं
परागृह्यते । तस्योत्कर्षं सातिशयत्वं नाम तदुत्कर्षः, स विद्यते यस्य स
तथोक्तस्तेन तदुत्कर्षवता ।

तदिदमत्र तात्पर्यम्—वर्णनीयस्य विवक्षितधर्मसौन्दर्यमेव यथै-
प्रस्तुतपदार्थस्य धर्मिणो वा साम्यं युक्तियुक्ततामर्हति । धर्मैरेति नोक्तं
केवलस्य तस्यामम्भवात् । तदेवमय धर्मद्वारको धर्मिणोरुपमानोपमेय-
लक्षणयोः फलतः साम्यममुच्यते पर्यवस्यति ।”

अब सादृश्य के कारण प्रकाशित होने वाले अलङ्कारसमुदाय के वर्णन-
सौन्दर्य का (व्यङ्ग्यकार) विवेचन करता है—विवक्षित—इत्यादि कारिका के
द्वारा । जहाँ अर्थात् जिसमें प्रकरण द्वारा अधिकृत वस्तु का किसी दूसरे अप्रस्तुत
पदार्थ से साम्य अर्थात् सादृश्य होता है वह उपमा होती है, (विद्वान्) उसे
उपमा रूप अलङ्कार कहते हैं । अप्रस्तुत के साथ सादृश्य किस लिए प्रतिपादित
किया जाता है, इसे बताते हैं—कि विवक्षित धर्म की मनोहारिता की सिद्धि के
लिए । विवक्षित अर्थात् वर्णन के लिये अभिप्रेत जो वह परिस्पन्द अर्थात् कोई
धर्मविशेष उसका जो मनोहारित्व अर्थात् हृदय को आनन्दित करने का भाव
उसकी सिद्धि अर्थात् निष्पत्ति (अथवा प्रतीति) के लिए (अप्रस्तुत के साथ
साम्य प्रतिपादित किया जाता है) । कैसे दूसरे पदार्थ के साथ—उसके उत्कर्ष
से युक्त (पदार्थ के साथ) । ‘उक्त’ से यही मनोहारिता का परामर्श होता है ।
उक्त (मनोहारिता) का उत्कर्ष अर्थात् सातिशयता उसका उत्कर्ष है, वह (उत्कर्ष)
जिसमें विद्यमान हो उसे उस उत्कर्ष से युक्त कहा जायगा । उसी उत्कर्ष युक्त
अन्य पदार्थ के द्वारा (साम्य प्रतिपादित किया जाता है) ।

तो यही इसका आशय यह है कि—वर्णनीय (पदार्थ) के विवक्षित धर्म के
सौन्दर्य की सिद्धि के लिये वर्णनीय पदार्थ का अथवा धर्मों का सादृश्य युक्तिसङ्गत
होता है । धर्म के साथ (साम्य) नहीं कहा गया है क्योंकि (बिना धर्मों)
के अकेले धर्म की स्थिति असम्भव होती है । तो इस प्रकार परिणामरूप में
यह (सादृश्य का समाहार) धर्म के द्वारा उपमान एवं उपमेय रूप धर्मियों में
पर्यवसित होता है ।

एवविधामुपमा फः प्रतिपादयतीत्याह—क्रियापदमित्यादि । क्रियापदं
धात्वर्थः । वाच्यवाचकसामान्यमात्रमत्राभिप्रेतम् न पुनराख्यातपदमेव ।
यस्मादमुख्यभावेनापि यत्र क्रिया वर्तते तदप्युपमावाचकमेव ।”

तदेवमुभयरूपोऽ(पम)पि क्रियापरिस्पन्दः...तामुपमां वक्तव्यमिधत्ते ।
कथम्—विच्छित्त्वा, वैदग्ध्यमङ्गत्वा । विच्छित्तिविरहेणाभिधानेन तद्वि-
दाह्लादकत्वं न सम्भवतीति भावः ।

इस प्रकार की उपमा का प्रतिपादन कौन करता है इसे बताते हैं—
क्रियापदम् इत्यादि (कारिका के द्वारा) । क्रिया पद अर्थात् धात्वर्थ । यहाँ
केवल वाच्यवाचक सामान्य अर्थ ही अभीष्ट है केवल आख्यात पद अर्थ नहीं ।
क्योंकि जहाँ क्रिया गौण रूप से भी रहती है वह (क्रिया पद) भी उपमा का
वाचक ही होता है ।

इस प्रकार यह उभयरूप भी क्रिया का परिस्पन्द उस उपमा को प्रतिपादित
करता है । (क्रिया पद) कैसे (प्रतिपादित करता है) विच्छित्ति के द्वारा अर्थात्
वैदग्ध्यपूर्ण भङ्गिमा के द्वारा । इसका आशय यह है कि विच्छित्ति से हीन
प्रतिपादन के द्वारा सहृदयों की आह्लादकता सम्भव नहीं ।

तावत् क्रियापद न केवलं तां वक्ति यावद् इत्यादिः इवप्रभृतिरपि ।
तत्समर्पणसामर्थ्यसमन्वितो यः कश्चिदेव शब्दविशेषः प्रत्ययोऽपि,
समासो बहुव्रीह्यादिः विच्छित्त्वा तां वक्तोरपिः ममुच्चये ।
कस्मिन् सति—साधारणधर्मोक्तौ । साधारणः समानो यो साध्योप-
मानोपमेययोरुभयोरनुयायिनोः धर्मः... । कुत्र—वाक्यार्थे वा । परस्परा-
न्वयसम्बन्धेन पदसमूहो वाक्यम् । तदभिधेयं वस्तु विभूष्यत्वेन
विषयगोचर तस्याः । कथम्—यदन्वयात् । तदिति पदार्थपरामर्शः ।
तेषां पदार्थानां समन्वयाद् अन्योऽन्यमभिसम्बद्धत्वात् । वाक्ये बहवः
पदार्थाः सम्भवन्ति, तत्र परस्पराभिसम्बन्धमाहात्म्यात् ।

और यहाँ तक कि केवल क्रिया पद ही उस समता का प्रतिपादन नहीं करता
बल्कि इव आदि भी (करते हैं) । उस (साम्य) को प्रतिपादित करने की सामर्थ्य
से युक्त जो कोई भी शब्दविशेष, प्रत्यय या बहुव्रीहि आदि समास होने हैं सभी
विच्छित्तिपूर्वक उस उपमा का प्रतिपादन करते हैं । इस प्रकार अपि शब्द का
प्रयोग यहाँ समुच्चय अर्थ में हुआ है । किसके उपस्थित होने पर (साम्य का
प्रतिपादन करते हैं) साधारण धर्म का कथन होने पर । साधारण अर्थात्
साध्य उपमान एवं उपमेय दोनों ही अनुयायियों का जो समान धर्म... (उसका
कथन होने पर ?) कहीं—वाक्यार्थ में । परस्पर अन्वय रूप सम्बन्ध वाला
होने के कारण पदों का समूह वाक्य होता है । उसके द्वारा प्रतिपाद्य पदार्थ
अलङ्कार्य रूप से उस (उपमा) का विषय होता है । कैसे—उनका
सम्बन्ध होने से । तत् के द्वारा पदार्थ का परामर्श होता है । उन पदार्थों का

समन्वय होने से अर्थात् एक दूसरे से सम्बन्धित होने के कारण वाक्य में बहुत से पदार्थ सम्भव होते हैं, उनमें परस्पर सम्बन्ध के प्रभाव से (इवादि अपवा क्रियापद उपमा का प्रतिपादन करते हैं ।)

तदेव तुल्येऽस्मिन् वस्तुसाम्ये सत्युपमोत्प्रेक्षावस्तुनोः पृथक्स्व-
मित्याह—

तो इस प्रकार इस वस्तुसाम्य के समान होने पर (भी) उपमा एवं उत्प्रेक्षा की वस्तुएँ अलग अलग होती हैं इसे बताते हैं—

उत्प्रेक्षावस्तुसाम्येऽपि तात्पर्यगोचरो मतः ॥ ३० ॥

तात्पर्य पदार्थव्यतिरिक्तवृत्ति वाक्यार्थजीवितभूत वस्त्वन्तरमेव
गोचरो विषयस्तद्विदामन्तः प्रतिभासः यम्य ।

उत्प्रेक्षा की वस्तु अर्थात् अप्रस्तुत और वाचक आदि की समानता होते हुए भी उपमा के प्रसङ्ग में धर्म हो प्राधान्य प्राप्त करता है अर्थात् धर्मोपन्यास के द्वारा ही उपमा उत्प्रेक्षा से विविक्त विषय हो जाती है । उत्प्रेक्षा में समान धर्म को नहीं प्रस्तुत किया जाता । तात्पर्य अर्थात् पदों के अर्थों से भिन्न व्यापार वाला वाक्यार्थ का प्राणभूत दूसरा तरव हो गोचर अर्थात् विषय याने उसे जानने वाले सहृदयों के हृदय में प्रतिभास होता है जिस धर्म का (वही धर्म उपमा को उत्प्रेक्षा से पृथक् कर देता है) । [पाण्डुलिपि की भ्रष्टता के कारण इन पंक्तियों का आशय सुस्पष्ट नहीं हो पाता]

अमुख्यक्रियापदपदार्थोपमोदाहरण यथा—

पूर्णेन्दोस्तव मवादि वदनं वनजेक्षणे ।

पुष्पाति पुष्पचापस्य जगत्त्रयजिगीषुताम् ॥ १०६ ॥

गोप क्रियापद पदार्थ की उपमा का उदाहरण जैसे—

हे कमलो के सहस्र नेत्रों वाली (प्रियतमे !) पूर्ण चन्द्रमा के साथ साम्य रखने वाला तुम्हारा मुख पुष्पचाप (कामदेव) की तीनों लोकों में जीतने की इच्छा को परिपुष्ट करता है ॥ १०९ ॥

इवादिप्रतिपाद्यपदार्थोपमोदाहरणं यथा—

निपीयमानस्तवका शिलीमुखैः ॥ इत्यादि ॥ ११० ॥

इव आदि के द्वारा प्रतिपादित किये जाने वाले पदार्थ की उपमा का उदाहरण जैसे—

(उदाहरणसंख्या १।११९ पर पूर्वोद्धृत)

निपीयमानस्तवका शिलीमुखैः ॥ इत्यादि दलोक ॥ ११० ॥

आख्यातपदप्रतिपाद्यपदार्थोपमोदाहरणं यथा—

ततोऽरुणपरिस्पन्द ॥ इत्यादि ॥ १११ ॥

आख्यात पद के द्वारा प्रतिपाद्य पदार्थ की उपमा का उदाहरण जैसे—
(उदाहरण संख्या १।१९ पर पूर्वोद्धृत)

ततोऽरुण परिस्पन्द ॥ इत्यादि श्लोक ॥ १११ ॥

तथाविधत्वाद्वाक्योपमोदाहरणं यथा—

मुखेन सा केनकपत्रपाण्डुना

कृशाद्गयष्टि' परिमेयभूपणा ।

स्थितान्पतारां तरुणीन्दुमण्डलां

विभातकल्पां रजनीं व्यडम्बयत् ॥ ११२ ॥

इत्यादि ।

उस प्रकार का होने से वाक्योपमा का उदाहरण जैसे—

उस कृशाङ्गलता वाली और सीमित भूषणों वाली तरुणी ने अपने केबड़े की पंखुड़ियों की तरह पीले मुख के द्वारा पीछे से बचे हुए तारों वाली, चन्द्रमण्डल वाली, प्रातःप्राया रात्रि की तुलना प्रस्तुत कर रही है ॥ ११२ ॥

इत्यादि ।

अप्रतिपाद्यपदार्थोदाहरणं यथा—

चुम्बन्कपोलतलमुत्पुलकं प्रियायाः

स्पर्शोल्लसन्नयनमामुकुलीचकार ।

आविर्भवन्मधुरनिद्रमिवारविन्द-

'मिन्दुस्पृशास्तिमितमुत्पलमुत्पलिन्याः ॥ ११३ ॥

अप्रतिपाद्य पदार्थोपमा का उदाहरण जैसे—

जिस तरह से चन्द्रमा के स्पर्श के कारण कमलिनी का ऊपर उठा हुआ और याती हुई मधुर नींद वाला अर्तिबिंद अस्तमित या स्तिमित हो उठता है उसी

१. वा० बे के द्वारा पादटिप्पणियों में उपन्यस्त मातृका में पाठ 'मिन्दस्पस्त' है। उन्होंने उसका रूप 'मित्रस्पृशास्त०' कर दिया है परन्तु 'अस्तमितता' या 'स्तिमितता' कमलिनी में केवल चन्द्र के ही स्पर्श से आ सकती है सूर्य के स्पर्श से तो वह प्रफुल्ल हो उठेगी न तो वह 'अस्तमित' होगी और न 'स्तिमित'। अतः मैंने यहाँ पर 'इन्दुस्पृशा' पाठ ग्रहण किया है। इसमें यहाँ पर केवल उद्धार की भाशा काट देने से मातृका का पाठ शुद्ध हो जायगा, पूरा का पूरा पद नहीं बदलना पड़ेगा।

तरह प्रियतमा के रोमान्त्रिक कपोल का चुम्बन लेते हुए नायक के चुम्बन स्पर्श के कारण उल्लसित होते हुए उसके नेत्र की आनन्द निमीलित पर दिया ॥ ११३ ॥

तथाविधवाक्योपमोदाहरणं यथा—

पाण्ड्योऽयमसापितलम्बहारः

कलसाङ्गरागो हरिचन्दनेन ।

आभाति शालातपरक्तसानुः

सनिर्मरोद्गार इवाद्रिराजः ॥ ११४ ॥

उस प्रकार की वाक्योपमा का उदाहरण जैसे—

कन्धो पर धारण किए गये लम्बे हार वाला एवं हरिचन्दन से शरीर पर किए गए लेप वाला यह पाण्डुजनपद का राजा शतःकालिक धूप से लाल चिस्सरो वाले, एवं सरनो के प्रवाह से युक्त पर्वतराज (हिमालय) की तरह सुशोभित हो रहा है ॥ ११४ ॥

इन सभी उदाहरणों का विरलेषण करने के अनन्तर ग्रन्थकार कहता है कि—

आदिमहणाद् इवादिन्यतिरिक्तेनापि तथादिशब्दोत्तरेणोपमा-
प्रतीतिरिति ।

‘आदि’ शब्द का ग्रहण करने के कारण इवादि से भिन्न भी ‘तथा’ आदि शब्दों के द्वारा उपमा की प्रतीति होती है ।

पूर्णन्दुकान्तिवदना नीलोत्पलविलोचना ॥ ११५ ॥

पूर्ण चन्द्र की कान्ति के सदृश कान्ति वाले मुख वाली एवं नील कमल के सदृश नयनों वाली (सुन्दरी स्त्री है) ॥ ११५ ॥

इ० के कहते हैं कि सम्भवतः यह श्लोक समासोपमा का उदाहरण है ।

यान्त्या मुहुर्वालतकन्धरमाननं त-

दायृत्तघृन्तशतपत्रनिर्भं वहन्त्या ।

दिग्घोऽमृतेन च विप्रेण च पदमस्तादया

गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः ॥ ११६ ॥

मुझे हुए झण्डल वाले कमल के सदृश, बार बार मुझी हुई गर्दन वाले उस मुख को धारण करते हुए जाती हुई, घनी बरोनियों वाली आँखों वाली उस (नायिका) ने बिप तथा अमृत से उपलब्ध कटाक्ष को मेरे हृदय में मानो सुरङ्ग रूप से गाढ़ दिया है ॥ ११६ ॥

मास्त्रिप्रीकृतपट्टसूत्रमदृश पादानय पुञ्जयन्
यात्यस्ताचलचुम्बिनी परिणनि स्वैरं प्रहग्रामणीः ।
वात्यावेगविधर्निताम्बुजरजश्लत्रायमाणः श्रृण
श्रीणज्योतिरितोऽप्यय स भगवानर्णोनिर्धा भजति ॥ ११७ ॥

मंजीठ के रंग के बना दिए गए हुए पट्ट सूत्र के सदृश अपनी किरणों को बटोरता हुआ ग्रहों के समूह का नायक (सूर्य) अस्तगिरि का स्पर्श करने वाली परिवृत्ति को स्वेच्छया प्राप्त कर रहा है । बबण्डर के वेग से घुमाए गए कमल के पराग के द्वारा क्षण भर को छत्र सा धारण करते हुए क्षीणज्योति होकर यह वे भगवान सूर्य सागर में डूबे जा रहे हैं ॥ ११७ ॥

रामेण मुग्धमनसा वृषलाञ्छनस्य
यज्जर्जरं धनुरभाजि मृणालभञ्जम् ।
तेनाऽमुना त्रिजगदपितकीर्तिभारो
रक्ष'पतिर्ननु मनाक् न विडम्बितोऽभूत् ॥ ११- ॥

भोले चित्त वाले राम ने वृषभकेतन शिव के जर्जर धनुष को जो मृणाल तोड़ने के तुल्य (अनायास) तोड़ डाला उसकी वजह से तीनों लोको में अपनी कीर्ति के बोझ को समर्पित करने वाला राक्षसराज रावण इन राम के द्वारा क्या चोड़ा भी कदाचित्त नहीं हुआ ? ॥ ११८ ॥

महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम कृपाम् ।

अनन्तपु'पस्य मघोर्नि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा ॥ ११९ ॥

अनेक पुत्रों तथा पुत्रियों वाले उस पर्वत (हिमालय) की भी दृष्टि उस सन्तान (पार्वती) में तृप्त नहीं हुई (अर्थात् हिमालय की दृष्टि हमेशा उसी पर लगी रहती थी) जैसे कि असङ्ख्य फूलों वाले वसन्त की भ्रमरपङ्क्ति आन्न-मन्जरियों में विशेष रूप से आसक्त रहती है ॥ ११९ ॥

ऊपर के उद्धरणों में अन्तिम उद्धरण 'महीभृतः इत्यादि' में कुन्तक अर्षान्तिरग्यास की भ्रान्ति की स्वीकार करते हैं । इसके बाद दो अन्य श्लोक —
इत्याकणितकालनेमिवचनो "आदि ॥

तथा इतीदमाकर्ष्य तपस्विकन्याआदि ॥ को भी कुन्तक उद्धृत करते हैं परन्तु पाण्डुलिपि के भ्रष्ट होने के कारण इन्हें पूर्णरूपेण उद्धृत कर पाना कठिन था । इसी लिए इन श्लोकों को मैंने नहीं उद्धृत किया ।

इसके बाद कुन्तक इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि क्या 'प्रतिबस्तूपमा मलद्धार' को अलग से एक अलङ्कार स्वीकार करना आवश्यक है अथवा उपमा में ही उसका अन्तर्भाव हो जाएगा । कहते हैं—

समानवस्तुन्यामोपनिबन्धना प्रतियस्तूपमापि न पृथग् यत्कव्यता-
मर्हति, पूर्वोदाहरणेनैव समानयोगक्षेमत्वात् ।

[भामह के अनुसार] समान वस्तु विन्यास के हेतु वाली प्रतिवस्तूपमा भी अलग (स्वतन्त्र अलङ्कार रूप से) कही जाने योग्य नहीं है । पूर्व उदाहरण के समान ही योगक्षेम वाली होने के कारण ।

समानवस्तुन्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते ।

यथेवानमिधानेऽपि गुणसाम्यप्रतीतिः ॥ १२० ॥

समान वस्तु के विन्यास के द्वारा गुणों के सादृश्य की प्रतीति होने के कारण, 'यथा' तथा 'इव' का कथन न होने पर भी प्रतिवस्तूपमा (अलङ्कार) कहा जाता है ॥ १२० ॥

साधु साधारणत्वादिर्गुणोऽत्र व्यतिरिच्यते ।

स साम्यमापादयति विरोधेऽपि तयोर्यथा ॥ १२१ ॥

यहाँ (उपमान तथा उपमेय के) साधुत्व एवं साधारणत्वादि गुण भिन्न होते हैं, तथा उन दोनों का विरोध होने पर भी वह (प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार) समानता की प्रतीति कराता है । जैसे—

कियन्तः सन्ति गुणिनः साधुसाधारणश्रियः ।

स्वादुपाकफलानाम्ना कियन्ता बाध्वशासिनः ॥ १२२ ॥

साधुओं में सामान्य रूप से पाई जाने वाली श्री वाले कितने गुणी लोग हैं ?
अथवा स्वादिष्ट फलों के हुए फलों से झुके हुए मार्ग में स्थित वृक्ष कितने हैं ?—
जर्पात् बहुत कम हैं ॥ १२२ ॥

अत्र समानविलसितानामुपमेयामपि कविविवक्षितविरलत्वलक्षण-
साम्यव्यतिरेकि न किञ्चिदन्यन्मनोहारि जीवितमतिरच्यमानमुपलभ्यते ।

[इसक विषय में कुन्तक का कहना है कि] यहाँ समान सौन्दर्य वाले (गुणियों तथा वृक्षों) दोनों का ही, कवि के वर्णन के लिये अभिप्रेत 'विरलता' रूप सादृश्य से भिन्न कोई दूसरा मनोहर एव उत्कर्षयुक्त तत्त्व नहीं दिखाई पड़ता है ।

इसक अनन्तर कुन्तक उसी प्रकार 'उपमेयोपमा' तथा 'तुल्ययोगिता' के भी अलग अलङ्कार नहीं स्वीकार करते । अपि तु उनका भी अन्तर्भाव उपमा में ही कर देते हैं । वे कहते हैं—

तदेवं प्रतिवस्तूपमायाः प्रतीयमानोपमायामन्तर्भावोपपत्तौ सत्या-
मिदानीमुपमेयोपमादेरुपमायामन्तर्भावो विचार्यते—

तो इस प्रकार प्रतिवस्तुपमा (अलङ्कार) का प्रतीयमानोपमा मे अन्तर्भाव सञ्जत हो जानेपर अब (ग्रन्थकार) उपमेयोपमा आदि का उपमा मे अन्तर्भाव करने का विवेचन करते है—

सामान्या, न व्यतिरिक्ता, लक्षणानन्यथास्थितेः ॥ ३१ ॥

(उपमेयोपमा) सामान्य (उपमा ही) है, उससे भिन्न नहीं, लक्षण की व्यतिरिक्त रूप मे स्थिति (सम्भव) न होने के कारण ॥ ३१ ॥

तत्स्वरूपमभिधानं लक्षण, तस्यानन्यथास्थिते. अतिरिक्तभावेन नाव-
स्थानान् ।

उसके स्वरूप का प्रतिपादन लक्षण होता है । उस लक्षण की अन्यथा स्थिति न होने से अर्थात् अतिरिक्त रूप से स्थिति न होने के कारण (उपमेयोपमा सामान्य उपमा ही है उससे भिन्न नहीं) (क्योंकि यहाँ केवल उपमान उपमेय बन जाता है और उपमेय उपमान ।)

इसके अनन्तर कुन्तक तुल्ययोगिता अलङ्कार को भी उपमा मे ही अन्तर्भूत करते हैं । वे कहते हैं कि तुल्ययोगिता भी स्पष्ट रूप से उपमा हो जाती है—

सा भवत्युपमितिः स्फुटम् ।

क्यों कि दो पदार्थों में समानता का आधिक्य ही तो रहता है जिनमे से हर एक मुख्य रूप से वर्णनीय पदार्थ होता है । अतः उपमा का लक्षण इसमें पूर्णतया घटित हो जाता है । इसलिए इसे उससे अलग अलङ्कार स्वीकार करना उचित नहीं । तुल्ययोगिता के उदाहरण रूप मे कुन्तक अधोलिखित श्लोको को उद्धृत करते हैं—

(तुल्ययोगिताया उदाहरणे)

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वी ।

गुरुप्रदेयाधिकनिस्पृहोऽर्थो नृपोऽधिकामादधिरुप्रदश्च ॥१२३॥

गुरु के दातव्य से अतिरिक्त (धन) के प्रति अनिच्छुक याचक (कौरव) तथा याचक के मनोरथ से अधिक प्रदान करने वाले राजा (द्रुप) वे दोनों ही अयोध्यावासी लोगों के लिए प्रशसनीय प्राणी हो गए (अथवा स्तुत्य व्यापार वाले सिद्ध हुये) ॥ १२३ ॥

(यथा च)

उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रशाहावाकाशगङ्गा पयसः पतेताम् ।

तेनोपमीयेत समालनीलमामुक्तमुक्तालतमस्य वक्षः ॥१२४॥

अथवा जैसे—

यदि आकाशगंगा के जल की दोनों धारायें अलग अलग आकाश से गिरें तो उससे तमाल के सदृश नीला एवं लटकते हुए मुक्ताहार वाले इन (कृष्ण) के वक्षस्थल के तुलना की जा सकेगी ॥ १२४ ॥

इसी प्रसङ्ग में कुन्तक भामह के तुल्ययोगिता अलङ्कार के लक्षण तथा उदाहरण को उद्धृत करते हैं जो इस प्रकार है—

न्यूनस्यापि विशिष्टेन गुणसाम्यविवक्षया ।

तुल्यकार्यक्रियायोगादित्युक्ता तुल्ययोगिता ॥ १२५ ॥

गुण की समता को प्रस्तुत करने की इच्छा से तुल्य कार्य और क्रिया के योगवश न्यून का विशिष्ट के साथ जहाँ तुल्यत्व दिखाया जाता है उसे तुल्य-योगिता कहते हैं ॥ १२५ ॥

शेषो हिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिराः !

यदलङ्घितमर्यादाश्चलन्ती विभूथ क्षितिम् ॥ १२६ ॥

जैसे—

(कोई किसी राजा की प्रशंसा करते हुए कहता है कि हे राजन् ।)

शेषनाग, हिमवान् पर्वत तथा तुम, महान् गुरु एवं स्थिर हो जो कि बिना मर्यादा का अतिक्रमण किए इस चलती हुई (अस्थिर) पृथ्वी को धारण कर रहे हो ॥ १२६ ॥

उक्तलक्षणे तावदुपमान्तर्भावस्तुल्ययोगितायाः ।

[कुन्तक का कथन है कि] उक्त लक्षण के आधार पर तो तुल्ययोगिता का उपमा में ही अन्तर्भाव हो जाता है ।

इसी प्रकार कुन्तक 'अनन्वय' अलङ्कार को भी अलग मानने के लिये तैयार नहीं । उनका कथन है कि अनन्वय में केवल उपमान ही तो काल्पनिक होता है । किन्तु सारी बातें तो उपमा की ही होती हैं । अतः कथन के विभिन्न प्रकार हो सकते हैं, पर लक्षण के विभिन्न प्रकार करना ठीक नहीं । इस लिए अनन्वय में भी उपमा का ही लक्षण घटित होने से उसे उपमा ही समझना चाहिए । अनन्वय का उदाहरण जो कुन्तक ने दिया है वह इस प्रकार है—

(अनन्वयोदाहरणं यथा)

तत्पूर्वानुभवे भवन्ति लघवो भाषा शशाङ्कादयः-

स्तद्वज्रोपमितेः परं परिणमेचेतो रसायाम्बुजात् ।

एवं निश्चितुते मनस्तव मुख सौन्दर्यसारावधि ।

बध्नाति व्यवसायमेतुमुपमोत्कर्षं स्वकान्त्या स्वयम् ॥ १२७ ॥

(अनन्वय का उदाहरण जैसे—)

उसका पहले अनुभव हो जाने पर चन्द्र आदि बहुत ही छोटी-छोटी चीजें मालूम पड़ती हैं । उसके मुख के उपमान कमल से (भी) आनन्दग्रहण करने के लिए गया हुआ चित्त एकदम लोट आता है । इस तरह मेरा मन यह निश्चय करता है कि तुम्हारा रमणीयता के सार की सीमा रूप मुख अपनी उपमा के उत्कर्ष को अपनी ही कान्ति से सन्तुलनीय निश्चित करने के लिए स्वयं सिद्ध हो जाता है ॥ १२७ ॥

तदेवमभिधावैचित्र्यप्रकाराणामेवविध वैश्वरूप्यम्, न पुनर्लक्षण-
भेदानाम् ।

[इसके विषय में कुन्तक कहते हैं कि] तो इस प्रकार उक्तिवैचित्र्य के प्रकारों की असह्यरूपता की यह (वैश्वरूप्यता) है न कि लक्षण के प्रकारों की ।

इसके बाद कुन्तक भामह के अनन्वय के लक्षण और उदाहरण को प्रस्तुत करते हैं जो इस प्रकार हैं—

यत्र तेनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता ।

असादृश्यविषयक्षतस्तमित्याहुरनन्वयम् ॥ १२८ ॥

जहाँ (किसी के) सादृश्य के अभाव का प्रतिपादन करने की इच्छा से उसकी उसी के साथ उपमानता एवं उपमेयता (दोनों) होती है उसे विद्वानों ने अनन्वय (अलङ्कार) कहा है ॥ १२८ ॥

ताम्बूलरागवलयं स्फुरद्दशनदीधिति ।

इन्दीवराभनयनं तदेव वदनं तव ॥ १२९ ॥

जैसे—

पान की ललाई के मण्डल वाला, एवं चमकते हुए दाँतों की किरणों वाला तथा कमल के समान नवनों वाला तुम्हारा मुख तुम्हारे (मुख) के ही सदृश है ॥

इस प्रकार भामह के अनन्वय के लक्षण और उदाहरण को उद्धृत कर कुन्तक ने उसकी क्या आलोचना की है । उसका क्या सङ्गन प्रस्तुत कर उसे उपमा में अन्तर्भूत किया है । पाण्डुलिपि के अत्यन्त भ्रष्ट होने के कारण पढ़े न जा सकने से उसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता ॥ १२९ ॥

टिप्पणी—यहाँ पाण्डुलिपि की भ्रष्टता के कारण डा० ने अपनी Resume में भी पाठको इस प्रकार प्रस्तुत किया है जो कि अत्यन्त भ्रामक प्रतीत होता है । पहले

जन्होंने तुल्ययोगिता का लक्षण उदाहरण दिया फिर उसके बाद अनन्वय का उदाहरण देकर फिर आगे भामह के तुल्ययोगिता के उदाहरण और लक्षण को प्रस्तुत कर उसके खण्डन का प्रसङ्ग चला दिया। तथा उसके बाद तुरन्त निदर्शन अलङ्कार की चर्चा कर दो श्लोको को उदाहरण रूप में उद्धृत किया फिर आगे भामह के अनन्वय अलङ्कार के लक्षण एवं उदाहरण को प्रस्तुत करने लगे। उसके बाद पुनः परिवृत्ति अलङ्कार की बीच में डाल कर आगे फिर भामह के निदर्शना अलङ्कार के लक्षण और उदाहरण को प्रस्तुत किया। इस प्रकार पाठक्रम कुछ इतना भ्रामक एवं जटिल हो गया है जिसने कि ग्रन्थ को समझने में और भी कठिनाई उपस्थित हो जाती है। अतः मैंने जहाँ तक सम्भव हो सका है एक अलङ्कार विषयक चर्चा को एक ही स्थान पर रखने का प्रयास किया है।

इस प्रकार अनन्वय को भी उपमा से अलग अलङ्कार न स्वीकार कर कुन्तक निदर्शन को भी इसी तरह उपमा में ही अन्तर्भूत करते हैं वे कहते हैं कि 'निदर्शना भी लगभग इसी प्रकार होती है।'

निदर्शनमप्येवमायमेव ।

इसके बाद वे उसके उदाहरण रूप में निम्न श्लोको को उद्धृत कर उनका विवेचन करते हैं। ये श्लोक हैं—

यैर्वा दृष्टा न वा दृष्टा मुपिताः सममेव ते ।

इत इदयमेतेषामन्येषां चक्षुषः फलम् ॥ १३० ॥

जिन्होंने (उस सुन्दरी को) देखा अपवा (जिन्होंने) नहीं देखा, वे सब साप ही ठगे गए (क्योंकि) इन (देखनेवालों) का हृदय भूरा लिया गया एवं दूसरो के नयनों का फल (भूरा लिया गया अर्थात् न देखने से उनकी आँखों का होना ही निष्फल रहा) ॥ १३० ॥

(यथा या)

यत्काव्यार्थनिरूपणं प्रियकथालापा रहोवस्थितिः ।

कण्ठान्तं मृदुगीतमाद्यतमुद्गुहःस्वान्तरावेदनम् ॥

...

...

...

...॥ १३१ ॥

अपवा जैसे—काव्यार्थ का प्रतिरादन, प्रिय की कथा वार्ता, एकान्त निवास, कष्ट तक ही सीमित रहनेवाला मनोहर गीत, प्रिय मित्र के सुख का कथन ...॥ १३१ ॥

(यथा वा)

तद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन तावत्

सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे ।

प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्त-

अशुस्तव प्रञ्चलितभ्रमरं च पद्मम् ॥ १३२ ॥

अथवा जैसे—उस (लक्ष्मी के परिग्रहण) से मनोहर तथा साय ही उन्मी-
लित होने के कारण, भीतर स्फुरित होती हुई स्निग्ध कनीनिका वाले तुम्हारे भेज
तथा चञ्चल भ्रमरों वाले कमल दोनों ही एक दूसरे के सादृश्य को प्राप्त करें ।
(अतः आँखें खोले) ॥ १३२ ॥

इसके बाद एक अन्य श्लोक भी उद्धृत है जो कि पढ़ा नहीं जा सका
उसकी आदि की पद्धतियाँ हैं—

हेलावभग्नद्रकामुं एष सोऽपि ॥ इत्यादि

इसके बाद जैसा कि मैंने ऊपर संकेत किया है श्लोक ने बीच में परिवृत्ति
अलंकार का विवेचन देकर आगे पुनः भामहकृत निदर्शन के लक्षण एवं उदाहरण
को प्रस्तुत किया है । उस उदाहरण एवं लक्षण के प्रसङ्ग को हम इसी अवसर
पर उद्धृत कर देते हैं । वह इस प्रकार है—

क्रिययैव विशिष्टस्य तदर्थस्योपदर्शनात् ।

ज्ञेया निदर्शना नाम यथेवयतिभिर्विना ॥ १३३ ॥

यथा, इव और वति आदि के बिना जहाँ पर क्रिया के द्वारा ही उस विशिष्ट
वर्ण का निदर्शन कराया जाता है उसे निदर्शना कहते हैं ॥ १३३ ॥

अयं मन्दद्युतिर्भास्वानस्त प्रति यियासति ।

उदयः पतनायेति श्रीमतो बोधयन्नरान् ॥ १३४ ॥

समृद्धिवाली लोगो को यह समझाता हुआ कि उदय पतन की ओर ले जाता
है, फीकी आभा वाला यह सूर्य, अस्ताचल की ओर जा रहा है ॥ १३४ ॥

इसी प्रसंग में कुन्तक ने 'रघुवश' के दो श्लोक उद्धृत किए हैं जो इस
प्रकार हैं ।

ततः प्रतस्थे कौबेरीं भास्वानिव रधुर्दिशम् ।

शरैरुसैरिवोदीच्यादुद्धरिष्यन् रसानिव ॥ १३५ ॥

इसके अनन्तर राजा रघु ने किरणों के समान बाणों से जलो के सदृश
उदीच्य राजाओं को उन्मूलित (या शोधित) करने की इच्छा से सूर्य की भाँति
शुबेर सम्बन्धी (उत्तर) दिशा की ओर प्रस्थान किया ॥ १३५ ॥

निर्याय विद्याय दिनादिरम्याद्विम्बादिबार्कस्थ मुखान्महर्षेः ।

पार्यान्तं बह्विकणावदाता दीप्तिः स्फुरत्पद्ममिवाभिपेदे ॥ १३६ ॥

इसके बाद प्रातःकालिक सुन्दर सूर्यमण्डल के समान महर्षि (व्यास) के मुख से निकलकर आग के स्फुल्लिङ्गों के सदृश उज्ज्वल (ऐन्द्रमन्त्ररूप) विद्या सूर्य किरण की भाँति विकसित होते हुए कमल के सदृश अर्जुन के मुख में प्रविष्ट हो गई ॥ १३६ ॥

इस प्रकार निदर्शन अलंकार का विवेचन समाप्त कर कुन्तक परिवृत्ति अलंकार का विवेचन करते हैं । वे परिवृत्ति अलंकार को भी उपमा का ही एक प्रकार समझते हैं । क्योंकि इस अलंकार में दो पदार्थों में से प्रत्येक का प्रधान रूप से वर्णन किया जाता है तथा सादृश्य प्रतीति स्पष्ट रहती है । अतः उपमा ही स्वीकार करना उचित होगा वे विवेचन प्रारम्भ करते हैं—

परिवृत्तिरप्यनेन न्यायेन पृथङ्नास्तीति निरूप्यते ।

परिवृत्ति (अलङ्कार) भी इसी प्रकार अलग (स्वतन्त्र) नहीं हो सकती इसका निरूपण करते हैं—

विनिवर्तनमेकस्य यत्तदन्यस्य वर्तनम् ।

न परिवर्तमानत्वादुभयोरत्र पूर्ववत् ॥ ३२ ॥

जो एक का हटाना तथा उससे भिन्न का प्रयोग करना (रूप परिवृत्ति) है दोनों के ही परिवर्तमान होने के कारण (मुख्य रूप से प्रतिपादित होने के कारण) यहाँ भी पहले की ही भाँति (अलङ्कारत्व नहीं हो सकता) ॥ ३२ ॥

सदेव परिवृत्तेरलङ्कारत्वमयुक्तमित्याह—विनिवर्तनमित्यादि । यदेकस्य पदार्थस्य विनिवर्तनम् अपसारण तदन्यस्य तदव्यतिरिक्तस्य परस्य वर्तनं तदुपनिबन्धनम् । तदलङ्कारणं न भवति । कस्मात्—उभयोः परिवर्तमानत्वात् मुख्येनाभिधीयमानत्वात् । कथम्—पूर्ववत्, यथापूर्वम् । प्रत्येकं प्राधान्यान्नियमानिश्चितेश्च न कचित्कस्यचिदलङ्कारणम् । तद्वदिहापि न च तावन्मात्ररूपतया तयोः परस्परविभूषणभावः प्राधान्ये निर्वर्तनप्रसङ्गात् । रूपान्तरनिरोधेषु पुनः साम्यसद्भावे भवत्युपमितिरेषा चालङ्कृतिः समुचिता । उपमा पूर्ववदेव ।

तो इस प्रकार 'परिवृत्ति' की अलङ्कारता भी उचित नहीं है इसी बात को ग्रन्थकार कहता है—विनिवर्तनमित्यादि (कारिका के द्वारा) । जो एक पदार्थ का विनिवर्तन अर्थात् हटाना (अपसारण) तथा उससे भिन्न दूसरे का वर्तन अर्थात् उसका प्रयोग है । वह अलङ्कार नहीं होता । किस कारण से—दोनों के परिवर्तमान होने के कारण मुख्य रूप से प्रतिपाद्य होने के कारण । कैसे—पहले की

भाति, जैसे पहले (उपमेयोपमा अनन्वय आदि का अलङ्कारत्व नहीं हुआ) प्रत्येक के प्रधान होने के कारण तथा निग्रम का निरवयव न होने से (कोई) कही किसी का अलङ्कार नहीं होता। उसी प्रकार यहाँ पर भी उन दोनों का उतने ही स्वरूप के कारण परस्पर अलङ्कारभाव नहीं होगा। क्योंकि निर्वृति प्राधान्य में ही प्रयुक्त होती है। रूपान्तर के निरुद्ध हो जाने पर फिर भी साम्य का सङ्भाव होने पर यह उपमिति ही उपयुक्त अलङ्कार होगी। उपमा पहले की तरह ही रहेगी।

यथा—

सदय बुभुजे महाभुज महसोद्वेगमिय भ्रजेदिति ।

अधिरोपनतां स मेदिनी नवपाणिग्रहणां वधूमिव ॥ १३७ ॥

बलात्कार से (कहीं) यह डर न जाय इसलिए दीर्घ बाहुओं वाले (राजा खज) ने तत्काल (नवीन रूप से) प्राप्त हुई पृथिवी का नवविवाहिता वधू के समान कृपापूर्वक भोग किया था ॥ १३७ ॥

इसके बाद कुन्तक परिवृत्ति के कुछ प्रकारों का भी भेद निरूपण करते हैं जैसे एक प्रकार की परिवृत्ति वहाँ होती है जहाँ 'विषयान्तरपरिवर्तन' होता है तथा दूसरी परिवृत्ति वहाँ होती है जहाँ 'धर्मान्तरपरिवर्तन' होता है। उनमें—

विषयान्तरपरिवर्तनोदाहरणं यथा—

स्वरूपं जल्प बृहस्पते ! सुरगुरो ! नैपा सभा वञ्चिणः ॥ १३८ ॥

(विषयान्तर परिवर्तन का उदाहरण जैसे)—

हे देवगुरु बृहस्पति थोड़ा बोलो, यह इन्द्र की सभा नहीं है ॥ १३८ ॥

(धर्मान्तरपरिवर्तनोदाहरण यथा—)

विसृष्टरागादधारान्निवर्तितः स्तनाङ्गरागारुणिताश्च कन्दुकात् ।

कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलि कृतोऽश्वसूत्रप्रणयी तथा कर ॥ १३९ ॥

(धर्मान्तर-परिवर्तन का उदाहरण जैसे)—

उस (पार्वती) ने रक्तिमा का परित्याग कर देने वाले अधर से तथा स्तनों के अङ्गाराग (लेपन द्रव्य) से लाल हो गये गेद से हटाये गये हाथ को दर्भाङ्कुरों के उखाड़ने के कारण परिक्षत हो गई अङ्गुलियों वाला तथा अक्षमाला का सहचर बना दिया ॥ १३९ ॥

अत्र गौर्याः करकमललक्षणो धर्मः परिवर्तितः ।

यहाँ पार्वती का करकमल रूप धर्म परिवर्तित कर दिया है ।

कचिदेकस्यैव धर्मिणः समुचितस्वसंवेदिधर्मावकाशे धर्मान्तरं परिवर्तते । यथा—

कहीं एक ही धर्म के अनुरूप एवं अपने द्वारा अनुभव किए जाने वाले धर्म के हट जाने पर दूसरा धर्म परिवर्तित हो जाता है । जैसे—

धृतं त्वया वार्द्धकशोभि वल्कलम् ॥ १४० ॥

(युवावस्था में ही बयो) तुमने बुढ़ावस्था में सुन्दर लगने वाले वल्कल को धारण कर लिया है ॥ १४० ॥

कचिद् बहूनामपि धर्मिणां परस्परस्पर्धिनां पूर्वोक्ताः सर्व विपरिवर्तन्ते । तथा च लक्षणकारेणात्रैवोदाहरणं दर्शितम् यथा—

वही परिस्पर्धा करने वाले बहुत से भी धर्मयो पूर्वोक्त (धर्म विषय आदि) सभी परिवर्तित हो जाते हैं । जैसा कि लक्षणकार (दण्डी) ने इस विषय में उदाहरण प्रदर्शित किया है, जैसे—

शस्त्रप्रहारं ददना भुजेन तव भूभुजाम् ।

चिरार्जितं हत तेषा यशः कुमुदपाण्डुरम् ॥ १४१ ॥

(कोई राजा की प्रशंसा करते हुए कहता है कि हे राजन्) शस्त्र प्रहार देने वाली (करने वाली) तुम्हारी बाहु ने उन राजाओं के निरकाल से अर्जित उज्ज्वल कमल के समान उज्ज्वल कीर्ति का अपहरण कर लिया ॥ १४१ ॥ इस प्रसङ्ग में कुन्तक 'रघुवश' से अधोलिखित श्लोक को उद्धृत करते हैं—

निर्दिष्टां कुलपतिना स पर्णशालामग्न्यास्य प्रयतपरिमहद्वितीयः ।

तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानां सविष्टः कुशशयने निशां निनाय ॥

कुलपति वशिष्ठ द्वारा निर्दिष्ट की गई पर्णशाला में स्थित होकर केवल अपनी पत्नी के साथ कुशों की राग्या पर सोते हुए उस (राजा दिलीप) ने उन (वशिष्ठ) के शिष्यों के अध्ययन से सूचित की गई समाप्ति वाली रात्रि को व्यतीत किया ॥ १४२ ॥

इसका विवेचन करते हुए कुन्तक कहते हैं कि यहाँ परिवर्तनीय पदार्थान्तर प्रतीयमान है ।

इसके अनन्तर कुन्तक ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण श्लेष अलङ्कार का विवेचन प्रस्तुत किया है किन्तु पाण्डुलिपि इस स्थल पर बहुत ही भ्रष्ट, अपूर्ण एवं पूर्णतया अस्पष्ट है जिससे कि न तो उसे उद्धृत ही किया जा सकता है और न उसका अधूरा दुर्बोध ही वर्णन प्रस्तुत किया जा सकता है । जैसा अ० ४ ने सूचित किया है

कुन्तक ने श्लेष अलङ्कार को तीन प्रकारों में विभक्त किया है, यद्यपि उन तीनों प्रकारों का सही सही नामकरण या उनकी विशेषताओं को बता सकना असम्भव है। डॉ० डे के अनुसार कुन्तक ने सम्भवतः उल्लट का अनुसरण किया है तथा श्लेषालङ्कार को अर्थ, शब्द एवं शब्दार्थ से सम्बन्धित कर तीन भेद किए हैं। उनमें से पहले भेद (अर्थश्लेष) का उदाहरण है—

स्वाभिप्रायसमर्पणप्रवणया माधुर्यमुदाहृत्या
विच्छिन्त्या हृदयेऽभिजातमनसामन्तः किमप्युल्लिखत् ।
आरूढ रत्नवासनापरिणते काष्ठा कर्षणां परं
कान्तानाञ्च विलोकित विजयते वैदग्ध्यवक्रं वच ॥ १४३ ॥

कवियों की अपने आकृति को अभिव्यक्त कर देने में निपुण माधुर्य की आनन्ददायिनी रचना वाली रमणीयता के कारण रस की वासना से परिपक्व सुकुमारमति सहृदयों के हृदय के भीतर एक अनिर्ध्वनीय छाप छोड़ देने वाली. मर्यादा पर स्थित विदग्धता के कारण वक्रतासम्पन्न बाणी और रमणियों की अपने मनोवाञ्छित को व्यक्त कर देने में सक्षम मिठास भरे निमीलन के चिह्न वाली भंगिमा से रसिकचित्त लोगों के अभिलाष और वासना के कारण परिपक्व हृदय में जाने क्या अंकित कर देती हुई ऊपर की ओर उठी हुई और चतुराई के कारण बाँकी लाजवाब चितवन सर्वातिशायिनी है ॥ १४३ ॥

श्लेष के दूसरे प्रकार (शब्दश्लेष) का उदाहरण इस प्रकार है—

येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुण्यस्त्रीकृतो
यश्चोदृष्टभुजङ्गहारवलययोगद्वाञ्च यो धारयन् ।
यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यञ्च नामामरा
पायात्स स्थयमन्धकक्षयकरस्त्वां मर्वदोभाधवः ॥ १४४ ॥

(शिवपञ्च में) कामदेव को ध्वस्त (भस्म) कर देने वाले जिन्होंने बलि को जीतने वाले (वामनावतार भगवान्) विष्णु के शरीर को पहले (त्रिपुरदाह के समय) अस्त्र (बाण) बनाया था और जो भुजङ्गों के ही हार एवं कङ्कण को धारण किये हुए हैं और जिन्होंने गङ्गा को (अपनी जटाओं में धारण किया था तथा देवताओं ने जिनका स्तुत्य नाम 'हर' और 'शशिमच्छिर' (चन्द्रमा से युक्त शिरवाला) बताया है, ऐसे वे अन्धकासुर का विनाश करने वाले उमापति भगवान् शङ्कर हमेशा स्वर्ण ही तुम्हारी रक्षा करें।

(विष्णुपञ्च में) जिन अजन्मा ने शकटासुर को ध्वस्त किया था। तथा बलि को जीतने वाले अपने शरीर को पहले (सामरमन्थन के समय) स्त्री (मोहिनिरूप) बना दिया था, और जो दुष्ट (कालिय) नाग का वध करने

वाले हैं तथा जो रत्न अर्थात् शब्दों के लयस्थान हैं और जिन्होंने (गोवर्धन) पर्वत और पृथ्वी को (वराहावनारूप में) धारण किया था, तथा देवताओं ने जिनका स्तुत्य नाम 'शशिमन्त्रिरोहर' (अर्थात् राहु का शिरच्छेद करने वाला) बताया है ऐस सब कुछ प्रदान करने वाले, एवं स्वयं यादों का निवास (द्वारका) बनाने वाले अथवा विनाश करने वाले लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु स्वयं तुम्हारी रक्षा करें ॥ १४४ ॥

श्लेष के तीसरे प्रकार (उभयश्लेष) का उदाहरण है—

सानामुत्पन्नवन्दनैः प्रतिक्रमं स्वावोजिनां बिभ्रती

नेत्रेणानमसदाप्रपातसुभगेनोद्दीपयन्ती स्मरम् ।

काञ्चीदामनिबद्धभङ्गि नयनी न्यान्निधित्वा वासना

मूर्तिः कामरिषा भित्ताम्बरधरा पायाञ्च कामाख्ये ॥ ४५ ॥

निकल गए हुए मासवाले मुण्डदलों के द्वारा बालों की ओर से अपने द्वारा गुम्फित माला को धारण करती हुई, विषम दृष्टि के डालने के कारण सुन्दर सूर्य के समान तीसरी आंख के द्वारा कामदेव को जलाती हुई वस्त्र के बिना सर्प की घुमचिपी की माला से कस कर बंधी हुई कुटिलता वाले ढङ्ग से धारण करती हुई भस्म और अम्बर को धारण करने वाली कामारि भगवान् शिव की मूर्ति नीलकमल के मृणालों में बालों के लूटे की ओर सुन्दर ढङ्ग में आयोजित माला को धारण करती हुई और अपने बटाक्षों के निपात के कारण सुन्दर नेत्र से काम को उद्दीप्त करती हुई, लटकते हुए अधोवस्त्र से रक्षणा की जजीर से बनी हुई विच्छिन्ति को धारण करती हुई श्वेतवस्त्रधारिणी रति देवी की रक्षा करें ॥ १४५ ॥

इसके अनन्तर कुन्तक ने अधोलिखित श्लोक को 'असत्यभूतश्लेष' के उदाहरण रूप में उद्धृत किया है—

दृष्ट्वा केशव ! गोपरागहतया किञ्चिन्न दृष्ट मया

नेनात्र स्वलितास्मि नाथ ! पतितो किन्नाम नालम्बसे ।

एकस्त्वं विषमेपुखिन्नमनसां सर्वाबलानां गति-

गोप्येव गदित मलेशमवताद् गोष्ठे हरिर्विश्रितम् ॥ २४६ ॥

ऐ केशव ! गोपेन्दर कृष्ण के प्रेम के कारण अपहृत कर ली गई हुई दृष्टि के द्वारा मैं कुछ न देख सकी, इसी वजह से मैं स्वलिप्त हो उठी हूँ । ए स्वामी भगवान् कृष्ण मुझ पतित को क्यों नहीं सहारा देते, अकेले तुम्ही तो खिन्न-हृदय सारे निर्बलों की विषमावस्था में गति हो, गोपी के द्वारा आकृष्टभरे ढङ्ग से इस प्रकार कहे गए हुए भगवान् विष्णु अनन्तकाल तक तुम्हारी रक्षा करें (श्लेष-पक्ष में—गोपरागहतया का अर्थ गोधूलि से छीन ली गई हुई दृष्टि से है

और स्खलिता का बिछड़ पड़ी हुई, पतिता का गिर पड़ी हुई और, सर्वाबलाता का सारी स्त्रियों के लिए, अर्थ लिया जायगा ।) ॥ १४६ ॥

हा० डे के अनुसार सम्भवतः 'असरयभूत श्लेष' यहाँ गोपराग शब्द में है क्योंकि 'गो परागः' एक वास्तविक पदार्थ नहीं है अपितु काल्पनिक है ।

इस प्रकार श्लेष अलङ्कार का विवेचन करने के अनन्तर कुन्तक व्यतिरेक अलङ्कार का विवेचन प्रस्तुत करते हैं—

सति तच्छब्दवाच्यत्वे धर्मसाम्येऽन्यथास्थितेः ।

व्यतिरेचनमन्यस्मात् प्रस्तुतोत्कर्षसिद्धये ॥ ३३ ॥

शब्दः प्रतीयमानो वा व्यतिरेकोऽभिधीयते ॥ ३४ ॥

श्लेषहेतुक शब्दवाच्य होने पर और धर्म साम्य के होने पर उपमान त प्रस्तुत के उत्कर्ष की सिद्धि के लिए अथवा उपमेय अर्थात् प्रस्तुत से उपमान क उत्कर्ष की सिद्धि के लिए और तरह से स्थिति प्राप्त करने वाले (उपमान या उपमेय) से अतिशायी दिखाना व्यतिरेक कहलाता है । यह शब्द और प्रतीयमान दो प्रकार का होता है ॥ ३२ ॥

एव श्लेषमभिधाय साम्यैकनिबन्धनत्वादुक्तरूपश्लेषकारण व्यतिरेकमभिधत्ते—मतीत्यादि । तच्छब्दवाच्यत्वे, स चासौ शब्दश्चेति विगृह्य, तच्छब्दवाच्यत्वा श्लेषनिमित्तभूतः शब्दः परामृश्यते । तस्य वाच्यत्वेऽभिधेयत्वे मति विद्यमाने । धर्मसाम्ये सत्यपि परस्परस्पर्द्धासादृश्ये विद्यमाने । तथाविधशब्दवाच्यत्वस्य धर्मसाम्यस्य चोभयनिष्ठत्वादुभयोः प्रकृतत्वात् प्रस्तुताप्रस्तुतयोरेव तयोर्धर्मादेकस्य यथारुचि केनापि विवक्षितपदार्थान्तरेण अन्यथास्थितेरतथाभावेनावस्थिते व्यतिरेचन पृथक्करणम् । (कस्मान्) अन्यस्माद् उपमेयस्योपमानादुपमानस्य वा तस्मात् । न व्यतिरेकनामालङ्काराऽभिधीयते कथ्यते । किमयम्—प्रस्तुतात्कर्षसिद्धये । प्रस्तुतस्य वर्ण्यमानस्य वृत्तेश्चायातिशयनिःपत्तये । स च द्विविधः सम्भवति शब्दः प्रतीयमाना वा । शब्दः कविप्रवाहप्रसिद्धः तत्तत्तमर्पणसमर्थोऽभिधानेनाभिधीयमानः । प्रतीयमानो वाक्यार्थसामर्थ्यमात्रावबोधः ।

इस प्रकार श्लेष को बताकर सादृश्यमात्रमुक्त होने के नाते उक्त स्वरूप श्लेष के कारण वाले व्यतिरेक को बताते हैं—मतीत्यादि (कारिका क द्वारा) तच्छब्दवाच्यत्वे इस पद में 'वही तद् पद वाच्य है और वही शब्द है' इस प्रकार कर्मधारय विग्रह करके अर्थ ग्रहण किया जायगा । तच्छब्द शक्ति के

द्वारा श्लेष ने आधारभूत शब्द का परामर्श कर रहे हैं। उसके वाच्यत्व अर्थात् अभिधा के द्वारा समर्पणीय होने पर अर्थात् परस्पर स्वभाव के सादृश्य के वर्तमान होने पर भी। इस प्रकार के शब्दवाच्यत्व और धर्मसाम्य के दोनों में स्थित होने के कारण दोनों के प्रस्तुत होने के नाते प्रस्तुत और अप्रस्तुत के बीच भी इन दोनों के धर्म से एक का रुचि के अनुसार किसी अनिर्वचनीय विवक्षित अन्य पदार्थ के द्वारा और तरह से स्थित अर्थात् उस तरह से न स्थित रखने वाले से व्यतिरेक अर्थात् अलग करना (इसका आशय) है। दूसरे से अर्थात् उपमेय का उपमान से अपवा उपमान का उपमेय से। वह व्यतिरेक नाम का अलङ्कार अभिहित होता है अर्थात् कहा जाता है। किस लिए—प्रस्तुत के उत्कर्ष की सिद्धि के लिये। प्रस्तुत अर्थात् वर्ण्य विषय के सोन्ध्यातिशय को प्रस्तुत करने के लिए। वह दो प्रकार का हो सकता है—शब्द अथवा प्रतीयमान। शब्द अर्थात् कविपरम्परा प्रसिद्ध उसको व्यक्त कर सकने में समर्थ पद के द्वारा प्रकाशित किया जाता हुआ। प्रतीयमान अर्थात् केवल वाक्यार्थ के सामर्थ्य से ही बोधित किये जाने योग्य।

इसके अनन्तर कुम्तक ने व्यतिरेक के उदाहरणस्वरूप एक प्राकृत श्लोक तथा दो संस्कृत श्लोकों को उद्धृत किया है। जिनमें से प्राकृत श्लोक तथा दूसरा संस्कृत श्लोक पाण्डुलिपि में अत्यन्त भ्रष्ट एवं अपूर्ण था। जिसे उद्धृत नहीं किया जा सका। तीसरा श्लोक इस प्रकार है—

प्राप्तश्रीरेप कस्मात्पुनरपि मयि तं मन्यखेदं विदध्या-
मिद्रामप्यस्य पूर्वामनलसमनसो नैव सम्भावयामि।
सेतुं बध्नाति भूय किमिति च सकलद्वीपनाथानुयात-
स्त्वय्यायाते वितर्कानिति दधत इवाभाति कम्पः पयोधेः॥

यह महाराज तो श्री अर्थात् रमा या सम्पत्ति को प्राप्त कर चुके हैं तो फिर किस लिए मेरे अन्दर उस मयने के कष्ट को फिर से उत्पन्न करेंगे, इन महाराज की पहले वाली निद्रा को भी आलस्यरहित चित्त होने के नाते नहीं सम्भावित कर पाता हूँ, क्या ये सारे द्वीपों के स्वामियों से अनुगत होते हुए भी फिर से सेतुबन्ध करेंगे। इस तरह के संशयो को, तुम्हारे आने पर, मन में धारण करता हुआ सागर का ज्वार-भाटा सुशोभित हो रहा है। (विष्णु ने अपाप्तश्री होने पर ही सागर का मन्यन किया था प्रस्तुत महाराज क्या प्राप्तश्री होकर मयन करना चाहते हैं यह व्यतिरेक है। भगवान् विष्णु सालस्यधित होकर ही निद्रा को अतिवाहित करने के लिए सागर की गोद में आते हैं परन्तु ये महाराज अनन्यमन होते हुए भी सागर के अबगाहनार्थ आये हुए हैं यह व्यतिरेक है।

रामावतारधारी विष्णु ने लंका नामक एक द्वीप के अधिपति विभीषण के द्वारा अनुगत होकर ही सागर पर सेतुबन्ध किया था । इन महाराज के सेतुबन्ध की सम्भावना के समय अनेको द्वीपों के स्वामियों का अनुगमन प्राप्त है यह व्यतिरेक है) ॥ १४७ ॥

इसके विषय में कुन्तक कहते हैं कि—

(अत्र) तत्त्वाभ्यारोपणात् प्रतीयमानतया रूपकमेव पूर्वसूरि-भिगमनात् ।

अर्थात् प्राचीन आचार्यों ने यहाँ तत्त्व का आरोप होने के कारण प्रतीयमान रूपक ही स्वीकार किया है ।

इसी प्रसङ्ग में कुन्तक (आनन्दवर्धनाचार्य) की ध्वनि की परिभाषा 'यथार्थ शब्दो वा' आदि को उद्धृत करने हैं एवं प्रतीयमानता के अर्थ का विवेचन करते हैं । (ध्वन्यालोक की कारिका इस प्रकार है)—

यथायं शब्दो वा तमर्थमपसर्जनीकृतस्वार्थो ।

व्यङ्ग्य काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥ १४८ ॥

जहाँ पर अर्थ अपने स्वरूप को और शब्द अपने अर्थ को गोण बना कर (प्रतीयमान) अर्थ को व्यक्त करते हैं वह काव्यविशेष विद्वानों द्वारा 'ध्वनि' कहा गया है ॥ १४८ ॥

परन्तु यहाँ प्रतीयमानता आदि के अर्थ का विवेचन आचार्य कुन्तक ने क्या और कैसे किया है यह कुछ भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि आने पाण्डुलिपि पढ़ी नहीं जा सकी । इसीलिए डा० डे ने केवल उमका संकेतमात्र कर दिया है ।

इसके अनन्तर कुन्तक श्लेषव्यतिरेक के उदाहरणस्वरूप अधोलिखित श्लोक प्रस्तुत करते हैं—

(श्लेषव्यतिरेको यथा)—

श्लाघ्यारोपतनुं सुदर्शनकरः सर्वाङ्गलीलाञ्जित-

त्रैलोक्यां चरणारविन्दललितेनाक्रान्तलोको हरिः ।

विभ्राणा मुखमिन्दुरूपमखिलं चन्द्रात्मचक्षुर्दधत्-

स्थाने यां स्वतनोरपश्यदधिका सा रुक्मिणी बोऽवतात् ॥ १४९ ॥

श्लेषव्यतिरेक का उदाहरण जैसे—

सुदर्शनकर अर्थात् सुदर्शन को हाथ में धारण करने वाले (या जिनके हाथ ही-दर्शनीय हैं) अरविन्द मुन्दर (एक) चरण से लोक भर पर अधिष्ठित हो जाने वाले और चन्द्रस्वरूप नेत्र को धारण करने वाले हरि ने जिस रुक्मिणी

को अपने शरीर से प्रशंसनीय समस्त शरीर वाली, प्रत्येक अङ्गो की लीला से त्रिलोकी का जीत लेनेवाले और चन्द्रतुल्य रूप वाले सम्पूर्ण मुख को धारण करने वाली होने के नाते अनिशायिन पामावह रुचिमणीतुम लोगों की रक्षा करें ॥१४९॥

इसके बाद शब्दकार व्यतिरेक के तीसरे प्रकार का विवेचन प्रारम्भ करते हैं—

लोकप्रसिद्धसामान्यपरिस्पन्दाद्विशेषतः ।

व्यतिरेको यदेकस्य स परस्तद्विवक्षया ॥ ३५ ॥

सर्वप्रसिद्ध साधारण व्यापार से विविष्ट होने के नाते जो एक वस्तु का औपम्यविवक्षा से पृथक्करण किया जाता है वह दूसरा व्यतिरेक है ।

अस्यैव प्रकारान्तरमाह—लोकप्रसिद्धेत्यादि । परोऽन्यः स व्यतिरेकालङ्कारः । कीदृश —यदेकस्य वस्तुनः कस्यापि व्यतिरेकः पृथक्करणम् । कस्मात्—लोकप्रसिद्धसामान्यपरिस्पन्दात् । लोकप्रसिद्धो जगत्प्रतीतः सामान्यभूतः सर्वसाधारणो यः परिस्पन्दो व्यापारस्तस्मात् । कुतो हेतो — विशेषतः, कुतश्चिदतिशयात् । कथम् ? तद्विवक्षया । 'तद्' इत्युपमादीनां परमार्थस्तेषां विवक्षया । तद्विवक्षितत्वेन ग्रहितः । (यथा)—

इसी (व्यतिरेक) के दूसरे भेद को बताने हैं—लोकप्रसिद्ध इत्यादि (कारिका के द्वारा) । पर अर्थात् दूसरा वह व्यतिरेक अलङ्कार होता है । किस तरह का । किसी एक वस्तु का व्यतिरेक अर्थात् जो पृथक् करना है उस तरह का । किससे ? लोक में प्रसिद्ध साधारण स्वभाव से । लोक में प्रसिद्ध सारी दुनिया में विख्यात । सामान्यभूत अर्थात् सर्वसाधारण जो परिस्पन्द याने व्यापार है उससे । किस कारण से ? विशेषता के कारण अर्थात् किसी अनिवार्य अतिशयवश । क्यों ? उसे कहने की इच्छा से । 'तद्' इस पद से उपमा आदि का वास्तविक तत्त्व ग्रहण किया गया है । उसके कहने की कामना से । उसके विवक्षित होने के नाते किया गया हुआ । जैसे—

चापं पुष्पितभूतलसुराचितामोर्वा द्विरेफावलिः

पूर्णेन्दोरुदयोऽभियोगममय पुष्पकरोऽध्यासरः ।

शस्त्राण्युत्पलकेतकीसुमनसोयोग्यात्मनः कामिनां

प्रैलोक्ये मदनस्य सोऽपि ललितोल्लेख्यो जिगीषाम्रहः ॥ १५० ॥

योग्य स्वरूप वाले कामदेव का फूलों से युक्त पृथ्वीतल धनुष है, भ्रमरो की पंक्ति ही सुन्दर दग से बनी हुई प्रत्यक्षा है पूर्णमासी के चन्द्रमा का उदय ही आक्रमणकाल है, धसन्त ही आगे आगे चलने वाला (घोबदार है) कमल और केवडा के पुष्प ही शस्त्र हैं, तीनों लोकों में कामियों के जीत लेने की इच्छा का वह आग्रह भी ललित उल्लेख वाला है ॥ १५० ॥

अत्र सकललोकप्रसिद्धशस्त्राद्युपकरणकलापाच्च त्रिगीषाव्यवहारा-
न्मन्मथः सुसुमारोपकरणत्वाज्जिगीषा... ननु च भूतलादीनां
चापादिरूपणाद्रूपकव्यतिरेक एवायम् । नैतदस्ति । रूपकव्यतिरेके हि
रूपण त्रिधाय तस्मादेव व्यतिरेचन विधीयते । एतस्मिन् पुनः सकल-
लोकप्रसिद्धात्सामान्यव्यवहारतात्पर्याद् व्यतिरेचनम् । भूतलादीनां
चापादिरूपण विशेषान्तरानभिन्नमात्रमवधार्यताम् ।

यह पर समस्त जगती में प्रसिद्ध शस्त्रादिक उपकरणसमूह के कारण जीतने
की इच्छा व व्यवहार से कामदेव गुकुमार उपकरणों वाला होने के नाते त्रिगीषा
के प्रति आग्रह करता है । यह शब्दा उठाई जा सकती है कि भूतलादि पर
चापादि का आरोप करने के कारण यह रूपाव्यतिरेक ही है । परन्तु ऐसा नहीं
है । क्योंकि रूपकव्यतिरेक में आरोप करके उसी से पृथक्करण किया जाता है ।
इसमें तो सारे विश्व में प्रसिद्ध सर्वसाधारण व्यवहार रूप तात्पर्य से व्यतिरेक
दिखाया जाता है । भूतलादि के ऊपर चापादि का आरोप दूसरे वैशिष्ट्य का
निमित्तमात्र माना जाना चाहिए ।

इस प्रकार व्यतिरेकालङ्कार का विवेचन समाप्त कर कुन्तक विरोधालङ्कार
का विवेचन करते हैं । उनके अनुसार विरोध श्लेष को ही उद्भाविन (involve)
करता है अतः उससे भिन्न उसे स्वीकार करना उचित नहीं है । श्लेषेणाभि-
सम्भिन्नत्वान्) इस अलङ्कार व विषय में ग्रन्थकार ने जो कारिका और वृत्ति दी
है उसे पाण्डुलिपि की भ्रष्टता के कारण डा० दे उद्धृत नहीं कर सके ।

इसके अनन्तर कुन्तक ने समासोक्ति अलङ्कार का विवेचन प्रस्तुत किया है ।
कुन्तक समासोक्ति को स्वतन्त्र अलङ्कार मानने के लिए तैयार नहीं हैं । क्योंकि
उनके अनुसार इसमें अन्य अलङ्कार की हेतुप्रति से सुन्दरता की कमी होती है ।

(अलङ्कारान्तरत्वेन शोभाशून्यतया)

इस प्रसङ्ग में वे भामह के समासोक्ति के लक्षण तथा उदाहरण को उद्धृत
कर उसका विश्लेषण करने हैं जो इस प्रकार है—

यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थस्तस्मैमानविशेषणः ।

सा समासोक्तिरुद्दिष्टा सङ्घिनार्थतया यथा ॥ १५१ ॥

स्कन्धवानृजुरक्यालः स्थिरोऽनेकमहाफल ।

जातस्तरुरयश्चोच्चैः पातितश्च नभस्वता ॥ १५२ ॥

अहाँ (एक वस्तु का) वर्णन किए जाने पर, उसके समान विशेषणों वाला
दूसरा पदार्थ प्रतीत होता है उसे (विद्वानों ने) सक्षिप्तअर्थरूप होने के कारण—
समासोक्ति नाम दिया है । जैसे ॥ १५१ ॥

रुक्म (तने) वाला, सीधा, सपों से रहित स्विट एवं तमाम बड़े बड़े कत्ते वाला एवं उन्नत यह वृक्ष उत्पन्न हुआ और हवा के द्वारा गिरा दिया गया ॥

(यहाँ वृक्ष के अतिरिक्त महापुरुषपरक यह अर्थ भी प्रतीत होता है कि— विद्याल कन्धे वाला, सीधा सादा, भुजङ्गता में रहित, धैर्यशाली, अनेकों आश्रितों को लाभ पहुँचाने वाला, समाज में सामान्य महापुरुष, उत्पन्न हुआ पर दुर्भाग्य से नीचे गिरा दिया गया । इसका कुन्तक सञ्जन करते हैं कि)

अत्र तरोर्महापुरुषस्य च द्वयोरापे मुख्यत्वे महापुरुषपक्षे विशेषणानि सन्तीति विशेष्यविधायक पदान्तरभिधातव्यम् । यदि वा विशेषणेऽन्यधातुपक्षे प्रतीयमानतया विशेष्य परिकल्प्यते न देवं विधस्य कल्पनस्य स्फुरेत न किञ्चिदिनि स्फुटमेव शोभाशून्यता ।

यहाँ पर वृक्ष तथा महापुरुष दोनों के प्रधान होने पर महापुरुष पक्ष में विशेषण तो है इस लिए विशेष्य विधायक दूसरा पद भी कहना चाहिए क्योंकि विशेष्य महापुरुष रूप पद का बोध कराने वाला कोई पद उपात्त नहीं है ।) अथवा यदि (यह कहो कि) विशेष्य के अन्यथा सञ्ज्ञत न होने के कारण प्रतीयमान रूप से विशेष्य की कल्पना कर ली जाती है इस प्रकार की कल्पना में कोई तत्त्व नहीं है अतः यहाँ शीन्दर्वहीनता स्पष्ट ही है ।

इस प्रकार भामहप्रदत्त समासोक्ति के उद्धरण का विवेचन कर उसकी अलङ्कारान्तरूप से शोभाशून्यता का प्रतिपादन कर कुन्तक 'अनुरागवती-सन्ध्या' आदि श्लोक को उद्धृत कर उसका विवेचन प्रस्तुत करते हैं, जिसमें भामह के अनुसार समासोक्ति है । पर इसमें इन्होंने किस प्रकार से इसकी शोभाशून्यता का प्रतिपादन किया है वृत्ति की अस्पष्टता के कारण कह सकना कठिन है । श्लोक इस प्रकार है—

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुनःसरः ।

अहो देवगतिः कीदृक् न तथापि समागमः ॥ १५३ ॥

सन्ध्या (नापिका) अनुरागवती है और दिवस (नापक) उसके आगे-आगे चल रहा है, अहो देव की गति कैसी है ? कि फिर भी दोनों का समागम वहीं हो रहा है ॥ १५३ ॥

इस प्रकार समासोक्ति का प्रकरण समाप्त कर कुन्तक सहोक्ति अलङ्कार का विवेचन प्रस्तुत करते हैं । वे पहले भामहकृत सहोक्ति के लक्षण एवं उदाहरण को उद्धृत करते हैं तथा उसका विवेचन कर उसका खण्डन कर देते हैं । वे कहते हैं कि जिस प्रकार भामह ने सहोक्ति का उदाहरण प्रस्तुत किया है उसने परस्पर

समता के ही मनोहारिता का कारण होने से उपमा ही होगी। उनका पूर्ण विवेचन तो उपलब्ध नहीं है जो है वह इस प्रकार है—

तुल्यकाले क्रिये यत्र वस्तुद्वयसमाश्रये ।
पदेनैकेन कथ्येते सहोक्तिः सा मता यथा ॥ १५४ ॥
हिमपाताविलविशो गाढालिङ्गनहेतवः ।
वृद्धमायान्ति यामिन्यः कामिनां प्रीतिभिः सह ॥ १५५ ॥

जहाँ समानकाल में ही दो पदार्थों के आश्रय वाले (भिन्न-भिन्न) दो कथों का एक पद से ही कथन किया जाता है उसे (विद्वानों ने) सहोक्ति (अलङ्कार) स्वीकार किया है। जैसे—

पाला पड़ने के कारण कलुषित दिशाओं वाली तथा (प्रेमी एवं प्रेमिकाओं के) गाढ आलिङ्गन की हेतुभूत रातें (आँखों में) कामियों के प्रेम के साय-साय बढ़ती हैं ॥ १५४-५५ ॥

अत्र परस्परसाम्यसमन्वयो मनोहारि(त्व)निबन्धनमित्युपमैव ।

यहाँ एक दूसरे से सादृश्य का सम्बन्ध ही सौन्दर्य का कारण है अतः उपमा ही है।

इस प्रकार भामहकृत सहोक्ति के लक्षण तथा उदाहरण का सङ्गठन कर कुन्तक अपने अभिमत सहोक्ति अलङ्कार के लक्षण को प्रस्तुत करते हैं। जो इस प्रकार है—

यत्रैकेनैव वाक्येन वर्णनीयार्थसिद्धये ।
उक्तिर्युगपदर्थानां सा सहोक्तिः सतां मता ॥ ३६ ॥

जहाँ प्रस्तुत पदार्थ की निष्पत्ति के लिए एक ही वाक्य से एकसाथ ही (बनेको) पदार्थों का कथन किया जाता है उसे सहोदयो ने सहोक्ति (अलङ्कार) स्वीकार किया है।

प्रमाणोपपन्नमभिधत्ते तत्र सहोक्तेस्तावत्—यत्रेत्यादि। सा सहोक्तिरलङ्कृतिर्मता प्रतिभाता सतांतद्विदां समाम्नातेत्यर्थः। कीदृशी—यत्र यस्याम् एकेनैव वाक्येनाभिन्नेनैव पदसमूहेन अर्थानां वाक्यार्थतात्पर्य-भूतानां वस्तूनां युगपत्तुल्यकालमुक्तिरभिहितः। किमर्थम्—वर्णनीयार्थसिद्धये। वर्णनीयस्य प्रधानत्वेन विवक्षितस्यार्थस्य वस्तुनः सम्पत्तये। तदिदमुक्तमभवति—यत्र वाक्यान्तरवक्तव्यमपि वस्तु प्रस्तुतार्थनिष्पत्तये विच्छिन्त्या तेनैव वाक्येनाभिधीयते। यथा—

तो अब सहोक्ति के प्रमाणयुक्त (स्वरूप का) निरूपण (व्यञ्जकार) करते हैं—यथेत्यादि (कारिका के द्वारा) । उसे श्रेष्ठज्ञानी ने सहोक्ति अलङ्कार माना है अर्थात् सहृदयो ने उसे स्वीकार किया है । कैसी (हे बहुत महोक्ति)—जहाँ अर्थात् जिस में एक ही वाक्य के द्वारा अर्थात् अभिन्न पदसमूह के द्वारा अर्थात् वाक्यार्थ के तात्पर्यभूत पदार्थों का एकसाथ ही समान काल में ही उक्ति अर्थात् कथन होता है वहाँ (सहोक्ति होती है) । किस लिये (ऐसी उक्ति होती है)—वर्णनीय अर्थ की सिद्धि के लिए । वर्णनीय अर्थ अर्थात् प्रधान रूप से कहने के लिए अभिप्रेत पदार्थ की निष्पत्ति के लिए । तो कहने का तात्पर्य यह कि—जहाँ पर प्रस्तुत पदार्थ की सिद्धि के लिए दूसरे वाक्य के द्वारा भी कही जाने वाली वस्तु सुन्दरता के साथ उसी वाक्य के द्वारा कही जाती है । जैसे—

हे हस्त दक्षिण मृतस्य शिशोर्द्विजस्य
जीवात्तत्रे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम् ।
रामस्य पाणिरसि निर्भरगर्भस्त्रिभ-
देवीविवासानपटो करुणा कुतस्ते ॥ १५६ ॥

ऐ रे दाहिने हाथ, ब्राह्मण के मरे हुए बच्चे के प्राणों के लिए तू (इस) शूद्र तपस्वी के ऊपर कृपाण का बार कर । आखिर तू है तो एकदम भारी पड़ गए हुए गर्भ के कारण परेशान देवी (सीता) को निकाल देने में चालाक राम की मुजा न । तुझे दया कहाँ ? ॥ १५६ ॥

(यथा च)—

उच्यता स वचनीयमशेषं नैश्वरे परुषता मलि माध्वी ।
आनयन्मनुनीय कथ वा विभियाणि जनयन्मनुनेय ॥ १५७ ॥

(और जैसे)

(नायिका कहती है) उस सड़ नायक के प्रति सारे उसके दोष कटू डालो, (सखी कहती है) स्वामी के विषय में ऐ सखी, कठोर वचन उचित नहीं होता (फिर नायिका कहती है) किसी भी तरह से उन्हें मना कर ले आओ । (सखी कहती है) अग्रिम कार्य करने वाला व्यक्ति मनाने योग्य कैसे हो सकता है ॥ १५७ ॥

(यथा वा)

किं गतेन न हि युक्तमुपैतुं कः प्रिये सुमगमानिति मानः ।
योषितामिति कथासु समेतैः कामिभिर्बहुरसा घृतिरुहै ॥ १५८ ॥

(अथवा जैसे वहाँ पर)

. फिर नायिका कहती है) तो जाने से ही क्या अतः उसके पास जाना ठीक नहीं । (सखी कहती है) अपने को बड़ी सुन्दर मानने वाली, प्रियतम के विषय में मान कैसा ? नायिकाओं की इस प्रकार की कथाओं के विषय में पास बाकर सुनने वाले कामी लोगो ने विविध रस वाले सन्तोष को प्राप्त किया ॥१५८॥

(यथा वा)—

सर्वक्षितिभृतान्नाथ दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी ।

रामा रम्ये वनोद्देशे मया विरहिता त्वया ॥ १५९ ॥

उर्वशी से वियुक्त पुरूरवा पर्वतराज से पूछने है । कालिदास ने यहाँ ऐसी वाक्ययोजना प्रस्तुत की है कि पर्वत की प्रतिध्वनि से प्रश्न का उत्तर भी राजा को प्राप्त प्रतीत होता है । राजा का प्रश्न है—हे समस्त पर्वतो के स्वामी । क्या तुमने मुझसे वियुक्त सर्वाङ्गसुन्दरी रमणी (उर्वशी) को इस रमणीय वनप्रदेश में देखा है ?

पर्वतराज का उत्तर है—हे समस्त राजाओं के स्वामी । मैंने आपसे वियुक्त सर्वाङ्गसुन्दरी रमणी (उर्वशी) को इस रमणीय वनप्रदेश में देखा है ॥ १५९ ॥

अत्र प्रवानभूतविप्रलम्भशृङ्गाररसपरिपोषणसिद्धये वाक्यार्थद्वय-
मुपनिबद्धम् ।

यहाँ प्रवान रूप से उपनिबद्ध विप्रलम्भशृङ्गार रस के परिपोष की सिद्धि हेतु दो वाक्यांशों को उपनिबद्ध किया गया है ।

ननु चानकाथमम्भवेऽत्र श्लेषानुप्रवेश कथं न सम्भवतीत्यभिधी-
यते—नत्र यस्माद् द्वयोरेकतरस्य वा मुख्यभावे श्लेष (:) ...तस्मिन्
पुनस्तथाविधाभावात् । बहूनां द्वयोर्वा सर्वेषामेव गणभाव प्रधानार्थ-
परत्वेनापसानात् । अन्यच्च, तस्मिन्नेकेनैव शब्देन युगपत्प्रदीपप्रकाशवद-
र्थद्वयप्रकाशनं शब्दार्थद्वयप्रकाशनं वेति शब्दस्तत्र सामान्याय विजृम्भते ।
सहोक्तेः पुनस्तथाविधस्वाङ्गाभावादेकेनैव वाक्येन पुनः पुनरावर्तमान-
तया वस्तुन्तरप्रकाशनं विधीयते । तस्मादावृत्तत्र शब्दन्यायतां
प्रतिपद्यते ।

(इस पर पूर्वपक्षी प्रश्न करता है) कि यहाँ तो अनेक अर्थों के सम्भव होने पर श्लेष का अनुप्रवेश क्यों नहीं सम्भव हो जाता—इसका उत्तर देने हुए कहने हैं—क्यों वहाँ दोनो अथवा उनमें से एक के प्रधान रूप से स्थित होने पर श्लेष अलङ्कार होता है.....पर उस (सहोक्ति) में उस प्रकार का अभाव

होने से (श्लेष नहीं होगा) क्योंकि इसमें बहुता की अपवा दो की सभी अर्थों की गणना होती है प्रधान अर्थपरक रूप में उनका पर्यवसान होने के कारण ।

और भी, श्लेष में एक ही शब्द के द्वारा एक साथ ही दीपक से प्रकाश की तरह दो पदार्थों का प्रकाशन अपवा दो शब्दों एवं अर्थों का प्रकाशन होता है इस प्रकार वहाँ पर शब्द सर्वसाधारण की प्रतीति कराने के लिए ही आता है । सहोक्ति के उस प्रकार के अपन अङ्ग के न होने पर एक ही वाक्य से बार-बार आवर्तन होने के नाते दूसरी वस्तु का प्रकाशकत्व विहित किया जाता है । इसी-लिये वहाँ पर आवृत्ति शब्द के औचित्य को प्राप्त करता है ।

‘सर्वश्रितिभूता नाथ’ इत्यत्र वाक्यैकदेशे श्लेषानुपवेशः सम्भगती-त्युच्यते । अत्र वाक्यैकदेशे श्लेषस्याज्ञित्वम्, मुख्यभावः पुनः सहोक्तैरेव ।

(यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि) ‘सर्वश्रितिभूता नाथ’ इस वाक्य के एक अंश में श्लेष का अनुपवेश तो सम्भव हो जाता है । तो धन्यकार इसका उत्तर देते हैं कि—(ठीक है यहाँ श्लेष अत्युद्धार है परन्तु) यहाँ वाक्य के एक अंश में श्लेष अङ्ग रूप में ही आया है, प्रधानता तो सहोक्ति की ही है । (अतः ‘प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति’ इस ग्याय से यहाँ सहोक्ति ही कही जायगी—श्लेष नहीं)

तदेवमावृत्त्य वस्त्वन्तरावगती सहोक्तेः महभावाभावादर्थान्वये परि-
हाणिः प्रसज्येव । नैनदस्तीति-यस्मान्महोक्तिरित्युच्यते, न पुनः मह-
प्रतिपत्तिरिति । तेनात्यन्तसहाभिधानमेव प्रतिपत्तोत्कर्षावगतिरिति न
किञ्चिदसम्बद्धम् ।

(इस प्रकार पूर्वपक्षी पुनः प्रश्न करता है कि जब आप आवृत्ति के द्वारा भिन्न-भिन्न वाक्यांशों की प्रतीति होने से सहोक्ति अत्युद्धार मानते हैं) तो इस प्रकार आवृत्ति के द्वारा अन्य पदार्थ का ज्ञान होने पर सहभाव के अभाव के कारण सहोक्ति के अर्थान्वय में हानि होने लगेगी (अतः उसे सहोक्ति कैसे कहा जा सकता है ।) धन्यकार उत्तर देते हैं कि यह बात नहीं क्योंकि मैंने सहोक्ति (साथ कथन) यह कहा है सह प्रतिपत्ति (साथ ज्ञान) नहीं कहा । अतः आत्यन्तिक सहाभिधान ही उत्कृष्ट बोध को प्राप्त है, अतः कुछ भी असम्बद्ध नहीं ।

कैश्चिदेषा समासोक्तिः सहोक्तिः कैश्चिदुच्यते ।

अर्थान्वयात् विद्वद्भिरन्यैरन्यस्यमेतयोः ॥ १६० ॥

कुछ लोग इसे समासोक्ति कहते हैं कुछ लोग सहोक्ति कहते हैं । अन्य विद्वान् इन दोनों में अर्थसम्बन्ध के कारण भिन्नता स्वीकार करते हैं ॥ १६० ॥

इस प्रकार सहोक्ति के अपने अभिमत लक्षण का सम्यक् प्रतिपादन कर कुन्तक दृष्टान्त अलङ्कार का विवेचन प्रस्तुत करते हैं । पाण्डुलिपि में दृष्टान्त की कारिका लुप्त हो गई है । वृत्ति के आधार पर उसका पूर्वार्द्ध डा० डे ने इस प्रकार उद्धृत किया है—

वस्तुसाम्यं समाश्रित्य यदन्यस्य प्रदर्शनम् ॥ ३७ ॥

पदार्थों के सादृश्य का आश्रयण कर जो दूसरे (वर्णनीय से भिन्न पदार्थ) का प्रदर्शन किया जाता है (उसे दृष्टान्त अलङ्कार कहते हैं) ।

दृष्टान्त नाम अभिधीयते—वस्तुसाम्येत्यादि । यदन्यस्य वर्ण्यमानप्रस्तु-
साद्व्यनिरिक्तवृत्ते पदार्थान्तरस्य प्रदर्शनमुपनिबन्धन स दृष्टान्तनामाल-
ङ्कारोऽभिधीयते । कथं—वस्तु-साम्य समाश्रित्य । वस्तुन (नो. ?) पदा-
र्थयोर्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साम्य सादृश्य समाश्रित्य निमित्तीकृत्य ।
लिङ्ग नङ्ख्या-विभक्तिस्वरूपसाम्यवर्जितमिति वस्तुग्रहणम् । (यथा)—

तब तक (ग्रन्थकार दृष्टान्त (अलङ्कार) का प्रतिपादन करते हैं—
वस्तुसाम्येत्यादि (कारिका के द्वारा) । जो दूसरे का अर्थात् वर्ण्यमान प्रस्तुत
(पदार्थ) से भिन्न वृत्ति वाले दूसरे पदार्थ का प्रदर्शन अर्थात् वर्णन (होता है)
यह 'दृष्टान्त' नाम का अलङ्कार कहा जाता है । (दूसरे पदार्थ का वर्णन) कैसे
(किया जाता है ?)—वस्तुओं के साम्य का आश्रय ग्रहण कर । वस्तुओं अर्थात्
दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक भूत पदार्थों के साम्य अर्थात् सादृश्य को आश्रित करके
अर्थात् निमित्त बना कर (अन्य पदार्थ का वर्णन किया जाता है) । लिङ्ग,
संख्या, विभक्ति एव स्वरूप के साम्य से अतिरिक्त साम्य (के कारण पदार्थान्तर
का वर्णन होने पर ही दृष्टान्त अलङ्कार) होता है इसीलिये लक्षण में वस्तु
(साम्य) का ग्रहण किया गया है । जैसे—

सरसिजमनुविद्ध शैवलेनापि रम्य
मलिनमपि हिमांशोर्लेदम लदमीं तनोति ।
इयमधिकमनोहा वरुकलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डन नाकृतीनाम् ॥ १६१ ॥

कमल सेवार से भी संगत होकर रमणीय लगता है । चन्द्रमा का कलङ्क
गन्दा होते हुए भी सौन्दर्य को बढ़ाता है । यह कृपाञ्जली यत्कल से भी अधिक
सुन्दर ही लग रही है । सुन्दर आकृतियों का कोन सा ऐसा पदार्थ है जो
अलङ्कार नहीं बन जाता ॥

पादत्रयमेवोदाहरणम्, चतुर्थे भूषणान्तरसम्भवात् ।

इस श्लोक के तीन धरण ही (दृष्टान्त के) उदाहरण है (सम्पूर्ण नहीं) क्योंकि चतुर्थ धरण में दूसरा (अर्थान्तरन्यास नामक) अलङ्कार सम्भव होता है ।

वाक्यार्थान्तरविन्यासो मुख्यतात्पर्यसाम्यतः ।

ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः यः समर्पकतयाहितः । ३८ ॥

प्रधान वस्तु के तात्पर्य का सादृश्य होने के कारण (अभीष्ट अर्थ) के समर्पक रूप से उपनिबद्ध किया गया दूसरे वाक्यार्थ का जो वर्णन होता है उसे अर्थान्तरन्यास (अलङ्कार) समझना चाहिए ।

अर्थान्तरन्यासमभिधत्ते—वाक्यार्थेत्यापि । ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः । अर्थान्तरन्यासनामालङ्कारो ज्ञेयः परिज्ञानः (व्यः) । कः—य. वाक्यार्थान्तरविन्यासः । परस्परान्वितपदसमुदायाभिधेयवस्तु वाक्यार्थः तन्मादन्यत् । प्रकृतत्वात् प्रस्तुतव्यतिरेकि वाक्यार्थान्तरम् । तस्य विन्यासो विशिष्टं न्यसन तद्विज्ञाह्लादकारितयोपनिबन्ध । कस्मात्कारणात्—मुख्यतात्पर्यसाम्यतः । मुख्यं प्रस्तावाधिकृतत्वात्प्रधानभूतं वस्तु, तस्य तात्पर्यं यत्परत्वेन... तस्य साम्यतः सादृश्यात् । कथम्—समर्पकतयाहितः । समर्पकत्वेनोपनिबद्धं, तत्तदुपपत्तियोजनेनेति यावत् । यथा—

किमिव हि मधुराणा मण्डन नाकृतीनाम् ॥ १६२ ॥

अर्थान्तरन्यास अलङ्कार का निरूपण करते हैं—वाक्यार्थ इत्यादि (कारिका के द्वारा) । उसे अर्थान्तरन्यास समझना चाहिए अर्थात् अर्थान्तरन्यास नाम का अलङ्कार जानना चाहिए । किसे—जो दूसरे वाक्यार्थ का विन्यास होता है । एक दूसरे से सम्बन्धित पद के समूह के द्वारा प्रतिपाद्य वस्तु वाक्यार्थ होती है उससे भिन्न (वाक्यार्थ) । यहाँ प्रकरण प्राप्त होने के कारण प्रस्तुत (वर्णमान) से व्यतिरिक्त (वाक्यार्थ) दूसरा वाक्यार्थ हुआ, उमते विन्यास, विशिष्ट ढङ्ग से संयोजन अर्थात् सदृश्यो को आह्लादित करने वाले ढङ्ग से वर्णन (अर्थान्तरन्यास होता है) । किस कारण से—मुख्य के तात्पर्य से साम्य के कारण । मुख्य अर्थात् प्रस्ताव के द्वारा अधिकृत होने से प्रधानभूत वस्तु, उसका तात्पर्य अर्थात् जिसका प्रतिपादन करने के लिए (उसको उपनिबद्ध किया गया है) उसका साम्य अर्थात् सादृश्य होने के कारण । कैसे—समर्पक रूप से स्थापित अर्थात् (अभिप्रेत अर्थ) को प्रदान करने वाले के रूप में उपनिबद्ध किया गया अर्थात् उन-उन वृत्तियों को प्रस्तुत करने के द्वारा ।

जैसे—(इसके पहले उदाहरण की चतुर्थ पक्ति)

किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् । यह पक्ति ॥ १६२ ॥

यथा वा—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहश्रमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।

मतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥ १६३ ॥

अथवा जैसे—

। शकुन्तला को देख कर राजा दुष्यन्त की यह उक्ति कि—

निश्चय ही (यह शकुन्तला) क्षत्रिय द्वारा ग्रहण करने (अथवा क्षत्रिय की पत्नी बनने) योग्य है क्योंकि मेरा श्रेष्ठ हृदय इसके विषय में अनिलापयुक्त हो गया है क्योंकि सन्देह की स्थलभूत वस्तुओं के विषय में श्रेष्ठ जनों के हृदय की प्रवृत्तियाँ ही प्रमाण होती हैं ॥ १६३ ॥

निषेधच्छाययाक्षेपः कान्तिं प्रथयितुं पराम् ।

आक्षेप इति स ज्ञेयः प्रस्तुतस्यैव वस्तुनः ॥ ३९ ॥

वर्ण्यमान पदार्थ के ही परम सौन्दर्य को व्यक्त करने के लिए जो प्रतिषेध की शोभा से (प्रस्तुत का) अपवाद किया जाता है उसे आक्षेप (अलङ्कार) समझना चाहिए ॥ ३९ ॥

आक्षेपमभिधत्ते—निषेधच्छाययेत्यादि । आक्षेप इति स ज्ञेयः सोऽयमाक्षेपालङ्कारो ज्ञातव्यः । स कीदृशः—प्रस्तुतस्यैव वस्तुनः प्रकृत-स्यैवार्थस्य आक्षेपः क्षेपकृत् । अभिप्रेतस्यापि निर्वर्तनमिति । कथम्—निषेधच्छायया प्रतिषेधविक्षिप्त्या । किमर्थम्—कान्तिं प्रथयितुं पराम् । उपरोमां प्रकटयितुं प्रकृष्टाम् ।

आक्षेप (अलङ्कार) का प्रतिपादन करने हैं—निषेधच्छायया इत्यादि (कारिका के द्वारा) उसे आक्षेप ऐसा समझना चाहिए अर्थात् वह यह आक्षेप नामक अलङ्कार है ऐसा जानना चाहिए । वह कैसा है—प्रस्तुत ही वस्तु का अर्थात् वर्ण्यमान ही पदार्थ का आक्षेप अर्थात् निन्दा करने वाला है । अभिप्रेत का भी निषेध करता । कैसे—निषेध की छाया से अर्थात् प्रतिषेध के सौन्दर्य से । किस लिए—परम कान्ति को प्रस्तुत करने के लिए । अर्थात् उत्कृष्ट सौन्दर्य को व्यक्त करने के लिए (प्रस्तुत का आक्षेप, आक्षेपालङ्कार होता है) ।

इस आक्षेपालङ्कार के उदाहरण रूप में कुन्तक ने एक प्राकृत का श्लोक उद्धृत किया है, जो कि पाण्डुलिपि के अत्यन्त भ्रष्ट होने के कारण नहीं पढ़ा जा सका । अतः उदाहरण यहाँ प्रस्तुत कर सकना कठिन है ।

वर्णनीयस्य केनापि विशेषेण विभावना ।

स्वकारणपरित्यागपूर्वकं कान्तिसिद्धये ॥ ४० ॥

प्रस्तुतपदार्थ के सौन्दर्य की निष्पत्ति के लिए, अपने कारण का परित्याग करके किसी विशेष (रूपान्तर) के कारण विभावना अलङ्कार होता है ।

एवं स्वरूपप्रतिषेधवैचित्र्यच्छायातिशयमलङ्कारमभिधाय कारण-प्रतिषेधोत्तेजितानि शयमाभधत्ते—स्वकारणेत्यादि । वर्णनीयस्य प्रस्तुत-स्यार्थस्य विशेषेण केनाप्यलौकिकेन रूपान्तरेण विभावनेत्यलङ्कार-भिधीयते । *** कथम्—स्वकारणपरित्यागपूर्वकम् । तस्य विशेषस्य स्वमा-त्मीयं कारण यन्निमित्तं तस्य परित्यागः प्रहाणं पूर्वं प्रथमं यत्र । तत्कृत्वे-त्यर्थः । किमर्थम्—कान्तिसिद्धये शोभानिपत्तये । तदिदमुक्तमभवति—यथा लोकोत्तरविशेषविशिष्टता वर्णनीयता नीयते । यथा—

इस प्रकार स्वरूप के निषेध की विचित्रता के सौन्दर्य के कारण उत्कर्ष वाले (आक्षेप) अलङ्कार का प्रतिपादन कर, कारण के निषेध से उन्मीलित उत्कर्ष वाले (विभावना अलङ्कार) का प्रतिपादन करते हैं—स्वकारणेत्यादि (कारिका के द्वारा) वर्णनीय अर्थात् प्रस्तुत पदार्थ के विशेष अर्थात् किसी अलौकिक रूपान्तर के कारण 'विभावना' यह अलङ्कार कहा जाता है । * * * कैसे ?—अपने कारण के परित्यागपूर्वक । उस विशेष का जो अपना कारण अर्थात् हेतु है उसका परित्याग अर्थात् उत्सर्ग पूर्व अर्थात् पहला होता है अर्थात् उस कारण का परित्याग करके । किस लिए ? कान्ति की सिद्धि अर्थात् सौन्दर्य की निष्पत्ति के लिए । तो कहने का आशय यह होता है कि—जिसे द्वारा अलौकिक विशेष की विशेषता वर्णन का विषय बनाई जाती है । जैसे—

असम्भृतं मण्डनमङ्गयष्ट्रेनासवाख्यं करणं मदस्य ।

कामस्य पुष्पन्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साऽथ वयः प्रपेदे ॥ १६४ ॥

इसके अनन्तर उस (पार्वती) ने बाल्यावस्था के बाद की यौवनावस्था को प्राप्त किया जो कि अङ्गयष्टि का अनाहार्य अलङ्कार हुआ करता है, जो बिना

१. यद्यपि डॉ० डे के ही अनुसार मैंने कारिका को मूल में सङ्ग्रहित किया है । परन्तु जैसा कि वृत्ति से स्पष्ट है कारिका का प्रारम्भ 'स्वकारण' इत्यादि से होता है । अतः कारिका की पूर्वापर पङ्क्तियों का क्रम परिवर्तन कर यदि इस प्रकार रखा जाय तो अधिक उचित होगा । कि—

स्वकारणपरित्यागपूर्वकं कान्तिसिद्धये ।

वर्णनीयस्य केनापि विशेषेण विभावना ॥

मदिरा के ही नशे का बसाधारण कारण हुआ करता है, ओर जो (पांचो) पुष्पो के अतिरिक्त काम का (छठा) अन्न हुआ करता है।

अत्र कृत्रिमकारणपरित्यागपूर्वक लोकोत्तरसहजविशेषविशिष्टता कवे-
रभिप्रेता ।

यहां पर बनावटी हेतुओं का परित्याग कर अलौकिक एवं स्वाभाविक विशिष्टता ही कवि को अभीष्ट है।

इस प्रकार ग्रन्थकार विभावना अलङ्कार का विवेचन कर ससन्देह अलङ्कार का विवेचन प्रस्तुत करते हैं। पर कारिका के सुप्त होने से वृत्ति से भी भलिभाति सहायता न मिलने के कारण कारिका का पुनर्निर्माण कठिन हो गया है। फिर भी हा० डे जो कुछ कर सके हैं उसे उद्धृत किया जा रहा है—

यस्मिन्नुत्प्रेक्षितं रूपं सन्देहमेति वस्तुनः (१) ।

उत्प्रेक्षान्तरसद्भावाद् विच्छिन्नस्यै · · · · · ॥ ४१ ॥

जिसमें सौन्दर्य उपस्थित करने के लिए पदार्थ का उत्प्रेक्षित (कविप्रतिभा के द्वारा वर्णित) स्वरूप अन्य उत्प्रेक्षा का (अर्थात् दूसरे पदार्थ के वर्णन का) सद्भाव होने के कारण सन्देह को प्राप्त कर लेता है (उसे ससन्देह अलङ्कार कहते हैं) ।

तद्वयमसम्भाव्यकारणत्वादविभाव्यमानस्वभावतां विचार्य विचार-
शोचरस्वरूपतया स्वरूपसन्देहसमर्पितातिशययभिधत्ते—यस्मिन्नित्यादि ।
यस्मिन्नलङ्कारेण सम्भावनानुमानात् साम्यसमन्वयाच्च स्वरूपान्तरसमा-
रोपद्वारेण उत्प्रेक्षितं प्रतिभालिखित रूपं पदार्थपरिस्पन्दलक्षण सन्देह-
मेति संशयमारोहति । कस्मान् कारणात्—उत्प्रेक्षान्तरसद्भावात् । उत्प्रे-
क्षाप्रकर्षपरस्यापरस्यापि तद्विषयस्य सद्भावात् किमर्थम्—विच्छिन्नस्यै
शोभायै । तदेवंविधमभिधावैचित्र्यं सन्देहाभिधानं वदन्ति । यथा—

तो इस प्रकार असम्भाव्यमान कारण वाला होने के कारण अविशेषस्वरूपता का विचार करके विचार में आने वाले स्वरूप वाला होने के नाते स्वरूप के सन्देह से अतिशय को प्रदान करने वाले (ससन्देह) को कहते हैं—यस्मिन्नित्यादि के द्वारा । जिस अलङ्कार में सम्भावना से अनुमान के कारण तथा सादृश्य का सम्बन्ध होने के कारण दूसरे स्वरूप के समारोप के द्वारा (परार्थक) उत्प्रेक्षित अर्थात् कविप्रतिभा द्वारा वर्णित रूप अर्थात् पदार्थ का स्वभाव सन्देह प्राप्त करना है अर्थात् संशयारूढ़ हो जाता है । किस कारण से—दूसरी उत्प्रेक्षा का सद्भाव होने के कारण । अर्थात् उत्प्रेक्षा के उत्कर्ष में लगे हुए दूसरे पदार्थ के भी उसका विषय हो जाने के कारण । किसलिए—विच्छिन्न अर्थात् सौन्दर्य

(प्रतिपादित करने) के लिए । तो इस प्रकार के उक्तिवैचित्र्य को (विद्वान्)
सन्देह नामक (अलङ्कार) कहते हैं । जैसे—

यथा वा—

रञ्जिता नु विविधास्नरुरौला नामित नु गगन स्थगित नु ।

पूरिता नु विषमेषु धरित्रौ सहता नु वक्रुभस्तिभिरेण ॥१६५॥

अन्धकार ने विविध वृक्षों और पर्वतों को रँग दिया या आकाश को मुका
दिया या आन्छादित कर लिया या इस धरती की ऊँची-नीची जगहों को भर
कर बराबर कर दिया अपवा सारी दिशाओं को समेट लिया ॥ १६५ ॥

निमीलदाकेकेरलोलचक्षुषां प्रियोपकण्ठं कृतगात्रवेपथुः ।

निमज्जतीनां श्वसितोद्धतस्तनः श्रमो नुतासां मदनो नु पप्रथे ॥१६६॥

यथा वा जैसे—

प्रियतम के निकट अवगाहन करती रहने के कारण सुंदरी हुई आकेकरा*
दृष्टि वाली चञ्चलनयनाओं के अङ्गों को कम्पित कर देने वाला और छाँसों से
ऊपर को उठ आये हुए स्तनों वाला श्रम या कामदेव सर्वत्र व्याप्त हो उठा था ।

इसके बाद कुन्तक ने एक प्राकृत श्लोक को उदाहरण रूप में उद्धृत किया
है जो पाण्डुनिधि में बहुत ही भट्ट एवं अस्पष्ट होने के कारण उद्धृत नहीं किया
जा सका । इसके बाद एक अन्य संस्कृत श्लोक उदाहरण रूप में उद्धृत किया है
जो इस प्रकार है—

(यथा वा)—

किं सौन्दर्यमहार्थसञ्चिन्नजगत्कोरौकरत्न विधेः

किं शृङ्गारसरसरोरुहनिदं स्यात्सौकुमार्योवधि ।

किं लावण्यपयोनिधेरभितर्कं बिम्बं सुधादीधिते—

वैषतुं फान्ततमाननं तव भया साम्यं न निश्चीयते ॥१६७॥

अथवा जैसे—

यथा ब्रह्मा के सौन्दर्य रूप महान् सम्पत्ति से सञ्चित किए गये जगत् रूप
कोश का अद्वितीय स्तन है, या कि सुकुमारता की चरमसीमाभूत यह शृङ्गार-
रूप तालाब से उत्पन्न कमल है, या कि लावण्य के समुद्र अमृतकिरण (चन्द्रमा)

* आकेकरा दृष्टि का लक्षण नृत्यविलास में इस प्रकार दिया गया है—

“दृष्टिराकेकरा किञ्चित्पुद्गलाग्रे प्रसारिता ।

मीलितार्धपुद्गलौके ताराम्बावर्तनोचरा ॥”

का नवीन मण्डल है (इस प्रकार) तुम्हारी सुन्दरतम समानता का प्रतिपादन करने के लिए मैं (कुछ) निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ ।

कुन्तक के अनुसार यह सन्देह अलङ्कार केवल एक ही प्रकार का होता है जो कि उत्प्रेक्षा पर आधारित रहता है : (सन्देहस्यैकविधप्रकारत्वमुत्प्रेक्षा-मूलत्वात्)

इसके बाद कुन्तक अपह्नुति अलङ्कार का विवेचन प्रस्तुत करते हैं ।

अन्यदर्पयितुं रूपं वर्णनीयस्य वस्तुनः ।

स्वरूपापह्नवो यस्यामसावपह्नुतिर्मता ॥ ४२ ॥

जिसमें वर्णनीय पदार्थ को (कोई नवीन) दूसरा स्वरूप प्रदान करने के लिये (उसके वास्तविक) स्वरूप का अपलाप किया जाता है उसे (ग्रन्थकार ने) अपह्नुति अलङ्कार स्वीकार किया है ॥ ४२ ॥

एव स्वरूपसन्देहसुन्दरं ससन्देहमभिधाय स्वरूपापह्नुतिरमणीया-मपह्नुतिमभिवृत्ते—अन्यदित्यादि । पूर्ववदुत्प्रेक्षामूलत्वमेव जीवित-मस्या । सम्भावनानुमानान् सादृश्याच्च वर्णनीयस्य वस्तुनः प्रस्तुत-स्यार्थस्य अन्यकिमप्यपूर्वं रूपमर्पयितुं रूपान्तरं विधातुं स्वरूपापह्नवः स्वभावापलापः सम्भवति यस्याम्, अस्ती तथाविधमणितिरिवापह्नुति-र्मता प्रतिभाता तद्विदाम् ।

इस प्रकार स्वरूपविवर्धक सन्देह के कारण रमणीय सन्देह अलङ्कार का प्रतिपादन कर (ग्रन्थकार) स्वरूप के अपलाप के कारण रमणीय अपह्नुति अलङ्कार का निरूपण करता है—अन्यदित्यादि (कारिका के द्वारा) । पहले (सन्देहालङ्कार) की तरह ही उत्प्रेक्षा का मूल में होना ही इस (अलङ्कार) का प्राण है । सम्भावना से अनुमान के कारण तथा सादृश्य के कारण वर्णनीय वस्तु अर्थात् प्रस्तुत पदार्थ के दूसरे किसी अपूर्व रूप को प्रदान करने के लिए अर्थात् दूसरे स्वरूप का निरूपण करने के लिए (उसके वास्तविक) स्वरूप का अपह्नव अर्थात् स्वभाव का अपलाप जिसमें सम्भव होता है वह उस प्रकार की उक्ति ही सहृदयो द्वारा अपह्नुति (अलङ्कार) स्वीकार की गई है अर्थात् समझी गई है ।

कुन्तक ने अपह्नुति अलङ्कार के तीन उदाहरण प्रस्तुत किए हैं जिनमें से पहला उदाहरण पाम्पुलिपि की बस्यपृष्ठा के कारण नहीं पढ़ा जा सका, दोष दो इस प्रकार है—

पूर्णेन्दो' परिपोषयान्तिवपुष' स्फारप्रभाभासुरं
 नेद मण्डलमभ्युदेति गगने भामोऽग्निहीर्षोर्जंगत् ।
 मारस्योन्मिन्नमातपत्रमधुना पाण्डुप्रदोषत्रियो
 मानो बन्धुजनाभिलापदलनोऽघोच्छिद्यते किं न ते ॥१६८॥

अपनी किरणों से ससार का उद्धार करने की इच्छा वाले और परिपुष्टि
 एवं सुयमा वाले शरीर वाले पूर्ण चन्द्र का यह चारों ओर फैली हुई कान्ति से
 दमकता हुआ मण्डल आकाश में तभी उदित हो रहा है अपितु इस समय हल्की
 पीली सन्ध्या की शोभा के सदृश शोभावाले कामदेव का छत्र ऊपर तना हुआ
 है (ऐसी स्थिति में) अब भी तुम्हारा प्रियजनो की अभिलाषाओं को चूर कर
 देनेवाला मात्र छिन्न-भिन्न क्यों नहीं हो जाता ॥ १६८ ॥

(यथा च)—

तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दो-
 द्वयमिदमयथार्य दृश्यते मद्विषेयु ।
 विसृजति हिमगर्भैरभिमन्तर्मयूतै
 स्त्वमपि कुसुमबाणान् वज्रसारीकरोपि ॥ १६९ ॥

(और जैसे)—

तुम्हारी पुष्पबाणता और चन्द्रमा की शीतकिरणता ये दोनों ही मेरे जैसे
 लोगो के विषय में ठीक नहीं मालूम पड़ती (क्योंकि) हिम को अन्दर धारण करने
 वाली किरणों के द्वारा वह (चन्द्रमा) मेरे हृदय पर आग बरसाता है और तुम
 भी अपने फूल के बाणों को वज्र की शक्ति से सवलित बनाये दे रहे हो ॥ १६९ ॥

इस प्रकार कुन्तक अणुहुति अलङ्कार का विवेचन समाप्त कर दो अथवा
 दो से अधिक अलङ्कारों की सृष्टि तथा सङ्कुर वाले स्थलों का विवेचन करते हैं ।
 इस स्थल पर पाण्डुलिपि में कारिकायें तो छुप्त ही थीं । साथ ही वृत्तिभाग भी
 इतना भ्रष्ट एवं दुर्बोध था कि उसके आधार पर भी कारिकाओं का पुनर्निर्माण
 असम्भव था । अतः संमृष्टि तथा सङ्कुर का लक्षण प्रस्तुत करने वाली कारिकायें
 वृत्ति तथा उदाहरण भाग ३० के द्वारा नहीं प्रस्तुत किये जा सके ।

ग्रन्थकार ने ससृष्टि के दो उदाहरण प्रस्तुत किए थे जो इस प्रकार हैं—

(संसृष्टिर्यथा)—

आश्लिष्टो नवकुङ्कुमारणरविज्यालोकितैकाग्रितो
 लम्बान्ताम्बरया समेत्य भुवने ध्यानान्तरे सन्ध्यया ।
 चन्द्रांशुत्करकोरकाकुलमतिर्ध्वान्तद्विरेफोऽधुना
 देव्या स्थापितदोहदे कुरवके भाति प्रदोषागमः ॥ १७० ॥

(सृष्टि का उदाहरण जैसे)—

नई वस्त्र की तरह लाख सूर्य के दर्शनमात्र का आभयण करने वाले, भुवन भर में फैले लम्बे छोर वाले अम्बर वा त्रीध्यान के भीतर आकर सन्ध्या के द्वारा आलिङ्गित और चन्द्रमा की किरणों के समूह और कलियों के बीच व्याकुलचित्त अन्धकाररूपी भ्रमर वाले प्रदोष का आगमन इस समय महारानी के द्वारा सम्पादित दोहद वाले कुरवक + मुशोभित हो रहा है ॥ १७० ॥

(यथा च)

म्लानि बान्तविपानलेन नयनव्यापारलब्धात्मना

गीता राजभुजङ्ग पल्लवमृदुर्नून लतेय त्वया ।

अस्मिन्नीश्वरशेखरेन्दुकिरणस्मेरस्थलीलाञ्छिते

कैलामोपवने यथा सुगहने नैति प्ररोहं पुनः ॥ १७१ ॥

ऐ राजभुजङ्ग, तुमने किसलयकोमल इस लता को नेत्रों की कारगुजारी से स्वरूप को पाने वाली वसन की गई हुई विषाग्नि के द्वारा इस तरह मुरझा दिया है कि शिवजी के मस्तक पर स्थित चन्द्रमा की किरणों के कारण मुस्कराती हुई स्त्रियों से उपलक्षित होने वाले कैलाशपर्वत के इस घने उपवन में अब यह फिर से अङ्कुरित नहीं हो सकती ॥ १७१ ॥

इस प्रकार सृष्टि के तीन उदाहरण देकर, जिसमें से दो को उद्धृत किया गया है । कुन्तक ने सकीर्ण के भी तीन उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, जो इस प्रकार हैं—

(सकीर्ण यथा)—

रूढा जालैर्जटानामुरगपतिफलैस्तत्र पातालकुक्षौ

प्रोद्यद्बालाङ्कुरश्रीर्दिशि दिशि दशनैरेभिराशागजानाम् ।

अस्मिन्नाकाशदेशे विकसितकुसुमा राशिभिस्तारकाणां

नाथ स्वत्कीर्तिवल्ली फलति फलमिदं बिम्बमिन्दोः सुराद्रेः ॥ १७२ ॥

(सकीर्ण का उदाहरण जैसे)—

पाताल के उदर में शेषनाग के फणरूपी जटाजालों के अन्दर उगी हुई और दिग्गजों के इन दाँतों के अन्दर हर दिशा में निकले हुए छोटे-छोटे अंकुरों की घोभा वाली तथा इस आकाशदेश में तारों की राशि में खिले हुए फूलों वाली कुम्हारी कीर्तिलता, महाराज ! सुमेरु के ऊपर यह चन्द्रबिम्ब रूपी फल फल रही है ॥ १७२ ॥

(यथा वा)—

निर्मोकमुक्तिरिव गगनोरगस्य । इति ॥ १७३ ॥

अथवा जैसे—(उदाहरण सख्या ३।—पर पहले उद्धृत)

निर्मोकमुक्तिरिव गगनोरगस्य । यह पङ्क्ति ।

(यथा च)—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूचन्द्रो । इत्यादि ॥ १७४ ॥

और जैसे—(उदाहरण सख्या ३।—पर पूर्वोदाहृत) अस्याः सर्गविधौ

प्रजापतिरभूचन्द्रो ॥ इत्यादि श्लोक ॥

इस प्रकार कुन्तक सभी महत्वपूर्ण अलङ्कारों का लक्षण उदाहरण सहित विवेचन प्रस्तुत कर अन्य अलङ्कारिकों द्वारा स्वीकृत दूसरे अलङ्कारों को स्वतन्त्र अलङ्कार रूप में स्वीकार नहीं करते हैं । उनका कहना है कि या तो वे सभी अलङ्कार ऊपर विवेचित अलङ्कारों में ही अन्तर्भूत हो जायेंगे या फिर उनमें सौन्दर्य ही नहीं रहेगा । अतः वे अलङ्कार नहीं हो सकेंगे । इसका विवेचन उन्होंने इस प्रकार किया है कि—

भूषणान्तरभावेन शोभाशून्यतया तथा ।

अलङ्कारास्तु ये केचिन्नालङ्कारतया मनाक् ॥ ४३ ॥

(ग्रन्थकार द्वारा अब तक प्रतिपादित किए गए अलङ्कारों से भिन्न) जो अलङ्कार (अन्य आचार्यों द्वारा स्वीकार किए गये) हैं उन्हें (पूर्व स्वीकृत) अन्य अलङ्कार रूप होने के कारण तथा सौन्दर्य से रहित होने से (ग्रन्थकार ने) थोड़ा भी अलङ्कार रूप में स्वीकार नहीं किया है ॥ ४३ ॥

एष यथोपपत्त्यालङ्कारान् लक्षयित्वा केपाश्र्विदलक्षितत्वाल्लक्षणाव्याप्तिदोष परिहर्तुमुपक्रमते—भूषणेत्यादि । ये पूर्वोक्तव्यतिरिक्ताः केचिदलङ्कारास्तेऽलङ्कारतया मनाक् न विभूषणत्वेनाभ्युपगताः । केन हेतुना—भूषणान्तरभावेन । तेभ्यो व्यतिरिक्तमन्यद् भूषणं भूषणान्तरम् , तत्स्वभावत्वेन पूर्वोक्तानामेवान्यतमत्वेनेत्यर्थः । शोभाशून्यतया तथा—शोभा कान्तिस्तया शून्यं रहितं शोभाशून्यम् , तस्य भावः शोभाशून्यता तया हेतुभूतया..... । तेषामलङ्कारणत्वमनुपपन्नम् ।

इस प्रकार यथायुक्ति अलङ्कारों का लक्षण (स्वरूपनिरूपण) कर के (अन्य आचार्यों द्वारा निरूपित दूसरे) कुछ अलङ्कारों के लक्षित न होने के कारण (अलङ्कारों के) लक्षण में अव्याप्ति दोष का परिहार करने के लिये 'भूषणे-त्यादि' कारिका का प्रारम्भ करते हैं । पहले प्रतिपादित किए गये (अलङ्कारों)

से अतिरिक्त जो कोई अलङ्कार (अन्य आचार्यों द्वारा स्वीकार किए गए) हैं उन्हें (ग्रन्थकार ने) शीघ्र भी अलङ्कार रूप में नहीं स्वीकार किया है। किस कारण—अन्य अलङ्कार स्वरूप होने से। उन (अप्रतिपादित अलङ्कारों) से भिन्न दूसरे अलङ्कार अलङ्कारान्तर हुए, उनके स्वभाव रूप होने के कारण अर्थात् पूर्वप्रतिपादित अलङ्कारों में ही एक न एक होने में। उनका स्वतन्त्र अलङ्कारत्व नहीं है। तथा शोभाशून्य (भी) होने के कारण। शोभा अर्थात् सौन्दर्य उससे शून्य अर्थात् हीन शोभाशून्य होने, उनका भाव शोभाशून्यता है उसी हेतुभूत (सौन्दर्यहीनता) के कारण . . . : उनका अलङ्कारत्व सिद्ध नहीं होता।

इस प्रकार अन्य अलङ्कारों का खण्डन करने समय कुन्तक सर्वप्रथम यथासक्य अलङ्कार का खण्डन प्रस्तुत करने है, जिसे प्राचीन भामह आदि आलङ्कारिकों ने अलङ्कार रूप में स्वीकार किया है—(पूर्वोक्तान्तरात्)

वे भामह कृत 'यथासक्य' अलङ्कार का उदाहरण एवं लक्षण उद्धृत कर उसकी आलोचना इस प्रकार करते हैं—

भूयसामुपदिष्टानामर्थानामसधर्मणाम् ।

कमशो योऽनुनिर्देशो यथासक्यस्तदुच्यते ॥ १७५ ॥

(पहले) निर्दिष्ट किए गए भिन्न-भिन्न धर्मों वाले बहुत से पदार्थों का क्रमानुक्रम जो बाद में निर्देश किया जाता है उसे यथासक्य अलङ्कार कहते हैं।

पद्मेन्दुभृङ्गमातङ्गपुस्कोकिलकलापिनः ।

वक्त्रकान्तीक्षणगतिवाणीवालेस्त्वय्या जिताः ॥ १७६ ॥

भणितिवैचित्र्यविरहान्न काचिदत्र कान्तिर्विद्यते ।

जैसे—तुमने कमल, चन्द्रमा, भ्रमर, हाथी, नरकोकिल तथा मयूरी को (कमरा.) मुख, कान्ति, नयन, गमन, वचन तथा केशों के द्वारा जीत लिया है।

वैचित्र्य का अभाव होने के कारण यहाँ पर कोई सौन्दर्य नहीं है।

इस प्रकार यथासक्य के शोभाशून्य होने के कारण उसके अलङ्कारत्व का खण्डन कर कुन्तक प्राचीन आलङ्कारिकों द्वारा स्वीकृत 'आशी.' अलङ्कार का खण्डन इस प्रकार करते हैं—

आशिषो लक्षणोदाहरणानि नेह पठन्ते, तेषु चार्शनीयस्यैवार्थस्य मुख्यतया वर्णनीयत्वादलङ्कार्यत्वमिति प्रेयोलङ्कारोक्तानि दूषणान्यापन्ति ।

'आशी.' अलङ्कार के लक्षण तथा उदाहरण को (ग्रन्थकार) यहाँ नहीं प्रस्तुत करते हैं। चाब ही उनमें आर्शनीय ही पदार्थ के मुख्य रूप से वर्णन का

विषय होने के कारण अलंकार्यता होती है, इसलिए उसे (अलंकार मानने में) प्रेयः अलङ्कार में गिनाने गए दोष उपस्थित हो जाते हैं ।

इस प्रकार "आशीः" अलंकार की अलङ्कार्यता सिद्ध कर उसके अलङ्कारत्व का सङ्गन कर कुन्तक विशेषोक्ति अलङ्कार की भी स्वतन्त्र अलङ्कारता का सङ्गन भामह के विशेषोक्ति के उदाहरण को उद्धृत करते हुए इस प्रकार करते है कि—

विशेषोक्तेरलङ्कारान्तरभावेनालङ्कार्यतया च भूषणत्वानुपपत्तिः ।

(यथा)—

म एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः ।

हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न हृत यत्नम् ॥ १७७ ॥

विशेषोक्ति के अन्य अलंकार रूप होने से तथा अलङ्कार्य होने के कारण अलङ्कारत्व की सिद्धि नहीं होती । (जैसे—)

पूजो के अस्त्रबाला वह (कामदेव) अकेले ही तीनों लोको पर विजय प्राप्त करता है, जिसके शरीर का हरण करते हुए भी शङ्कर ने शक्ति का हरण नहीं किया ॥ १७७ ॥

अत्र सकललोकप्रसिद्धजगित्वजयतिरेकिकन्दर्पस्वभावमात्रमेव वाक्यार्थः ।

यहाँ समस्त लोको में विख्यात विजय से अतिरिक्त कामदेव का केवल स्वभाव ही वाक्यार्थ है (अतः स्वभाव होने के कारण वह अलङ्कार्य है, अलङ्कार नहीं हो सकता ।)

इस तरह विशेषोक्ति का सङ्गन कर कुन्तक दण्डी द्वारा अभिमत हेतु, सूदम तथा लेश अलङ्कार का सङ्गन करते है । इसके समर्थन में वे भामह को उद्धृत करते हैं । तथा 'सूदम' के उदाहरणस्वरूप 'सङ्केतकालमनस विट शाखा' आदि श्लोक को तथा 'लेश' के उदाहरण रूप में दण्डी के 'राजकन्यानुरक्तं माम्' आदि श्लोक एवं 'हेतु' के उदाहरण रूप में दण्डी के ही 'अयमाम्बोलितप्रोक्त' आदि श्लोक को उद्धृत कर उनका सङ्गन करते हैं ।

कुन्तक के अनुसार इन सभी अलङ्कारों में केवल स्वभाव ही रमणीय होता है, अतः ये सभी अलङ्कार्य होने हैं, अलङ्कार नहीं । प्राप्त विवेचन इस प्रकार है—

हेतुश्च सूदमो लेशोऽयः नालङ्कारतया मतः ।

समुदायभिधानस्य यक्रोक्त्यनभिधानतः ॥ १७८ ॥

समुदाय के वचन (अर्थात् साधारण वचन) के यक्रोक्ति का प्रतिपादन न करने के कारण हेतु, सूदम तथा लेश को (हमने) अलङ्कार रूप में नहीं स्वीकार किया है ॥ १७८ ॥

(सूदमं यथा)

सङ्केतकालमनसं विट ज्ञात्वा विदग्धया ।

हमन्नेत्रापिताकूनं लीलापद्मनिमीलितम् ॥ १७६ ॥

आँखों से अभिप्राय को बताने वाले धूर्त (नायक-विट) को सन्त समझ की इच्छा वाला समझ कर कुचाल (नायिका) ने हँसते हुए लीलाकमल को बन्द कर दिया ॥ १७९ ॥

(हेतुर्यथा) —

अयमान्दोलितप्रीडचन्दनद्रुमपल्लवः ।

उत्पादयति सर्वस्य प्रीतिं मलयमारुतः ॥ १८० ॥

चन्दन वृक्ष के पुराने (परिपक्व) पत्तों को हिलाने वाला यह मलयपर्वत सभी में प्रेम को उत्पन्न कर देता है १८० ॥

(लेशो यथा) —

राजकन्यानुरक्त मां रोमोज्जेदेन रक्षकः ।

अवगच्छेयुराज्ञातमहो शीतानिलं वनम् ॥ १८१ ॥

(लेख) — रोमाञ्च के उदित होने के कारण (अन्त पुर के) रक्षक (कहीं) मुझे राजकन्या में अनुरक्त न समझ लें, ओहो ! समझ गया (रोमाञ्च का कारण) अरे वन ठंडी हवाओं वाला है । (अतः कह दूँगा कि ठंडक से रोमाञ्च हुआ है, राजकन्या के दर्शन से नहीं) ॥ १८१ ॥

इसी प्रकार कुन्तक भामह द्वारा स्वतन्त्र अलङ्कार रूप में स्वीकृत 'उपमा-रूपक' अलङ्कार का भामह के उपमा रूपक के उदाहरण को उद्धृत करते हुए खण्डन करते हैं । पर पूर्ण पाठ के सुस्पष्ट न होने के कारण खण्डन कैसे किया गया है इसे कह सकना कठिन है ।

केचिदुपमारूपकाणामलङ्करणत्वं मन्यन्ते । तदयुक्तम्, अनुपपद्यमानत्वात् ।

कुछ (भामह आदि) आचार्य उपमारूपको की अलङ्कारता स्वीकार करते हैं । वह ठीक वही (अलङ्कारता) के सिद्ध न होने के कारण ।

(यथा) —

समप्रगगनायाममानदण्डो रथाङ्गिनः ।

पादो जयति सिद्धस्त्रीमुखेन्दुनवदर्पणः ॥ १८३ ॥

१. यहाँ पाठ मैंने भामह के काम्यालङ्कार के आधार पर दिया है । जब कि डॉ० डे ने 'सप्तस्तगगनामोगम्' यह पाठ दे रखा है जो कि काम्यालङ्कार (श्री बालमनोरमा सीरीज न० ५४) में तो नहीं है ।

जैसे—समस्त आकाश की लम्बाई का मानदण्ड एवं सिद्धों की पत्नियों के चन्द्रमा सदृश मुखों के लिए नवीन दर्पण रूप वक्त्रधारी (विष्णु) का पैर सर्वोत्कर्ष से युक्त है ॥ १८३ ॥

लावण्यादिगुणोज्ज्वला प्रतिपदन्यामैर्विलासाश्रिता
 त्रिच्छिन्नया रचितैर्भिषूषणभरैरन्वयैर्मनोहारिणी ।
 अत्यर्थं रसवत्तयाद्रहदया * * * * * उदाराभिधा
 वाक् * * * * * मनो हतुं यथा नायिका ॥ १८४ ॥
 इति कुन्तलकविरचिते वक्रोक्तिजीविने
 तृतीयोन्मेष समाप्तः ।



लावण्य आदि गुणों से सुशोभित होनेवाली प्रत्येक पदन्यास के द्वारा उत्पन्न विलास से संसक्त, थोड़े से ही अलङ्कारों की रचना द्वारा उत्पन्न रमणीयता से मनोहारिणी, अत्यधिक रसवती होने के कारण आर्द्रहृदय * * * एव उदार कपन से युक्त वाणी नायिका की तरह हृदय को आकर्षित करने में (समर्थ होती है) ।

इस प्रकार कुन्तलकविरचित वक्रोक्तिजीवित का
 तृतीय उन्मेष समाप्त हुआ ।



चतुर्थोन्मेषः

अथ सकनसाहित्यसर्वस्वकल्पवाक्यवक्रताप्रकाशनानन्तरमवसरप्राप्तां प्रकरणवक्रतामवतारयति—

यत्र निर्यन्त्रणोत्साहपरिस्पन्दोपशोभिनी ।

व्यावृत्तिर्व्यवहर्तृणां स्वाशयोल्लेखशालिनी ॥ १ ॥

अव्यामूलादनाशंक्यसमुत्थाने मनोरथे ।

काप्युन्मीलति निःसीमा सा प्रवन्धांशवक्रता ॥ २ ॥

इस प्रकार समग्र साहित्य की प्राणभूत 'वाक्यवक्रता' के विवेचन के अनन्तर (अवसरप्राप्त) अवसरप्राप्त 'प्रकरणवक्रता' को प्रस्तुत करता है—

जहाँ पर जड़ से लेकर ही असम्भावित अकुरणवाले कवि मनोरथ के प्रस्तुत किए जाने पर एक अनिर्वचनीय और असीम तथा निर्बाध उत्साह के स्फुरण के कारण सुशोभित होने वाली और अपने आशय की उद्भावना के कारण मनोहर लगने वाले व्यवहार करने वाली की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है उसे प्रकरणवक्रता कहते हैं ॥ १-२ ॥

वक्रता चक्रभावो भवतीति सम्बन्धः । कीदृशी—निःसीमा निरवधिः । यत्र यस्य व्यवहर्तृणां तद्व्यापारपरिमहव्यग्राणां व्यावृत्तिः प्रवृत्तिः काप्यलौकिकी उन्मीलति उद्दिद्यते । किंविशिष्टा—निर्यन्त्रणोत्साहपरिस्पन्दोपशोभिनी निर्गलव्यवसायस्फुरितस्फारविच्छत्तिः । अतएव स्वाशयोल्लेखशालिनी निरुपमनिजहृदयोल्लासितालङ्कृतिः । कस्मिन् सति—अव्यामूलादनाशंक्यसमुत्थाने मनोरथे । कदात्प्रभृत्यसम्भाव्यसमुद्भेदे समीहिते । तद्यमत्रार्थः.....

वक्रता अर्थात् बांकपन होता है । कैसी (वक्रता)—नि सीम अर्थात् जिसकी कोई अवधि नहीं होती । जहाँ अर्थात् जिस (वक्रता) में व्यावहारिकी अर्थात् उस (वक्रता) के व्यापार के साधन में व्यग्र (कवियों की) व्यावृत्ति अर्थात् प्रवृत्ति, कोई लोकोत्तर उन्मीलित अर्थात् प्रस्फुटित होती है । कैसी (प्रवृत्ति)—निर्बाध उत्साह के परिस्फुरण से सुशोभित होने वाली अर्थात् स्वच्छन्द (कवि) व्यापार के स्फुरण के कारण अत्यधिक सौन्दर्य वाली (प्रवृत्ति स्फुटित होती है) इसीलिए (वह) अपने आशय की उद्भावना के कारण मनोहर लगने वाली अर्थात्

अपने हृदय से उन्मादित अद्वितीय अलंकरण वाली होती है । (ऐसी प्रवृत्ति)
विसर्ग के विद्यमान रहने पर (स्फुटित होती है) मूल से लेकर असम्भावित
समुत्पन्न वाले (कवि) मनोरथ के अर्थात् जड़ से लेकर ही असम्भावित अनुपम
वाले (कवि-) मनोरथ के विद्यमान रहने पर (ऐसी प्रवृत्ति स्फुटित होती है) तो
इसका आशय यह है कि . . . ।

इसके बाद कुन्तक प्रकरणवक्त्रा का एक उदाहरण 'अभिजात राजा की'
नामक रूपक के 'सेतुबन्ध' नामक तृतीय अंक से इस प्रकार उद्धृत करने हैं—
वहाँ सेनापति नील का (यह) कथन कि—

तत्र नीलस्य सेनापतेर्वचनम्—

शैलाः सन्ति सहस्रशः प्रतिदिशं वल्मीककल्पा इमे
दोर्दण्डाश्च कठोरविक्रमसश्रीङ्गाममुत्कण्ठकाः ।
कर्णास्यादितकुम्भसम्भवकथा किन्नाम कल्लोलिनः
प्रायो गोष्पटपूरणोऽपि कथय' कौतूहल नास्तिः वः ॥ १ ॥

कानो द्वारा (कुम्भज) अगस्त्य की कथा का आस्वादन कर चुकने वाले ऐ
बन्दरो । प्रत्येक दिशा में वल्मीक के समान हजारों पहाड़ विद्यमान हैं तथा तुम्हारे
में मुजदब्ध कठोर पराक्रम के आनन्द को प्रदान करने वाली श्रीङ्ग के प्रति उत्पन्न
उत्कण्ठा वाले हैं (फिर भी) सागर की क्या चर्चा, गोष्ठुर को भी भर देने में
तुम्हारा कौतूहल नहीं दिखाई पड़ रहा है । (अब तक तुम्हें इसे पाठ देना
चाहिए था) ॥ १ ॥

वानराणामुत्तमाकथं नेपथ्ये कलकलानन्तरम्—

आन्दोल्यन्ते कति न गिरयः कन्दुकानन्दमुद्रां
व्यातन्वाना करपरिसरे कौतुकोत्कर्षहर्षे ।
लोषामुद्रापरिवृट्कथाभिज्ञताप्यस्ति किन्तु
श्रीङ्गावेशः पवनतनयोच्छिष्टसंस्पर्शनेन ॥ २ ॥

तथा नेपथ्य में कलकल (ध्वनि) के पश्चात् वानरो का यह उत्तर वानर कि
(अरे सेनापति जी !)

कौतूहल के बढ़ जाने के कारण उत्साह के उत्पन्न होने पर पदार्थों में
झीरो की क्या गणना (जबकि) हृषीके के फैलाव पर बड़े बड़े पहाड़ भी गेद
की आनन्दमुद्रा को उत्साहित करके रह जाते हैं । साथ ही अगस्त्य की कथा की
भी जानकारी है किन्तु हनुमान के द्वारा बुझा दिए गए पदार्थ के स्पर्श के
कारण बड़ी लज्जा आ जाती है ॥ २ ॥

“रामेण पर्यनुयुक्तजाम्बवतोऽपि वाक्यम्—

अनङ्कुरितनिःसीममनोरथरुहेष्वपि ।

कुतिनस्तुल्यसरम्भमारभन्ते जयन्ति च ॥ ३ ॥

राम के द्वारा पूछे गए जाम्बवान् का भी (यह वाक्य)

(कभी) अङ्कुरित न होने वाले अनन्त मनोरथ की उत्पत्ति होने पर भी निपुण लोग समान उत्साह के साथ (उसे) प्रारम्भ करते हैं और विजयी होते हैं ॥ ३ ॥

एव त्रिधमपरमपि तत एव विभावनीयमभिनवाद्भुत भोगभङ्गीसुभगं सुभाषितमर्वस्वम् ।

इस प्रकार के अपूर्व एवं अद्भुत तथा आस्वादभङ्गिमा से रमणीय दूसरे भी सुक्तिसर्वस्व वहीँ से समझ लेता चाहिए ।

इस प्रकार ‘अभिजातजानकी’ से प्रकरणवक्रता का उदाहरण देकर कुन्तक रघुवंश महाकाव्य के पञ्चम सर्ग से रघु तथा कौत्स के वृत्तान्त की प्रकरणवक्रता के उदाहरण रूप में उद्धृत करते हैं । उन्होंने जिन श्लोको को उद्धृत कर उनकी व्याख्या प्रस्तुत की है वे इस प्रकार हैं—

(एतावदुक्त्वा प्रतियातुकाम शिष्य मर्षेर्नृपतिर्निषिध्य ।)

किं वस्तु विद्वन् गुरवे प्रदेय त्वया कियद्वेति तमन्वमुक्त्वा ॥ ४ ॥

(मैं अब दूसरे के पास जा रहा हूँ क्योंकि आप तो सर्वस्व दान कर चुके हैं, अतः आप से कुछ नहीं मांगूँगा) इतना ही कहकर (अन्यथा) जाने की इच्छा वाले महर्षि (वरतन्तु) के शिष्य (कौत्स) को (जाने से) रोक कर राजा ने, ‘हे विद्वन् ! आप को गुरु को कौन सी ओर कितनी वस्तु प्रदान करनी है’ ऐसा उनसे प्रश्न किया ॥ ४ ॥

गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृशवा रघो. सकाशादनवाप्य कामम् ।

गनो वदान्शान्तरमित्यय मे मा भूत्परीवादनवावतारः ॥ ५ ॥

‘शास्त्रो का पारङ्गत, गुरुदक्षिणा के निमित्त याचना करने वाला (स्नातक कौत्स प्रसिद्ध दानी राजा) रघु के समीप से मनोबान्छित (वस्तु) न प्राप्त कर दूसरे दानी के पास चला गया’ ऐसा यह (आज तक कभी न हुआ) मेरा नवीन अपघम आचिर्भूत न होवे । (अतः आप जब तक मैं उसका प्रबन्ध करता हूँ, दो-तीन दिन मेरी अग्निशाला में ठहरें) ॥ ५ ॥

तं भूपतिर्भासुरहेमराशि लब्धं कुबेरादभियास्यमानात् ।

दिदेश कौत्साय समस्तमेव पादं सुमेरोरिव ध्वजभिन्नम् ॥ ६ ॥

राजा (रघु) ने चढ़ाई किए जाने वाले कुबेर से प्राप्त, (इन्द्र के) वज्र से विदीर्ण किए गये गुमेरु पर्वत के शिखर के समान देदीप्यमान वह सम्पूर्ण स्वर्ण-राशि कौत्स को प्रदान कर दी (केवल चोदह करोड़ ही नहीं) ॥ ६ ॥

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्य भूतामभिनन्द्यसत्त्वौ ।

गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी नृपोर्थिकामादधिकप्रदश्च ॥ ७ ॥

गुरु के दातव्य से अतिरिक्त (धन) के प्रति अनिच्छुक याचक (कौत्स) तथा याचक के मनोरथ से अधिक प्रदान करने वाले राजा (रघु) वे दोनों ही अयोध्यावासी लोगों के लिये प्रशसनीय प्राणी हो गये (या स्तुत्य व्यापार वाले सिद्ध हुए) ॥ ७ ॥

कुबेरप्रति सामन्तसम्भावनया जयाध्यवसायः कामपि सहृदय-हृदयहारितां प्रतिपद्यते । अन्यच्च 'जनस्य साकेत' इत्यादि, अत्रापि गुरुप्रदेयदक्षिणानिरिक्तकार्तृस्वरमप्रतिगृह्यत कौत्सस्य रघोरपि प्रार्थित-शतगुणं सहस्रगुण वा प्रयच्छतो निरवधिनिःस्पृहतौदार्यसम्पत्ता-चेतवासिनमाश्रित्यापूर्वा कामपि महोत्सवमुद्गमाततान । एवमेवा महाकविप्रबन्धेषु प्रकरणवक्रनाविच्छिन्तिः रसनिग्यन्दिनी सहृदयैः स्वयमुत्प्रेक्षणीयाः ।

(यहाँ) कुबेर के विषय में सामन्तरथ की उत्प्रेक्षा करके जीतने का प्रयास किसी अपूर्व ही सहृदयो की मनोहारिता को प्राप्त करता है । ओर भी जो 'जनस्य साकेत' इत्यादि (पद्य कहा है), यहाँ भी गुरु की दातव्य दक्षिणा से अधिक स्वर्ण को न लेने वाले कौत्स की तथा याचित से सौगुना अथवा हजारगुना प्रदान करने वाले रघु की भी असीम निःस्पृहता एवं उदारता की सम्पत्ति ने अयोध्यावासियों का आश्रय ग्रहण कर किसी अपूर्व प्रसन्नता की भंगिमा को प्रस्तुत किया । इस प्रकार रस को प्रवाहित करने वाला प्रकरणवक्रता का यह सौन्दर्य महाकवियों के काव्यों में सहृदयों की स्वयं समझ लेना चाहिए ।

इमामेव प्रकारान्तरेण प्रकाशयति—

इतिवृत्तप्रयुक्तेऽपि कथावैचित्र्यवर्त्मनि ।

उत्पाद्यलवलावण्यादन्या भवति वक्रता ॥ ३ ॥

तथा, यथा बन्धस्य सकलस्यापि जीवितम् ।

भाति करणं काष्ठाधिरूढरसनिर्भरम् ॥ ४ ॥

इस प्रकरणवक्रता की दूसरे ढङ्ग से प्रस्तुत करते हैं—

इतिहास में प्रयुक्त होने पर भी कथा की विविधता के मार्ग में कविप्रसूत

लेशमात्र की रमणीयता के कारण उस प्रकार (कोई लोकोत्तर ही) दूसरी (प्रकरण की) वक्रता होती है, जिस प्रकार से कि चरमोत्कर्ष को प्राप्त रस से ओतप्रोत (वह) प्रकरण सम्पूर्ण प्रबन्ध के प्राण रूप में प्रतीत होने लगता है ॥ ३-४ ॥

तथा उत्पाद्यलवलावण्यादन्या भवति वक्रता—तेन प्रकारेण कृत्रिमसंविधानककामनीयकालौकिकी वक्रभावभङ्गी समुज्जृम्भते, सहृदयानावर्जयतीति यावत् । वक्—कथावैचित्र्यवर्त्मनि—काव्यस्य..... वैचित्र्यभावमार्गे । किंविशिष्टे—इतिवृत्तप्रयुक्तेऽपि इतिहासपरिग्रहेऽपि । तथेति यथाप्रयोगमपेक्षत इत्याह—यथा प्रबन्धस्य सकलस्यापि जीवतं भाति प्रकरणम् । येन प्रकारेण सर्गबन्धादेः समप्रस्यापि प्राणप्रतिममङ्गम् । कीदृग्भूतम्—काष्ठाधिरूढरमनिर्भरम् । प्रथमधाराध्यासित-शृङ्गारादिपरिपूर्णम् ।

उस प्रकार उत्पाद्य लेश मात्र के लावण्य से दूसरी वक्रता होती है—उस प्रकार कृत्रिम कथा की रमणीयता के कारण लोकोत्तर वक्रता की शोभा उत्पन्न हो जाती है अर्थात् सहृदयों को आकृष्ट करती है । कहाँ—कथा की विचित्रता के मार्ग में—काव्य की...विचित्रता के मार्ग में । कैसे (मार्ग) में—इतिवृत्त में प्रयुक्त भी (मार्ग में) अर्थात् इतिहास से ग्रहण किए गये (मार्ग) में भी । (कारिका में प्रयुक्त) तथा (शब्द) यथा के प्रयोग की अपेक्षा रखता है अतः कहते हैं—जिससे सम्पूर्ण प्रबन्ध का भी (वह) प्रकरण प्राण रूप प्रतीत होता है । जिस प्रकार से सम्पूर्ण काव्यादि का भी प्रकरण प्राण सदृश हो जाता है । किस स्वरूप वाला (करण)—काष्ठा पर पहुँचे हुए रस से ओतप्रोत (प्रकरण) । अर्थात्...पहली पक्ति में आसन ग्रहण करने वाले शृङ्गार आदि (रसों) से परिपूर्ण (प्रकरण प्राणभूत प्रतीत होने लगता है ।)

प्रकरणवक्रता के इस प्रकार के उदाहरण रूप में कुन्तक अभिज्ञान शाकुन्तल में दुर्वासः ऋषि के शाप की प्रस्तावना तथा राजा के मस्तिष्क पर उसके प्रभाव की उद्धृत कर उसकी व्याख्या करते हैं । इस प्रसङ्ग में कुन्तक ने जिन श्लोकों को उद्धृत किया है वे इस प्रकार हैं—

विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
तपोनिधिं वेत्ति न मामुपस्थितम् ।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन्
कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतमिदम् ॥ ८ ॥

अपि दुर्वासा दुष्यन्त के ध्यान में मग्न राकुन्तला को धाप देते हुए कहते हैं कि ऐ राकुन्तले ! अनन्य हृदय से जिसके विषय में सोचती हुई तू अम्मागत मुक्त तपस्वी को नहीं जान रही है, वह बताया जाने पर भी प्रसन्न के समान पहले की गद्गद वार्ता की तरह तुझे याद नहीं करेगा ॥ ८ ॥

रम्याणि धीदय मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेनसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरमौहृदानि ॥ ६ ॥

जो सुखी भी जीव रमणीय (वस्तुओं) को देखकर तथा मीठे शब्दों को सुन कर उत्कण्ठित हो जाया करते हैं (इससे ऐसा लगता है कि) निश्चित ही वह (विषय विशेष के ज्ञान के बिना वासना रूप से स्थित दूसरे (पूर्व) जन्म के स्नेह सम्बन्धों को याद करता है ॥ ९ ॥

प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिर्वामप्रकोटार्पितं
बिभ्रत्काञ्चनमेकमेव चलयं श्रामोपरक्ताधरः ।
चिन्ताजागरणप्रतान्तनयनस्तेजोगुणादात्मनः
मम्कागेन्लिविनो मन्मथमणेरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते ॥ १० ॥

(कञ्चुकी राजा दुष्यन्त को देखकर कहता है—) विशेष आभरणों का धारण करना छोड़ देने वाले, बाईं कलाई में सोने के एक ही कंकण को धारण किए हुए (विरह के कारण गर्म) साँसों में छाल हो गये अधर वाले एवं चिन्ता के कारण जागने से बहुत ही दुखती हुई साँसों वाले (राजा दुष्यन्त) अपनी तेजस्विता के कारण सान पर चढ़ाये गये (सहकारोत्तिष्ठित) मणि के समान क्षीण हो जाने पर भी क्षीण नहीं दिखाई पड़ते ॥ १० ॥

अक्लिष्टबालतरुपङ्कजलोभनीयं
पीतं मया सदयमेव रतोत्सवेषु ।
निम्बाधरं स्पृशसि चेद्भ्रमरप्रियाया-
स्त्वां कार्यामि कमलोदरबन्धनस्यम् ॥ ११ ॥

(राजा दुष्यन्त चित्र में राकुन्तला के पास मेंहराते हुए भौरे को देखकर कहते हैं कि) ऐ भौरे, यदि तू मेरे द्वारा सुरतोत्सवों में दयालुता के साथ पिये गये किसी के द्वारा भी मीने न गए (अक्लिष्ट) नन्हें पौधे के पल्लव के समान सुन्दर निम्ब फल के सदृश लाल, मेरी प्रिया के, अधर का स्पर्श करता है तो कमल के भीतर तुझे बन्दी करा दूँगा ॥ ११ ॥

उत्पाद्यलवणवण्यादिति द्विधा व्याख्येयम् । कविदत्तदेवोत्पाद्य-
मथवा आहतम्, क्वचिदोचिन्यन्यत्तं मदप्यन्यथा सम्पाद्य सहृदयहृदया-
ह्लादनाय । यथोदात्तराघवे मारीनवधम् । तच्च प्रागेव व्याख्यातम् ।
एवमन्यदप्यस्या वक्रताविच्छिन्नतरङ्गाहरणं महाकविप्रबन्धेषु स्वयमेवो-
त्प्रेक्षणीयम् ।

(कारिका मे प्रयुक्त) 'उत्पाद्यलवणवण्याद्' इस पद की दो प्रकार से
व्याख्या करनी चाहिए । कहीं तो (इतिवृत्त में) न बियमान रहने वाला ही
(प्रवरण) उत्पाद्य या काल्पनिक (प्रकरण होता है और) कहीं अनोचितपूर्ण
(बङ्ग से) विद्यमान भी (प्रकरण) सहृदयों के हृदयों को आनन्दित करने के लिए
दूसरे बङ्ग से प्रस्तुत करने योग्य (बनाये जाने पर, उत्पाद्य होता है) जैसे उदात्त-
राघव में मारीनवध । उसकी व्याख्या पहले ही (प्रथम उन्मेष में) की जा चुकी
है । इस प्रकार (प्रकरण) वक्रता के इस सौन्दर्य के दूसरे भी उदाहरण (सहृदयों
को) महाकवियों के काव्यों में स्वयं ही समझ लेना चाहिए ।

निरन्तररसोद्धारसार्धतन्द्रार्धनिर्भराः ।

गिर कवीनां जीवन्नि न कथामात्रमाश्रिताः ॥ १२ ॥

कवियों की वाणी केवल कथा पर ही आश्रित होकर नहीं, अपितु निरन्तर
रस का आस्वादन कराने वाले प्रसङ्गों के अतिशय से युक्त होकर जीवित
रहती है ॥ १२ ॥

इत्यन्तररसलोकः ।

यह अन्तररसलोक है ।

अपरमपि प्रकरणवक्रताप्रकारमाविर्भावयति—

प्रबन्धस्यैकदेशानां फलबन्धानुबन्धवान् ।

उपकार्योपकर्तृत्वपरिस्पन्दः परिस्फुरत् ॥ ५ ॥

असामान्यसमुल्लेखप्रतिभाप्रतिभासिनः ।

सूते नूतनवक्रत्वरहस्यं कस्यचित्कवेः ॥ ६ ॥

प्रकरणवक्रता के अन्य (तृतीय) प्रकार को भी प्रकाशित करने हैं—

किसी (प्रतिभासम्पन्न ही) कवि की लोकोत्तर वर्णन करने वाली शक्ति से
देशोपमान प्रबन्ध के प्रकरणों का, फलबन्ध (अपात्र मुख्य कार्य) का अनुवर्तन
करने वाला उपकार्य एवं उपकारक भाव का माहात्म्य समुल्लसित होता हुआ
अभिनव वक्रता के रहस्य को उत्पन्न करता है ॥ ५ ६ ॥

सूते समुन्मीलयति । किम्—नूतनवक्रत्वरहस्यम् अभिनववक्र-

भावोपनिषद्म् । कस्यचित्, न सर्वस्य कवे'। पस्तुतौचित्यचारु-
रचनाविचक्षणम्यति यावत् । क — उपकार्योपकर्तृत्वपरिस्पन्दः, अनुप्रा-
ह्यानुप्राहकत्वमणिगा । किं कुर्वन्-परिस्फुरन् (समान (उ)न्मीलन्) ।
किंविशिष्ट फलबन्धानुबन्धवान् प्रधानकार्यानुसन्धानवान्, कार्यानु-
सन्धाननिपुणः । कस्यैवविध इत्याह—असामान्यसमुल्लेखप्रतिभाप्रति-
भासिनः निरुपमोन्मीलितशक्तविभावभ्राजिष्णोः । केयाम्—प्रबन्धस्यैक-
देशानाम् प्रकरणानाम् । तदिदमुक्तमभवति—'सार्वत्रिकमन्त्रिपेश-
शोभिना प्रबन्धावयवाना प्रधानकार्यसम्बन्धनिबन्धनानुपाह्वयाहकभावः
स्वभावसुभगप्रतिभाप्रकाशमान कस्यचिद्विचक्षणस्य वक्त्राचमन्का-
रिणः कवेरलौकिक वक्तृत्वोल्लेखलावण्यं समुल्लासयति ।

उत्पन्न करता है अर्थात् प्रकाशित करता है । किसे नवीन वक्त्रा के रहस्य
को, नये बौद्धिक के गूढ तत्त्व को । किसी के, (यानी) सभी कवियों के नहीं.....।
अर्थात् वर्ण्यमान के अनुरूप सुन्दर रचना करने में निपुण कवि के ही । कोन
(प्रकाशित करता है) उपकार्य एवं उपकारक भाव का परिस्पन्द अर्थात् अनु-
पाह्य तथा अनुपाहक भाव का माहात्म्य । क्या करता हुआ—परिस्फुरित होता
हुआ । कैसा (माहात्म्य) फलबन्ध के अनुबन्ध वाला अर्थात् मुख्य कार्य
का अनुवर्तन करने वाला । किसका इस प्रकार का (माहात्म्य) इसे बताते हैं—
असामान्य समुल्लेख वाली प्रतिभा से प्रतिभासित होने वाले का अर्थात् अनुपम
वर्णन की शक्ति सामग्री से देदीप्यमान (प्रबन्ध का) । किनका (माहात्म्य)—
प्रबन्ध के एक अंश का अर्थात् प्रकरणों का (माहात्म्य अभिनव वक्त्रा के रहस्य
को उन्मीलित करता है ।) तो कहने का आशय यह हुआ कि हर जगह प्राप्त होने
वाले सम्यक् प्रयोग से सुशोभित होने वाले प्रबन्ध के अवयवों (प्रकरणों)
के प्रधान कार्य से सम्बन्ध का कारणभूत अनुपाह्य अनुपाहक भाव, सहज सुन्दर
प्रतिभा से प्रकाशित होता हुआ, वक्त्रा के चमत्कार को उत्पन्न करने वाले किसी
दूरदर्शी कवि के वक्त्रा प्रतिपादन के लोकोत्तर सौन्दर्य को प्रकट करता है ।

यथा—पुष्पदूषितके द्वितीयेऽङ्के प्रस्थानात्प्रतिनिवृत्त्य निवृडानुकारतः
नवरायाविभावाद् अमन्दमदनोन्मादमुद्रेण ममुद्रदत्तेन निजमहिमकेतनं

१. यहाँ अ० डे ने रिक्त स्थान छोड़ दिया था और पादटिप्पणी में मू० के हस्त
पाठ को प्रदत्तसूचक चिह्न लगाकर दिया था । वह अर्थ सगत लगा अन्. मैंने
उसे यहाँ रख दिया है ।

२. यहाँ अ० डे ने रिक्तस्थान छोड़ दिया था । तथा पादटिप्पणी में 'विभावा-
दवा' पाठ दिया था । मैंने यहाँ ! का कोई मतलब न लगने से उसे छोड़ दिया है ।

तुल्यद्विप्रमानन्दयन्त्रीलमानजाय मलिम्लुचेनेव^१ प्रविशता प्रकम्पावेग-
विकलालसकायतिपातनिहितनिद्रम्य द्वास्देशशायिन^२ कलदायमानस्य^३
कुवलयमग्रात्कोचकारण स्पकरादङ्गुलीयकदान यत्कृत तच्चतुर्थेऽङ्के मथुरा-
प्रतिनिवृत्तेन तेनैवाशमदमम्य निष्क्रम्य समावेदिनममुद्रदत्तवृत्तान्तेन
कुञ्जकलङ्कानङ्ककदभ्यमानस्य सार्थशाहसागरदत्तस्य स्वतनयस्पर्शमान-
समाविदूरम्नुपा शीलशुद्धिमुन्मीलिततदुपकाराय कल्प्यते ।

जैसे—‘पुष्पदूषिक’ म द्वितीय अङ्क में, यात्रा में लौट कर पूर्ण अनुकृतिवश
नई सम्पत्ति के सम्यक् सम्भावना के कारण कामदेव के प्रबल उन्माद की मुद्रा
वाले समुद्रदत्त ने दिवसतुल्य अपने वैभवपृष्ठ में आनन्दमन्ती को ले आने के लिए
चोर की तरह प्रवेश करते हुए कपकपी के आवेग से बिह्वल एवं अलसाये हुए
शरीर के गिराने से समाप्त निद्रा वाले, दरवाजे पर सोने वाले (झगडा करने के
लिए उतारू कुवलय के घूस की निमित्तभूत जो अंगूठी अपने हाथ से दिबा था
वही चौथे अङ्क में मथुरा से लौटे हुए उसी (कुवलय) द्वारा निष्क्रमण कर के बताये
गये समुद्रदत्त के वृत्तान्त से, अद्वितीय इन्द्रियनिग्रह वाले परिवार के कलङ्क के
भय से कातर होने वाले व्यापारी सागरदत्त के अपने पुत्र के द्वारा स्पर्शमान
निकटस्थ पुत्रवधू की (अर्थात् उसीके संसर्ग से गर्भवती उसी वधू की)—
आचरण शुद्धि को उन्मीलित करती हुई उपकारक सिद्ध होती है ।

यथा चात्तररामचरिते प्रथुगर्भभरखेदितदेहाया विदेहराजदुहितु-
र्विनोदाय दाशरथिना चिरन्तनराजचरितचित्ररुचिं दर्शयता निर्वर्णज-
विजयिविजृम्भमाणजृम्भकास्त्राप्युद्दिश्य ‘अथेदानीं त्वत्प्रसूतिमुपस्था-
स्यन्ति’ इति यदभिहित तत्पञ्चमेऽङ्के प्रवीरचर्याचतुरेण चन्द्रकेतुना श्रृणु
समरकेलिमाकाङ्क्षता[:]नदन्तरायकलितकलकलाङ्गम्वराणां वस्त्राथनीनां
सहजजयोत्कण्ठाभ्राजिष्णार्जानकीनन्दनस्य जम्भकास्त्रापापारेण कमप्यु-
पकारमुत्पादयति । तथा च तत्र—

१. यहाँ पर डा० डे ने स्थान छोड़ दिया था और पादटिप्पणी में उन्होंने
‘मलिम्लुचेनेव’ के आगे (१) लगाकर ‘मगिसुचेनेव’ पाठ सुझाया है । परन्तु
क्या साचकर ऐसा किया कइ सकता कठिन है, जब कि ‘मलिम्लुच’ का अर्थ
चोर होता है और पाण्डुलिपि में पाया जाने वाला पाठ सही है । ‘विभक्तोक्त’
का कथन है—“मलिम्लुचो मासभेदे चौरज्वलनयो. पुमान्” ।

२. यहाँ भी डा० डे ने रिक्तस्थान छोड़ दिया था । पादटिप्पणी में ‘कदादाय-
मानस्य’ पाठ दिया था ।

धीर जैसे—

उत्तररामचरित में—विनाश गर्भ के अतिशय से पीड़ित देहवाली विदेहराज मुता सीता के विनोद हेतु प्राचीन राजचरित वाले चित्रा क प्रति इच्छा प्रदर्शित करते हुए राम ने निर्घाज विजयी के विजृम्भित होते हुए जृम्भकास्त्रो को लक्ष्य करके 'अब सब प्रकार से (ये जृम्भकास्त्र) तुम्हारी सन्तान के पाम रहेंगे' ऐसा जो कहा था वह पञ्चम अङ्क में वीरव्यवहार में निपुण चन्द्रोत्तु के साथ शणभर के लिए समरश्रीडा की आकाशा करने वाले तथा उसमें बिज्ज डालने के लिए कलकल शोर मचाने वाली सेनाओं को स्वभाविक रूप से जीतने की उत्कृष्टा वाले जानकीनन्दन लव के जृम्भकास्त्रव्यापार के द्वारा किसी अपूर्व उपकार को उत्पन्न करता है जैसे कि वहाँ (उत्तररामचरित पंचम अङ्क में) ।

लवः—भवतु जृम्भकास्त्रेण तावत्सैन्यानि स्तम्भयामि । इति ।

सुमन्त्रः (ससम्भ्रमम्)—वत्स, कुमारेणानेन जृम्भकास्त्रमभिमन्त्रितम् ।

लव — होगा । तब तक जृम्भकास्त्र के द्वारा सेनाओं को स्तम्भ किए देता है ।

सुमन्त्र—(घबराहट के साथ) बेटा, इस कुमार के द्वारा जृम्भकास्त्र का आवाहन किया गया है ।

चन्द्रकेतुः—आय, क. सन्देहः ।

व्यतिकर इव भीमा वैद्यतस्तामसश्च

प्राणहितमपि चक्षुर्मस्तमुक्त हिनस्ति ।

अभिलिखितमिवैतत्सैन्यमस्पन्दमास्ते .

नियतमजितवीर्यं जृम्भते जृम्भकास्त्रम् ॥ १३ ॥

चन्द्रकेतु—श्रीमाम् जी, इसमें क्या सन्देह है—

उसी ओर पूरी तरह लगी हुई और काबू में आकर छूट गई हुई आँसु को अन्धकार और बिजुली के भयङ्कर सम्पर्क-सा कुछ दे रहा है । और फिर यह सेना उत्कीर्ण सी निश्चेष्ट हो उठी है । यह निश्चित है कि (यह) मजेय शक्ति वाला जृम्भकास्त्र ही उद्दीप्त हो रहा है ॥ १३ ॥

आश्चर्यम्—

पातालोदरकुक्षपुञ्जिततम श्यामैर्नभोजम्भकै

रन्तःप्रस्फुरदारव्यूढमपिलज्योतिर्विलोकीतिभिः ।

कल्पान्तेपकठोरभैरवमरुद्वयस्तैरवस्तीर्यते

नीलाम्भोदतडित्कडारकुहैर्विम्ब्याद्रिकूटैरिव ॥ १४ ॥

आश्चर्य है ॥

पाताल के भीतरी शूरमुठों में एकच अन्धकार की तरह काते और खूब तथा दिए गए हुए व चमकते हुए पीतल की कपिल ज्योति की तरह जलती चिताओं

वाले जृम्भकास्त्र के द्वारा आकाश बाच्छादित होता जा रहा है। मानो कल्प के अवसान के समय प्रचण्ड और अतमन्त-भयङ्कर तूफानों से उलट-पुलट दिए गए हुए और नीले बादलों तथा बिजुलियों के कारण पिङ्गल हो उठी हुई कन्दराओं वाले विन्ध्यगिरि के शिखरों में व्याप्त हो उठा हो ॥ १४ ॥

इत्यादि । नत एक एवायम् । 'एकदेशानाम्' इपि बहुवचनम् अत्र द्वयो-
रपि बहुनामुपकार्योपकारकत्वं स्वयमुत्प्रसङ्गीयम् ।

(महा पर) यही एकवितन किया गया है । (इस प्रसंग में) 'एकदेशानाम्' इस पद में बहुवचन को दोना ही के प्रति बहुतों का उपकार्योपकारक भाव रूप स्वयं जान लेना चाहिए ।

अस्या एव प्रकारान्तर प्रकाशयति—

प्रतिप्रकरणं प्रौढ प्रतिभाभोग्योजितः ।

एक एवाभिधेयात्मा बध्यमानः पुनः पुनः ॥ ७ ॥

अन्यूननूतनोल्लेखरसालङ्करणोज्ज्वलः ।

बध्नाति वक्रतांद्भेदमङ्गोमुत्पादिताद्भुताम् ॥ ६ ॥

इसी (प्रकरणवक्ता) के अन्य (चतुर्थ) भेद का निरूपण करते हैं—

प्रत्येक प्रकरण में (कवि की) प्रबुद्ध प्रतिभा की परिपूर्णता से सम्पादित, पूर्णतया नवीन ढङ्ग से अल्लिखित रसों एवम् अलङ्कारों से सुशोभित एक ही पदार्थ का स्वरूप बार-बार उपनिबद्ध होकर आश्चर्य को उत्पन्न करने वाले, वक्रता की सृष्टि से उत्पन्न सौन्दर्य को पुष्ट करता है ॥ ७-८ ॥

बध्नातीति अत्र निबिडयतानि यावत् । काम्—रक्तोद्भेदमङ्गोम्, वक्रभावाविभावात् शोभाम् । किंनिशिष्टाम्—उत्पादिताद्भुताम् कन्द-
लितकुतूहलाम् । कः—एक एवाभिधेयात्मा, तदेव वस्तुस्वरूपम् । किं
क्रियमाणम्—बध्यमानम् प्रस्तुतौचित्यचारुचनानोचरनामापद्यमानम् ।
कथम्—पुनः पुनः बार बारम् । क्व—प्रतिप्रकरणम्, प्रकरणे प्रकरणे
स्थाने स्थाने इति यावत् ।

यही 'बोधता है' का अर्थ है दृढ़ या पुष्ट करना है । किंते—वक्रता के उद्भेद के कारण भङ्गिमा को अर्थात् बाकान्त को सृष्टि से अन्य सौन्दर्य को (पुष्ट करता है) कैसी (भङ्गिमा) को ? आश्चर्य को उत्पन्न करने वाली अर्थात् कुतूहल को जन्म देनेवाली । (भङ्गिमा को पुष्ट करता है ।) कोन (पुष्ट करता है) एक ही अभिवेय की आत्मा अर्थात् यही पदार्थ का स्वरूप । क्या किया जाता हुआ ? वर्णित किया

जाता हुआ, वर्ण्यमान के औचित्य के कारण सुन्दर रचना का विषय बनता हुआ । कैसे—पुन पुन बार बार (उपनिबद्ध होकर) । कहाँ—प्रत्येक प्रकार में, प्रकरण प्रकरण में अर्थात् स्थान स्थान पर (उपनिबद्ध होकर सौन्दर्य की पुष्टि करता है) ।

नन्वेवं पुनरुक्तप्राप्तामसं समामादयतीत्याह—अन्यूनन्तनोल्लेख-रसालङ्कारणोऽज्वल', अविकलाभिगयोऽस्माभ्युद्गाररूपकादिपरिस्पन्दभ्रा-जिष्णु । यस्मात्प्रौढप्रतिभाभोगयोजितः, प्रगल्भतरप्रज्ञाप्रकरप्रकाशितः । अयमगम्य परमार्थ—तदेव अरुलचन्द्रोदयादिप्रकरणप्रकारेषु यन्तु प्रस्तुतवधामाविधानकानुरोधान्मुमुक्षुर्गर्पितवध्यमान यदि पारपूर्णपूर्वावलक्षणरूपवाद्यलङ्काररामणीयवानभिरभवति तदा कामाप रामणीयकमर्यादा यत्रनामवतारयति ।

(इस पर पूर्वपक्षी प्रश्न करता है कि इस प्रकार (बार बार एक ही स्वरूप का वर्णन होने से तो) यह पुनरुक्त (दोष) का भाजन बन जायगा ? इस (का उत्तर देने के) लिए (ग्रन्थकार) कहता है कि—पूर्ण रूप में तूतन उल्लेख वाले रसों एवं अलङ्कारों से उज्ज्वल अर्थात् अधिकतम दृढ़ से नवीन रूप में उपनिबद्ध किये गये शृङ्गार आदि तथा रूपक आदि के विलसित से सुशोभित होने वाला (स्वरूप) । क्योंकि वह प्रौढ प्रतिभा की पूर्णता से सम्पादित अर्थात् अत्यन्त प्रबुद्ध (कवि की) बुद्धि वैभव से प्रकाशित हुआ । स्वरूप सौन्दर्य को उत्पन्न करता है । इसका सार यह है कि—इस प्रकार प्रकरण प्रकारों में प्रस्तुत कथा की सफटना के अनुरोधवश बार-बार वर्णन किये जाने वाले चन्द्रोदय आदि पदार्थ यदि भलीभाँति पहले से विलक्षण रूपकादि अलङ्कारों की रमणीयता से ओतप्रोत होते हैं तो वे रमणीयता के पराकाष्ठाभूत किसी लोकोत्तर वाक्यन को प्रस्तुत करते हैं ।

(इस प्रकरण वक्रता के उदाहरण रूप में कुन्तक 'हर्षचरित' को उद्धृत करते हैं । पर यह निश्चित रूप में नहीं कहा जा सकता कि किस प्रसङ्ग को विशेष रूप से निर्देश करते हैं । उससे याद कुन्तक विस्तृत रूप में 'तापसवत्सराज चरित' नाटक के द्वारा वक्रता के इस भेद में सम्बन्धित कुछ रमणीय उदाहरण श्लोकों को उद्धृत करते हैं । वे हृदय को प्रभावित करनेवाली द्वितीय अङ्क के प्रारम्भ की राजा की उक्तिओं को उद्धृत कर उनका विवेचन करते हैं ।

कुरवकतरुर्गाढाश्लेष मुरामचलालनाम् ।

षकुलविटपी रक्ताशोकस्तथा चरणाहतिम् ॥ १५ ॥

शब्दों ने उक्त श्लोक की केवल दो ही पक्तियाँ उद्धृत की हैं । इसके

बाद पाण्डुत्रिपि के अत्यन्त भ्रष्ट होने के कारण वे उसे पढ़ नहीं सके । श्रीयदु-
गिरयनिराजाम्बरुमाररामानुजमुनि द्वारा प्रत्यक्ष ही अनङ्गहर्षापरनाम श्रीमात्र
राजप्रणीत 'तापसवत्सराजनाटकम्' के द्वितीय अङ्क का यह नेईसर्वां श्लोक है ।
इसका उन्मार्ष्ट इस प्रकार है—

तत्र मुकृतिन सम्भाव्यैते प्रसादमहोत्सवा-
ननुगतदशा सर्वे (मर्वे) मर्वशठो न वय यथा ॥

अब पूरे श्लोक का अर्थ इस प्रकार होगा ।—

(हे देवि वासवदत्ते !) कुरवकवृक्ष तुम्हारे गाढालिङ्गन को, वकुलवृक्ष तुम्हारे
मुख की मदिरा में लाटना को और रक्ताशोक तुम्हारे चरणप्रहार को प्राप्त कर ये
सभी पुष्पात्मा तुम्हारे प्रसादरूप महोत्सव को प्राप्त होकर अनुकूल स्थिति वाले
हैं । (ठीक ही है) सभी हमारी तरह शठ नहीं हैं । (अर्थात् मैंने शठता की है
अतः तुम्हारा प्रसाद मुझे नहीं प्राप्त हुआ ये सभी शठ न होने के कारण तुम्हारे
प्रसाद भाजन बन गए हैं) ॥ १५ ॥

धारावेरम विलोक्य दीनवदनो भ्रान्त्वा च लीलागृहा-

ञ्जिस्वस्यायतमाशु केशरलतावीथीपु कृत्वा दृशः ।

किं मे पार्श्वमुपैषि पुत्रककृतै कि चादुभिः क्रूरया

मात्रा त्वपरिवर्जित सह मया गान्त्यातिदीर्घा भुवम् ॥ १६ ॥

(राजा वासवदत्ता ने पालनू हरिण को सम्बोधित कर कहते हैं कि)—हे
पुत्र ! धारागृह को देखकर (वासवदत्ता को न पाने में) मलीन मुख वाला होकर,
क्रीडागृहों में घूमकर (वहाँ भी न पाने से, बड़ी बड़ी उसासों भर कर, शीघ्र ही
वकुलवृक्ष की लताओं की यलियों में नज़र दोड़ कर मेरे पास क्यों आ रहा है ?
(झूठे) प्रियवचनों से क्या लाभ ? (क्योंकि) कठोर हृदय (तुम्हारी) माता
ने बहुत दूर देश (स्वर्ग) को जाते हुए मेरे ही साथ तुम्हें भी त्याग दिया है ।
(अब उससे मिलना असम्भव है) ॥ १६ ॥

कर्णान्तस्थितपद्मरागकलिकां भूय समाकर्षता

चञ्च्या दाडिमबीजमित्यभिहता पादेन गण्डस्थली ।

येनासौ तव तस्य नर्मसुहृदः खेदान्मुहुः क्रन्दतो

निःशाङ्कं न शुक्लम्य किं प्रतिबचो देवि त्वया दीयते ॥ १७ ॥

हे देवि (वासवदत्ते) ! कानो के बगल में लगी हुई पद्मराग मणि की कली
को अनार का बंज समझ कर चोच से खींचने हुए जिसने तुम्हारी इस कपोल-
स्थली पर प्रहार किया था उस अपने नर्म सुहृद् (अपने विमोह से उत्पन्न)
शोक के कारण बार बार बिछाते हुए तोते की बातों का नि शङ्क होकर तुम
बयाब भी नहीं देती ॥ १७ ॥

राजा (साक्षम्)—

सर्वत्र ज्वलितेषु वेश्मसु भयादालीजने विद्रुते
त्रासोत्कम्पविहस्तया प्रातपद देव्या पतन्त्या तदा ।
हा नाथेति मुहु प्रलापपरया दग्ध वराक्या तद्या
शान्तेनापि वयं तु तेन दहनेनाद्यापि दह्यामहे ॥ १८ ॥

राजा (रोने हुये)—सब ओर परो में आग लग जाने पर, डर कर सहेक्रियो के भाग जाने पर उस समय भय के आवेग से बेसहारा पग पग पर गिरती हुई एव बार-बार हा स्वामिन् ! हा स्वामिन् ! ऐसा चिल्लाती हुई, वह देवारी देवी उसी प्रकार जली कि शान्त हो गई भी उस आग से हम आज भी जले जा रहे हैं ॥ १८ ॥

उक्त उद्धरण की अन्तिम पंक्ति 'शान्तेनापि वयं तु तेन दहनेनाद्यापि दह्यामहे' में प्रमुक्त विरोधात्मक 'हम' की वृत्तक कृष्ण रस का सहायक प्रतिपादित करते हैं ।

इसके बाद चतुर्थ अङ्क का यह श्लोक उद्धृत करते हैं—

चतुर्थेऽङ्के राजा (सकृत्क्षणमात्मगतम्)—

चतुर्थ अङ्क में राजा (कृष्णापूर्वक अपने मन में)—

चक्षुर्यस्य सवाननादपगत नाभूत् क्वचिन्निर्धृतं
येनैषा सततं त्वदेकशायन वधूस्थली कल्पिता ।
येनोक्तानि त्वया विना वत जगच्छून्य क्षणाज्जायते
सोऽयं दम्भधृतव्रतः प्रियतमे कर्तुं किमप्युद्यतः ॥ १९ ॥

हे प्रियतमे ! जिसकी आँख कभी भी तुम्हारे मुख पर से हट कर सुखी नहीं हुई, जिसने हमेशा इस वधू स्थली को केवल तुम्हारी शय्या बनाया था, जिसने तुमसे कहा था कि 'तुम्हारे बिना सारा ससार क्षण भर में शून्य हो जाता है, वही यह झूठ ही (एक पत्नी) वत को धारण करने वाला (राजा उदयन) कुछ (द्वितीय विवाह रूप निर्णय कार्य) करने के लिए तैयार हो गया है ॥ १९ ॥

(इस उद्धरण के बाद पञ्चम अङ्क से निम्न श्लोक को उद्धृत करते हैं । वस्तुतः मुद्रित टापसवत्सराज में भी चतुर्थ अङ्क २१ वें श्लोक के बाद समाप्त होता है । पौर्बर्ष अङ्क के प्रारम्भ की कुछ पक्तियों को उद्धृत कर सम्पादक ने संकेत किया है कि बीष में घण्टपात के कारण बहुत सा पाठ अप्राप्य रहा है । उसके बाद वे 'तथाभूते तस्मिन् मुनिवचसि' इत्यादि पद्य को उद्धृत कर इस 'भूभङ्ग खिरे' इत्यादि पद्य को उद्धृत करते हैं जिसका पाठ इससे कुछ भिन्न है जो इस प्रकार है—

भ्रूमङ्गं हचिरे ललाटफलके दूरं समारोपयेत्

...

..

..

व्यावृत्त्यैव समागते मयि सखीमालोक्य लज्जानता
तिष्ठेत्किं कृतकोपचारकरणैरायासयेन्मा प्रिया ॥)

भ्रूमङ्गं हचिरे ललाटफलके तारं समारोपयन्
बाष्पाभ्युप्लुतपीतपत्ररचनां कुर्यात्कपोलम्यलीम् ।
व्यावृत्तैर्विनिबन्धचातुर्महिमामालोक्य लज्जानतां
तिष्ठेत्किं कृतकोपभारकरुणैरायासयैतां प्रियाम् ॥ २० ॥

काश । सुन्दर भालपटल पर काफ़ी बड़ी भ्रूमङ्गिमा को प्रस्तुत कर देती और गण्डस्थल को बाष्पजल की धारा से बाट ली गई हुई (धो दी गई हुई) पत्र-रचना वाली बना देती । (साय हो । मेरे पहुँच जाने पर अपनी सहेली को देख कर मुड कर लाज के मारे झुक कर खड़ी हो जाती तथा क्या ऐसा हो सकता है कि मेरी प्रियतमा बनाबटी उपचार को कर कर के मुझे परेशान करती ॥ २० ॥

इसके बाद पञ्चम अङ्क के 'किं प्राणा न' आदि श्लोक को कुन्तक उद्धृत कर व्याख्या करते हैं कि इस श्लोक में वर्णित राजा की उन्माद-अवस्था कण-रस को अत्यधिक उदीप्त करती है ।—यह श्लोक तापसवत्सराज ५।२५ के रूप में उद्धृत है वहाँ कुछ पाठभेद इस प्रकार है— १. प्रतितः B. विलोभितेन C. पुनरप्युद न पापेन किं ।

किं प्राणा न मया तवानुगमनं कर्तुं समुत्साहिता
बद्धा किञ्च जटा न वा प्ररुदित^A भ्रान्तं वने निर्जने ।
त्वत्सम्प्राप्तिविलोभनेन^B पुनरप्युत्तेन^C पापेन किं
किं कृत्वा कुपिता यदद्य न वचस्त्व मे ददासि प्रिये ॥ २१ ॥

हे प्रियतमे । क्या मैंने तुम्हें पाने की लालच से तुम्हारा अनुगमन करने के लिये (अपने) प्राणों को समुत्साहित नहीं किया, क्या मैंने जटायें नहीं बांधी अपना रोना नहीं या कि मुनसान जङ्गल में भटकाने नहीं फिर भी थोड़े से अपराध के कारण क्या क्या सोचकर तुम नाराज हो जो आज मुझे (मेरी बातों का) जवाब भी नहीं दे रही हो ॥ २१ ॥

इति । 'रोदिति' इत्यन्तेन मनागुन्मादमुद्राप्युन्मीलिता तमेव
[करुणरसमेव] प्रोदीपयति ।

इस प्रकार 'रोता है' यहाँ तक थोड़ी उन्मीलित की गई उन्माद की अवस्था भी उसी (कण रस को ही) भलीभाँति उदीप्त करती है ।

पपेऽहं राजा हा देवि ।

छठवे अङ्क में राजा—हा देवि ।

तस्मिन्भ्रातिविलोभनेन मचिवैः प्राणा मया धारिता-

स्तन्मत्वा त्यजत, शरीरकमिदं नैवास्ति नि स्नेहता ।

आनम्राऽवमरस्तथानुगमने जाना धृतिः किन्त्वय

रोदी यच्छतथा नत ॥ हृदय तद्वन् शणे दारुणे ॥ २२ ॥

तुम्हारे सम्मिलन की लालच द्वारा अमात्यो ने मुझमें प्राण धारण करवाया (अन्यथा मैं मर गया होता) (किन्तु तुम्हारे न मिलने में नन्दन प्रजोन्नत हो) उसको जानकर इस शरीर का परित्याग करते हुए भी तुमने स्नेह नहीं है ऐसी बात नहीं । समय आ गया है तथा तुम्हारा अनुगमन करने के लिए धैर्य भी उत्पन्न हो गया है लेकिन कष्ट तो इसी बात का है कि जो यह मेरा हृदय उस प्रकार के दारुण समय में सो टुकड़े नहीं हो गया ॥ २२ ॥

इस प्रकार प्रकरणशक्ता के इस भेद के उदाहरण रूप में तापसवत्सराज से उद्धरणों को प्रस्तुत कर कुन्तक रघुवंश व नवम सर्ग में वर्णित राजा दशरथ के मृगयाप्रकरण का निर्देश करते हुए विवेचन करते हैं कि—

प्रमाद्यता दशरथेन राजा स्थविरान्धनपास्वबालवधो व्यधीयतेति एकवाक्यराज्यप्रतिपादन, पुनरप्ययमर्थः परमार्थसरससरस्वतीसर्वस्वा-यमानप्रातर्भाविधानकलेशेन तादृश्या विन्द्मिरया विस्फुरितश्रेननचमत्कारकरणतामधितिष्ठति ।

'प्रमादमुक्त राजा दशरथ ने वृद्ध अन्धे तपस्वी के बालक का बध किया' यह 'अर्थ' एक वाक्य के द्वारा भी प्रतिपादित किया जा सकता था फिर भी यह अर्थ प्रस्तुत सरस वाणी के सर्वस्वभूत (महाकवि कालिदास) की शक्ति के निर्माण के उद्देश्य से उस प्रकार के (लोकोत्तर) सौन्दर्यसे प्रकाशित होकर सद्बुद्धियों के लिए चमत्कारजनक हो गया है ।

इसके बाद कुन्तक इस मृगया प्रसङ्ग के कवि द्वारा किये गये निरूपण का विस्तारपूर्वक विवेचन प्रस्तुत करते हैं—

व्याघ्रानभीरभिमुखोत्पतितान्गुहाभ्य-

फुल्लासनामविट्पानिव बायुरग्नान् ।

शिक्षाविशेषलघुहस्ततथा निमेषा-

सूणीचकार शरपूरितवक्त्ररन्धान् ॥ २३ ॥

निर्भीक (धनुर्धर राजा दशरथ) ने कन्दराओ से सामने की ओर उछल कर जाने हुए, हवा से भग्न खिले हुए वन्धूक (पुष्प के वृक्षों) की आगे की डालों के समान (स्थित), अभ्यास के आधिक्य से मिद्धहस्त होने के कारण पल भर में बाणों से भर दिए गये मुलबिवर वाले उन व्याघ्रों को निषङ्ग बना दिया ॥

अपि तुरगसमीपादुत्पतन्त मयूर
न स रुचिरकलापं बाणलक्ष्मीचकार ।
मपदि गतमनस्कश्चित्रमान्यानुकीर्णं
रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियाया ॥ २४ ॥

उम (राजा दशरथ) ने (अपने) घोड़े के अत्यन्त पास से उड़े हुए (सुप्रहार योग्य) भी मनोहर पूछ वाले मयूर पर (उनकी पूछ से साम्य होने के कारण) विविध वर्णों वाले पुष्पों की माला में गुंथे गए एवं सम्भोग के समय झुल गई गाँठ वाले प्रिया के केशपाश में प्रवृत्त चित्त वाले होकर बाण का निशाना नहीं बनाया ॥ २४ ॥

लक्ष्मीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः
प्रेक्ष्य स्थिता महचरीं न्यबधाय देहम् ।
आकर्णकृष्टमपि कामिनया स धन्वी

बाण कृपामृदुमना प्रतिसञ्जहार ॥ २५ ॥

(विष्णु या) इन्द्र के समान पराक्रम वाले धनुर्धर उस (राजा दशरथ) ने (अपने बाण के) लक्ष्य बनाये गये मृग की देह को (प्रेमवश) छिपाने के लिए (उसके सामने) खड़ी हो गई (उसकी) सहचरी को देख कर (स्वयं) कामुक होने के कारण करुणा से आर्द्र हृदय होकर श्रवणपर्यन्त खींच लिए गए बाण को भी (धनुष पर से) उतार लिया ॥ २५ ॥

स ललितकुसुमप्रवालशय्यां
ज्वलितमहौषधिदीपिकासनाथाम् ।

नरपतिरतिबाह्याम्बभूव

क्वचिदममेतपरिच्छिन्नस्त्रियामाम् ॥ २६ ॥

उम राजा (दशरथ) ने परिच्छिन्न (अर्थात् परिजनों अथवा शयनादि की सामग्री से रहित होकर कहीं (या कभी-कभी) मनोहर फूलों एवं पत्तों की सेजवाली तथा अत्यन्त प्रकाशमान महोषधियों रूप दीपिकाओं से युक्त रात्रि को बिताया । (भाव यह कि वे शिकार में इतने व्यस्त हो गए कि सभी साथी एवं सामग्री पीछे ही छूट गई अतः इन्हें फूलों एवं पत्तों पर ही सोकर कभी-कभी रात बितानी पड़ी ।) ॥ २६ ॥

(इति) विस्मृतान्यकरणोयमात्मनः

सचिषावलम्बितधुरं धराधिपम् ।

परिवृद्धरागमनुबन्धसेवया

मृगया जहार चतुरेव कामिनी ॥ २७ ॥

इस प्रकार (पूर्वोक्त ठङ्ग से मृगया में भिन्न राज्यसम्बन्धी) अपने अन्य कार्यों को भूले हुए, एक मन्त्रियों पर आश्रित राज्यभार वाले तथा निरन्तर सेवा के कारण (अपने प्रति) बड़े हुए अनुराग वाले राजा (दशरथ) को विदग्ध रमणी के समान मृगया में अपनी ओर आकृष्ट कर लिया ॥ २७ ॥

अथ जातु रुरोर्प्रादातवन्मां

विपिने पार्श्वचरैरलक्ष्यमाणः ।

श्रमफेनमुक्ता तपस्विगाढा

तमसा प्राप नदी तुरङ्गमेण ॥ २८ ॥

इसके अनन्तर कभी रुच (मृगविलेप) के मार्ग को पकड़े हुए (अर्थात् उसका पीछा किए हुए) जङ्गल में साथ चलने वालों द्वारा न दिखाई पड़ने वाले राजा दशरथ, (अत्यधिक वेगपूर्वक दौड़ने के) परिश्रम के कारण मुह में फेन गिराने वाले घोड़े से मुनियों द्वारा सेवन की जाने वाली तमसा (ताम्रक) नदी को प्राप्त किया ॥ २८ ॥

शापोऽप्यदृष्टतनयाननपद्मशोभे

सानुग्रहो भगवता मयि पातितोऽयम् ।

कृपयां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेदो

वीजप्ररोद्जननीं जलनः करोति ॥ २९ ॥

पुत्र के मुखकमल की शोभा को न देखनेवाले मुख (दशरथ) के प्रति दिया गया आपका (पुत्र शोक से तुम भी मरोगे) यह शाप भी उपकारयुक्त ही है । अर्थात् मेरे पुत्र नहीं है, अब आपके शाप को सफल करने के लिए मुझे अवश्य ही पुत्र की प्राप्ति होगी । अतः यह आपका शाप मेरे लिए उपकारपूर्ण है । क्यों न हो ?) काष्ठ से प्रज्वलित हुई आग छेती के योग्य भूमि को भस्म करती हुई भी बीज के अद्भुतों को उत्पन्न करने में समर्थ बना देता है ॥ २९ ॥

कथावैचित्र्यपार्त्रं तद्वकिमाणं प्रपद्यते ।

यदहं सर्गबन्धादेः सौन्दर्याय निबध्यते ॥ ९ ॥

काव्य की विविधता का भाजन जो अङ्ग (अर्थात् प्रकरण) काव्य आदि की

सुन्दरता के लिये उपनिबद्ध किया जाता है, वह (प्रकरण) वक्ता को प्राप्त करता है ॥ ९ ॥

प्रसङ्गेनास्या एव प्रभेदान्तरमुन्मीलयति । वक्तिमाणम् । किं विशिष्टम्—कथावैचित्र्यपात्रम्, प्रस्तुतमविधानरम्भङ्गीभाजनम् । किं तन—यदङ्ग सर्गबन्धादे सौन्दर्याय निबध्यते । यज्जलक्रीडादिप्रवरणं महाकाव्यप्रभृतेरुपशोभानिष्पत्तयै निवेश्यते । अयमस्य परमार्थः—प्रबन्धेषु जलकेलिकुसुमावचयप्रभृति प्रकरण प्रक्रान्तसविधानकानुबन्धि निबध्यमानं निधानमिव कमनीयसम्पद सम्पद्यते ।

प्रसङ्गानुक्कूल इसी (प्रकरण वक्ता) के दूसरे भेद को प्रकाशित करते हैं । “... वक्ता को (प्राप्त होता है) कैसा—कथावैचित्र्य का पात्र, अर्थात् प्रस्तुत योजना की विशिष्टता के योग्य प्रकरण) । क्या है वह—जो प्रकरण महाकाव्य आदि के सौन्दर्य के लिए उपनिबद्ध किया जाता है । जो जलविहार आदि प्रकरण महाकाव्य आदि की सौन्दर्यसिद्धि के लिये सन्निविष्ट किया जाता है । इसका सार यह है कि—प्रबन्धों में प्रस्तुत योजना से सम्बन्धित रूप में जलक्रीडा एवं पुष्पचयन आदि प्रकरण उपनिबद्ध होकर रमणीयसम्पत्ति के कोश बन जाते हैं ।

अथोर्मिलोलोन्मदराजहंसे रोधोलतापुष्पवहे मरख्या ।

विहर्तुमिच्छा वनितामखस्य तस्याम्भमि ग्रीष्मसुखे बभूव ॥ ३० ॥

इसके अनन्तर लहरों में (रमणहेतु) सृष्ट्य एव उन्मत्त राजहंसे वाले तट की लताओं के फूलों के बहाने वाले, एव गर्मों में सुख देने वाले, सरयू नदी के, जल में उन (कुश) की परनी के साथ विहार करने की इच्छा हुई ॥ ३० ॥

इस प्रकार विहार करने की इच्छा होने पर कुश का वनिताओं के साथ सरयू के तट पर डेरा पड़ गया । पहले स्त्रियों ने जल में प्रवेश किया । उन्हें स्नान करते देख कर कुश भी जल में कूद कर जलविहार करने लगे । उन्हीं के साथ विहार करते समय कुश की भुजा पर बधा हुआ 'जैत्र' नामक आभूषण पानी में गिर पड़ा जिसे राम ने राज्य के साथ ही कुश को दे दिया था जिसे उन्हें श्रुति अगस्त्य ने प्रदान किया था और जो सदा जिताने वाला था । स्नान के अनन्तर उस आभूषण को धीवरों ने बहुत खोज पर न पा सके और आकर कुश से कहा कि शायद लोभवश उस जल में रहने वाले कुमुद नामक नाग ने उसे चुरा लिया है । यह सुनते ही क्रोधपूर्वक कुश ने ज्यों ही धनुष उठाया, सभी जल के जीव जन्तु व्याकुल हो गये । इतने में ही एक कन्या को साथ में लिए जैत्र आभूषण हाथ में लिए कुमुदनाग निकल कर कुश से कहता है कि—

अवैमि कार्यन्तरमानुषस्य विष्णो सुताख्यामपरां तनुं त्वाम् ।

सोऽहं कथञ्चाम तवाचरेयमाराधनीयस्य धृतेविधातम् ॥ ३१ ॥

मैं तुम्हें (राजस विनाश रूप) कार्य हेतु मनुष्य रूप धारण करने वाले विष्णु की पुत्र कहे जाने वाली मूर्ति समझता हूँ भला वही मैं पूजनीय आपकी प्रीति का (धृ प्रीती' इति धातो स्त्रिया क्तिन्) विधात कैसे कर सकता हूँ (अर्थात् आपसे शत्रुता का आवरण कैसे कर सकता हूँ) ॥ ३१ ॥

कराभिधातोत्थितकन्दुकेयमालोक्य बालातिकुतूहलेन ।

हृदात्पतज्ज्योतिरिवान्तरिक्षादावत्त जैत्राभरण स्वदीपम् ॥ ३२ ॥

हाथ के धड़के से उछल गए गेद वाली इस बाला (कुमुदती) ने अत्यन्त कुतूहल के साथ अन्तरिक्ष से गिरते हुए नक्षत्र के समान तालाब से गिरने हुए आप के 'जैत्र' नामक आभूषण को पकड़ लिया ॥ ३२ ॥

तदेतदाजानुबिलम्बिता ते ज्याघातरेखाकिण्णलाब्धनेन ।

भुजेन रक्षापरिधेण भूमेरुपैतु योग पुनरंसलेन ॥ ३३ ॥

तो यह (आभूषण) पुन आपके घुटनी तक लटकने वाली, प्रत्यङ्गा की चोट की रेखा के चिह्न रूप लाञ्छन वाली भूमि की रक्षा के लिये अर्गल रूप बलवान् मुञ्जा से युक्त हो जाये (अर्थात् इसे आप अपनी मुञ्जा में बांध ले) ॥ ३३ ॥

इमां स्वसारश्च यवीयसीं मे कुमुदनीं नार्हमि नानुमन्तुम् ।

आत्मापराध नुदती चिराय शुश्रूषया पार्थिव पादयोस्ते ॥ ३४ ॥

तथा हे राजन् ! आपके चरणों की चिरकाल तक सेवा के द्वारा अपने (आभूषण हरण रूप) अपराध को मिटाने की इच्छा वाली इस मेरी छोटी बहन कुमुदती को आज्ञा प्रदान करने की कृपा करे ॥ ३४ ॥

पुनरप्यस्या प्रभेदमुद्गावयति—

यत्राङ्गिरसनिष्यन्दनिकपः कोऽपि लक्ष्यते ।

पूर्वोत्तररसम्पाद्यः साङ्कादेः कापि चक्रता ॥ १० ॥

फिर भी इस (प्रकरण चक्रता) के प्रभेद को प्रकाशित करते हैं—

जहाँ पर पहले तथा बाद के (अङ्क) द्वारा सम्पादित न की जाने वाली अङ्गी रस के प्रवाह की कोई विशेष कसौटी दिखाई पड़ती है वह अङ्क आदि (प्रकरण) की कोई लोकोत्तर चक्रता होती है ॥ १० ॥

साङ्कादेः कापि चक्रता.... 'प्रकरणस्य सा काप्यलौकिकी चक्रता चक्रभावो भवतीति सम्बन्धः । यत्राङ्गिरसनिष्यन्दनिकपः कोऽपि

लक्ष्यते—यत्र यस्यामङ्गी रसो य प्राणरूपं तस्य निव्यन्द. प्रवाह, तस्य आञ्जनस्यैव निक्षपः परीक्षापत्रविषयो विशेष कोऽपि भूतनिर्वाण-निरूपमो लक्ष्यते । ॥ ३४ ॥ विशिष्ट पूर्वोत्तरैरममम्पाद्यः, प्राक्परवृत्तेरङ्गाद्ये. सम्पादयितुमशक्यः । तथा—

वह अङ्ग आदि की कोई वक्रता (होती है) . . 'प्रकरण की वह कोई लोकोत्तर वक्रता अर्थात् बाकपन होता है । जहाँ अङ्गी (प्रधान) रस के प्रवाह की कोई कसौटी दिखाई पड़ती है । जहाँ अर्थात् जिनमें जो प्राणभूत मुख्य रस होता है, उसका निव्यन्द अर्थात् जो प्रवाह उसकी सोने की कसौटी के समान परीक्षा-स्थान का कोई विशेष विषय प्राणी के मोक्षतुल्य निरूपम परिलक्षित होता है । कैसा—(विषय)—पूर्व तथा उत्तर वालों के द्वारा असम्पाद्य अर्थात् पहले तथा बाद में स्थित अङ्ग आदि के द्वारा सम्पादित न किया जा सकने वाला (विशेष दिखाई पड़ता है) । जैसे—

विक्रमोर्वशीयामुन्मत्ताङ्गु । (यत्र) विप्रलम्भशृङ्गारोऽङ्गी रसः ।

तथा च तदुपक्रम एव राजा (ससम्भ्रमम्)—आ दुरात्मन्, तिष्ठ तिष्ठ, क नु खलु प्रियतमामादाय गच्छसि । (विलोक्य) कथ शैल-शिखराद् गगनमुत्प्लुत्य बाणैर्मामाभवपात । (विभाव्य सवाप्यम्) कथ विप्रलब्धोऽस्मि ।

विक्रमोर्वशीय में 'उन्मत्ताङ्गु' । (जहाँ) विप्रलम्भ शृङ्गार अङ्गी रस है । जैसे कि उसके प्रारम्भ में ही—राजा (घबड़ाहट के साथ) ऐ दुरात्मा, ठहर, ठहर । (मेरी) प्रियतमा को लेकर कहाँ जा रहा है ? (देख कर) अरे ! यह पहाड़ की चोटी से आकाश में उड़ कर मुख पर बाण बरसा रहा है । (समझ कर आँखों में आँसू भर कर) कैसा ठगा गया हूँ ।

नवजलधर सन्नद्धोऽय न हृप्रनिशावर

सुरधनुर्दि दूराकृष्टं न नाम शरासनम् ।

अयमपि पदुर्धरामारो न बाणपरम्परा

कनकनिकयस्त्रिधा विद्युत् प्रिया न ममोर्वशी ॥ ३५ ॥

(आकाश में दिखाई पड़ने वाला यह तो नवीन बादल है न कि युद्ध करने के लिए तैयार मतवाला राक्षस । दूर तक खींचा गया यह इन्द्र का धनुष है न कि राक्षस का धनुष । तथा यह भी तीव्र जलधारा का सम्पात है न कि बाणों

१ यहाँ डा० डे ने 'भूतनिर्वाण' की मूल से हटा कर पता नहीं क्यों पावटिप्पणी में दे दिया था । हमने उसे सगव समझ कर मूल में दे दिया है ।

की परम्परा । तथा यह सोने की छान पर खींची गई रेखा के समान चमकदार
बिजली है न कि मेरी प्यारी उर्वशी ॥ ३५ ॥

(अन्यथ)—

पद्म्यां स्पृशेद्वसुमतीम्..... । इत्यादि ॥ ३६ ॥

(ओर भी)

(उदाहरण सख्या ३।२६ पर पूर्वोद्धृत)

पद्म्या स्पृशेद्वसुमतीम्—॥ इत्यादि श्लोक ॥ ३६ ॥

(अन्यथ)—

तरङ्गभ्रूमङ्गा क्षुभितविहगश्रेणिरसना । इत्यादि ३७ ॥

(तथा)

उदाहरण सख्या ३।४१ पर पहले उद्धृत

तरङ्ग भ्रूमङ्गाक्षुभितविहगश्रेणिरसना ॥ इत्यादि श्लोक ॥ ३७ ॥

यथा वा—

किरातार्जुनीये बाहुयुद्धप्रकरणम् ।

अथवा जैसे—किरातार्जुनीय में बाहुयुद्ध का प्रकरण जहाँ वीर रस उद्दीप्त किया
गया है ॥

पुनरारम्भवान्यथा प्रथयति—

किर इषी (प्रकरणवक्ता) को दूसरे बङ्ग से प्रस्तुत करते हैं—

प्रधानवस्तुनिष्पत्त्यै वस्त्वन्तरविचित्रता ।

यत्रोल्लसति सोल्लेखा सापराज्यस्य वक्ता ॥ ११ ॥

प्रथम (आधिकारिक) वस्तु की विधि के लिए जहाँ अन्य (प्रासङ्गिक)
वस्तु का उल्लेखपूर्ण विचित्रता उन्मीलित होती है वह इस (प्रकरण) की अन्य
(सातवीं) वक्ता होती है ॥ ११ ॥

अपरापि अस्य प्रकरणस्य वक्ता वक्रभावो भवतीति सम्बन्धः ।
यतोऽल्लसति उन्मीलति सोल्लेखा अभिनवोद्भेदमङ्गीसुभगा.....प्रतिरूप-
मितरद्वस्तु तस्य विचित्रता वैचित्र्यं नूतनचमत्कार इति यावत् ।
किमर्थम्—प्रधानवस्तुनिष्पत्त्यै । प्रधानमविकृतं प्रकरणं कामपि वक्ति-
माणमाक्रामति ।

इत प्रकरण की दूसरी भी वक्ता अर्थात् बाहुयुद्ध होता है । जहाँ (उद्धृष्टं
अर्थात् उन्मीलित होती है) उल्लेखपूर्ण अर्थात् नवीन उन्मेष की भङ्गिमा से
रमणीय.....प्रतिरूप की दूसरी (प्रासङ्गिक) वस्तु उसकी विचित्रता अर्थात्
वैचित्र्य यथया अभिनव चमत्कार (जहाँ उन्मीलित होता है) किस्कि—

प्रधान वस्तु की निष्पत्ति के लिए । (जिसके कारण) प्रधान, प्रकरण किसी अद्वितीय सौन्दर्य को प्राप्त करता है ।

इस प्रकरणवक्रता के उदाहरण रूप में कुन्तक ने 'मुद्राराक्षस' के यह अङ्क के उस प्रकरण को प्रस्तुत किया है जिसमें कि जिष्णुदास का मित्र बना हुआ एक रज्जुधारी पुरुष जिष्णुदास के अग्निप्रवेश को जानकर आत्महत्या करने के प्रयास में महामात्य राक्षस द्वारा अपनी आत्महत्या का कारण पूछने पर अपने मित्र जिष्णुदास के अग्निप्रवेश को बताता है । तथा जिष्णुदास के अग्निप्रवेश का कारण उसके मित्र चन्दनदास (जो कि महामात्य राक्षस के परिवार की रक्षा करने के कारण मारा जाता है उस) को बताता है । इस प्रसङ्ग में कुन्तक ने अधोलिखित 'छग्गुण' आदि पद्य को उद्धृत कर उसकी व्याख्या प्रस्तुत की है किन्तु पाण्डुलिपि के अत्यन्त भ्रष्ट होने के कारण वह पढ़ी नहीं जा सकी । उक्त श्लोक इस प्रकार है—

(ततः प्रविशति रज्जुहस्तः पुरुषः)

(इसके अनन्तर हाथ में रस्सी लिए एक पुरुष प्रवेश करता है)

पुरुषः—

छग्गुणसञ्जोअदिदा उवाअपरिवाडिदपासमुही ।

धाणक्कणीदिरज्जू रिउसस्रमणउज्जुआ अअदि ॥ १८ ॥

[पङ्गुणसंयोगहटा उवायपरिपाटीघटितपाशमुखी ।

धाणक्यनीतिरज्जू रिपुसंयमनश्रुजुका जयति ॥]

१. नोट—इस श्लोक को उद्धृत करने के बाद आचार्य विश्वेश्वर जी ने उस पुरुष के आगे के कथन को भी उद्धृत किया है जब कि उसका कोई निर्देश डा० डे ने नहीं किया । इस श्लोक के बाद हमने जो अंश उद्धृत किया है उसके बीच में 'मुद्राराक्षस' में गद्यभाग के अतिरिक्त १२ पद्य और भी हैं । कोई भी ग्रन्थकार इतना बड़ा प्रकरण नहीं उद्धृत करेगा । साथ ही उस पूरे प्रकरण से इस प्रकरण वक्रता पर कोई विशेष असर भी नहीं पड़ता । डा० डे ने उस पूरे प्रकरण के विषय में नहीं निर्देश किया । उनका कहना है—

"As an example is quoted the episode from the मुद्राराक्षस introduced with ततः प्रविशति रज्जुहस्तः पुरुषः (Act VI) and the conversation which follows. In this connexion the verse छग्गुणसञ्जोअदिदा (Act VI. 4) quoted and commented on, but the verse is so corrupt in the Ms. that it is almost beyond recognition. The drift of the whole conversation between राक्षस

पुरुष—(तन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव तथा आश्रय रूपे पाङ्गुण्य के संयोग से सुदृढ़ तथा (साम, दाम, दण्ड और भेद रूप) उपायो की परम्परा से निर्मित पाशमुख वाली चापकय की नीतिष्ठ रस्तिषो (अथवा ६ गुनी रस्तिषो) के संयोग से सुदृढ़ अनेको उपायो से निर्मित फन्देवाली रस्ती के समान शत्रु को बन्ध में करने (या बाधने में बड़ी ही सरलता से समर्थ है (अतः) सर्वोत्कर्ष युक्त है ॥ ३८ ॥

इस पद्य की उन्होंने क्या आलोचना की यह पता नहीं, उसके बाद उन्होंने नीचे उद्धृत प्रकरण को उद्धृत किया है तथा उसकी भी प्रकरणवक्रता को दिखाते हुए व्याख्या की है जो पड़ी नहीं जा सही। वह प्रकरण इस प्रकार है—

राक्षस—भद्र ! अध्याग्निप्रवेशो तव सुदृढः को हेतुः ? किमापधिपथा-तिगौरुपहतो महाव्याधिभिः ।

राक्षस—अच्छा महाशय जी ! आप के मित्र के अग्नि में प्रवेश करने का क्या कारण है ? क्या औषधिपथ का अतिश्रमण करने वाली (दवाओं से असाध्य) महाव्याधियों के द्वारा उत्पीडित हैं (जो मरना चाहते हैं)

पुरुष—अज्ज ! णहि णहि । । आर्य ! नहि नहि । ।

पुरुष—धीमान् जी, नहीं, नहीं (ऐसी बात नहीं है)

राक्षस—किमग्निविषकल्पया नरपतेर्निरस्तः क्रुधा ?

राक्षस—(तो) क्या अग्नि और विष के समान (भयंकर) राक्षस के बोध से प्रताडित किए गए हैं (जो मरना चाहते हैं) ।

पुरुष—अज्ज ! सन्तं पापं, सन्तं पापं । चन्द्रउत्तस्स जणपदेसु अणिसंसा पव्विशी । (आर्य ! शान्तं पापं शान्तं पापम् । चन्द्रगुणस्य जनपदेष्वनृशसा प्रतिपत्तिः ।

and the पुरुष relating to चन्द्रनदीस beginning with भद्रमुक्त, अभिप्रवेश सुदृढस्ते को हेतुः and ending with पुरुष sword अज्ज अथ is explained with reference to the above कारिका." (४० जो० पृ० २३४)

स्पष्ट है कि यदि आचार्य श्री डा० के के इस कवन को सावधानी से समझें तो उन्हें यह तिसुने की आवश्यकता न पड़ती कि—

"उद्धरण बहुत सख्या हो जाने के भय से यहाँ बीच का बहुत सा भाग छोड़ दिया गया है" (४० जो० पृ० ५१९)

क्योंकि यदि मूलग्रन्थकर्ता ने उस भाग को अपनी संप्रतिष्ठा में उद्धृत कर रखा है तो सम्पादक को क्या अधिकार कि उसे घटा दे ।

पुरुष—धीमान् जी, पाप शान्त हो, पाप शान्त हो । चन्द्रगुप्त की अपने प्रजाजन पर ऐसी वृधस बुद्धि कहाँ ? (हो सकती है)

राक्षस—अलभ्यमनुरक्तवान् किमयमन्यनारीजनम् ?

राक्षस—तो फिर क्या ये किसी अप्राप्य पराई स्त्री में अनुरक्त हो गए थे (जिसके न मिलने पर मरने जा रहे हो) ।

पुरुष—(कर्णों पिधाय) अज्ज ! सन्त पाव, सन्त पाव । अभूमि वसु एसो विणअणिधानस्स सेट्ठिजणस्स, त्रिसेसदो जिण्णुदासस्स । (आर्य ! शान्त पापं, शान्त पापम् । अभूमिः खल्वेष विनयनिधानस्य वणिग्जनस्य, विशेषतो जिण्णुदासस्य ।)

पुरुष—(दोनों कान बन्द करके) यहाशय जी, पाप शान्त हो, पाप शान्त हो, अरे यह तो विनयता के वागार वणिग्जन के लिए सर्वथा असम्भव (अभूमि) है, विशेष कर फिर जिण्णुदास के लिए (तो इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती) ।

राक्षस—क्मिस्य भवतो यथा सुहृद एव नाशो विषम् ।

राक्षस—तो फिर क्या इसके (भी विनाश) का जहर (तुम्हारी ही तरह) मित्र का विनाश है ।

पुरुष—आर्य । अय किम् (अज्ज ! अध इं) ।

पुरुष—हाँ महोदय, तब क्या (सुहृदविनाश ही तो इसकी मृत्यु का कारण है) ।

पुनर्मङ्गलान्तरेण व्याचष्टे—

सामाजिकजनाह्लादनिर्माणनिपुणैर्नरैः ।

तद्भूमिकां समास्थाय निर्वर्तितनटान्तरम् ॥ १२ ॥

क्वचित्प्रकरणस्यान्तः स्मृतं प्रकरणान्तरम् ।

सर्वप्रबन्धसर्वस्वकलां पुष्पाति वक्रताम् ॥ १३ ॥

पुनः दूसरी विच्छति के द्वारा, प्रकरण वक्रता के अष्टम भेद की) व्याख्या करते हैं—

कहीं (किसी एक) प्रकरण के अन्तर्गत, सामाजिक लोगों के आनन्द को उत्पन्न करने में सिद्धहस्त नटीयों द्वारा, उन (सामाजिकों) की भूमिका में स्थिर होकर (अर्थात् सामाजिक बन कर), दूसरे नटों का निर्माण कर उपस्थित किया गया (स्मृत) अन्य प्रकरण सम्पूर्ण प्रबन्ध को प्राणधृत वक्रता को पुष्ट करता है ॥ १२-१३ ॥

सर्वप्रबन्धसर्वस्वकलां पुष्पाति वक्रताम्, सकलरूपकप्राणरूपकं समुल्लासयति वक्रिमाणम् । क्वचिदप्रकरणस्यान्तः स्मृतं प्रकरणान्तरम्—कस्मिंश्चित्कविकौशलोन्मेषशालिनि नाटके, न सर्वत्र । एकस्य मध्यवर्ति अङ्कान्तरगर्भीकृतम् गर्भो वा नाम इति यावत् । किंविशिष्टम्—निर्वर्तितनटान्तरम्, विभावितान्यनर्तकम् । नटैः कीदृशैः—सामाजिक-जनास्वादनिर्माणनिपुणैः सहृदयपरिपत्परितोषणनिष्णातैः । तद्भूमिकां समास्थाय सामाजिकीभूय ।

समस्त प्रबन्ध की सर्वस्वभूत वक्रता का पोषण करता है अर्थात् सम्पूर्ण रूपक के प्राणरूप वक्रभाव को व्यक्त करता है । कहीं प्रकरण के भीतर स्मरण किया गया दूसरा प्रकरण । किसी कवि कौशल की सृष्टि से सुशोभित होने वाले नाटक में, सब जगह नहीं । अर्थात् एक (अङ्क) के मध्य में स्थित दूसरे अङ्क में निवेशित अथवा जिसका गर्भाङ्क यह नाम होता है । किस प्रकार का—अन्य नटों के निर्माण वाला अर्थात् दूसरे नर्तक की कल्पना वाला । कैसे नटों के द्वारा—सामाजिक लोगों के आनन्द का निर्माण करने में दक्ष (नटों) के द्वारा अर्थात् सहृदयगोष्ठी को सन्तुष्ट करने में सिद्ध हस्त (नटों) के द्वारा । उनकी भूमिका में स्थित होकर अर्थात् सामाजिक बनकर ।

इदमत्र तात्पर्यम्—कुत्रचिदेव निरङ्कुशकौशलाः कुशीलवा स्वीय-भूमिकापरिमर्देण रङ्गमलकुर्वाणाः नर्तकान्तरप्रयुज्यमाने प्रकृतार्थजीवित इयं गर्भवर्तिनि अङ्कान्तरे तरङ्गितवक्रतामहिम्नि सामाजिकीभवन्तो विविधाभिर्भावनाभङ्गीभिः साक्षात्सामाजिकानां किमपि चमत्कार-वैचित्र्यमासूत्रयन्ति । यथा—बालरामायणे चतुर्थेऽङ्के लङ्केश्वरानुषारी प्रहस्तानुकारिणा नटो नटेनानुवर्त्यमानः ।

यहाँ आद्य यह है कि—कहीं-कहीं पर ही असीम कौशल वाले नट अपनी भूमिका के निर्वाह से रङ्गमण्डल को अलंकृत करते हुए अन्य नर्तकों द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले एवं प्रस्तुत पदार्थ के प्राण सटका, तथा वक्रता के माहात्म्य को उल्लेखित करने वाले मध्यवर्ती दूसरे प्रकरण में सामाजिक से होकर माना प्रकार की भावनाओं के वैचित्र्यों से साक्षात् सामाजिकों के किसी अपूर्व चमत्कार की विचित्रता को प्रस्तुत करते हैं । जैसे—बालरामायण के चतुर्थ अङ्क (वस्तुतः प्राप्त संस्करण में यह तृतीय अङ्क में आता है) में प्रहस्त का अनुकरण करने वाले नट से अनुसरण किया जाता हुआ रावण का अनुवर्तन करने वाला नट (गर्भाङ्क में प्रस्तुत 'सीतास्वयंवर' नाटक को सामाजिक रूप में स्थित होकर देखते हुए वैचित्र्य की सृष्टि करता है । अब 'सीतास्वयंवर' नामक गर्भाङ्क नाटक का माग्दी इस प्रकार है—)

कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने ।

नमः शृङ्गारबीजाय तस्मै कुसुमधन्यने ॥ ३६ ॥

कर्पूर के समान जला दिए गए भी जो जन-जन में शक्तिमान् (रूप से विद्यमान) है उस फूलों का धनुष धारण करने वाले शृङ्गार के बीजभूत (कामदेव) को नमस्कार है ॥ ३६ ॥

श्रवणैः पेयमनेकैर्दृश्य दीर्घैश्च लोचनैर्बहुभिः ।

भवदर्थमिव निबद्धं नाट्यं सीतास्वयंवरणम् ॥ ४० ॥

यह 'सीतास्वयंवरण' नामक नाट्य मानो आप लोगों के लिये ही विरचित है इसको (संगीत मुधा आप लोग) के श्रवणों के द्वारा पान करने योग्य है और इसकी (अभिनयरमणीयता आपके) भनेकानेक विशाल लोचनों के द्वारा दर्शनीय है ॥ ४० ॥

इसकी जो व्याख्या कुन्तक ने की है वह पाण्डुलिपि की भ्रष्टता के कारण उद्धृत नहीं की जा सकी ।

इसके बाद कुन्तक ने उत्तररामचरितम् के सातवें अङ्क से उद्धरण प्रस्तुत किया है जहां राम 'हा कुमार हा लक्ष्मण' इत्यादि कहते हैं ।

अपरमपि प्रकरणवक्रतायाः प्रकारमाविष्करोति—

प्रकरण वक्रता के अन्य (नवम) भेद को प्रस्तुत करते हैं—

मुखादिसन्धिसन्धायि संविधानकवन्धुरम् ।

पूर्वोत्तरादिसाङ्गत्यादङ्गानां विनिवेशनम् ॥ १४ ॥

न त्वमार्गग्रहग्रस्तग्रहकाण्डकदर्शितम् ।

वक्रतोलेखलावण्यमुल्लासयति नूतनम् ॥ १५ ॥

मुखादि सन्धियों की वर्णना के अनुरूप, रूपानक से घोभित होने वाला, पूर्व तथा उत्तर के समन्वय से अङ्गों (अर्थात् प्रकरणों) का विन्यास वक्रता की सृष्टि से अपूर्व सौन्दर्य को प्रकट करता है न कि अनुचित मार्ग रूपी वह से ग्रस्त ग्रहण के अक्षर से कथित प्रकरण ॥ १४-१५ ॥

नोट—दुर्भाग्य से इस कारिका की वृत्ति का एक भाग पाण्डुलिपि में गायब हो गया है । तथा जो रोष बचा है वह इतना भ्रष्ट है कि वह भी एक सही अभिप्राय को दे सकने में सर्वथा अक्षम है । कारिका में आये हुए 'पूर्वोत्तरादि-साङ्गत्याद' की व्याख्या डा० डे द्वारा सम्पादित इस प्रकार है—

कस्मात्—पूर्वोत्तरादिसाङ्गत्यान्, पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरेणोत्तरेण यत्साङ्गत्यमतिराधितसौगन्धम् उपजीव्योपजीवकामवलक्षणं तस्मात् ।

किससे—पूर्वोत्तरादि के साङ्गत्य से, पूर्व पूर्व का उत्तर उत्तर के साथ जो साङ्गत्य अर्थात् उपजीव्य उपजीवक भावरूप अत्यधिक सुगमता उससे (प्रकरणों का विन्यास आह्लादकारी होता है) ।

इदमुक्तम्भवति—प्रबन्धेषु पूर्वप्रकरणम् अपरस्मात् परस्य परस्य प्रकरणान्तरस्य सरससम्पादितसन्धिसम्बन्धतत्विधानं कसमर्प्यमाणकता प्राणं प्रौढिप्ररुढवक्तोर्ल्लेसमाद्वादयति ।

उत्तरोत्तर कहने का अभिप्राय यह है कि—प्रबन्धों में पूर्व पूर्व प्रकरण उत्तरोत्तर अन्य प्रकरणों की सरस ढङ्ग से सम्पादित की गयी (मुख आदि) सन्धियों के सम्बन्ध के संविधान द्वारा की गई प्राणप्रतिष्ठा वाली प्रौढि से उत्पन्न होने वाला व प्रता विधान आह्लादित करता है।

यथा 'पुष्पदूषितके' प्रथम प्रकरणम् । अतिदारुणाभिनवः " देवना-
निरानन्दस्य "समागतस्य समुद्रतीरे समुद्रदत्तस्योत्कण्ठाप्रकाशनम् ।
द्वितीयमपि—प्रस्थानात् प्रतिनिवृत्तस्य निशीथिन्यामुत्कोचालङ्कारदान-
मूकीकृतकुवलयस्य कुसुमवाटिकायामनाकलिनमेव तस्य सहचरो-
सङ्गमनम् । तृतीयमपि—सम्भावितदुर्विनयेऽपि(?)नयदत्तनन्दिनीनिर्वा-
सनव्यसनतत्समाधाननिबन्धनम् । चतुर्थमपि—मथुराम्प्रतिनिवृत्तस्य
कुवलयप्रदर्यमानाङ्गुलीयकसमावेदितचिमलसम्पदः । कठोरतरगर्भभार-
स्त्रिभ्रायां स्तुपायां निष्कारणनिष्कासनादनाहितप्रवृत्तेर्महापातकिन-
मात्मानं मन्यमानस्य साधंवाहसागरदत्तस्य तीर्थयात्राप्रवर्तनम् । पञ्चम-
मपि—यनान्तः "समुद्रदत्तकुशलोदन्तकथनम् । षष्ठमपि—सर्वेषां विधित्र-
सङ्ख्यासमागमाभ्युपायसम्पादयमिति । एवमेतेषां रसनिष्यन्दतत्प-
राणां तत्परिपाटिः कामपि कामनीयकसम्पदभ्रष्टावयति ।

जैसे पुष्पधूपितक मे प्रथम प्रकरण अत्यन्त दाहण नयी.....वेदना के कारण आनन्दहीन—और समुद्र के किनारे आये हुए समुद्रदत्त की उत्पन्नाविशेष का प्रकाशन किया गया है। दूसरा (प्रकरण) भी—यात्रा से वापस लौटे हुए, तपारात्र मे धूसर रूप मे (अगूठी रूप) आभूषण देकर (द्वारपाल) कुवलय को मूक कर देने वाले उस (समुद्रदत्त) का पुष्पवाटिका मे अस्म्भावित सहचरी के साथ समागम (ही प्रस्तुत करता है) तीसरा (प्रकरण भी)—अस्म्भावित धृष्टता वाले होने पर भी नमदत्त की पुत्री के निर्वासन की विपत्ति एवं उसके समाधान का वर्णन (प्रस्तुत करता है)। चतुर्थ (प्रकरण) भी—मयूरा को लोट आये हुए कुवलय के द्वारा दिखाई जाती हुई अंगूठी से सूचित विमल सुख सम्पदा वाले अत्यन्त परिपक्व गर्भ के भार से सिद्ध पुत्रवधूविवशक निष्कारण निष्कासन के कारण प्रवृत्तिहीन और अपने को महापापी मानने वाले व्यापारी सागरदत्त के

तीर्थयात्रा की प्रवृत्ति को प्रस्तुत करता है। पञ्चम (प्रकरण) भी—वन के मध्य में “ “ (कुछ लोगो द्वारा) समुद्रतट के कुशल वृत्तान्त का निवेदन (प्रस्तुत करता ?)। षष्ठ प्रकरण भी सभी के विचित्र बोध की प्राप्ति कराने वाले उपाय को सम्पादित करता है। इस प्रकार इन रसनिध्यन्द में लगे हुए (सभी प्रकरणों की) परम्परा किसी अनिर्वचनीय रमणीयता की सम्पत्ति को प्रस्तुत करती है

यथा वा कुमारसम्भवे—पार्वत्या प्रथमनारुण्यावनारवर्णनम्। हर-
शुश्रूषा दुस्तरतारकपराभवपारावारोत्तरणकारणमित्यरविन्दसूतेरुपदेश।
कुसुमारसुहृदः कन्दर्पस्य पुरन्दरादेशाद्गौर्या सौन्दर्यबलाद्विप्रहरतो
हरिचिंतोचनविचित्रभानुना भस्मीकरणदुःखावेशविवशाया रत्या. बिल-
पनम्। विवक्षितं विकलमगसो मेनकात्मजायास्तपश्चरणम्। निरर्गल-
प्राग्भारगिरिशृङ्गेनसा विचित्रशिखण्डिभि शिखरिनाथेन वारणम्,
पाणिपीडनम् इति प्रकरणानि पौर्वापर्यैर्वासतसुन्दरसविधानबन्धुराणि
रामणीयकवारामाधरोहन्ति।

अथवा जैसे कुमारसम्भव में—(पहले) पार्वती के पहले पहल यौवन के प्रारम्भ का वर्णन। (फिर) तारकासुर के पराजय रूप दुस्तर सागर के पार उतरने की बीज शङ्कर की सेवा है, ऐसा कमलोद्भव ब्रह्मा का उपदेश (का वर्णन)। (तदनन्तर) इन्द्र के निवेदन एवं पार्वती के सौन्दर्य बल से (शङ्कर पर) प्रहार करते हुए वसन्त के सखा कामदेव के शङ्कर के (तृतीय) नेत्र की अद्भुत आग से जलाये जाने के दुःखावेश से विवश रति का विलाप (वर्णन)। उसके अनन्तर) विह्वल हृदय मेनकात्मजा पार्वती की विवक्षित तपश्चर्या (का वर्णन)। (फिर) विचित्र मयूरों द्वारा (अध्युषित) विशृङ्खल ढंगाने से परिमुषित मनोवृत्ति वाले पर्वतराज (हिमालय) के द्वारा वरण कराया गया हुआ विवाह (वर्णन)। ये प्रकरण पौर्वापर्य के कारण सुन्दर सविधान में परिणत होकर मनोहारी हैं और सुन्दरता की चरमसीमा को पहुँचे हुए हैं।

इससे स्पष्ट है कि कुन्तक को जिस कुमारसम्भव का पता था वह भगवती पार्वती के विवाह के प्रकरण तक की कथा को प्रस्तुत करता था। मल्लिनाथ की टीका भी अष्टम सर्ग तक ही मिलती है। इससे सिद्ध होता है कि कालिदास की रचना निश्चित रूप से अष्टमसर्गान्ता थी। बाद के सर्ग प्रक्षिप्त हैं। और वे कालिदासकृत नहीं माने जा सकते।

एवमन्येष्वपि महाकविप्रबन्धेषु प्रकरणवक्रतावैचित्र्यमेव विवेचनीयम्।

इस प्रकार महाकवियों के अन्य प्रबन्धों में भी प्रकरणवक्ता की विविधता ही सम्माना चाहिए।

इसके बाद कुन्तक में प्रकरण वक्ता के इस भेद के उदाहरण रूप में वेणी-संहार के द्वितीय अङ्क को उद्धृत किया है—

(यथा वेणीसंहारे प्रतिमुखसन्ध्यङ्गभागिनि द्वितीयेऽङ्के)

तथा कुछ उद्धरण शिगुपालवध से प्रस्तुत किए हैं। इनके विवेचन का सारा का सारा विषय 'अन्तरदलोको' से भरा पड़ा है, जो कि पाण्डुलिपि में अत्यन्त भट्ट तथा अपूर्ण है। अतः ४०० के ऊँचे नहीं प्रस्तुत कर सके।

इस प्रकार कुन्तक प्रकरणवक्ता के विवेचन को समाप्त कर प्रबन्धवक्ता का विवेचन प्रस्तुत करते हैं जो कि स्पष्ट रूप से विवेचन का अन्तिम विषय है। प्रबन्धवक्ता का लक्षण प्रस्तुत करने वाली कारिका इस प्रकार प्रारम्भ होती है—

इतिवृत्तान्यथावृत्त-रससम्पदुपेक्षया ।

रसान्तरेण रम्येण यत्र निर्वहणं भवेत् ॥ १६ ॥

तस्या एव कथामूर्तेरामूलोन्मीलितश्रियः ।

विनेयानन्दनिष्पत्त्यै सा प्रबन्धस्य वक्रता ॥ १७ ॥

(पाण्डुनादि) विनेयी के लिये आनन्द की सृष्टिहेतु जहाँ इतिहास में प्रथम प्रकार से किए गये निर्वहण वाले रस सम्पत्ति का तिरस्कार कर, प्रारम्भ से ही उन्मीलित किए गये सौन्दर्य वाले काव्य शरीर का दूसरे मनोहर रस के द्वारा निर्वहण किया गया हो वह प्रबन्ध की वक्रता होती है) ॥ १६-१७ ॥

सा प्रबन्धस्य नाटकसर्गबन्धादेः वक्रता वक्रभावो भवतीति सन्ध्यङ्कः । यत्र निर्वहणं भवेत्, यस्यामुपसंहरणं स्यात्, रसान्तरेण ह्यन्तरेण रम्येण रसेन रमणीयकविधिना । कथा—इतिवृत्तान्यथावृत्तरससम्पदुपेक्षया । इतिवृत्तमितिहासोऽन्यथापरेण प्रकारेण वृत्ता निर्व्यूढा या रससम्पत् शृङ्गारादिभङ्गी तदुपेक्षया तदनादरेण तां परित्यज्येति यावत् । कस्याः—तस्या एव कथामूर्तेः, तस्यैव काव्यशरीरस्य । किम्भूतायाः—आमूलोन्मीलितश्रियः । आमूलं प्रारम्भादुन्मीलिता शीर्वाक्ष्यवाचकरचनासम्पद् यस्यास्तयोक्ता तस्या । किमर्थम्—विनेयानन्दनिष्पत्त्यै, प्रतिपाद्यार्थि-यादिप्रमोदसम्पादनाय ।

वह प्रबन्ध अर्थात् नाटक तथा काव्य आदि की वक्रता या आकृष्य होना है। जहाँ निर्वहण हो। अर्थात् जिसमें उपसंहार हो। रसान्तर के द्वारा, दूसरे रस के द्वारा रम्य अर्थात् रमणीयता के विधान द्वारा। किस प्रकार से—इतिवृत्त

तथा अन्यथा निर्वाह की गई रस सम्पत्ति की उपेक्षा से। इतिवृत्त का अर्थ है इतिहास, (उसमें) अन्यथा अर्थात् दूसरे ढङ्ग से वृत्त अर्थात् निर्वाह की गई जो रससम्पत्ति अर्थात् शृङ्गार आदि की छटा उसकी उपेक्षा अर्थात् उसके अनादर द्वारा, उसका परित्याग कर के (जहाँ अन्य रस्य रस के द्वारा निर्वाह किया जाता है)। किसका (निर्वाह) — उघो कथामूर्ति का अर्थात् उसी काव्य शरीर का (निर्वाह) कैसी (कथामूर्ति का) मूल से ही सम्मिलित शोभा वाली (कथामूर्ति का) सामूल अर्थात् प्रारम्भ से ही सम्मिलित की गई है जिसकी श्री अर्थात् शब्द एवं अर्थ रचना की सम्पत्ति उस (कथामूर्ति का निर्वाह)। किस लिए — विनयो के आनन्द की निम्पत्ति के लिए अर्थात् प्रतिपाद्य राजा आदि के आनन्द को सम्पादित करने के लिए (जहाँ उस कथामूर्ति का अन्ध रस के द्वारा निर्वाह हो, उसे प्रबन्ध वक्रता कहते हैं) ॥

प्रबन्धवक्रता के इस प्रकार के उदाहरण रूप में कुन्तक 'वेणीसहार' तथा 'उत्तररामचरित' को उद्धृत करते हैं। ये दोनों नाटक क्रमशः 'महाभारत' एवं 'गमयायन' पर आधारित हैं जिनमें कि प्रधान रस 'शान्त रस' है। जैसा कि कुन्तक कहते हैं—

'रामायणमहाभारतयोश्च शान्ताङ्गित्वं पूर्वसूरिभिरेव निरूपितम्।'।

किन्तु इन दोनों नाटकों में इतिवृत्त कुछ दूसरे ढङ्ग में प्रस्तुत किया गया है, जिनमें क्रमशः वीर रस तथा 'शृङ्गार रस' अङ्गी रूप में वर्णित हैं।

कुन्तक एक 'अन्तरालोक' उद्धृत कर इस विषय को समाप्त करते हैं किन्तु पाशुलिपि की अशुद्धता के कारण डा० वे वह श्लोक उद्धृत नहीं कर सके।

इसके अनन्तर कुन्तक प्रबन्धवक्रता के दूसरे भेद का निरूपण करते हैं—

प्रैलोक्याभिनवोल्लेखनायकोत्कर्षपोषिणा ।

इतिहासैकदेशेन प्रबन्धस्य समापनम् ॥ १८ ॥

तदुत्तरकथावर्तिविरसत्त्वजिहासया ।

कुर्वीत यत्र सुकविः सा विचित्रारूप वक्रता ॥ १९ ॥

जहाँ थोड़ा कवि सीनों लोको में अपूर्व वर्णन के कारण नायक के उत्कर्ष को पुष्ट करने वाले इतिहास के एक अंश से, उसके बाद की कथा में विद्यमान नीरसता का परित्याग करने की इच्छा से, प्रबन्ध को समाप्त कर दे, वह इस (प्रबन्ध) की विचित्र वक्रता होती है ॥ १८-१९ ॥

सा विचित्रा विविधभङ्गीभ्राजिष्णुरस्य प्रबन्धस्य वक्रता वक्रभावो भवतीति सम्बन्धः। कुर्वीत यत्र सुकविः—कुर्वीत विदधीत यत्र यस्यां

सुक्रिये, औचित्यरद्धनिप्रभेदचतुरः। प्रबन्धस्य समापनम्—प्रबन्धस्य संग्रहबन्धादेः समापनमुपसंहरणं, समर्थनमिति यावत्। इतिहासैकदेशेन इतिवृत्तस्यावयवेन।

वह प्रबन्ध की विविध अर्थात् अनेको प्रकार की छटाओं से सुशोभित होने वाली वक्ता अर्थात् वारूपन होता है। जहाँ सुक्रि करे। जिसने सुक्रि अर्थात् औचित्यमार्ग के प्रभेदों में दृष्ट कवि कर दे। (क्या?) प्रबन्ध की समाप्ति प्रबन्ध अर्थात् महाकाव्य आदि का समापन अर्थात् उपसंहार अथवा समर्थन (करे)। (किसने)—इतिहास के एकदेश से अर्थात् इतिवृत्त के एक अंश से।

किम्भूतेन—त्रैलोक्याभिरुल्लेखनायकोत्कर्षपोषिणा, जगदसाधारणस्फुरितनेत्रप्रकर्षप्रकाशकेन किमर्थम्—तदुत्तरकयावर्तिविरसत्त्व-जिहासया। तस्मादुत्तरा या कथा तद्वर्ति तदन्तर्गतं यद्विरसत्वं वैरस्य-मनार्जव तस्य जिहासया परिजिहीर्षया।

कैसे (अथ) से—तीनों लोकों में अभिनव उल्लेख के कारण नायक के उत्कर्ष को पुष्ट करने वाले (अथ) से, अर्थात् सत्कार में असाधारण स्फूर्ति वाले नेता के प्रकर्ष को व्यक्त करने वाले (इतिहास के एकदेश) से (कथा को समाप्त कर दे) किस लिये उसके बाद की कथा में वर्तमान नीरसता का त्याग करने की इच्छा है। उसने बाद में आने वाली जो कथा है उसमें विद्यमान, उससे अन्दर निहित जो विरसता अर्थात् वैरस्य माने कठोरता उसके त्याग की इच्छा से दूर कर देने की अभिलाषा से (प्रबन्ध को एक अंश से जहाँ कवि समाप्त कर दे वह प्रबन्ध वक्ता होती है।)

इदमुक्तम्भवति—इतिहासोदाहृतां करचन महाकविः सकलां कथां शारभ्यापि तदवयवेन त्रैलोक्यचमत्कारकारणनिरूपमाननायकयशः-समुन्वेषोदयदायिना तदप्रिमप्रन्थप्रमरसम्भावितनीरसभावहरणेच्छया उपसंहरमाणस्य प्रबन्धस्य कामनीयकनिकेतनायमानवकिमाणमाद-धानि। यथा किरातार्जुनीये संग्रहबन्धे—

बहने का अभिप्राय यह है—कोई महाकवि इतिहास से उद्धृत सम्पूर्ण कथा का प्रारम्भ करके भी तीनों लोकों के चमत्कार के कारणभूत अद्वितीय नायक की कीर्ति के अतिशय को व्यक्त करने वाले उस कथा के एक अंश से ही, उसके आगे अन्य विस्तार में आ जाने वाली नीरसता का परित्याग करने की इच्छा से समाप्त होने वाले महाकाव्य आदि की कमनीयता से सदन की भाँति आचरण करने वाली वक्ता को प्रतिपादित करता है। जैसे 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य में महाकवि भारवि द्वारा—

दिवां विधाताय विधातुमिच्छतो रहस्यनुज्ञासधिगम्य भूयुतः ॥४८॥

X

X

X

रिपुतिमिरसुदस्योदीयमानं दिनादौ
दिनकृतमिव लक्ष्मीस्त्वां समभ्येतु भूयः ॥ ४९ ॥

X

X

X

एने दुराप समवाप्य वीर्यमुन्मूलितारः कपिकेतनेन ॥ ४९ ॥

शत्रुओं के विषय के लिये व्यापार करने की इच्छा रखने वाले राजा (युधिष्ठिर) की एकान्त में अनुमति प्राप्त कर (वनेचर ने कहा) ॥ ४९ ॥

X

X

X

(तथा) अन्यकार के समान शत्रुओं को दूर कर उदित होने वाले सूर्य की भाँति उदीयमान तुम्हें लक्ष्मी पुनः प्राप्त हो ॥ ४९ ॥

X

X

X

तथा (इस प्रकार पाशुपत आदि के लिये तपस्या कर उनकी प्राप्ति से) दुर्लभ पराक्रम को प्राप्त कर अर्जुन इन (दुर्योधनादि शत्रुओं) का उन्मूलन करे ॥ ४९ ॥

इत्यादिना दुर्योधननिधनान्तां धर्मराजाभ्युदयदायिनीं सकलामपि कथामुपक्रम्य कविना निबध्यमानं यत् तेजस्विशृङ्गारकस्य दुरोदरद्वारा दूरोभूतविभूतेः प्रभूतद्रुपदात्मजानिकारनिरातिशयोदीपितमन्योः कृष्णद्वैपायनोपदिष्टविद्यासंयोगसम्पद्-पाशुपतादिदिव्यास्त्रप्राप्तये तपस्यतो गाण्डीय-सुहृदः पाण्डुनन्दनस्यान्तरा किरातराजसम्प्रदरणात् ससून्मीलिता-नुपमनिकमोल्लेख कमप्यभिप्रायं प्रकाशयति ।

इत्यादि के द्वारा दुर्योधन के मरमर्षस्त युधिष्ठिर के अभ्युदय को प्रदान करनेवाली सम्पूर्ण कथा को भी प्रारम्भ कर उपनिबद्ध किया जाने वाला जो, तेजस्वियों में प्रधान, जुँए के द्वारा दूर हो गये ऐश्वर्य वाले, द्रौपदी के प्रचुर अपकार से अत्यधिक उदीप्त क्रोध वाले, कृष्णद्वैपायन द्वारा सिद्धित विद्या के संयोग की संपत्ति वाले पाशुपत आदि दिव्य अस्त्रों की प्राप्ति के लिये तपस्या करने हुए गाण्डीवसत्ता पाण्डुपुत्र अर्जुन के किरातराज से युद्ध के बीच प्रकट किए गए अद्वितीय पराक्रम का वर्णन है । (वह) किसी (अनिर्वचनीय) आशय को व्यक्त कर रहा है ।

इस प्रकार व्याख्या, इस विवेचन को और अधिक विस्तृत रूप में प्रस्तुत करती हुई एक अन्तरालोक्त के साथ समाप्त हो जाती है । उस स्थल के पाण्डु-लिपि में अत्यधिक अस्पष्ट एवं अपूर्ण होने से उसे डा० डे उद्धृत नहीं कर सके ।

इसके बाद कुन्तक इस प्रबन्धवन्ता के अन्य भेद का विवेचन प्रस्तुत करते हैं, जो इस प्रकार है—

भूयोऽपि भेदान्तरमस्याः सम्भावयति—

फिर भी इस (प्रबन्ध-वन्ता) के अन्य (तृतीय) भेद को प्रस्तुत करते हैं—

प्रधानवस्तुसम्बन्धतिरोधानविधायिना ।

कार्यान्तरान्तरायेण विच्छिन्नविरसा कथा ॥ २० ॥

तत्रैव तस्य निष्पत्तेर्निनिबन्धरसोज्ज्वलाम् ।

प्रबन्धस्यानुबध्नाति नवां कामपि वक्रताम् ॥ २१ ॥

प्रधान वस्तु (अर्थात् अधिकारिक कथावस्तु) के सम्बन्ध का तिरोधान कर देने वाले दूसरे कार्य के विघ्न से विच्छिन्न एवं नीरस हो गई कथा, वही उस (प्रधान कार्य) की सिद्धि हो जाने से प्रबन्ध की निविघ्न रस से देदीप्यमान (सहृदयों द्वारा अनुभूयमान) किसी अपूर्व वक्रता को पुष्ट करती है ॥ २०-२१ ॥

प्रबन्धस्य सर्गबन्धादेरनुबध्नाति द्रढयति नवामपूर्वोल्लेखां कामपि सहृदयानुभूयमानाम्—न पुनरभिधागोचरसचमत्काराम् वक्रतां वक्रिमाणम् । काऽसौ—कार्यान्तरान्तरायेण विच्छिन्नविरसा कथा । कार्यान्तरान्तरायेण अपरकृत्यप्रत्युद्गेन । विच्छिन्नविरसा विच्छिन्ना चासौ-विरसा च सा, विच्छिद्यमानत्वादनावर्जनसञ्ज्ञेत्यर्थः । किम्भूतेन—प्रधानवस्तुसम्बन्धतिरोधानविधायिना, आधिकारिकफलसिद्धयुपायतिरोधानकारिणा । कृतः—तत्रैव तस्य निष्पत्तेः तत्रैव कार्यान्तरानुष्ठाने एतस्याधिकारिकस्य निष्पत्तेः ससिद्धेः । तत एव निर्निबन्धरसोज्ज्वलां निरन्तरायतरङ्गिताद्विरसप्रभाभ्राजिष्णुम् ।

प्रबन्ध अर्थात् महाकाव्य आदि की नवीन अर्थात् अपूर्व सृष्टि वाली किसी, सहृदयों के द्वारा अनुभव की जाने वाली, न कि अभिधा के विषयभूत चमत्कार से युक्त वक्रता अर्थात् बांकपन को पुष्ट करती है अर्थात् दृढ़ करती है । कौन है यह (पुष्ट करने वाली)—अन्य कार्य के विघ्न से विच्छिन्न एवं विरस कथा । कार्यान्तर के अन्तराय से अर्थात् दूसरे कार्य के विघ्न से, विच्छिन्न-विरस अर्थात् भङ्ग हो गई एवं नीरस वह कथा अर्थात् (प्रधान कार्य के बीच में ही) भङ्ग हो जाने के कारण आकर्षणहीन कहो जाने वाली कथा (वक्रता को पुष्ट करती है) । कैसे (कार्यान्तर के विघ्न) के द्वारा (विरस)—प्रधान वस्तु के सम्बन्ध का तिरोधान करने वाले अर्थात् आधिकारिक फल की निष्पत्ति के उपाय को आन्छादित कर देने वाले (कार्यान्तर के द्वारा) । कैसे (वक्रता को

पुष्ट करती है) — वहीं उसकी निष्पत्ति हो जाने से वही अर्थात् दूसरे कार्य की सिद्धि में ही इस आधिकारिक (फल) की सिद्धि हो जाने से । और इसी लिए निर्विघ्न रस से उज्ज्वल अर्थात् बिना किसी, बाधा के प्रवाहित होने वाले मुख्य रस की कान्ति से सुसोभित (प्रबन्ध वक्रता को दृढ़ करती है)

अयमस्य परमार्थः—या कलाधिकारिककथानिपेधिकार्यान्तरव्यवधानाङ्गगति विघटमाना अलव्यावकाशापि विकार्यमाना सा प्रस्तुतेतरव्यापारादेवं प्रस्तुतनिष्पन्नेन्दीवरसितरसनिर्भरा प्रबन्धस्य रामणीयकमनोहरं वक्रिमाणमादधाति ।

इसका सार यह है कि—जो आधिकारिक कथा, बाधक अन्य कार्य के व्यवधान से शीघ्र ही विघटित होकर अबसर न पाकर भी विकसित होने वाली होती है, वह इस प्रकार प्रस्तुत से भिन्न व्यापार के कारण प्रस्तुत को निष्पन्न कर देनेवाली सफेद कमल के रस से परिपूर्ण सी प्रबन्ध की रामणीयता से मनोहर वक्रता को धारण करती है । इसके उदाहरणरूप में कुन्तक ने 'शिथुपालवध' को उद्धृत किया है ।

इसके बाद प्रबन्धवक्रता के अन्य भेद का विवेचन प्रारम्भ किया गया है जो इस प्रकार है—

यत्रैकफलसम्पत्तिः समुद्युक्तोऽपि नायकः ।

फलान्तरेष्वनन्तेषु तत्तुल्यप्रतिपत्तिषु ॥ २२ ॥

घत्ते निमित्ततां स्फारयशःसम्भारभाजनम् ।

स्वमाहात्म्यचमत्कारात् सापरा चास्य वक्रता ॥ २३ ॥

जहाँ प्रभूत यशःसमृद्धि का पात्र नामक अपने माहात्म्य के चमत्कार से एक ही फल की प्राप्ति में लगा हुआ होने पर भी उसी के सहस्र सिद्धियों वाले दूसरे असंख्य फलों के प्रति निमित्त बन जाता है वह इस (प्रबन्ध) की अन्य (चतुर्थ) वक्रता होती है ॥ २२-२३ ॥

सापरापि अन्यापि, न प्रागुक्ता, अस्य रूपकादेर्वक्रता वक्रभावो भवतीति सम्बन्धः । यत्रैकफलसम्पत्तिसमुद्युक्तोऽपि नायकः—यत्र यस्याम् एकफलसम्पत्तिसमुद्युक्तोऽपि अपराभिमतवस्तुसाधनव्यवसितोऽपि नायकः फलान्तरेष्वनन्तेषु तत्तुल्यप्रतिपत्तिषु घत्ते निमित्तताम् । फलान्तरेष्वपि साध्यरूपेषु वस्तुषु अनन्तेषु अगणनां नीतेषु तत्तुल्यप्रतिपत्तिषु आधिकारिकफलसमानोपपत्तिषु, प्रस्तुतार्थसिद्धेरेवाधिगतसिद्धिष्विति ।

वह अपर अर्थात् अन्य भी, पहले न प्रतिपादित की गई, इस रूपक आदि

वक्रता अर्थात् बाकापन होता है। जहाँ एक फल की प्राप्ति में लगा हुआ भी नायक अर्थात् जिसमें एक फल की प्राप्ति में लगा हुआ अर्थात् एक ही अभीष्ट वस्तु के सिद्ध करने में प्रयत्न करता हुआ भी नायक उसके समान सिद्धियों वाले दूसरे अनन्त फलों के प्रति निमित्त बनता है। अनन्त अर्थात् असंख्य उसके समान प्रतिपत्तियों वाले अर्थात् अधिकारिक फल के समान सिद्धियों वाले फलान्तर अर्थात् साम्य रूप अन्य वस्तुओं के प्रति अर्थात् प्रस्तुत अर्थ की सिद्धि से ही सिद्धि की प्राप्ति कर लेने वाले (फलों का निमित्त बन जाता है)।

इसके बाद इस कारिका की वृत्ति का शेष भाग गायब प्रतीत होता है यद्यपि पाण्डुलिपि में पाठलोप सूचक कोई चिह्न नहीं है परन्तु यह बात अत्यन्त स्पष्ट है, क्योंकि कारिका के कुछ शब्दों की उक्त वृत्ति भाग में व्याख्या नहीं की गई है एव कोई उदाहरण भी नहीं प्रस्तुत किया गया है। साथ ही आगे आने वाली कारिका का भी एक चरण गायब ही है। और वह वृत्ति के साथ ही पाण्डुलिपि में आयी है। अतः प्रतीत होता है कि सम्भवतः एक पन्ना ही गायब हो गया है, इसीलिए पाठलोपसूचक चिह्न नहीं दिया गया है।

इस कारिका की वृत्ति का एक अंश २५ वीं कारिका की वृत्तिभाग के अन्त में उद्धृत प्रतीत होता है जो इस प्रकार है—

यमा नागानन्दे—तत्र दुर्निवारवैरादपि वैनतेयान्तकादेक (म्)
सकलकारुणिकचूडामणिः शंखचूडं जीमूतवाहनो देहदानादभिरक्षत्र
केवलं तत्कुल (म्) ॥

अर्थात्—जैसे नागानन्द में। वहाँ दूर न किये जा सकने वाले वैर वाले गहड़ से अकेले शंखचूड की समस्त दयालुओं के शिरोमणि जीमूतवाहन ने (अपने) शरीर को प्रदान करने से रक्षा करते हुए केवल उसके कुल को (ही नहीं बचाया अथिउ अनेक अन्य राज्यलाभादि फलों की प्राप्ति किया)।

कुन्तरु अथ अन्य प्रबन्धवक्रता प्रकार की इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

अस्तां वस्तुषु वैदग्ध्यं कान्ये कामपि वक्रताम् ।

प्रधानसंविधानाङ्गनाम्नापि कुरुते कविः ॥ २४ ॥

काव्य में प्रतिपाद्य पदार्थ के सौन्दर्य को तो रहने दीजिये, केवल प्रधान योजना के चिह्न वाले नाम के द्वारा भी कवि किसी (अपूर्व) वक्रता को उत्पन्न कर देता है ॥ २४ ॥

आस्तां वस्तुषु वैदग्ध्यम्—आस्तां दूरत एव वर्ततां वस्तुषु अभि-
वेद्येषु प्रकरणेषु प्रतिपाद्येषु वैदग्ध्यं विच्छिन्तिः । काव्ये कामपि वक्रता

कुरुते कवि—काव्ये नाटके सर्गबन्धादौ कामपि वक्रतां कुरुते विदधानि
कविर्वास्त्यद्भुतप्रतिभाप्रसारप्रकाशः । केन सविधानाङ्गनाम्नापि । प्रधान-
प्रबन्धप्राणगतप्रायं यत्सविधानं कथायोजनं तदङ्गरिचङ्क्रमणपलक्षणं यस्य
तत्तथाकं तच्च तन्नाम .. 'अपि'—शब्दो विस्मयमुद्योतयति ।

वस्तुओं में वैदग्ध्य रहने दीजिए अर्थात् प्रतिपादित किए जाने वाले प्रकरणों
में प्रतिपाद्य वस्तु में वैदग्ध्य अर्थात् सौन्दर्य तो दूर ही रहे । काव्य में कवि किसी
वक्ता को उत्पन्न करता है—काव्य अर्थात् नाटक एवं महाकाव्य आदि में कवि
अर्थात् अद्भुत प्रतिभा के विकास के प्रकाश वाला (ही) कवि किसी वक्ता को
करता है अर्थात् उपनिबद्ध कर देता है । किसमें-सविधान के विह्वल वाले नाम से
भी । प्रधान प्रबन्ध का प्राण रूप जो सविधान अर्थात् कथा की योजना उसका
मङ्गु विह्वल है उपलक्षण जिसका उसे हम कहेंगे सविधानाङ्ग नाम (उसके द्वारा भी)
'अपि' शब्द विस्मय का बोध कराता है ।

यथा—अभिज्ञानशाकुन्तल—मुद्राराक्षस—प्रतिमानिरुद्ध—मायापुष्पक—
कन्यारावण—छलितराम—पुष्पद्वितक—आदिनि । .. न पुनर्हयग्रीवव-
शिशुपालवध—पाण्डवाभ्युदय—रामानन्द—रामचरितप्रायाणि ।

जैसे—अभिज्ञानशाकुन्तल, मुद्राराक्षस, प्रतिमानिरुद्ध, मायापुष्पक, कन्या-
रावण, छलितराम तथा पुष्पद्वितक आदि । ... न कि हयग्रीववध, शिशुपाल-
वध, पाण्डवाभ्युदय, रामानन्द तथा रामचरित आदि)

प्रबन्धवक्रतायाः प्रकारान्तरमप्याह—

प्रबन्ध वक्रता के अन्य (छठवे) भेद को भी बताते हैं—

अप्येककक्षयया वद्धाः काव्यबन्धाः कवीश्वरैः ।

पुष्पान्त्यनर्धामन्योऽन्यवैलक्षण्येन वक्रताम् ॥ २५ ॥

श्रेष्ठ कविओं द्वारा एक ही कक्षा से उपनिबद्ध किए गये काव्यबन्ध परस्पर
एक दूसरे में असमान (विभिन्न) होने के कारण अपूर्व वक्रता को पुष्ट
करते हैं ॥ २५ ॥

पुष्पान्ति उल्लासयन्ति अनर्धामपरिच्छेद्याम् अन्योऽन्यवैलक्षण्येन
परस्परविस्तारयेन वक्रतां वक्रमावम् । के ते—काव्यबन्धाः रूपकपुर-
सराः निवेशिष्टाः—अप्येककक्षयया वद्धाः एकेनापीतिवृत्तेन योजिताः ।
कैः—कवीश्वरैः । एकत्र विस्तीर्णं यस्तु सहिषद्भिः, अन्यत्र सहस्रं वा
विस्तारयद्भिः..... विचित्रवाच्यवाचकालङ्करणसङ्कलनया नवतां नयद्भि-
तित्यर्थः ।

पुष्ट करते हैं अर्थात् उन्मीलित करते हैं । (किसे) प्रनर्घ अर्थात् ममूत्प, इयता से रहित । एक दूसरे से विलक्षण होने के कारण अर्थात् आपस में समान न होने के कारण वक्रता अर्थात् बाकपन को (पुष्ट करते हैं । कौन हैं वे पुष्ट करने वाले) काव्यबन्ध अर्थात् रूपक आदि । कैने (काव्यबन्ध)—एक ही कथा से उप-निबद्ध अर्थात् एक ही इतिवृत्त से संयोजित किए गए । किनके द्वारा (उपनिबद्ध किए गए) कवीश्वरो के द्वारा । एक स्थान पर विस्तृत वस्तु को संक्षिप्त करने वाले अथवा दूसरी जगह संक्षिप्त वस्तु को विस्तृत करने वाले छन्द स्या अर्थ के विचित्र अलङ्कारो को एकत्र कर नवीनता को प्राप्त कराने वाले (कवीश्वरो द्वारा काव्यबन्ध वक्रता को पुष्ट करते हैं) ।

इदमत्र तात्पर्यम्—एकमेव कामरि कन्दलितकामनीयकां कथां निवरद्भिर्बहुभिरपि वक्त्रिकुञ्जरैर्निबध्यमाना बह्वः प्रबन्धा मनागप्यन्योऽन्यसंघादन्मनासाभ्यन्त सहृदयहृदयह्लादकं कमपि वक्रिमाणमादधाति । यथा—रामाभ्युदय-उदात्तराघव-वीरचरित-बालरामायण-कृत्यारावण-माया-पुष्पकप्रभृतयः ते हि प्रबन्धप्रवरास्तेनैव कथामार्गेण निर्गलरसास्सार-गर्भसम्पदा प्रनिषदं प्रतिवाक्य प्रतिप्रकरणञ्च प्रकाशमानाभिनव-मङ्गी-प्राया रमणीयताभ्राजिष्णवो नवनवोन्मीलितनायकगुणात्कर्षास्तेषां हर्षातिरेकममेकशोऽप्यास्वाद्यमाना समुत्पादयन्ति सहृदयानाम् । एवमन्यदपि निदर्शनान्तरमुद्गायनीयम् ।

यहां इसका आशय यह है कि—कमनीयता को उत्पन्न करने वाली किसी एक ही कथा का निर्वाह करने वाले बहुत से श्रेष्ठ कवियों द्वारा विरचित बहुत से प्रबन्ध थोड़ा भी एक दूसरे के सादृश्य को न प्राप्त करते हुए सहृदयों के हृदयों को आनन्दित करने वाली किसी (अपूर्व) वक्रता को धारण करते हैं । जैसे—(एक ही राम कथा पर आधारित) रामाभ्युदय, उदात्तराघव, वीरचरित, बाल-रामायण, कृत्यारावण, मायापुष्पक आदि (अनेक प्रबन्ध परस्पर वैलक्षण्य के कारण वक्रता का वहन करते हैं) । वे श्रेष्ठ प्रबन्ध उसी (एक ही) कथामार्ग से (उपनिबद्ध होकर भी) स्वच्छन्द रस को प्रवाहित करने वाली सम्पत्ति के द्वारा पद-पद में, वाक्य-वाक्य में, प्रकरण-प्रकरण में (सर्वत्र, अपूर्व भङ्गिमा को प्रस्तुत करते हुए रमणीयता को धारण करते हुए नायक ने नये-नये उन्मीलित किए गए गुणों के उत्कर्ष से मुक्त होकर अनेकों बार आस्वादित किए जाने पर भी उन सहृदयों के हर्षातिरेक को उत्पन्न करते हैं । इस प्रकार दूसरे भी उदाहरण स्वयं देने लें चाहिए ।

कथोन्मेषसमानेऽपि ध्रुपीष निजैर्गुणैः ।

प्रबन्धाः प्राणिन इष प्रभासन्ते पृथक् पृथक् ॥ ४४ ॥

इत्यन्तरश्लोक' ।

कथा की उत्पत्ति के समान होने पर भी (सभी श्रेष्ठ कवियों द्वारा विरचित) प्रबन्ध अपने-अपने गुणों में उसी प्रकार भिन्न-भिन्न मालूम पड़ने हैं—जैसे कि प्राणी शरीर के समान होने पर भी अपने-अपने गुणों से भिन्न-भिन्न मालूम पड़ते हैं ॥ ४४ ॥

यह अन्तरश्लोक है ।

नूतनोपायनिष्पन्न-नयवर्त्मोपदेशानाम् ।

महाकविप्रबन्धानां सर्वेषामस्ति वक्ता ॥ २६ ॥

नवीन (सामादि) उपायों में सिद्ध होने वाले नीतिमार्ग की शिक्षा देने वाले महाकवियों के सम्पूर्ण प्रबन्धों में वक्ता रहती ? ॥ २६ ॥

महाकविप्रबन्धानां नवनिर्माणैर्गुण्यैरुपमानकविप्रकाण्डानां प्रबन्धानां सर्वेषां सकलानामस्ति वक्ता वक्त्रभावविच्छिन्तिः । कीदृशानाम्—नूतनोपायनिष्पन्ननयवर्त्मोपदेशानाम् । नूतना प्रत्यगा उपायाः सामादिप्रयोगप्रकारास्तद्विधां गोचरा ये तैर्निष्पन्नं सिद्ध यन्नयवर्त्म नीतिमार्गं नदुपदिशन्ति शिष्ययन्ति ये ते तथोक्तास्तेषाम् ।

महाकवियों के समस्त प्रबन्धों में अर्थात् अपूर्व सृष्टि की कुशलता में अद्वितीय श्रेष्ठ कवियों के सम्पूर्ण (महाकाव्य आदि) प्रबन्धों में वक्ता अर्थात् वाकपन की शोभा रहती है । कैसे (प्रबन्धों) में—नवीन उपायों से सिद्ध नीतिमार्ग का उपदेश करने वाले (प्रबन्धों) में । नूतन अर्थात् नये-नये उपाय अर्थात् उन्हें जानने वालों के ज्ञान के विषयभूत सामादि के प्रयोग के बङ्ग, उनके द्वारा निष्पन्न अर्थात् सिद्ध जो नीतिमार्ग-नीतिपथ उसका जो उपदेश करते हैं अर्थात् सिखाते हैं वे (नीतिमार्ग का उपदेश करने वाले हुए) उन प्रबन्धों में (वक्ता रहती है) ।

इदमुक्तमभवति—सकलैश्चपि मत्कविप्रबन्धेषु अभिनवभङ्गीनिवेश-पेशलताशालि नीत्या फलमुपपद्यमान प्रतिपाद्योपदेशद्वारेण किमपि कारणमुपलभ्यत एव । यथा—मुद्राराक्षसे । तत्र हि प्रवरप्रज्ञाप्रभाव-प्रपञ्चितविचित्रनीतिव्यापारा प्रगल्भ्यन्त एव । तापसवरसराजोद्देश एव व्याख्यात । एवमन्यदप्युत्प्रेक्षणीयम् ।

तो कहने का आशय यह है श्रेष्ठ कवियों के समस्त प्रबन्धों में अभिनव वक्ता के सन्निवेश के कारण रमणीय नीति का फल रूपी एक अनिर्वचनीय कारण प्रतिपाद्य के उपदेश के द्वारा उत्पन्न किया जाता हुआ मिलता ही है । जैसे—

मुद्राराक्षस में । वहाँ पर श्रेष्ठ प्रजा के प्रभाव से वित्त अद्विष्ट नीति के व्यापार परिस्फुरित होते ही हैं । तापसवत्सराज का उद्देश्य पहले ही व्याख्यात हो चुका है । इसी प्रकार अन्य उदाहरणों को स्वयं समझ लेना चाहिए ।

वक्तोल्लेखैकल्य ... लाक्यते ।

प्रबन्धेषु कवीन्द्राणां कीर्तिकन्देषु किं पुनः ॥ ४५ ॥

इत्यन्तरश्लोकः ।

इसके अनन्तर वृन्तक का 'वक्तोल्लेख' आदि अपूर्ण अन्तर श्लोक प्राप्त होता है । अतः उसका सुसंश्लिष्ट अर्थ नहीं दिया जा सकता । इस अन्तरश्लोक को पूर्ण करने का स्वतन्त्र प्रयास आचार्य विश्वेश्वर के संस्करण में दृष्टिगत होता है परन्तु इस प्रकार के स्वेच्छासमावेश की कोशिश सर्वथा उचित नहीं मानी जाती है । रूपान्तरकार अथवा व्याख्याकार का उद्देश्य उपलब्ध मूल के अर्थ को ही समझाना हुआ करता है उसमें परिवर्तन या परिवर्धन करना सर्वथा अनुचित है ।

डा० डे ने इस ग्रन्थ के असमाप्त होने का ही सकल दिया है । परन्तु ग्रन्थ के विवेच्य विषय से यह पता लगता है कि थोड़ा ही अर्थ अवशिष्ट है । उसके विषय में अभी कोई सुनिश्चित मत देना समीचीन नहीं ।

द्वितीयाध्वद्रवन्धेय कुन्तकस्य कृतिर्भुदे ।

स्वात्कविसहृदयानां व्याख्यातृणां सदैव वै ॥

शास्त्रकृतप्रतिभास्वर्णकण्ठे निरुपायितम् ।

क्व मन्दा मम बुद्धिश्च क्व च वक्तोक्तिजीवितम् ॥

राष्ट्रभाषा समाधित्य गुरुणामनुकम्पया ।

व्यवायि व्याख्या मिश्रेण राधेश्यामेत मेधया ॥

असमाप्तोऽयं ग्रन्थः.

परिशिष्ट-१

कारिकानुक्रमणिका

पृष्ठ

पृष्ठ

प्रथम उन्मेष

अवलेख्यप्रिताकृतम्	११४
अत्रारोचकित केचित्	१५०
अत्रालुप्तविसर्गान्तेः	१४५
अम्लानप्रतिभोद्भिन्न	१०२
अलङ्कारकृता येषा	४९
अलङ्कारस्य कवयो	१२२
अलङ्कृतिलङ्कार्य	१६
अविभावितसंस्थान	१०३
असमस्तपदव्यास	१४३
असमस्तमनोहारि	११३
आञ्जसेन स्वभावस्य	१५६
इत्युपादेयवर्गोऽस्मिन्	१६०
उभावेतावलङ्कार्य	४०
एतत् त्रिष्वपि मार्गेषु	१६३
कविन्यापारवक्रव	६२
गमकानि निवर्ण्यन्ते	१४४
चतुर्वर्गफलस्वाद्	५४
घर्मादिसाधनोपाय	१०
प्रतिभाप्रथमोद्भेद	१२२
प्रतीयमानता यत्र	१२३
भावस्वभावप्राधान्यं	१०३
भूषणस्य स्वभावस्य	५२
माधुर्यादिगुणप्राप्त	१४९
मार्गाणां त्रिनयन	१६८
मार्गोऽसौ मध्यमो नाम	१४९
यत् किञ्चवापि वैचित्र्य	१०३
यत्र तद्वदलङ्कारैः	१२२
यत्र वक्तुः प्रमातुर्वा	१५८
यत्रान्यथामवरसर्वम्	१२३
यदप्यनूतनोदलेखम्	१२२
यत्राति कोमलश्लायम्	१४७

रानरश्मिच्छटोत्सेक

१२२

लोकोत्तरचमत्कार

७

वक्रभावः प्रकरणे

८९

चन्दे कवीन्द्रवक्त्रेन्दु

५

वर्णविन्यासवक्रवम्

६३

वर्णविन्यामविच्छित्ति

११६

वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो

८६

वाच्यवाचकवक्रोक्ति

९३

वाच्यवाचकस्मैभाष्य

९३

वाच्योऽर्थो वाचक शब्द

३३

विचित्रो यत्र वक्रोक्ति

१२३

वैचित्र्यं सौकुमार्यञ्च

१४९

वैदग्ध्यस्यैव माधुर्यम्

१४२

व्यवहारपरिस्पन्दं

१२

शब्दार्थो सहितावेव

५५

शब्दार्थो महितौ वक्र

१७

शब्दो विवक्षितार्थक

३४

शरीर चेदलङ्कार

५२

श्रुतिपेशलताशालि

११८

सम्प्रति तत्र ये मार्गाः

९६

सर्वसम्परपरिस्पन्द

१६१

साहित्यमनयो शोभा

५७

सुकुमाराभिध सोऽप्यम्

१०३

सोऽनिदुःसञ्चरो येन

१२३

स्पष्टे सर्वत्र ससृष्टिः

५३

स्वभावस्यतिरेकेण

५०

स्वभाव सरसाकृतो

१२३

द्वितीय उन्मेष

अभिधेयान्तरतम

२००

अलङ्कारोपसंस्कार

२००

अभ्ययीभावमुक्त्याना

२३५

आगमादिपरिस्पन्द

२३४

एको द्वौ बहवो वर्णाः	१७१	उपचारैकसर्वस्वम्	३५०
औचित्यान्तरतम्येन	२५४	ऊर्जस्सुदात्ताभिधयो	३२०
कर्त्तरात्यन्तरङ्गावम्	२४५	एक प्रकाशकं सन्ति	३४४
कर्मादिसंवृत्तिः पञ्च	२४६	औचित्यावहमगलान	३४३
कुर्वन्ति काव्यवेचिज्य	२६०	नत्र पूर्वं प्रकाशस्याम	२९३
कविद्वयवधानेऽपि	१७९	तथा समाहितस्यापि	३३१
नातिनिर्घन्धविहिता	१८५	ता साधारणधर्मोक्तौ	३३९
पदयोद्धभयोरेक	२६३	धर्मादि साधनोपाय	३०६
परस्परस्य शोभायै	२६९	नयन्ति कवय काञ्चित्	३५४
परिपोषयितुं काञ्चिद्	२५०	निषेधश्चाप्यप्येव	३९९
प्रायज्ञापरभावश्च	२६२	प्रतिभासात्तथा बोद्धः	३६५
प्रस्तुतौचित्यविच्छिन्तिम्	२३३	भावानामपरिगलान	२९९
भिन्नयोर्लिङ्गयार्थयो	२३९	भूषणान्तरभावेन	४०६
यत्र कारकसामान्यम्	२५७	मनोऽफलकोत्प्लेख	२८९
यत्र दूरान्तरेऽन्यस्मात्	२१६	मार्गस्थवक्त्रशब्दार्थ	२८९
यत्र रुद्धेरसम्भाव्य	१९३	मुख्यमविलक्षणयादि	२९८
यत्र सम्रियते वस्तु	२२७	यत्रैकेमेव वाक्येन	३९३
यन्मूला सरसोत्प्लेखः	२१७	यथायोगि क्रियापदम्	३४९
यमकं नाम कोऽप्यस्या	१९०	यथा स रमवत्ताम	३३४
रसादि धोतन यस्य	२६६	यद् वाक्यान्तरवक्तव्यम्	३५९
लोकोत्तरतिरस्कार	१९३	यस्मिन्नुद्दिष्टं रूपम्	४०१
वर्णान्तयोगिनः स्पर्शा	१७४	यस्यामतिशय कोऽपि	३६७
वर्णच्छायायुसारेण	१८८	रसेन वर्त्तते तुल्यम्	३३४
वाक्स्वरूपाः पदपरलवा	२०१	रसादीपनसामर्थ्यम्	३०४
विशिष्टं योजयते लिङ्गम्	२४२	हावप्यादिगुणोऽब्जला	४१०
विशेषणस्य मार्गाऽयात्	२२४	लोकप्रसिद्धसामान्य	३९०
विहितः प्राययादन्यः	२६५	वर्णनीयस्य केनापि	४००
सति लिङ्गान्तरे यत्र	२४१	वस्तुसाम्यं समाधिरय	३९७
समानवर्णमन्यार्थम्	१९०	वाक्यार्थान्तरविन्यासो	३९८
साप्यतामप्यनादय	२३८	वाक्यार्थोऽसत्यभूता	३५५
स्वयं विशेषणेनापि	२००	वाक्यवाचकसामर्थ्यं	३६२
तृतीय उन्मेषः		विनिवर्त्तनमेकस्य	३८२
अन्यदर्पयितुं रूपम्	४०३	विवक्षितपरिस्पन्द	३६९
अपरा सहजाहाय	२८२	शरीरमिदमर्थस्य	३०५
अप्रस्तुतोऽपि विशिष्टि	३५५	शब्द प्रतीयमानो वा	३८०
अलङ्कारो न रमयन्	३०७	सति तच्छब्दवाच्यत्वे	३८७
उत्प्रेषावस्तुसाग्येऽपि	३७२	समरतवस्तुविषयम्	३५१
उदाहरणपरिस्पन्द	२७५	समुल्लिखितवाक्यार्थ	३६२
		सम्भावनानुमानेन	३६१

सामान्या • व्यतिरिक्ता	३७७	तदुत्तरकथावति	४४१
		तस्या एव कथामूर्ते	४४०
चतुर्थ उन्मेष		त्रैलोक्याभिनवोत्प्लेख	४४१
		धत्ते निमित्तताम्	४४५
अन्यूननूतनोत्प्लेख	४२१	न त्वमार्गग्रहप्रस्त	४३७
अप्येककथा वद्धा-	४४७	नूतनोपायनिष्पन्न	४४९
अभ्यामूलादनाशङ्क्य	४११	प्रतिप्रकरणं प्रौढि	४२१
असामान्यसमुत्प्लेख	४१७	प्रधानवस्तुनिष्पत्यै	४३२
आस्ता वस्तुषु वैदग्ध्यम्	४४६	प्रधानवस्तुसम्बन्ध	४४४
निवृत्तप्रयुक्तेऽपि	४१४	प्रबन्धस्यैकदेशानाम्	४१७
तिवृत्ताभ्यामवृत्त	४४०	मुत्तादिसन्धिसन्धायि	४३७
कथावैचित्र्यपात्रम्	४२८	यत्र निर्यन्त्रणोत्साह	४११
कवचिप्रकरणस्यान्त	४५५	यत्राङ्गिरसनिष्पन्द	४३०
तत्रैव तस्य निष्पत्ते	४४४	यत्रैकफलसम्पत्ति	४४५
तथा यथा प्रबन्धस्य	४१४	सामाजिकजनाङ्गान	४३५

परिशिष्ट—२

वृत्तिगतोद्धरणानुक्रमणिका

	पृष्ठ		पृष्ठ
प्रथम उन्मेष.		चकार याज्ञैरुमुरा	११७
अङ्गराज सेनापते !	६७	चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी	८३
अण्णलङ्कहृत्तणं	१३४	चारुता वपुरभूपपदा	३१
अथैकपेनोरपराध	१६५	ज्यावन्धनिप्यन्दभुजेन	१११
अधिकरतलतक्षपम्	१४८	ज्योतिर्लङ्खावल्लयि गलितं	११९
अनुरणन्मणिमेखल	१७८	ततोऽरुणपाररूपन्द	२५
अनेन सादं विहराम्भु	५१६	तत्रानुस्त्रिखितारुमेव	४०
अपङ्गगततारका.	१४४	तदेतदाहु सौशब्द	२४
अथ जन प्रष्टुमना.	८५	तन्नावहेदुभाषी हि	२१
असारं ससारम्	२७	तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन	३०, १५२
अस्यद्भाग्यविपर्ययाद्	८४	तस्य स्तनप्रणयिभि	१०८
आर्यस्याजिमहोत्सव	१३१	तान्यचराणि हृदये	८०
आलम्ब्य लम्बा.	१५३	ताप. स्वार्मनि	१३५
हृथ जडे जयति	७५	तामग्यगच्छदुदितानु	४२
उद्देशोऽयं सरसकदली	१३४	दावा वामकरं नितम्ब	९७
उपगिरि पुरहूत	१५७	दाहोऽभः प्रसूतिमपच	७७
उपरिधता पूर्वमपास्य	८६	दोर्मूलावधिमुग्रित	१६१
एका कामपि काल	६९	द्वैष्ट्राविष्टेषु सद्य	४१
एतन्मग्नविषयव	४६	द्वन्द्वानि भाष क्रियया	१०९
एता परय पुरस्तटी	७६	द्वयं गतं सप्रति	३७
कण्ठुपलदल	७९	नामाप्यन्तरो.	१२८, १४५
कतमः प्रविजृम्भित	१३२	निद्रानिमीलितशः	७३
कथं च शक्यानुनयो	१६६	निपीयमानस्तथका	१५९
करतलकलिताक्षमाला	१५७	निरकारणं निरकारकणिका	६८
कल्लोलवेष्टित	३५	पाणिद्विनि मम वपु.	७४
कानि च पुण्यभाजि	१३२	पुर निपादाधिपते	१६४
कामे रूपरनीमत	१६६	पूर्वानुभूतं स्मरता च	११०
किं तात्पर्यतरोरियम्	१२९, १४२	प्रकाशस्वाभाष्यम्	२०
कोऽयं भाति प्रकारस्तथ	१२५	प्रतीयमानं पुनरन्यदेव	१२०
कमादेकद्वित्रि	२३	प्रथममरुणच्छाद्य.	६३
क्रीडारसेन रहसि	११३	प्रयुज्य सामाचरितं	९१
क्रीडासु बालकुसुमायुध	१४०	प्रवृत्ततापो दिवसो	१०५

कुञ्चेन्दीवरकाननानि	८१	हे नागराज ! बहुधा	१५७
बालेन्दुवक्राण्यविकाश	१०७, ११६	हे हेलान्जितबोधि	१२६
भण नरुणि रमण	१८	द्वितीय उन्मेष	
मर्त्तुमित्र प्रियमविधवे	४३	अतिगुरवो राजभाषा	२२२
मध्मेऽङ्कुर पञ्चवा	७४	अनर्घ कोऽप्यस्तस्तव	२२३
मानिनोजनबिलोचन	२३	अभिव्यक्ति तावद्	२३६
मेधिल नश्य दाश	७६, ८२	अयमेव पदे तथा	२६७
यमेनारज्याम	१४१	अयि पिबन चक्रेरा	१८१
रहकेलि हि अणि	७७	अलङ्कारस्य उच्यते	१८४
रामाऽयौ भुवनेषु	६५	अल महीपाल	२१२
रामाऽस्मि सर्वं महं	६४	आज्ञा शक्तिशिव्या	१९८
रुद्राग्नेस्तुलनम्	२९	आपोऽय मातृमृतुभिः	२४०
रूपकाद्रिरलङ्कार	२४	आ स्वर्लोकादुद्गगनगर	२३७
रूपकाद्रिरलङ्कारस्तथा	२४	इत्थ जडे जगनि	२०६
लीलाह कुतलभं	२६	इत्थमुत्तयति ताण्डय	२११
वज्रेन्दोर्न हरन्ति	१२८	इत्थुद्गते शशिनि	२४९
वाज्रिवारणलोहानाम्	३६	उत्ताम्यतालवध	१७९
वापीतटे कुडगा	१२०	उज्जिदकोकनद	१७६
वाम कञ्जलघद्	६६	एतन्मन्दविपक्व	१८७
विपनि यदि नो कञ्चित्	१३६	एता परस्य पुरस्तटी	१८६
वेलानिलेर्मुद्गुभि	१५१	कदलीस्तम्बताम्बूल	१७६
वीहालोलाञ्जतवद् नया	७१	कपोले पत्राली	२६०
शरीरमात्रेण नरान्द्र	१५८	करान्तरालीनकपोल	२२५, २२६
शृङ्गेण च स्पर्श	१०९	कस्त्वं ज्ञास्यसि माम्	२०२
श्लासोऽकम्पनरद्विणि	६९, १४६	कान्तस्वीयति सिंहली	२३७
मङ्गलान्ताङ्गुलिपर्व	१५२	किं शोभिताऽहमनयेति	२४७
सरम्भ करिकोटनेष	३९	कुसुमसमययुग	२०९
स दहतु दुरितम्	७८	कौशाग्नी परिभूय नः	२६२
सद्य पुरीपरिसरेण	४६	ग अण च मत्तमेहं	२२०
सुधाविसरनिष्यन्द	७५	गच्छन्तीनां रमण	२२०
सोऽय दम्भघृतवतः	७२, ८५	गुर्वर्थमर्थी श्रुतपार	१९९
स्तनद्वन्द्वं मन्दम्	८२	चकितचानकमेचकित	१८३
स्नानार्द्रमुक्तेष्वनु	११७	चूडारत्ननिषण्णदुर्बह	२४६
स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छ	७८	जाने सख्यास्तस्य	२३४
हंसानां निनदेषु	९५	णमह दशाणण	१८७
हरतापचेयं यशः	६८	तत प्रहस्याह	१९७
हिमव्यपायाद् विशद	११५	तत्पितर्यय परिग्रह	२२८
		तरन्तीवाज्ञानि	२५०, २७०

तस्यापरेष्वपि मृगेषु	२६४	यो लीलानाटवृत्तौ	२१५
तद् कण कण	२२९	राजोवज्रोवितेश्वरे	१८३
ताम्यचराणि हृदये	२३०	गमाऽपौ भुवनेषु	१९८
ताम्बूलीनदमुग्ध	१८०	रुद्रस्य नद् भण अणं	२४०
तालताली	१८४	लीन घस्तुनि येन	२६५
ताला जा भति	१९०	वय तावान्वेषान्	२६१
एव रक्षसा भीरु	२४३	वाम कज्जलवद्	१८०
दर्पणे च परिभोग	२३०	वृत्तऽस्मिन् महापलये	२०९
दाहोऽम्भ प्रसूतिमपच	२३५	वेष्टदधलाफा घना	२३३
दुर्वच नदध मा	२३१	वेदेही तु कथ भक्तिप्यात	२६०
देवि त्वन्मुखपङ्कजेन	२१६	शशिन शोभातिरस्कारिणा	२२६
धम्मिल्लो विनिवेशि	१७३	शास्त्राणि चतुर्नवम्	२६१
धूपसमिति	१८३	शीर्णप्राणादग्नि	१८५
मभस्वतालासित	२४०	शुचिशीतलचन्द्रिणी	२२६
नाभियाकुमनृतम्	२०१	धमजलमेकजनित	२०५
निवार्यतामालि	२३२	आसायासमलीमता	२३९
निष्पर्याय निवेश	२५९	मरुवन्धा रघुभूभुजाम्	२०४
नृत्तारम्भाद् विरत	२५३	मरुवन्ध कालध्वजो	२२३
नैकत्र शक्तिविरति	२४८	स ददतु दुरिणम्	२४९
पाय पाय कलाची	२३५	समविसमगिष्वितेता	२५५
प्रथममरुगच्छायाः	१७७	सरलतरलता	१८२
प्रपञ्चार्तिविद्धो नखा	२४८	सरस्वतीहृदयारविन्द	१७७
प्रमाणवावादायात	२१४	सरमार चारणपति	२२६
फुल्लेन्दीवरकाननानि	२६१	मिथिलिअचाओ	२४७
बद्धस्पर्धस्तव	२५९	सुरिणधमुग्ध	२०९
भग्नैलावद्वरीका	१७३	सोऽयं दम्भघृतघृतः	२३२
भग्न तरणि रमण	१८५	सौन्दर्यधुर्य स्मितम्	१०८
मृतानुक्म्पा तव चेद्	२१३	हतनङ्गद मन्द	२५९
मन्मथ किमपि	२३१	स्निग्धरयामल	१९६, २१९
मर्यासक्तवक्तिहरिणी	२५०	स्निग्धकटाक्षे इती	२३३
मुहुरहृलिसंवृता	२६८	स्वरथा संस्तु वसन्त	१८२, १८३
मृगयम दर्भाङ्कुर	१४४	हसानो निनदेपु	१८०
यथेय घ्रीष्मोष्म	२४१	तृतीय वन्मेषः	
यस्यारोपणकर्मणापि	२४०	अकटोरवारणवधू	२८१
याज्जादेन्यपरिग्रह	२५८	अकणो रकुटाभुकुटुषो	३१२
याते द्वारवती सदा	२२९	अकृलीभिरिव केता	३१८
यावत् किञ्चिदप्य	२५६	अनुरागवती सन्ध्या	३१२
येन श्यामं चपुरति	२६९	अनौचित्यप्रवृत्तानाम्	३२०

अपहर्ताहमस्मीति	३२८	किमिव हि मधुराणाम्	३९८
अपारे काव्यससारे	२८४	क्रियन्तः सन्ति	३७६
अपमानदोलितप्रौढ	४०९	किं हास्येन न मे प्रयास्यसि	३२०
अय मन्दप्रतिभास्वा	३८१	कोऽलङ्कारोऽनया विना	२८८
अनुपन्नमनोभवाः	२७९	क्रियमैव विशिष्टस्य	३८२
असशय चित्रपरिग्रह	३९९	क्षिप्तो हस्तावलग्नः	३१९, ३३७
असम्भृत मण्डनमङ्ग	४००	क्षोणीमण्डलमण्डलम्	३४६
असार ससारम्	३४५	गर्भग्रन्थिषु वीरुधाम	२७९
अस्या मर्गविधौ	२८४, २९३, ४०६	ग्रीवाभङ्गाभिरामम्	३०३
आमानमात्मना वैरिस	३२४	चकाभिघातप्रसभा	३६०
आमैव नात्मन स्कन्धम्	३२५	चङ्क्रमन्ति करीन्दा	३४३
आदिमभ्यान्तविषया	३४२	चन्दनमऊषहि	३४५
आन्दोक्ष्यन्ते कति न गिरयः	३२२	चन्दनासक्तभुजग	३६५
आवाढलोभादुपकर्ण	३६४	चरितञ्च महात्मनाम्	३३१
आरिलष्टो नवकुङ्कुमा	४०४	चलापाङ्गां दृष्टिम्	३३७
आससारं कहपुगवेहि	२९२	चापं पुष्पितभूतलम्	३९०
इदमसुलभवस्तु प्रार्थना	३०५	चारुता वपुरभूषयहासाम्	३४७
इन्दुलिप्त इवाज्जनेन	३५७	चीरीमतीररण्यानी	३४०
इन्दोर्लक्षम त्रिपुरजयिनः	३२६, ३६१	चुम्बन् कपोलतल	३७३
उर्यतां म वचनीयमशेषम्	३९४	चूताङ्गारास्वाद	३०४
उप्रेक्षातिशयाश्विता	- २८८	छाया नामन एव	३५७
उरफुल्लचारुकुसुम	३६४	जनस्य साकेत	३७७
उदात्तमृदिमद्वस्तु	३२९	ततः प्रतस्थे कौबेरीम्	३८१
उदभेदामिमुक्ताङ्कुरा	३०५	तद्विद्वलयकषयाणाम्	३५२
उपोदरागेण विलोल	३३६, ३५३	ततोऽरुणपरिस्पन्द	३७३
उभौ यश्च व्योम्नि	३७७	तत्पूर्वानुभवे भवन्ति	३७९
ऊर्ध्वस्त्रि कर्णेन	३२८	तथा कामोऽस्य वज्रधे	३२७
एकेक दलमुन्नमरय	३६५	तद्गुणना युगपद्	३८०
ऐन्द्र धनु पाण्डु	३३८	तन्वी मेघजलार्द्र	३१५
कहकेसरी वज्रपाण	३४५	तरङ्गभूमद्वा	३१५
कदाचिदेतेन च पारियात्र	३०३	तरन्तीवाङ्गानि	३६६
कपोले पत्राली	३३७	तव कुसुमशरावम्	४०४
कर्णाग्नितस्थितपद्मराग	३०१	तां प्राङ्मुखीं तत्र	२७७
कस्य ज्ञास्यसि भो	२८६	ताम्बूलरागवलयम्	३२९
किं गतेन नहि युक्त	३९४	तिष्ठेत् कोपवशात्	२९९
किं सौन्दर्यमहार्थ	४०२	तुल्यकाले क्रिये यत्र	३९३
किञ्चिदारभमाणस्य	३३३	तेषां गोपबधूबिलास	२९४
किं तात्पर्यतरोरियम्	२९३, ३५४	त्वं रक्षसा भीह	३६५

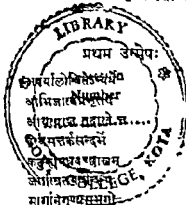
दूर्वाकाण्डमिष रयामा	२९३	यत् काष्ठाग्रार्थनिरूपणं	३८०
हृष्टया श्लेशश्च गोप	३८६	यत्र तेनैव तस्य	३७९
देवि स्वन्मुखपङ्कजेन	३६५	यथार्थं दास्यो वा	३८९
दोर्मूलावधि मृशित	२७९	यत्रोक्तं गम्यतेऽन्य	३९१
धारावेशम विलोभ्य	३००	यन्मूला सरसोऽलेखा	३५१
धृत त्वया वार्द्धकशोभि	३८४	यस्य प्रोच्छ्रयति	३६८
धीताञ्जने च नयने	२८१	यानया मुहुर्बलित	३७४
नाम्नाप्यन्यतरोः	३११	येन ध्वस्तमनोभवेन	३८५
निपीयमानस्तथका	३७२	यैर्वा हृष्टा न वा हृष्टा	३८०
निमीलिताकेकरलोल	४०२	रजितानुविविधास्तह	४०२
निर्दिष्टा कुलपतिना	३८४	(रसवद्) रसपेशलम्	३१४
निमोकमुक्तिरिव	३६४, ४०६	रसमायतदाभास	३३२
निर्याप विधाय	३८१	रसवद् दशितस्पष्ट	३०९
न्यूनस्यापि विशिष्टेन	३७८	रसवद् रससंश्रयाद्	३१३
पद्मयो रपृशेद् वसुमती	३०८	राजकन्यापुरस्कं माम्	४०९
पद्मेन्दुमृद्वमातङ्ग	४०७	रामेण मुग्धमनसा	३७५
पमादो एसो क्लृ	३०१	राशीभूत प्रतिदिनमिष	३६४
परामृशति सायकं	३५८	रुढाजालैर्जटानाम्	४०५
पशुपतिरपि तान्पहानि	३२०	छन्नद्विरेकाञ्जन	३३९
पाण्डुरोऽयमंसापित	३७४	लावण्यकान्तिपरिपूरित	३५३
पूर्णेन्दुकान्तिवद्ना	३७४	लावण्यसिन्धुरपरैव	३५७
पूर्णेन्दोः परिपोषका-	४०४	लिम्पसोव तमोऽज्ञानि	३६६
पूर्णेन्दोस्तथ संवादि	३७२	लीलं वस्तुनि येन	२८३
प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थं	३१८	लोको यादवमाह साहस	२९५
प्राप्तभीरेव कस्मात्	३८८	वाक्यस्य बलभावोऽन्यो	२९४
प्रेयो गृहाणतम्	३२४	विमृष्टरागादधरात्	३८३
भूभारोद्भवाय	३६१	शम्यमोषधिपते	३६८
मूयसामुपदिष्टानां	४०७	शस्त्रप्रहारं पदता	३८४
मदो अनयति प्रीति	३४०, ३४८	शुचि मूययति ध्रुतं	३४७
महाभूतः पुत्रवतोऽपि	३७५	शेषो हिमगिरिस्त्वं	३७८
नाजिहीकृतपट्टसूत्र	३७५	शलाघाशेषतनुं सुदर्शन	३८९
मानमस्या निराकर्तुम्	३३३	स एकस्त्रीणि	४०८
मालामुत्पलकम्बुलैः	३८६	सङ्केतकाष्ठमनसं	४०९
मालिनीरशुकमृतः	३४०	मज्जेद् सुरहिमासो	२८०
मुखेन सा केतक	३७३	सद्यश्चुमुजे मही	३८३
मृतेति प्रेत्य सङ्गन्तु	३११	समप्रगगनापाम	४०९
मृदुतनुलतावसन्तः	३५६	समानवस्तुन्यासेन	३७६
ग्लानिं चान्दद्विपानलेन	४०५	सरसिजमनुविद्धम्	३९७

सर्ववृत्तिमृताध्याय	३९५	किं प्राणा न मया	४२५
साधुसाधारणत्वादि	३७६	किं वस्तु विद्वन्	४१३
स्कन्धवानुजुराध्यायः	३९१	कुरवकतरुर्गाढारलेख	४२२
स्वपुष्पध्वनि	३६८	गुर्वर्थमर्थी धृतपारहृषा	४१३
स्मिन किञ्चिन्मुग्धम्	२७८	चक्षुर्यस्य तवाननाद	४२४
स्वरूपादतिरिक्तस्य	३८५	स्रग्गुणसज्जोष विहा	४३३
स्वशब्दस्थायि	३११	जनस्य साकेतनिवासिनः	४१४
स्ववर्पं जल्प घृहस्पते	३८३	तदेतदाज्ञानुविलम्बिना	४३०
स्वाभिप्रायसमर्पणप्रवण	३८५	तरङ्गभ्रमहा	४३२
हसाना निनदेषु	२८०	तं भूपतिर्भासुरहेम	४१३
हिमपाताविलदिनो	३९३	स्वस्रग्ग्रासिविलोभनेन	४२६
हिमाचलसुता वल्लि	३५३	द्विषा विधाताय	४४३
हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽप्य	४०८	धारावेरम विलोक्य	४२३
हेलावभप्रहरकामुक	३८१	नवजलधरः सङ्गदोऽयं	४३१
हे हसन दक्षिण मृतस्य	३९४	पद्भ्यां स्पृशेद् वसुमतीं	४३२
हे हेलाजिनबोधिसत्त्व	३६१	पातालोदरकुञ्जपुञ्जित	४२०
चतुर्थ उन्मेष		प्रत्यादिष्टविशेषमण्डन	४१६
अविलष्टवालतरुपल्लव	४१६	भ्रमङ्ग रुचिरे ललाट	४२५
अथ जानु रुरोर्गृहीत	४२८	रम्याणि वीक्ष्य मधुराश्च	४१६
अयोर्मिलोलोन्मदराज	४२९	रिपुतिमिरसुहृत्स्योदीयमानं	४४३
अनङ्कुरितमिन्सीम	४१३	लक्ष्मीकृतस्य हरिणस्य	४२७
अपि तुरागसमीपात्	४२७	विचिन्तयन्ती यमनन्य	४१५
अवैमि कार्यान्तरमानुषस्य	४३०	व्यतिकर इव भीमो	४२०
आन्दोक्ष्यन्ते कति न गिरयः	४१२	व्याघ्रानभीरभिमु	४२६
इति विस्मृतान्यकर	४२८	शापोऽप्यदृष्टतनया	४२८
इमा स्वसारश्च	४३०	शैला सन्ति सहस्रश	४१२
एते दुरापं समवाप्य	४४३	श्रवणैः पेयम्	४३७
करामिषातोख्यत	४३०	सर्वत्र ज्वलितेषु वेरमसु	४२४
कर्णान्तस्थितपद्मराग	४२३	सललितकुरग्म	४२७
कर्पूर इव दग्धोऽपि	४३७		



परिशिष्ट-३

वृत्तिगतान्तरादिश्लोकानुक्रमणिका



४४	स काऽप्यवस्थितिः	५४
	स्वमन्त्रीविक्रयैवाथ	३
६१	द्वितीय उन्मेषः	
१४९	हृत्पदं पदपूर्वादि	२५४
१५	वक्रतायाः प्रकाराणाम्	२६९
४	स्वमहिम्ना विधीयन्ते	२२७
१५	तृतीय उन्मेषः	
१	अपहृत्याभ्यालङ्कार	३६६
५९	कैमिदेया समाप्तोक्ति	३९६
३	रसरवमावालाङ्कारा	२९६
६१	वक्रतायाः प्रकाराणाम्	२९६
४	चतुर्थ उन्मेषः	
५९	कथोन्मेषममानेऽवि	४१८
६१	निरन्तरसोद्गारमार्ग	४१७
२५	वक्रतोत्पत्तेरवैकल्य	४५७

प्रथम उन्मेषः
श्रीमद्भागवतसंहिता
अध्याय १०
श्लोक १०
संस्कृत-विभाग
कलकत्ता-२०१४

परिशिष्ट—४

उद्धृत ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों की सूची

	पृष्ठ		पृष्ठ
प्रथम उन्मेष.		चतुर्थ उन्मेष:	
उदात्तराघव	८९	अभिजातजानकी	४१२
कालिदास	१०३, १५४	अभिज्ञानशाकुन्तल	४१५, ४४७
किरातार्जुनीय	९०	उत्तररामचरित	४१९, ४३७, ४४१
कुमारसम्भव	१०९, १६६	उदात्तराघव	४१७, ४४८
तापसवत्सराज	९२	किरातार्जुनीय	४३२, ४४२
बाणभट्ट	१५५	कुमारसम्भव	४३९
भवभूति	१५५	कृत्यारावण	४४७, ४४८
मञ्जीर	१५४	छलितराम	४४७
मातृगुप्त	१५४	तापसवत्सराज	४२२, ४९९
मायुराज	१५४	नागानन्द	४४६
मेघदूत	४५	पाण्डवाभ्युदय	४४७
रघुवश	१०८, १०९, १६३, १६४	पुष्पदूषितक	४१८, ४३८, ४४७
राजशेखर	१५५	प्रतिमानिहद	४४७
रामायण	३९	बालरामायण	४३६, ४४८
सर्वमेन	१५४	महाभारत	४४१
हर्षचरित	१५५	मायापुष्पक	४४७, ४४८
		सुन्दरानक्षत्र	४३३, ४४७, ४४९
द्वितीय उन्मेष		रघुवश	४१३, ४२६, ४२९
पवनिकार	१९५	रामचरित	४४७
रघुवंश	१९१	रामानन्द	४४७
शिशुपालवध	१९१	रामाभ्युदय	४४८
		रामायण	४४१
तृतीय उन्मेष		विक्रमोर्वशीय	४३१
तापसवत्सराज	३००	वीरचरित	४४८
दण्डिन्	३६६	नेणीमंहार	४४०, ४४१
भरत	३२९	शिशुपालवध	४४०, ४४५, ४४७
लङ्घनकार (दण्डिन्)	३८४	हयग्रीववध	४४०
विक्रमोर्वशीय	२९८	हर्षचरित	४१२